यह निर्म्मल न्याय-सङ्गत प्रणाली है। इस प्रणाली के अनुसार शिक्षा देना मानों निर्म्मल न्याय करना है। यह प्रणाली ऐसी है कि इसका यथार्थ स्वरूप हर एक बच्चे के ध्यान में आये बिना नहीं रह सकता। जो मनुष्य सिर्फ़ उतना ही दु:ख भोगता है जितना कि उसे अपने दुष्कर्म्मों के कारण स्वाभाविक रीति से भोगना चाहिए—अर्थात् जो सिर्फ़ अपने दुष्कर्म्मों के स्वाभाविक परिणाम को भोगता है—उसे अस्वाभाविक दण्ड भोगने की अपेक्षा इस बात का कम ख़याल होता है कि मेरे साथ अन्याय किया गया। उसके ध्यान में यह बात आ जाती है कि जो दु:ख मैं उठा रहा हूँ वह मेरे ही दुष्कर्म्मों का परिणाम है, अतएव वह न्याय्य है। पर यदि उसे कोई अस्वाभाविक दण्ड दिया जाता है तो कभी उसे ऐसा ख़याल नहीं होता। यह बात जैसे प्रौढ़ आदमियों के लिए कही जा सकती है वैसे ही बच्चो के लिए भी कही जा सकती है। कल्पना कीजिए कि एक लड़का स्वभाव ही से इतना बेपरवाह है कि अपने कपड़ों को बिलकुल ही न सँभाल कर वह झाड़ियो और काँटों के बीच से निकल जाता है और कीचड़ से उन्हें बचाने की कोशिश भी नही करता। इस बेपरवाही के कारण यदि वह पीटा गया, या कोठरी मे बन्द कर दिया गया, या बिना खाये ही सो जाने के लिए लाचार किया गया, तो उसे बहुत करके यह ख़याल होगा कि मुझ पर अन्याय हुआ। बहुत सम्भव है कि इस दशा मे अपने कृतापराधों पर पश्चात्ताप करने का ख़याल आने की अपेक्षा अपने ऊपर किये गये अन्याय ही का ख़याल उसके मन मे अधिक आवेगा। अब कल्पना कीजिए कि यदि उससे कहा जाय कि जो भूल तुमने की है उसे यथासम्भव तुम्हीं दुरुस्त करो—जो कीचड़ तुमने कपड़ों मे लगाया है उसे साफ़ करो या काँटों से जो तुमने कपड़े फाड़े हैं उन्हे सियो—तो क्या उसे यह ख़याल न होगा कि इस तकलीफ़ का कारण मैं ही हूँ? इस दण्ड को भुगतने के समय क्या उसे इस बात का लगातार ख़याल न होता रहेगा कि दिये गये दण्ड और उसके कारण में परस्पर ख़ूब सम्बन्ध है? यद्यपि इस दण्ड से उसे क्रोध आवेगा, तथापि उसके मन मे क्या यह बात थोड़ी बहुत न आवेगी कि जो दण्ड मुझे दिया गया है न्याय्य है? इस तरह के बहुत से प्रसङ्ग आने पर

भी—इस तरह का दण्ड कई दफ़े पाने पर भी—यदि कपड़ों के फाड़ने या मैला करने का क्रम पूर्ववत् जारी रहे तो इस शिक्षा-पद्धति का अवलम्बन करनेवाले बाप को चाहिए कि उस समय तक वह नये कपड़े बनवाने में रुपया ख़र्च न करे जब तक कि मामूली तौर पर उनके बनवाने का समय न आ जाय। ऐसा करने से बच्चे को फटे पुराने और मैले कपड़े पहनने पड़ेंगे। इस बीच मे यदि छुट्टियों के कारण बाहर घूमने घामने या किसी तिथि-त्यौहार के कारण अपने इष्ट-मित्रों से मिलने के मौक़े आवें, और अच्छे साफ़ सुथरे कपड़े न होने से बच्चा घर के और आदमियों के साथ यदि न जाने पावे, तो इस दण्ड का उसके दिल पर बहुत बड़ा असर होगा और सब बातों का कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ मे आये बिना न रहेगा। तब उसे यह भी अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि यह सारी आपदा मेरी ही बे-परवाही का कारण है। ऐसा होने से उसे कभी यह ख़याल न होगा कि मुझ पर अन्याय हुआ है। परन्तु यदि दिये गये दण्ड और उसके कारण का पारस्परिक सम्बन्ध उसके ध्यान मे न आता तो वह कभी न समझता कि मुझ पर अन्याय नहीं हुआ।

२७—प्राकृतिक शिक्षा से तीसरा लाभ।

एक बात यह भी है कि मामूली तरीक़े की अपेक्षा हमारे बतलाये हुए तरीक़े से नैतिक शिक्षा देने मे माँ-बाप और सन्तान, दोनों, के चित्त फट जाने का बहुत कम डर रहता है। बुरे चाल-चलन के स्वाभाविक परिणाम हमेशा दुःखकारक होते हैं। पर उन्हे भोगने के बदले यदि माँ-बाप अपने लड़कों को दूसरे ही प्रकार के कृत्रिम दण्ड देते हैं तो उससे दुहरी हानि होती है। बच्चो के लिए वे एक नहीं, अनेक तरह के नियम बनाते हैं और उन नियमों का पालन कराना अपनी प्रभुता और अधिकार के लिए बहुत ज़रूरी समझते हैं। यदि बच्चे उन नियमों को भङ्ग करते हैं तो माँ-बाप समझते हैं कि हमारी मान-मर्य्यादा भङ्ग हो गई। अपने बनाये हुए नियमों का उल्लङ्घन होना मानों ख़ुद उन्हीं के प्रतिकूल कोई अपराध करना है। इस तरह की समझ के कारण नियमोल्लंघन होने पर उन्हे क्रोध आता है।

यह पहली हानि हुई। स्वाभाविक नियम यह है कि अपराधी ही को हानि उठानी चाहिए। परन्तु अपराध करते हैं बच्चे और उस अपराध के कारण जो अधिक श्रम और खर्च पड़ता है उसे उठाते हैं माँ-बाप। यह दूसरी हानि हुई। इस तरह की शिक्षा से माँ-बाप की तरह बच्चों को भी दिक़्क़त उठानी पड़ती है। बुरे कामों के जो स्वाभाविक परिणाम बच्चों को भुगतने पड़ते हैं उन परिणामों का पैदा करनेवाला—उन दुःखों का देनेवाला—देख नहीं पड़ता। वह अदृश्य रहता है। वह यह नहीं कहने आता कि तुमने यह बुरा काम किया, इससे तुमको यह दण्ड मिला। इससे उन्हे जो कष्ट मिलता है वह थोड़ा होता है और थोड़ी ही देर तक रहता है। परन्तु जो दण्ड माँ-बाप देते हैं वह कृत्रिम होता है। और दण्ड देने के बाद माँ-बाप हमेशा बच्चों की नज़र के सामने रहते हैं। बच्चे प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारे दण्डदाता यही हैं। इन्हीं ने जान-बूझ कर हमे दण्ड दिया है। इस बात को सोच कर उन्हें अधिक दुःख होता है और अधिक समय तक रहता है। इसी से बच्चे माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं। अब आप ही सोचिए कि दण्ड देने का यह तरीक़ा यदि बच्चों के लिए बहुत ही छोटी उम्र से काम में लाया जाय तो उसका परिणाम कितना भयङ्कर होगा। यदि यह सम्भव होता कि अज्ञान और अनाड़ीपन के कारण बच्चों के शारीरिक कष्ट खुद माँ-बाप किसी तरह अपने ऊपर ले लेते और उन कष्टों को सहन करके बच्चों को कोई और दण्ड इसलिए देते जिससे उनको यह मालूम हो जाता कि हमने जो बुरा काम किया है उसी का यह परिणाम है तो इस तरीक़े की भयङ्करता खूब अच्छी तरह समझ मे आ जाती। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि एक लड़के से यह कहा गया कि आग पर चढ़ी हुई बटलोई को मत छूना। इस बात को न मान कर बच्चे ने बटलोई छुई और खौलता हुआ पानी उसके पैर पर गिर गया। इससे उसके पैर पर आवला पड़ गया। इस आवले को माँ ने किसी तरह अपने पैर पर लेलिया और उसके बदले बच्चे के मुँह पर एक चपत जमाया। अब आपही कहिए, यदि इसी तरह हमेशा दण्ड दिया जाय, तो क्या प्रति-दिन की नई नई आपदायें आज कल की अपेक्षा और भी अधिक क्रोध

और दुःख का कारण न होंगी ? इस दशा मे क्या माँ-बाप और बच्चे दोनो के स्वभाव और भी अधिक ख़राब न हो जायँगे और क्या उनकी यह बुरी आदत और भी अधिक दिनों तक न बनी रहेगी ? यह एक काल्पनिक उदाहरण है। यदि सचमुच ही इस तरह की घटनाये होने लगें तो माँ-बाप और सन्तति मे पारस्परिक द्वेष की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाय। इसमे कोई सन्देह नहीं। तथापि यह बात बहुधा देखी जाती है कि यदि नादानी के कारण बच्चे के शरीर मे चोट लग जाती है तो पहले तड़ाके मे माँ-बाप के हाथ से उलटा उसे ही मार खानी पड़ती है। बचपन ही में नहीं, बड़े होने पर भी बच्चो के साथ माँ-बाप बहुधा इसी तरह का बर्त्ताव करते हैं। अपनी बहन के खिलौने को बेपरवाही से या जान-बूझ कर तोड़ने के कारण जो बाप अपने लड़के को मारता-पीटता है और मार-पीट कर खुदही एक नया खिलौना मोल लेने मे पैसा ख़र्च करता है वह बिलकुल उसी तरह का बर्त्ताव करता है जिस तरह के बर्त्ताव का हम ज़िक्र कर रहे हैं। खिलौना तोड़ने का अपराधी लड़का है। उसको तो बाप मार-पीट के रूप मे बनावटी दण्ड देता है और नया खिलौना मोल लाना जो स्वाभाविक दण्ड है उसे अपने ऊपर लेता है। इसका फल यह होता है कि अपराधी लड़का और निरपराधी बाप, दोनों, व्यर्थ तंग होते हैं—दोनों को व्यर्थ क्रोध आता है। यदि बाप सिर्फ़ लड़के से दूसरा खिलौना दिला देता तो इतनी द्वेष-बुद्धि—इतनी जी-जलन—कभी न पैदा होती। यदि बाप लड़के से कह देता कि दूसरा खिलौना तुम्हीं को अपना पैसा ख़र्च करके लाना पड़ेगा, अतएव जो जेब-ख़र्च तुमको मिलता है उसमें से खिलौने के दाम काट लिये जायँगे, तो बाप-बेटे मे परस्पर द्वेष-बुद्धि की मात्रा बहुत कम हो जाती। इस दशा मे दोनों के दिल मे विशेष बल न पड़ता। इससे एक और फ़ायदा यह भी होता कि जेब-ख़र्च से खिलौने के दाम काटने के रूप मे जो दण्ड बच्चे को मिलता वह उसे विशेष खलता भी नहीं, क्योंकि उसे इस बात का ज़रूर ख़याल होता कि जो दण्ड मुझे मिला वह न्याय्य है। सारांश यह कि स्वाभाविक शिक्षा-पद्धति के द्वारा—स्वाभाविक रोक-टोक के द्वारा—माँ-बाप और बच्चों की आदत बिगड़ने का बहुत कम डर

रहता है । इसके दो कारण हैं । एक तो यह कि इस तरह की रोक-टोक सब प्रकार से न्याय-सङ्गत समझी जाती है । दूसरा यह कि यह रोक-टोक प्रत्यक्ष माँ-बाप के द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष प्रकृति के द्वारा होती है । अर्थात् इस तरह का स्वाभाविक दण्ड बहुत करके माँ-बाप के बदले प्रकृति की मुख़तारे-आम वस्तु-स्थिति ही के द्वारा होता है ।

२८—प्राकृतिक शिक्षा से चौथा लाभ ।

इससे यह नतीजा निकलता है, और नतीजा भी कैसा कि साफ़ मालूम होता है, कि इस पद्धति के अनुसार व्यवहार करने से माँ-बाप और लड़कों में स्नेह-भाव की वृद्धि होती है । उनका पारस्परिक सम्बन्ध मित्रों का ऐसा हो जाता है । इसी से उसका असर भी अधिक होता है । क्रोध चाहे माँ-बाप को आवे चाहे बच्चे को, चाहे जिस कारण से पैदा हो, और चाहे जिस पर हो, हानि उससे ज़रूर होती है । परन्तु यदि माँ-बाप का क्रोध बच्चे पर या बच्चे का क्रोध माँ-बाप पर होता है तो उससे और भी अधिक हानि होती है, क्योंकि वह उस सहानुभूति को—उस हमदर्दी को—शिथिल कर देता है जो सन्तान को प्रेमपूर्वक अपने क़ाबू मे रखने के लिए बहुत ज़रूरी है । मतलब यह कि क्रोध के कारण अन्योन्य-प्रेमबन्धन शिथिल हो जाता है । जो जो चीज़े हम संसार में देखते हैं उनसे हमारे मन पर कुछ न कुछ सस्कार ज़रूर होता है । आदमी चाहे बुड्ढा हो चाहे जवान, विचार-साहचर्य्य के सिद्धान्तों के अनुसार, उसे उन चीज़ों से ज़रूर घृणा होती है जिनको देख कर उसके दु:ख, शोक आदि मनोविकार जागृत हो उठते हैं । अर्थात् जिन चीज़ों के संस्कार-साहचर्य्य से दु:खदायक मनोविकारों का स्वभाव ही से अनुभव होने लगता है वे ज़रूर अप्रिय हो जाती हैं । अथवा जहाँ पहले से प्रेम था वहाँ दुःखदायक मनोविकारो की न्यूनाधिकता के अनुसार वह प्रेम कम हो जाता है या उसकी जगह पर द्वेष पैदा हो जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रोध आने पर यदि माँ-बाप ने लड़कों को धमकाया घुड़काया या मारा पीटा और ऐसा ही कुछ दिन तक बराबर करते गये तो लड़को का प्रेम माँ-बाप पर ज़रूर कम हो जाता है । इसी तरह

लड़कों को हमेशा उदासीन और क्रुद्ध देख कर माँ-बाप का भी प्रेम उन पर कम हो जाता है, किम्बहुना कभी कभी बिलकुल ही जाता रहता है। इसी कारण से कितने ही कुटुम्बो मे लड़के माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं और यदि द्वेष न भी किया तो प्रेम उनसे ज़रूर ही नहीं करते। यह बात विशेष करके बाप और बेटों मे देखी जाती है, क्योंकि दण्ड देने का काम बहुत करके बाप ही के हाथ मे रहता है। अनेक कुटुम्बों मे लड़के जो बहुधा दण्ड देने की चीज़ या साढ़साती शनैश्चर समझे जाते हैं उसका भी यही कारण है। इससे सब लोगों के ध्यान मे यह बात ज़रूर आ जायगी कि इस तरह का वैमनस्य अच्छी नैतिक शिक्षा का विनाशक है—उसके लिए बहुत अधिक हानिकारी है। अतएव सिद्ध है कि लड़को से प्रत्यक्ष विरोध न करने का जितना ही अधिक ख़याल माँ-बाप रक्खें उतना ही अच्छा है। कुछ भी हो, उन्हे चाहिए कि लड़कों से विरोध करने का कभी प्रसङ्ग न आने दें। अतएव विरोध और वैमनस्य का प्रसङ्ग न आने देने के लिए स्वाभाविक परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति से वे जितना ही अधिक फ़ायदा उठावें, कम है, क्योंकि इस पद्धति का अवलम्ब करने से दण्ड देने का काम प्रत्यक्ष माँ-बाप को नहीं करना पड़ता। इससे माँ-बाप और लड़कों में परस्पर द्वेष-भाव और वैमनस्य भी नहीं उत्पन्न होता।

२८—पूर्वोक्त लाभ-चतुष्टय का सारांश।

यहाँ तक इस विषय में जो कुछ कहा गया उससे मालूम हुआ कि स्वाभाविक-परिणाम-भोग-विषयक शिक्षा-पद्धति ईश्वर के सङ्केतानुसार जैसे शैशव और प्रौढ़ अवस्था मे लाभदायक है वैसे ही लड़कपन और जवानी में भी लाभदायक है। शैशव और प्रौढ़ अवस्था में तो वह आप ही आप जारी रहती है। अतएव लड़कपन और जवानी में भी उसे जारी रखने में कोई हानि नहीं। इस पद्धति को जारी रखने से चार प्रकार के लाभ हैं। यथा:—

पहला—इससे भले या बुरे कामों का यथार्थ ज्ञान उन कामो के शुभ या अशुभ परिणामों के प्रत्यक्ष अनुभव से होता है।

दूसरा—बच्चे को अपने बुरे कामों के दुःखदायक परिणामों के सिवा और कुछ भी भोग नहीं करना पड़ता। इससे अपने ऊपर किये गये दण्ड का न्यायसङ्गत होना थोड़ा बहुत ज़रूर उसके ध्यान में आ जाता है।

तीसरा—दण्ड का न्यायसङ्गत होना बच्चे की समझ में आ जाने और यह मालूम हो जाने से कि यह दण्ड प्रत्यक्ष किसी आदमी ने नहीं दिया, किन्तु मेरे ही किये हुए कर्म्म का फल है, उसे बहुत कम क्रोध आता है। अतएव उसका स्वभाव भी नहीं बिगड़ता। इसी तरह अपने हाथ से बच्चे को दण्ड न देकर उसके लिए उसके कृतापराधों का परिणाम चुप-चाप भोगने की व्यवस्था कर देने से माँ-बाप के चित्त में भी क्षोभ नहीं उत्पन्न होता।

चौथा—वैमनस्य और क्रोध का कारण दूर हो जाने से माँ-बाप और सन्तान का परस्पर सम्बन्ध पहले से अधिक सुखकर और प्रभावपूर्ण हो जाता है—परस्पर विशेष प्रेमभाव और आदर-बुद्धि की वृद्धि होती है।

३०—बड़े बड़े अपराधों के विषय में कुछ प्रश्न।

कोई कोई शायद कहेंगे—"छोटे छोटे अपराधों का इलाज तो आपने बतलाया, पर लड़के यदि बड़े बड़े अपराध करें तो उसकी क्या दवा है? यदि वे कोई छोटी मोटी चीज़ चुरा लें, या झूठ बोलें, या छोटे भाई या छोटी बहन के साथ बुरी तरह पेश आवें—उनको मारें-पीटें—तो भला आपके बतलाये हुए तरीक़े से किस तरह काम चल सकता है"? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले इनसे सम्बन्ध रखनेवाली दो एक प्रत्यक्ष घटनाओं का, उदाहरण के तौर पर, हम विचार करना चाहते हैं।

३१—प्राकृतिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के उदाहरण।

हमारा एक मित्र अपने बहनोई के घर रहता था। उसकी बहन के एक लड़का था, एक लड़की। उनकी शिक्षा का भार उसने अपने ऊपर

लिया था। उसने उनकी शिक्षा का क्रम हमारे बतलाये हुए तरीक़े के अनुसार रक्खा था। इस तरीक़े के अच्छे होने के विषय में उसने विशेष सोच-विचार नहीं किया था। तर्क और विचार-पूर्वक इसकी उपयुक्तता सिद्ध होने पर उसने इसे पसन्द किया था। इसे पसन्द करने का कारण यह था कि इसके साथ उसकी स्वभाव ही से सहानुभूति थी। वह इसे स्वभाव ही से अच्छा समझता था। घर में तो वह इन दोनों बच्चों का शिक्षक बन जाता था और बाहर उनका साथी। जब तक वह घर मे रहता था तब तक उनको शिक्षक की तरह पढ़ाता-लिखाता था, पर उनके साथ बाहर निकलने पर वह उनसे मित्रवत् व्यवहार करता था। बच्चे रोज़ उसके साथ घूमने जाया करते थे। कभी कभी वह वनस्पति-शास्त्र-सम्बन्धी बातो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी बाहर जाता था। तब भी वे दोनों बच्चे उसके साथ रहते थे, उसके लिए पौधे ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते थे, और जब वह उन पौधों को देखता-भालता या उनके जाति-वर्ग आदि की परीक्षा करता था तब वे सब बातें ध्यान से देखा करते थे। इस तरह, और और भी कई कारणो से उसके साथ रह कर वे आनन्द भी उठाते थे और शिक्षा भी प्राप्त करते थे। बात को और अधिक न बढ़ा कर हम सिर्फ़ इतना ही कहना काफ़ी समझते हैं कि नीति की दृष्टि से वह उनके लिए बाप से भी बढ़ कर था और माँ से भी। अर्थात् जो काम माँ-बाप को करना चाहिए वह काम उनकी अपेक्षा वह अधिक योग्यता से करता था। जिस तरीक़े से वह उन दोनों बच्चों को शिक्षा देता और उनका मनोरञ्जन करता था उसका वर्णन एक बार उसने हमसे किया। उसके सारे नतीजे उसने बयान किये और कई एक दृष्टान्त भी दिये। उन दृष्टान्तों मे से एक यह था। एक दिन शाम को उसे कोई चीज़ दरकार हुई। वह चीज़ मकान के किसी दूसरे कमरे मे रक्खी थी। इससे उसने अपने भानजे से कहा कि उसे मेरे पास ले आओ। उस समय लड़का किसी खेल मे मग्न था। इस कारण अपनी आदत के ख़िलाफ़ या तो उस चीज़ को ले आने से उसने इनकार किया या जाने मे अप्रसन्नता प्रकट की—ठीक ठीक याद नहीं, दो में से उसने कौन सी बात की। हमारे

मित्र को बच्चों पर सख़्ती करना पसन्द न था। इससे उसने वह चीज ज़बरदस्ती लड़के से नहीं मँगवाई। वह खुद उठा और जाकर उसे ले आया। लडके के बुरे बर्ताव के कारण उसे जो तकलीफ़ पहुँची उसे प्रकट करने के लिए उसने और कोई बात न करके सिर्फ़ अपनी भौंहें टेढ़ी कीं। उसने सिर्फ़ अपनी मुखचर्य्या से अपनी अप्रसन्नता लड़के पर प्रकट की। जब शाम हुई, लड़का अपने मामा के पास गया और रोज़ की तरह खेल-कूद की बातें उसने शुरू कीं। पर मामा ने वैसी बातें करने से इनकार कर दिया। उसने बड़ी गम्भीरता से कह दिया कि हम तुम्हारे साथ बात-चीत नहीं करना चाहते। लड़के के बुरे बर्ताव के कारण उसके मन में जितनी स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न हुई थी उतनी ही उसने लड़के पर प्रकट की, अधिक नहीं। इस तरह उसने अपने बुरे बर्ताव का स्वाभाविक परिणाम भोगने के लिए लड़के को लाचार किया। दूसरे दिन, सुबह, जब सोकर उठने का समय हुआ तब हमारे मित्र ने कमरे के दरवाज़े पर एक नई आवाज सुनी। उसे मालूम हुआ कि जो नौकर रोज़ सुबह कमरे में आता था वह नहीं, कोई और ही है। इतने मे उसने आँख खोली तो देखा कि मुँह धोने के लिए गरम पानी लिये हुए भानजे साहब कमरे के भीतर खडे हैं। पानी रख कर आप कमरे में इधर उधर देखने लगे कि और कोई चीज तो दरकार नहीं और झट कह उठे—"हाँ, आप अपने बूट चाहते हैं"। यह कह कर आप फ़ौरन ज़ीने के नीचे उतरे और बूट लाकर सामने रख दिये। यह, और ऐसे ही और भी, काम करके लड़के ने यह बात प्रकट की कि अपने बुरे बर्ताव का मुझे सचमुच ही पश्चात्ताप हुआ है। जो काम करने से उसने इनकार किया था उससे अधिक काम करके उसने कृतापराध के प्रायश्चित्त की दिल से कोशिश की। जिन नीच विकारों के कारण उसने मामा की आज्ञा भङ्ग की थी उन पर उसके उच्च मनोविकारों की जीत हुई। बुरे मनोविकारों का अपकर्ष और अच्छों का उत्कर्ष हुआ। इन अच्छे विकारो के उत्कर्ष के कारण उसमे मानसिक वल की वृद्धि हो गई। अतएव उसे बहुत समाधान हुआ। मामा के अप्रसन्न होने से कितना दु:ख होता है यह बात उसे अच्छी तरह मालूम हो गई। इस कारण मामा के जिस प्रेम या

सख्यभाव को खोकर उसने दुबारा प्राप्त किया था उसे वह पहले से अधिक महत्त्व की चीज़ समझने लगा।

३२—बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने से लाभ।

हमारे इस मित्र के भी अब लड़के-बाले हैं। वह अपने बच्चों को भी इसी तरीक़े से शिक्षा देता है। उसे यह बात तजरिबे से मालूम हो गई है कि इस तरीक़े से अच्छी तरह काम निकल सकता है। वह अपने बच्चो के साथ मित्रवत् व्यवहार करता है। उसके बच्चे सायङ्काल का रास्ता देखा करते हैं। उन्हे यही ख़याल रहता है कि कब शाम हो और कब हमारा बाप घर आवे। इतवार की तो कुछ पूछिए ही नहीं। उस दिन तो उन्हें बड़ा ही आनन्द आता है; क्योंकि इतवार को उनका बाप सारा दिन घर पर ही रहता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण बच्चों का उस पर पूरा पूरा विश्वास जम गया है। वे उसे बहुत प्यार करते हैं। बच्चो को क़ाबू में रखने के लिए उसे सिर्फ़ 'हाँ' या 'नहीं' कहने ही भर की ज़रूरत पड़ती है। बच्चों के किसी काम के विषय मे ख़ुशी या ना ख़ुशी ज़ाहिर करने ही भर से काम निकल जाता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण उसमें इतनी काफ़ी शक्ति आ गई है कि जो कुछ वह कहता है उसे बच्चे चुपचाप करते हैं। शाम को घर आने पर यदि उसे मालूम होता है कि किसी लडके ने शरारत की तो वह उसके साथ उतनी ही उदासीनता से पेश आता है जितनी कि लड़के की शरारत के कारण स्वाभाविक तौर पर उसके मन में उत्पन्न होती है। अर्थात् लड़के की शरारत सुन कर जितनी स्वाभाविक अप्रीति या विरक्ति उसके मन मे उत्पन्न होती है उतनी ही वह प्रकट करता है। बस यही सज़ा लड़के के लिए काफ़ी होती है। तजरिबे से उसे यह मालूम हो गया है कि स्वाभाविक अप्रीति या उदासीनता दिखलाने ही से काम हो जाता है—उसी से लड़का शरारत छोड़ देता है। मामूली लाड-प्यार बन्द कर देने से बच्चों को बहुत तकलीफ़ होती है। इससे उन्हें इतना रंज होता है कि मारने की अपेक्षा भी अधिक देर तक वे रोया करते हैं। हमारे मित्र का कथन है कि इस नैतिक दण्ड का डर उसकी अनुप-

स्थिति में भी बच्चों के दिल से दूर नहीं होता। बाप के घर पर मौजूद न रहने पर भी इस दण्ड का ख़याल बच्चों का बराबर बना रहता है—यहाँ तक कि दिन में बहुधा वे अपनी माँ से पूछा करते हैं कि आज हमने कैसा बर्ताव किया और शाम को बाबा के घर आने पर हमारे बर्ताव के विषय मे कैसी रिपोर्ट होगी। हमसे कोई अपराध तो नहीं हुआ? हमारे विषय मे कोई बुरी बात तो बाबा से नहीं कही जायगी? हमारे इस मित्र का बड़ा लड़का पाँच वर्ष का है। वह स्वभाव ही से बहुत चपल और चंचल है। वह ख़ूब नीरोग और सशक्त भी है। ऐसे लड़को में पशुवत् उद्दण्डता का व्यवहार करने की आदत होती है। इसी आदत के कारण, अभी हाल मे, माँ की अनुपस्थिति मे, इस लड़के ने कुछ नटखटपन किया। अर्थात् अपने बाप के सिगारदान से छुरा निकाल कर छोटे भाई के बालों की एक लट उसने काट ली और अपने आपको भी घायल कर लिया। शाम को घर आने पर बाप ने यह सब हक़ीक़त सुनी। इससे न तो वह उस रात को लड़के से बोला और न दूसरे दिन सबेरे ही बोला। उसने लड़के से बिलकुल ही बात न की। बस इतनी ही सज़ा उसने काफ़ी समझी। इसने तत्काल अपना काम किया। इससे लड़के को यहाँ तक दुःख पहुँचा कि कुछ दिन बाद एक रोज़ जब उसकी माँ कहीं बाहर जाने लगी तब उसने बड़ी अधीनता से न जाने के लिए उससे विनती की। जब उससे पूछा गया कि क्यो तुमने ऐसा किया तब उसने कहा कि मुझे डर लगा कि माँ की अनुपस्थिति मे उस दिन की तरह कहीं फिर न मैं कोई वैसा ही काम कर बैठूँ।

३३—प्राकृतिक शिक्षा से माँ-बाप और सन्तति में सख्यभाव की स्थापना।

"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो क्या करना चाहिए"? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही हमने ये बातें, भूमिका के तौर पर, इसलिए कहीं जिसमें यह मालूम हो जाय कि माँ-बाप और संतान में परस्पर किस तरह का सम्बन्ध हो सकता है और किस तरह का होना चाहिए। इस

सम्बन्ध के होने से बड़े बड़े अपराधों की भी चिकित्सा सफलतापूर्वक हो सकती है। इसी लिए पूर्वोक्त बातें पहले ही कह देने की हमने ज़रूरत समझी। दूसरी प्रस्तावना के तौर पर अब हमें सिर्फ़ इतना ही कहना बाक़ी है कि जिस सम्बन्ध का यहाँ पर हमने ज़िक्र किया वह, हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति के अनुसार बर्ताव करने ही से, उत्पन्न होकर यथावत् बना रह सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सिर्फ़ अपने दुष्कृत्यों के दुःखद परिणाम भोग करने के लिए यदि बच्चा छोड़ दिया जाय तो उससे और माँ-बाप से कभी विरोध न हो। अतएव माँ-बाप के विषय में बच्चे के मन मे द्वेष-बुद्धि भी न पैदा हो। माँ-बाप को बच्चे जो शत्रु समझने लगते हैं वह बात न हो। अब सिर्फ़ यह दिखलाना बाक़ी है कि जहाँ हमारी निश्चित की हुई पद्धति के अनुसार शुरू से ही दृढ़ता के साथ बर्ताव होता है वहाँ माँ-बाप और सन्तान मे विशेष रूप से सख्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। ज़रूर मित्र-भाव उत्पन्न हो जाता है।

३४—माँ-बाप का बच्चों से परस्पर-विरोधी बर्ताव और उसका परिणाम।

आज कल की दशा ऐसी है कि लड़के माँ-बाप को शत्रु भी समझते हैं और मित्र भी। अर्थात् माँ-बाप के विषय में लड़के एक ही साथ शत्रु-मित्र-भाव दोनों रखते हैं। जिस तरह का बर्ताव माँ-बाप लड़कों के साथ करते हैं उसी तरह का संस्कार लड़कों के चित्त पर होता है। अर्थात् जैसा बर्ताव लड़कों के साथ किया जाता है वैसे ही ख़याल भी उनके हो जाते हैं। और माँ-बाप का बर्ताव भी कैसा होता है। कभी तो बच्चों को लालच दिखाया जाता है, कभी रोक-टोक की जाती है, कभी लाड़-प्यार किया जाता है, कभी धमकी-घुड़की दी जाती है, कभी बहुत नरमी का बर्ताव किया जाता है, कभी मार-पीट से काम लिया जाता है। इसी तरह के परस्पर-विरोधी बर्ताव बच्चों के साथ होते हैं। इन्हीं विरोधी बर्तावों के झूले मे बच्चे झूला करते हैं। अतएव माँ-बाप के विषय मे बच्चों के ख़याल भी ज़रूर ही परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। अर्थात् कभी वे उनको शत्रु समझते हैं और

कभी मित्र। माँ बहुत करके अपने छोटे बच्चे से इतना ही कहना काफ़ी समझती है कि मैं तेरी सबसे बढ़ कर मित्र हूँ—मैं तेरा सबसे अधिक प्यार करती हूँ। वह यह समझती है कि बच्चों को मेरी बात पर विश्वास करना चाहिए। अतएव इस कल्पना से वह यह नतीजा निकालती है कि जो कुछ मैं कहती हूँ उसे बच्चा ज़रूर सच समझेगा। "यह सब तुम्हारे ही हित के लिए—तुम्हारे ही कल्याण के लिए—है"। "तुम्हारी अपेक्षा मैं इस बात को अधिक समझती हूँ कि कौन काम तुम्हारे लिए अच्छा है"। "तुम अभी बच्चे हो, इसलिए तुम इस बात को नहीं समझ सकते, पर जब तुम बड़े होगे तब जो कुछ मैं कह रही हूँ उसके लिए तुम मेरे कृतज्ञ होगे"। ये और इसी तरह की और भी कितनी ही बाते रोज़ दुहराई तिहराई जाती हैं। परन्तु इधर इस तरह की बातें होती हैं। उधर बच्चे को रोज़ कोई न कोई वास्तविक दण्ड ज़रूर ही भुगतना पड़ता है। यह काम न कर, वह काम न कर, अमुक काम न कर, अमुक काम न कर—इस तरह हर घड़ी वह अपने मन के काम करने से रोका जाता है। "जो कुछ किया जा रहा है सब तुम्हारे ही हित के लिए है"—इस तरह के सिर्फ़ शब्द वह कानों से सुनता है; परन्तु ऐसे शब्दों के साथही साथ जो काम होते हैं उनसे उसे थोड़ी बहुत तकलीफ़ मिले बिना बहुधा नहीं रहती। माँ कहती जाती है कि आगे तुम्हे इससे फ़ायदा होगा, इसके कारण आगे तुम्हें सुख मिलेगा। परन्तु माँ का मतलब समझने भर के लिए उस समय बच्चा में बुद्धि नहीं होती। अतएव जो परिणाम उस समय उसे भुगतने पड़ते हैं उन्हीं के आधार पर वह उन कामों के भले या बुरे होने का अनुमान करता है। जब वह देखता है कि ये परिणाम बिलकुल ही सुखकारक नहीं—इनसे सुख तो होता नहीं, उलटा दुःख ही होता है—तब 'मैं तुम्हारा सबसे अधिक प्यार करती हूँ"—माँ की इस बात मे उसे शङ्का आने लगती है। वह समझने लगता है कि माँ का यह कहना व्यर्थ है। और क्या यह आशा रखना कि इसके सिवा बच्चा और कुछ समझेगा मूर्खता नहीं है? जो बाते बच्चा अपनी आँखों से देख रहा है उन्हीं के अनुरूप क्या वह अपने मन में विचार न करेगा? जो गवाही उसे मिल रही है—

जो साक्ष्य उसकी आँखों के सामने आ रहा है—उसी के अनुसार क्या बच्चे को निर्णय न करना चाहिए? यदि बच्चे की जगह पर उसकी माँ होती, अथवा यह कहिए कि यदि माँ उसी स्थिति को पहुँच जाती जिस स्थिति में बच्चा है, तो उसके भी ख़याल ज़रूर ऐसेही हो जाते। वह भी इसी तरह की तर्कना करती और निश्चय भी ठीक इसी तरह के करती। यदि उसके परिचित आदमियों मे से कोई ऐसा होता जो उसकी इच्छाओं का हमेशा विरोध करता, धमकी-घुड़की से हमेशा उसकी ख़बर लेता, और कभी कभी उसे प्रत्यक्ष दण्ड भी देता, पर साथ ही यह भी कहता जाता कि मुझे तुम्हारी भलाई का बहुत ख़याल है—मैं यह सब सिर्फ़ तुम्हारे कल्याण के लिए करता हूँ—तो वही इस तरह के कल्याण-चिन्तन की बहुत ही कम परवा करती। वह समझती कि यह सब बनावट है, और कुछ नहीं। फिर भला किस तरह वह यह आशा रख सकती है कि उसका बच्चा ऐसा ख़याल न करेगा?

३५—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति के हानि-लाभ का प्रदर्शक एक उदाहरण।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति दृढ़ता के साथ जारी की जाय तो उससे कैसे कैसे निराले परिणाम दृष्टि-गोचर होंगे। यदि माँ बाप को ख़ुद अपने हाथ से सजा न देकर उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करे और समय समय पर उसे इस बात की सूचना देती रहे कि तुझे यह काम करना चाहिए, यह न करना चाहिए—इससे तुझे अमुक अमुक स्वाभाविक दुःख भोगने पड़ेंगे—तो इससे बच्चे का बहुत हित हो। एक उदाहरण लीजिए। उदाहरण भी हम बहुत सीधा-सादा देते हैं। इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान मे आ जायगी कि बहुत छोटी उम्र से किस तरह हमारी शिक्षा-पद्धति व्यवहार मे लाई जा सकती है। बच्चे को हर एक बात का ज्ञान प्राप्त करने की स्वभाव ही से इच्छा होती है। इसी आदत के कारण वे कभी इस चीज़ को देखते हैं, कभी उस चीज़ को; कभी किसी विषय में पूँछ-पाछ करते हैं, कभी किसी विषय

में। संसार मे जो अनेक प्रकार के पदार्थ देख पड़ते हैं उनको ध्यान-पूर्वक
देख कर और तत्सम्बन्धी जुदा जुदा प्रयोग करके सब बातों की परीक्षा
और देख-भाल करने की प्रवृत्ति बच्चों मे स्वाभाविक होती है। इसी प्रवृत्ति
से प्रेरित होकर वे हर विषय की पूँछ-पाँछ और देख-भाल करते हैं। कल्पना
कीजिए कि इसी प्रवृत्ति से उत्साहित होकर कोई बच्चा काग़ज़ के टुकड़ों
को दीवे से जला रहा है और यह देख रहा है कि वे टुकड़े किस तरह
जलते हैं। ऐसे मौक़े पर उसकी माँ, जो बहुत ही साधारण समझ रखती
है, इस डर से कि कहीं बच्चा अपना हाथ न जला ले या आस-पास की
किसी चीज़ मे आग न लगा दे, उसे वैसा करने से तत्काल ही रोकती है,
और यदि बच्चा उसका कहना नहीं मानता तो काग़ज़ को तुरन्त उसके
हाथ से छीन लेती है। पर सौभाग्य से यदि बच्चे की माँ कुछ
समझदार है और इस बात को जानती है कि काग़ज़ को जलते
देख बच्चे को जो इतनी मौज मालूम होती है वह बहुत ही उपयोगी
जिज्ञासा का परिणाम है, और बच्चे की जिज्ञासा मे बाधा डालने से
जो परिणाम होता है उसे समझने भर को भी यदि उसमे बुद्धि है, तो वह
कभी वैसा व्यवहार न करेगी। अर्थात् न तो वह बच्चे को काग़ज़ जलाने
ही से रोकेगी और न उसे उसके हाथ से छीन ही लेगी। वह अपने मन मे
इस तरह कहेगी—"यदि मैं बच्चे को काग़ज़ जलाने से रोकूँगी तो उसके
जलाने से जो शिक्षा बच्चे को मिलेगी उससे वह वञ्चित रह जायगा। यह
सच है कि काग़ज़ छीन लेने से बच्चा तत्काल जलने से बच जायगा। पर
इससे लाभ ही क्या हो सकता है? एक न एक दिन बच्चा जरूर ही अपने
हाथ को जला लेगा। अतएव उसके जीवन की रक्षा के लिए इस बात की
बड़ी ज़रूरत है कि वह आग के गुण-धर्म्म का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा
प्राप्त करे। कहीं कोई हानि न पहुँचे, इस डर से यदि आज मैं इसे काग़ज़
जलाने से मना करती हूँ तो किसी और मौक़े पर, जब कोई मना करने के
लिए इसके पास मौजूद न होगा, यह अवश्य ही काग़ज़ जलायेगा और जिस
हानि से मैं इसकी रक्षा करना चाहती हूँ उसे या उससे भी बड़ी हानि
अवश्य ही उठावेगा। पर इस समय मैं इसके पास मौजूद हूँ। अतः इसी

समय उससे कागज़ जलाने का तजरिबा कराना चाहिए। क्योंकि यदि इसके किसी अङ्ग पर आग गिर भी जायगी तो मैं इसे अधिक जल जाने से बचा लूँगी। इसके सिवा कागज़ जलाने से इसे आनन्द आता है—इसका मनोरञ्जन होता है—इस मनोरञ्जन से किसी और की कोई हानि नहीं। पर इससे इसे आग के गुण-धर्म्म-सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति ज़रूर है। अतएव इस मनोरञ्जन मे बाधा डालने से इसे ज़रूर बुरा लगेगा और मेरी तरफ़ से थोड़ा बहुत द्वेष-भाव इसके मन मे ज़रूर पैदा हो जायगा। जिस तकलीफ़ से मैं इसे बचाना चाहती हूँ उसके विषय में यह कुछ नही जानता—उसका इसे कुछ भी ज्ञान नहीं। अतएव इसकी इच्छा का भङ्ग होने से जो तकलीफ़ इसे होगी उसका असर ज़रूर उसके दिल पर होगा और उस तकलीफ़ का एक-मात्र कारण यह मुझे ही समझेगा। जिस दुःख का कुछ भी ख़याल इसे नहीं है—जिसकी अत्यल्प भी कल्पना इसके मन मे नहीं है—अतएव इसके लिए जिसका अस्तित्व ही नही है, उससे इसे बचाने का प्रयत्न मैं ऐसे ढँग से करने जाती हूँ जो इसे बहुत दुःखदायक होगा। इस कारण यह अपने मन मे समझेगा कि मेरी दुःख देनेवाली यही है। अतएव मेरे लिए सबसे अच्छी बात यह है कि भावी दुर्घटना से मैं इसे सिर्फ़ सावधान करदूँ और बहुत अधिक तकलीफ़ से इसे बचाने के लिए तैयार रहूँ"। इस तरह अपने मन मे सोच-विचार करके वह बच्चे से कहेगी—"देखो ऐसा करोगे तो शायद तुम जल जावगे"। बच्चे बहुधा इस तरह की शिक्षा नहीं मानते। वे जो कुछ करते होते हैं उसे करही डालते हैं। कल्पना कीजिए कि इस बच्चे ने भी अपनी माँ की बात नहीं मानी। फल यह हुआ कि उसका हाथ जल गया। अब विचार कीजिए, इससे नतीजे कौन कौन निकले? पहला नतीजा यह निकला कि जो ज्ञान बच्चे को कभी न कभी होना ही था और जिसकी प्राप्ति बच्चे की रक्षा के लिए जितना ही शीघ्र हो जाय उतना ही अच्छा, वह ज्ञान आज ही उसे हो गया। दूसरा नतीजा, बच्चे को मालूम हो गया कि माँ जो मुझे ऐसा करने से मना करती थी वह मेरा कल्याण करने के इरादे से ही करती थी। इससे बच्चे के ध्यान में यह बात भी आगई कि माँ उसकी विशेष शुभचिन्तना करनेवाली है। उसे यह

भी मालूम हो गया कि माँ की बात पर विश्वास करना चाहिए—वह बड़ी दयालु है। अतएव जिन कारणों से वह माँ का प्यार करता है उनमें, इस घटना से, एक और कारण की वृद्धि हुई। अर्थात् बच्चे के हृदय में अपनी माँ के विषय में अधिक प्रेम-बुद्धि उत्पन्न हो गई।

३६—अधिक भयङ्कर प्रसंगों को छोड़ कर औरों में बच्चों को मनमाने काम करने से ज़बरदस्ती न रोकना चाहिए।

कभी कभी ऐसे भी मौक़े आते हैं जब बच्चों के हाथ-पैर टूट जाने या सख़्त चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ों पर बच्चों का ज़रूर प्रतिबन्ध करना चाहिए—उन्हें जबरदस्ती रोकना चाहिए। परन्तु इस तरह के मौक़े हमेशा नहीं आया करते, कभी कभी आते हैं। रोज़ तो ऐसे ही मौक़े आते हैं जिनमें बच्चों को थोड़ी बहुत चोट लग जाने या और कोई अत्यल्प हानि पहुँचने का डर रहता है। ऐसे प्रसङ्ग आने पर बच्चों का प्रतिबन्ध करना उचित नहीं। उन्हें भावी चोट या हानि से बचाने की कोई खटपट करना मुनासिब नहीं। उन्हें सिर्फ़ सावधान कर देना चाहिए। उनसे सिर्फ़ यह कह देना चाहिए कि अमुक काम करने से तुम्हे अमुक तकलीफ़ मिलेगी। बस इतनी ही सूचना उनके लिए काफ़ी होगी। इस तरह का व्यवहार करने से, साधारण रीति पर माँ-बाप से जितनी प्रीति बच्चे रखते हैं उससे बहुत अधिक रक्खेंगे। उनका मातृ-पितृ-प्रेम बहुत अधिक बढ़ जायगा। और और बातों की तरह इन बातों मे भी यदि प्राकृतिक परिणामरूपी दण्ड भोगने की रीति काम मे लाई जाय, अर्थात् बाहर दौड़ने धूपने और घर मे खेल-कूद-सम्बन्धी तजरिबे करने में यदि बच्चों का प्रतिबन्ध न किया जाय, तो बहुत लाभ हो। यहाँ पर हमारा मतलब उस दौड़-धूप और खेल-कूद से है जिसमे बच्चो के थोडी बहुत चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ों पर जितनी चोट लगने या हानि होने की सम्भावना हो उसी की मात्रा के अनुसार कम या अधिक दृढ़ता से यदि उपदेश दिया जाय, अर्थात् जितनी ही अधिक तकलीफ़ पहुँचने का डर हो उतनी ही अधिक सख़्ती से हिदायत की जाय, तो माँ-बाप के विषय में बच्चों के हृदय में अधिक श्रद्धा उत्पन्न हुए

बिना न रहेगी। इस तरह के बर्त्ताव से माँ-बाप पर बच्चो का विश्वास जरूर बढ़ जायगा। उनकी यह भावना अधिकाधिक दृढ़ होती जायगी कि माँ-बाप की आज्ञा के अनुसार बर्ताव करने ही मे हमारा कल्याण है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस तरह के व्यवहार से, सन्तान को प्रत्यक्ष दण्ड देने के कारण उनके मन में उत्पन्न हुई विरक्ति या अप्रीति का भाजन होने से मां-बाप का बचाव होता है। पर जैसा यहाँ पर सिद्ध हुआ, इस तरीक़े से सिर्फ़ इतना लाभ नही है। इससे माँ-बाप उस अप्रीति के पात्र होने से भी बच जाते हैं जो यह काम न कर, वह काम न कर, इत्यादि कह कर बार बार बच्चों का प्रतिबन्ध करने से उनके मन में उत्पन्न होती है। यही नहीं, किन्तु जो बातें माँ-बाप और सन्तान में परस्पर झगड़े बखेड़े का कारण होती हैं वही उनमें प्रेम-भाव उत्पन्न करके प्रति दिन उसकी वृद्धि भी करती हैं। आज कल की नैतिक शिक्षा का तरीक़ा यह है कि माँ-बाप मुँह से तो यह ज़ाहिर करते हैं कि वे बच्चों का सबसे अधिक प्यार करते हैं—वे बच्चों के सबसे बढ़ कर मित्र हैं—पर काम उनके ऐसे होते हैं जिनसे बच्चों को इसकी उलटी प्रतीति होती है। उनके कृत्यों से बच्चों के मन में यह भावना हो जाती है कि हमारे माँ-बाप हमसे मित्रवत् नहीं किन्तु शत्रुवत् व्यवहार करते हैं। परन्तु हमारी निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति का अनुसरण करने से बच्चो को अपने विषय मे माँ-बाप की प्रीति का प्रति दिन प्रत्यक्ष अनुभव होता जायगा। इससे बच्चों के हृदय मे माँ-बाप के विषय में जितना विश्वास और जितना प्रेम पैदा होगा उतना और किसी तरह से होना सम्भव नहीं।

३७—गुरुतर अपराधों के विषय में नैसर्गिक शिक्षा-पद्धति के प्रयोग का विचार।

इस प्रकार इस बात को सिद्ध करने के बाद कि हमारे बतलाये हुए तरीक़े को हमेशा काम में लाने से किस तरह माँ-बाप और बच्चों में पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होगी, अब हम पूर्वोक्त प्रश्न का विचार करते हैं

कि—"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो हमारी शिक्षा-पद्धति किस तरह काम में लाई जानी चाहिए ?"

३८—प्राकृतिक शिक्षा की बदौलत बड़े बड़े अपराधों की संख्या और गुरुता का आपही आप कम हो जाना।

पहले इस बात को याद रखना चाहिए कि जो शिक्षा-पद्धति इस समय प्रचलित है उसकी जगह पर यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति प्रचलित की जायगी तो बच्चों के हाथ से उतने अधिक गुरुतर अपराध न होंगे जितने कि आज कल होते हैं और न उनका गुरुत्व ही उतना अधिक होगा। अर्थात् पहले तो बच्चे बड़े बड़े अपराध बहुत कम करेंगे और जो करेंगे उनका स्वरूप विशेष भयङ्कर न होगा। बहुत से बच्चो की शिक्षा का प्रबन्ध शुरू ही से अच्छा नहीं होता। वे बहुत बुरी तरह रक्खे जाते हैं। इससे उनका स्वभाव बिगड़ जाता है और वे तुनुक-मिज़ाज हो जाते हैं। बार बार मारे पीटे और धमकाये जाने से बच्चों के मन मे भेद-भाव पैदा हो जाता है। माँ-बाप से वे दूर रहना चाहते हैं। इससे सहानुभूति कम हो जाती है। अतएव जिन अपराधो का प्रतिबन्ध सहानुभूति के कारण होता है उनका दरवाज़ा खुल जाता है। कुछ अपराध ऐसे हैं जो, माँ-बाप और बच्चों मे परस्पर सहानुभूति अर्थात् हमदर्दी होने के कारण, बच्चों के हाथ से होते ही नहीं। पर भेद-भाव के कारण जब सहानुभूति नष्ट या कम हो जाती है तब प्रतिबन्धकता न रहने से, वही अपराध बच्चे करने लगते हैं। एक ही कुटुम्ब के लड़के बहुधा एक दूसरे से बुरा बर्ताव करते हैं। यह बुरा बर्ताव बहुत करके उस कठोर बर्ताव का परिणाम होता है जो घर के बड़े बूढे या माँ-बाप लड़कों के साथ करते हैं। इसका कारण कुछ तो बड़े बूढ़ों का प्रत्यक्ष बर्ताव होता है, अर्थात् जैसा बर्ताव वे लोग बच्चो से करते हैं वैसा ही बर्ताव बचचे भी अपने हमजोली के लड़कों से करने लगते हैं, और कुछ घरवालों की धमकी, घुड़की और मार-पीट से बच्चो का स्वभाव ख़राब हो जाने के कारण उनमे जो बदला लेने की प्रति-हिंसा-बुद्धि जागृत हो उठती है, उससे वे ऐसा करते हैं। अतएव यह निर्विवाद है

कि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-प्रणाली के प्रचार से यदि परस्पर अधिक प्रेम-भाव और सुख-साधन की प्रवृत्ति बच्चों के हृदय में उदित हो उठेगी तो वे एक दूसरे के प्रतिकूल बहुत कम अपराध करेंगे और यदि करेंगे भी तो अपराधों की गुरुता उतनी अधिक न होगी। चोरी करना और झूठ बोलना इत्यादि अपराध विशेष निंद्य हैं। ऐसे अपराध भी कम हो जायँगे। जिन कारणों से बच्चों का स्वभाव सुधर जायगा उन्हीं कारणों से इस तरह के गुरुतर और निंद्य अपराधों की संख्या भी घट जायगी। घरेलू झगड़े-बखेड़े ही ऐसे ही अपराधो की जड़ होते हैं—माँ-बाप और सन्तान के पारस्परिक भेद-भाव ही को इनका बीज समझना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली बातो का यह एक प्रधान नियम है कि जिन लोगो को ऊँचे दरजे का सुख नहीं मिलता वे नीचे दरजे के सुख की तरफ़ झुक पड़ते हैं। जो लोग सांसारिक बातों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनकी दृष्टि में यह नियम आये बिना नहीं रहता। उनके ध्यान में यह बात ज़रूर आ जाती है। एक दूसरे के सुख-दुःख मे शामिल होने, अर्थात् परस्पर सहानुभूति रखने, से जो आनन्द मिलता है वह ऊँचे दरजे का आनन्द है। जिन लोगों को यह आनन्द नहीं प्राप्त होता वे विवश होकर स्वार्थ-साधन से प्राप्त होनेवाले नीचे दरजे के आनन्द की तरफ़ झुक जाते हैं। अतएव माँ-बाप और सन्तान मे यदि अन्योन्य-सुखसाधन की वाञ्छा जागृत रहेगी तो स्वार्थ-साधन की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले अपराधों की संख्या ज़रूर कम हो जायगी।

३८—बड़े बड़े अपराध होने पर भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली नीति के व्यवहार की ज़रूरत।

तथापि यदि ऐसे अपराध हों, और शिक्षा-पद्धति चाहे जितनी अच्छी हो इस तरह के अपराध थोड़े बहुत ज़रूर ही होंगे, तो उनके लिए भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली युक्ति काम मे लाना चाहिए। जिस विश्वास और प्रेम-बन्धन का वर्णन ऊपर किया गया वह यदि माँ-बाप और सन्तान मे परस्पर विद्यमान है तो इस युक्ति से कामयाबी हुए बिना न रहेगी।

वह ज़रूर कारगर होगी। जितने प्राकृतिक परिणाम हैं, उदाहरण के लिए चोरी के, सब दो तरह के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष परिणाम वे कहलाते हैं जो विशुद्ध न्याय पर अवलम्बित रहते हैं, अर्थात् जिनको हम केवल न्याय के आधार पर स्थित पाते हैं। उदाहरण के लिए चोरी की चीज़ उसके मालिक को लौटा देना प्रत्यक्ष परिणाम है। क्योंकि जो चीज़ जिसकी है उसे उसको लौटा देना ही सच्चा न्याय है। जो राजा सच्चा न्यायी है वह बुरे काम का प्रायश्चित्त अच्छे काम के द्वारा कराता है। यदि किसी ने कोई असत् काम किया तो उससे सत् काम करा कर पूर्व पाप का चालन किये जाने की वह आज्ञा देता है। हर एक माँ-बाप को इसी तरह का सच्चा न्यायी बनने की कोशिश करना चाहिए और सन्तान के साथ खरे न्याय का बर्ताव रखना चाहिए। यदि बच्चे किसी की चीज़ चुराले तो या तो वह चीज़ उसके मालिक को वापस करवा कर या, यदि वह खर्च हो गई है तो, उसका बदला दिलवा कर, माँ-बाप को बच्चों से चोरी के असत्कर्म्म का प्रायश्चित्त कराना उचित है। यदि चीज़ के बदले उसकी क़ीमत देनी पड़े तो वह बच्चों के जेब-ख़र्च से दिलवाई जाय। चोरी का परोक्ष परिणाम माँ-बाप की विशेष नाराज़गी है। यह परिणाम अधिक सगीन है। जो लोग इतने सभ्य और समझदार हैं कि चोरी को पाप समझते हैं उनमें इस परिणाम का अस्तित्व ज़रूर पाया जाता है। बच्चों को चोरी करने का अपराधी पाकर वे ज़रूर नाराज़ होते हैं—ज़रूर अप्रसन्नता और असन्तोष प्रकट करते हैं। परन्तु, यहाँ पर, यह आक्षेप किया जा सकता है कि माँ-बाप अपनी अप्रसन्नता आज कल भी तो धमकी-घुड़की देकर या मार-पीट करके प्रकट करते हैं। यह तो एक साधारण सी बात है। इसमें कोई नवीनता नहीं। फिर आपकी और वर्तमान पद्धति में भेद ही क्या रहा? बहुत ठीक है। हम मानते हैं कि इसमे कोई नयापन नहीं। हम पहले ही क़बूल कर चुके हैं कि किसी किसी बात मे हमारी बतलाई हुई पद्धति का अनुसरण आप ही आप हो जाता है। हम यह भी दिखला चुके हैं कि इस समय जितनी शिक्षा-पद्धतियाँ जारी हैं सबका स्वाभाविक झुकाव सच्ची शिक्षा-पद्धति ही की तरफ़ है। हम एक

दफ़े पहले कह आये हैं, तथापि यहाँ पर हम अपने कहे को दोहराते हैं, कि यदि माँ-बाप और सन्तान का बर्ताव परस्पर प्रीति-पूर्ण हो—यदि हमेशा मेहरबानी से काम लिया जाय—तो इस प्राकृतिक परिणाम की कठोरता ज़रूरत के अनुसार थोड़ी या बहुत होगी । अथवा यों कहिए कि उसकी कोमलता या कठोरता मनुष्यों के समाज-विशेष की स्थिति के अनुसार होगी । समाज की अवस्था हमेशा देश-काल के अनुसार होती है । जिस समय जिस समाज के आदमी असभ्य और अशिक्षित होते हैं उस समय उस समाज के बच्चे भी वैसे ही होते हैं । अतएव ऐसे समय के माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप भी अधिक उद्दण्ड होगा । पर जिन समाजों की स्थिति कुछ अच्छी है—जिन्होंने अपनी उन्नति कर ली है—अर्थात् जो औरों की अपेक्षा अधिक सभ्य और शिक्षित हैं उनकी सन्तति भी वैसी ही होगी । अतएव इस तरह के समाज में माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप उतना उग्र न होगा । क्योंकि स्थिति उन्नत होने के कारण बच्चों के लिए कोमलता का बर्ताव ही काफ़ी होगा, सख़्ती करने की ज़रूरत ही न पड़ेगी । यहाँ पर हमे एक विशेष बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है । वह बात यह है कि माँ-बाप और सन्तान मे परस्पर प्रेम की मात्रा जितनी होगी उसी के गौरव-लाघव के अनुसार बड़े बड़े अपराधों के कारण पैदा हुए माँ-बाप के क्रोध की मात्रा कम या ज़ियादा होगी और तदनुसार ही इस तरह के अपराधों को घटाने मे वह प्रेम कम या ज़ियादा उपयोगी होगा । जिस परिमाण मे प्राकृतिक परिणाम-सम्बन्धिनी शिक्षा का उपयोग और और विषयों मे किया जाता है उसी परिमाण मे उसका उपयोग इस विषय मे भी करने से ज़रूर कार्य्य-सिद्धि होगी । इस बात की सचाई का तजरिबा हर आदमी कर सकता है । संसार की तरफ़ आँख उठा कर सिर्फ़ एक नज़र देखने ही से इसका सबूत मिल जायगा ।

४०—प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति की छोटे बड़े सब अपराधों के लिए उपयोगिता ।

जब कोई किसी का अपमान करता है तब अपमान करनेवाले को

कोई क़सूर या शरारत करके माँ-बाप को अप्रसन्न करना उन्हे बरदाश्त ही नहीं होता। अतएव फिर वैसा काम न करने के लिए वे बहुत ख़बरदारी रखते हैं। यही नहीं, किन्तु यह अप्रसन्नता इतनी हितकर है कि इसके कारण बच्चों के चित्त पर और भी अच्छे अच्छे असर पड़ते हैं। "जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ और जो मेरे साथ इतना अच्छा बर्ताव रखता है उसी स्नेह-शील पिता की सहानुभूति से मैं इतनी देर के लिए वञ्चित हो गया"—इस तरह अपने मन में सोच कर पुत्र को जो मानसिक दुःख होता है वह उस शारीरिक दुःख की जगह पर है जो उसे बहुधा मार-पीट कर दिया जाता है। यह मानसिक दुःख यदि मार-पीट कर पहुँचाये गये दुःख से अधिक नहीं तो उसके बराबर ज़रूर ही कारगर होता है। इसके सिवा शारीरिक दण्ड देने से बच्चो मे प्रतिहिंसा और भयवर्द्धक बुद्धि विकसित हो उठती है। उनके जी में डर समा जाता है और बदला लेने की भी प्रवृत्ति उनमे जागृत हो जाती है। परन्तु दूसरी रीति, अर्थात् मानसिक दण्ड से, माँ-बाप को दुखी देख बच्चे भी दुखी होते हैं, उन्हे दुःख पहुँचाने के कारण वे सच्चे दिल से अफ़सोस करते हैं और यह अभिलाषा रखते हैं कि किसी न किसी तरह हममे फिर पूर्ववत् प्रेम पैदा हो जाय। दुनिया मे जितने अपराध—जितने जुर्म—होते हैं सबका आदि कारण स्वार्थपरता की प्रबलता है। जब मनुष्य की यह वासना बहुत प्रबल हो उठती है कि सबसे अधिक सुख हमी को मिले तभी मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित काम करता है। परन्तु हमारी शिक्षा-पद्धति के अवलम्बन से बच्चों के दिल में इस तरह की वासना—इस तरह की स्वार्थबुद्धि—नहीं पैदा होती। उसकी प्रेरणा से बच्चों में परोपकार और परहिताचरण की वासना प्रबल हो उठती है, अतएव उससे दूसरों को क्लेश पहुँचानेवाले अपराधों की रुकावट हो जाती है। सारांश यह कि प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति छोटे बड़े सब तरह के अपराधों के विषय में काम दे सकती है। उसका व्यवहार करने से अपराधों की सिर्फ़ संख्या ही नहीं कम हो जाती, किन्तु धीरे धीरे उनका सर्वतोभाव से नाश हो जाता है—उनका समूल निर्मूलन हो जाता है।

४१—शिक्षा में कठोर दण्ड देने से लाभ के बदले हानि ।

बहुत विस्तार कौन करे, सच तो यह है कि सख़्ती से सख़्ती और नरमी
से नरमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति।
जिन बच्चों के साथ निष्ठुरता का बर्ताव किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते
हैं। पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रक्खी जाती है उनमे सहानुभूति उत्पन्न
हुए विना नहीं रहती। प्रेमपूर्ण बर्ताव करने से बच्चों मे भी प्रेम का ज़रूर
उदय होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब-व्यवस्था मे भी अत्यन्त
कठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द करने ही के लिए बनाये जाते हैं,
तथापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु, प्रतिकूल इसके,
सौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं
होने देते। वे मनुष्य के मनोविकारों को इतना शान्त और सौम्य कर देते हैं
कि औरों का अपराध करके उन्हे दुःख पहुँचाने की मनुष्यों की प्रवृत्ति बहुत
कम हो जाती है। सर जॉन लॉक नामक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता को यह कहे
बहुत दिन हुए कि—"बच्चों को पढ़ाने लिखाने में बहुत कठोर दण्ड देने
से तादृश लाभ नहीं; हाँ उलटी हानि ज़रूर है। मुझे विश्वास है कि जिन
लड़कों ने वचपन मे अधिक मार खाई है वे, बड़े होने पर, बिना किसी
विशेष कारण के, बहुत करके सर्वोत्तम नहीं निकले"। इस बात की पुष्टि
में हम, यहाँ पर प्यंटनविल्ली जेल के सरकारी पादरी राजर्स साहब की,
अभी हाल में दी हुई, सम्मति प्रकट करना ज़रूरी समझते हैं। उन्होंने
अपना निज का तजरिबा सर्वसाधारण में इस तरह बयान किया है कि
जिन अपराधियों ने लड़कपन मे बेत खाये हैं वही बहुत करके बार बार
जेल की हवा खाने आया करते हैं। विपरीत इसके प्रेमपूर्ण व्यवहार करने
से बच्चों पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है। अभी थोड़े ही दिन हुए,
पेरिस मे हम एक फ़रासीसी मेम के मकान पर ठहरे थे। उस मेम ने इस
विषय का एक उत्तम उदाहरण हमें सुनाया। उसके एक छोटा लड़का था।
वह बहुत ही शरीर और नटखट था। वह रोज़ ऊधम मचाया करता था।

कोई क़सूर या शरारत करके माँ-बाप को अप्रसन्न करना उन्हें बरदाश्त ही नहीं होता। अतएव फिर वैसा काम न करने के लिए वे बहुत ख़बरदारी रखते हैं। यही नहीं, किन्तु यह अप्रसन्नता इतनी हितकर है कि इसके कारण बच्चों के चित्त पर और भी अच्छे अच्छे असर पड़ते हैं। "जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ और जो मेरे साथ इतना अच्छा बर्ताव रखता है उसी स्नेह-शील पिता की सहानुभूति से मैं इतनी देर के लिए वञ्चित हो गया"—इस तरह अपने मन मे सोच कर पुत्र को जो मानसिक दुःख होता है वह उस शारीरिक दुःख की जगह पर है जो उसे बहुधा मार-पीट कर दिया जाता है। यह मानसिक दुःख यदि मार-पीट कर पहुँचाये गये दुःख से अधिक नहीं तो उसके बराबर ज़रूर ही कारगर होता है। इसके सिवा शारीरिक दण्ड देने से बच्चो मे प्रतिहिंसा और भयवर्द्धक बुद्धि विकसित हो उठती है। उनके जी मे डर समा जाता है और बदला लेने की भी प्रवृत्ति उनमें जागृत हो जाती है। परन्तु दूसरी रीति, अर्थात् मानसिक दण्ड से, माँ-बाप को दुखी देख बच्चे भी दुखी होते हैं, उन्हें दु.ख पहुँचाने के कारण वे सच्चे दिल से अफ़सोस करते हैं और यह अभिलाषा रखते हैं कि किसी न किसी तरह हममे फिर पूर्ववत् प्रेम पैदा हो जाय। दुनिया मे जितने अपराध—जितने जुर्म—होते हैं सबका आदि कारण स्वार्थपरता की प्रबलता है। जब मनुष्य की यह वासना बहुत प्रबल हो उठती है कि सबसे अधिक सुख हमी को मिले तभी मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित काम करता है। परन्तु हमारी शिक्षा-पद्धति के अवलम्बन से बच्चों के दिल में इस तरह की वासना—इस तरह की स्वार्थबुद्धि—नही पैदा होती। उसकी प्रेरणा से बच्चों मे परोपकार और परहिताचरण की वासना प्रबल हो उठती है, अतएव उससे दूसरों को क्लेश पहुँचानेवाले अपराधों की रुकावट हो जाती है। सारांश यह कि प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति छोटे बड़े सब तरह के अपराधों के विषय में काम दे सकती है। उसका व्यवहार करने से अपराधों की सिर्फ़ सख्या ही नहीं कम हो जाती, किन्तु धीरे धीरे उनका सर्वतोभाव से नाश हो जाता है—उनका समूल निर्मूलन हो जाता है।

४१—शिक्षा में कठोर दण्ड देने से लाभ के बदले हानि।

बहुत विस्तार कौन करे, सच तो यह है कि सख़्ती से सख़्ती और नरमी से नरमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिन बच्चों के साथ निष्ठुरता का बर्ताव किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते हैं। पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रक्खी जाती है उनमे सहानुभूति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। प्रेमपूर्ण बर्ताव करने से बच्चों में भी प्रेम का ज़रूर उदय होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब-व्यवस्था मे भी अत्यन्त कठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द करने ही के लिए बनाये जाते हैं; तथापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु, प्रतिकूल इसके, सौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं होने देते। वे मनुष्य के मनोविकारो को इतना शान्त और सौम्य कर देते हैं कि औरो का अपराध करके उन्हे दुःख पहुँचाने की मनुष्यो की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है। सर जॉन लॉक नामक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता को यह कहे बहुत दिन हुए कि—"बच्चों को पढ़ाने लिखाने में बहुत कठोर दण्ड देने से तादृश लाभ नहीं, हाँ उलटी हानि ज़रूर है। मुझे विश्वास है कि जिन लड़कों ने बचपन में अधिक मार खाई है वे, बडे होने पर, बिना किसी विशेष कारण के, बहुत करके सर्वोत्तम नहीं निकले"। इस बात की पुष्टि में हम, यहाँ पर प्यंटनविली जेल के सरकारी पादरी राजर्स साहब की, अभी हाल में दी हुई, सम्मति प्रकट करना ज़रूरी समझते हैं। उन्होंने अपना निज का तजरिबा सर्वसाधारण में इस तरह बयान किया है कि जिन अपराधियों ने लड़कपन मे बेत खाये हैं वही बहुत करके बार बार जेल की हवा खाने आया करते हैं। विपरीत इसके प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से बच्चों पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है। अभी थोडे ही दिन हुए, पेरिस में हम एक फ़रासीसी मेम के मकान पर ठहरे थे। उस मेम ने इस विषय का एक उत्तम उदाहरण हमें सुनाया। उसके एक छोटा लड़का था। वह बहुत ही शरीर और नटखट था। वह रोज़ ऊधम मचाया करता था।

न वह घर ही में सीधी तरह रहता था और न स्कूल ही मे। लोग उससे आजिज़ आ गये थे। पर उसे सुधारने की किसी में भी शक्ति न थी। वह घर मे हमेशा गड़बड़ मचाये रहता था। इस कारण उस मेम ने हमसे क्षमा माँगी। उसने कहा, इस लड़के के सीधा करने का कोई इलाज नहीं। मुझे डर है कि इसके बड़े भाई की तरह इसे भी इँग्लेंड के किसी स्कूल में भेजना पड़ेगा। इसी तरकीब से इसका बड़ा भाई सुधरा था। अत. यही एक इलाज अब इसका करना बाक़ी है। शायद इससे कामयाबी हो। उसने कहा कि इस लड़के का बड़ा भाई पेरिस के कितने ही स्कूलों में भरती किया गया; पर कोई लाभ न हुआ। वह जैसा का तैसा बना रहा। तब लोगों ने उसे इँग्लेंड भेजने की राय दी। इससे निराश होकर उसे इँग्लेंड भेजना पड़ा। इँग्लेंड से जब वह घर लौटा तब उसके सारे दुर्गुण जाते रहे थे। पहले वह जितना बुरा था उतना ही अब भला हो गया था। उस मेम ने इस विलक्षण सुधार का एक-मात्र कारण फ़्रांस की अपेक्षा इँग्लेंड की शिक्षा-पद्धति की कोमलता बतलाया।

४२—प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली के विषय में उपदेशपूर्ण नियम देने का निश्चय।

प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली के मूल सिद्धान्तों का विवेचन ऊपर हो चुका। सबसे अच्छी बात अब यह होगी कि इस प्रकरण के अवशिष्ट अंश मे हम थोड़े से ऐसे मुख्य मुख्य विधि-वाक्य और नियम लिखदें जो इन सिद्धान्तों से निकलते हैं। हम इस विषय को बहुत बढ़ाना नहीं चाहते। अतएव इन विधि-वाक्यों और नियमों को हम, उपदेश के ढंग पर, थोड़े ही में देते हैं।

४३—बच्चे से बहुत अधिक नैतिक भलाई की आशा न रखना।

बच्चों से बहुत अधिक नैतिक भलाई की आशा मत रखिए। हम लोगों के पहले पूर्वज असभ्य और जंगली थे। अतएव प्रत्येक शिक्षित आदमी का स्वभाव, बचपन में, उन्हीं असभ्य और जंगली आदमियो के स्वभाव से

मिलता जुलता है । जिस तरह बहुत छोटी उम्र मे लडकों की चिपटी नाक आगे को ज़ियादह खुले हुए नथने, मोटे मोटे होठ, फैली हुई आँखें, अप्रशस्त मुँह इत्यादि अवयव असभ्य आदमियों के अवयवो के सदृश होते हैं उसी तरह उनका स्वभाव भी, कुछ समय तक, असभ्यो के स्वभाव के सदृश होता है । इसी से बचपन में चोरी करने, निर्दयता के काम करने और झूठ बोलने आदि की तरफ़ लड़कों की प्रवृत्ति अधिक रहती है । यह प्रवृत्ति साधारण तौर पर प्रायः सभी लड़कों मे पाई जाती है । परन्तु जिस तरह बच्चो के अवयव धीरे धीरे आपही आप सुधर जाते हैं उसी तरह उनकी यह प्रवृत्ति भी बिना शिक्षा ही के थोड़ी बहुत ज़रूर सुधर जाती है । सब लोग समझते हैं कि बच्चों का चित्त विशुद्ध होता है—वे सर्वथा निरपराध और निष्पाप होते हैं । जहाँ तक बुरी बातों से सम्बन्ध है तहाँ तक यह समझ बिलकुल सही है । बुरी बातों का ज्ञान बच्चों को ज़रूर नहीं होता । परन्तु बुरी प्रवृत्तियों के विषय में इस तरह की समझ रखना बिलकुल ग़लत है । घर में जिस समय लड़के खेल-कूद रहे हों उस समय सिर्फ़ आध घटे उनको ध्यान से देखने से हमारे कहने की सत्यता मालूम हो जायगी । इसकी परीक्षा चाहे जो कर देखे । जब बच्चे अपनेही भरोसे पर छोड़ दिये जाते हैं, जैसा कि स्कूलों में, तब वे एक दूसरे के साथ बडे आदमियों की अपेक्षा अधिक पशुवत् बर्ताव करते हैं । अर्थात् कोई रोक टोक करनेवाला पास न रहने से वे परस्पर बड़ी ही निर्दयता से पेश आते हैं । यदि वे बहुतही छोटी उम्र में बिना प्रतिबन्ध के छोड दिये जाते तो उनका पशुवत् बर्ताव और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक देखने को मिलता ।

४४—नीति-विषयक असामयिक परिपक्वता से हानि ।

बच्चों को ऊँचे दरजे की सदाचरण-शिक्षा देना बुद्धिमानी का काम नहीं । यही नहीं, किन्तु उत्तमाचरण रखने के लिए उन्हे बहुत अधिक लालच देना या प्रेरणा करना भी उचित नहीं । असमय मे ही बुद्धि की परिपकता होने से बुरे परिणाम होते हैं । इस बात को तो बहुत लोग अच्छी तरह जान गये हैं पर उन्हें अभी इस बात का जानना बाक़ी है कि असमय मे नीति-

विषयक परिपक्वता प्राप्त होने से भी परिणाम अच्छे नहीं होते। दोनों प्रकार की ऐसी परिपक्कतायें हानिकारक हैं। ऊँचे दरजे की हमारी मानसिक शक्तियों की तरह, ऊँचे दरजे के हमारे नैतिक मनोभाव भी बहुत कुछ पेचीदा होते हैं—बहुत कुछ परस्पर मिले हुए होते हैं। अतएव इन दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास होने में और शक्तियों की अपेक्षा अधिक देर लगती है। यदि इनमे उत्तेजना के बल से समय के पहले ही तेज़ी पैदा कर दी जायगी तो भावी सदाचरणशीलता को हानि पहुँचे बिना न रहेगी। इसी से नियम के प्रतिकूल यह बात अकसर देखी जाती है कि जो लोग बचपन मे नई उत्पन्न हुई सदाचरण-शीलता के नमूने थे वे पीछे से धीरे धीरे बिगड़ गये हैं। यहाँ तक कि अन्त मे उनका आचरण साधारण आदमियों के आचरण से भी बुरा हो गया है। विपरीत इसके, बड़े होने पर, किसी किसी आदमी का आचरण यहाँ तक उत्तम हो गया है कि उसके लड़कपन के आचरण से यह ज़रा भी न मालूम होता था कि वह इतना सदाचरण-शील होगा। ऐसे विपरीत उदाहरणों का कारण लोगों को मालूम नहीं रहता। इसी से बिना अच्छी तरह विचार किये वह उनकी समझ में नहीं आता।

४५—औसत दरजे के उपायों और परिणामों से सन्तोष।

इसीसे औसत दरजे के उपायों और औसत ही दरजे के परिणामों से सन्तोष करना चाहिए। उपाय मध्यम होने से फल भी मध्यम ही होगा। पर उसी से कृतार्थता माननी चाहिए। याद रखिए, ऊँचे दरजे की बुद्धि की तरह ऊँचे दरजे की सारासार-विचार-शक्ति भी धीरे ही धीरे प्राप्त होती है। इससे अपने लडके मे तुम्हें जो हर घड़ी नये नये दोष देख पड़ते हैं उन्हे देख कर क्रोध न आवेगा। तुम यह समझ कर चुप रहोगे कि आगे ये दोष धीरे धीरे दूर हो जायँगे। बहुत लोग अपने बच्चो की दुःशीलता से तंग आकर उन्हें हमेशा धमकाते, घुड़कते और डाटते डपटते रहते हैं। "यह काम न करो, वह काम न करो"—कह कर हमेशा उन्हे मना किया करते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से उनके लडके खूब सदाचरण-शील

हो जायँगे। पर ऐसी आशा रखना व्यर्थ है। इस तरह की झाड़ फटकार से बच्चे सुधरते तो नहीं, घर में चिरकाल-स्थायी कलह ज़रूर पैदा हो जाता है। पर हमारे कहे हुए तरीक़े से चलने और हमारी बतलाई हुई बातें याद रखने से डाट डपट करने की आदत ज़रूर कम हो जाती है। अतएव कलह भी कम हो जाता है।

४६—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति से स्वाधीनचेता और सीधे सादे, दोनों तरह के, बच्चों को लाभ।

जिस प्रकार की कुटुम्ब-व्यवस्था का ज़िक्र हमने किया वह उदार भावों से पूर्ण है। उसे जारी करने से लोगों को अपने लडकों की आचरण-सम्बन्धी ज़रा ज़रा सी बातों पर हर घड़ी टीका-टिप्पणी करने की ज़रूरत न रहेगी। हमारी शिक्षा-पद्धति ही ऐसी है कि उससे कुटुम्ब-व्यवस्था मे सौम्य भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। बच्चे को अपने किये हुए का स्वाभाविक फल हमेशा भोगने दो। बस तुम इतना ही देखो और इसी पर सन्तोष करो। इससे बच्चों को बहुत अधिक अपने क़ाबू मे रखने की जो कितने ही माँ-बाप भूल करते हैं वह तुमसे न होगी। ऐसी भूल से तुम जरूर बचोगे। यदि तुम बच्चे को उनके निज के तजरिबे से प्राप्त होनेवाली शिक्षा या सज़ा के भरोसे छोड़ दोगे तो कलहाग्नि से सन्तप्त घर की उस सद्गुणशीलता के हानिकारक परिणाम से वह बच जायगा, जो विशेष कठोर तरीक़े से दी हुई शिक्षा के कारण सीधे स्वभाव के बच्चो के हृदय पर होता है। यदि तुम ऐसा करोगे तो बच्चा उस दुर्नीति-जनक द्वेष-भाव से भी बच जायगा जो उद्धत और स्वाधीन-प्रकृति के बच्चो के मन मे पैदा हो जाता है। अर्थात् यदि बच्चे का स्वभाव सीधा है तो भी उसे फ़ायदा होगा और यदि स्वाधीन है तो भी होगा।

४७—क्रोध आने पर कुछ देर ठहर जाने से अनुचित बातों का सहसा न होना।

बच्चे से उसके किये हुए कामों के स्वाभाविक-परिणाम भोग कराने की

हमेशा इच्छा रखने से तुम्हें भी फ़ायदा होगा। तुम्हारे मनोविकारों की बाढ़ रुक जायगी। तुम मनोनिग्रह करना सीख जावगे। बहुत से माँ-बाप, अथवा यों कहिए प्राय: सभी, बुरी तरह से नैतिक शिक्षा देते हैं। उनकी नैतिक शिक्षा का तरीक़ा इसके सिवा और कुछ नहीं कि, क्रोध आने पर, जो कुछ उन्हे सूझा कर उठाया। बच्चे छोटे छोटे बहुत से अपराध किया करते हैं। इनमे से कितने ही अपराध ऐसे होते हैं कि यदि ध्यान से देखा जाय तो उनकी गिनती अपराधों में हो ही न सके। परन्तु ऐसे ही अपराधों के लिए माँ अकसर बच्चे को गालियाँ देती है, झिझकोरती है और चपत तक लगाती है। इस तरह के शारीरिक दण्ड को हम दण्ड नहीं समझते। माँ के मनोविकारो के ये रूपान्तर हैं। उन्हें वह क़ाबू मे नहीं रख सकती। इससे वे दण्ड के रूप मे प्रकट होते हैं। मनोविकार अनिवार्य्य हो उठने से, उनकी प्रेरणा के वशीभूत होकर, माँ इस तरह के दण्ड अधिक देती है, लड़के को फ़ायदा पहुँचाने की इच्छा से उतना नहीं। परन्तु लड़के के अपराध करने पर हर बार इस बात के सोचने के लिए ठहरने से कि इसका स्वाभाविक परिणाम क्या होना चाहिए, और अपराधी पर उसका असर डालने के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा कौन सा है, तुम्हे अपने मनोविकारों को क़ाबू में रखने के लिए थोड़ा सा समय मिल जायगा—विचार और आत्मनिग्रह करने का मौक़ा मिल जायगा। लड़के के अपराध को देखने के साथ ही उसी क्षण एक-दम भड़क उठा क्रोध आदमी को अन्धा बना देता है। पर थोड़ी देर ठहरने से वह कुछ शान्त हो जाता है; उसका वेग घट जाता है। अतएव कोई अनुचित काम सहसा आदमी के हाथ से नहीं होता।

४८—न्याय्य होने से प्रसन्नता और क्रोध प्रकट करना अनुचित नहीं।

परन्तु कुछ न कुछ क्रोध आना ही चाहिए। चेतना-हीन निश्चेष्ट हथियारों की तरह का बर्ताव अच्छा नहीं। संसार की वस्तु-स्थिति के अनुसार बच्चे को अपने किये का फल भोगना ही चाहिए। उसके अनुचित कामो की यही सज़ा है। परन्तु यह भी याद रखिए कि इस प्रकार के स्वाभाविक

परिणाम के सिवा तुम्हारी प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी एक प्रकार का
स्वाभाविक परिणाम है । बच्चे को सुमार्ग मे लाने के लिए जहाँ और स्वाभा-
विक साधन हैं वहाँ तुम्हारी खुशी या नाराज़गी भी एक साधन है । ईश्वर
ने जो स्वाभाविक दण्ड निश्चित किये हैं उनकी जगह माता-पिता के क्रोध
और उससे उत्पन्न हुए कृत्रिम दण्डों का उपयोग करना बड़ी भारी भूल है ।
इसी भूल का हम प्रतिवाद करते चले आ रहे हैं । स्वाभाविक दण्डों के
बदले कृत्रिम दण्डों से काम न लेना चाहिए । इस बात को हम दृढ़ता
से कहते हैं । पर इससे हमारा यह हरगिज़ मतलब नहीं कि कृत्रिम दण्डों
का बिलकुल ही उपयोग न किया जाय । नहीं, स्वाभाविक दण्डों की जगह
कृत्रिम दण्ड न दिये जायँ, पर उनके साथ दिये जायँ । अर्थात् दोनो
साथ साथ रहें । स्वाभाविक दण्ड मुख्य हैं, कृत्रिम दण्ड गौण । अतएव
गौण दण्डो के द्वारा मुख्य दण्डो का अधिकार छीना जाना मुनासिब
नहीं । पर गौण दण्डो की योजना से मुख्य दण्डो को, एक उचित हद
तक, सहायता पहुँचाना बुरा नहीं । वह सर्वथा उचित है । यदि तुम्हे
क्रोध आ जाय या दुःख हो, और उसका प्रकट करना तुम्हे न्याय मालूम हो,
तो शब्दों या बर्ताव के द्वारा तुम्हे उसे प्रकट करना ही चाहिए । तुम्हारी
चित्त-वृत्ति पर किस तरह का और कितना असर पड़ेगा, यह तुम्हारे स्वभाव
पर अवलम्बित रहेगा । जिस तरह का तुम्हारा स्वभाव होगा उसी तरह
का असर भी तुम पर पड़ेगा । अर्थात् तुम्हारी मनो-वृत्ति को जो क्षोभ
होगा वह तुम्हारे स्वभाव के अनुसार होगा । अतएव यह बतलाते
बैठना व्यर्थ है कि वह क्षोभ किस प्रकार का होगा और कितना होगा ।
तथापि जिस प्रकार की मनोवृत्ति धारण करना तुमको मुनासिब मालूम
हो उस प्रकार की मनो-वृत्ति धारण करने का तुम यत्न कर सकते हो ।
परन्तु अप्रसन्नता प्रकट करने मे तुम्हे दो बातों की चरम सीमा तक चले
जाने से बचना चाहिए । उन दो बातों मे एक तो यह है कि क्रोध आने पर
उसे कितना होना चाहिए और दूसरी यह कि उसे कितनी देर तक रहना
चाहिए । अर्थात् क्रोध की अवधि और उसकी इयत्ता को, पराकाष्ठा को न
पहुँचा देना चाहिए । एक तो तुम्हे उस मानसिक अधीरता से बचना

चाहिए जो माँ मे अकसर देखी जाती है और जिसकी प्रेरणा से वह एक हाथ से बच्चे की ताड़ना करती है और दूसरे से उसका प्यार करती जाती है। एक ही दम मे धमकी देना और पुचकारना अच्छा नहीं। दूसरे, तुम्हें अपनी अप्रसन्नता या अप्रीति बहुत समय तक न बनी रखना चाहिए। क्योंकि उससे बच्चे को या ख़याल हो जायगा कि तुम्हारी प्रीति के बिना भी उसका काम चल सकता है। अतएव उस पर से तुम्हारा दबाव जाता रहेगा। तुम्हें यह सोचना चाहिए कि बच्चों के बुरे व्यवहारों को देख कर सर्वोत्तम स्वभाव के माँ-बाप की चित्त-वृत्ति किस प्रकार की होगी। फिर, बच्चे के व्यवहार के कारण क्षुब्ध हुए अपने चित्त की वृत्ति को, जहाँ तक हो सके, तुम्हे ऐसे माँ-बापों की चित्त-वृत्ति के बराबर रखना चाहिए। अर्थात् उत्तम स्वभाव के आदमियों की जैसी चित्त-वृत्ति हो सकती हो उसी का अनुकरण तुम्हे करना चाहिए।

४६—बच्चों को अपना प्रभुत्व दिखा कर आज्ञा-पालन कराना अच्छा नहीं।

जहाँ तक हो सके बच्चे को बहुत कम हुक्म दो। जब और सब साधन व्यर्थ हो जायँ या बच्चे की समझ के बाहर हों तभी हुक्म दो। रिचर साहब का कथन है कि बहुत से हुक्मो में बच्चे के फ़ायदे की अपेक्षा माँ-बाप के फ़ायदे का अधिक ख़याल रहता है। अर्थात् माँ-बाप बच्चो से आज्ञा-पालन कराने का अधिक ख़याल रखते हैं, उनके फ़ायदे-नुक़सान का कम। बहुत पुराने जमाने के समाज मे क़ानून के ख़िलाफ़ काम करने से फ़ौरन ही दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड इस ख़याल से कम दिया जाता था कि क़ानून की आज्ञा न मानना अन्याय करना है। पर इस ख़याल से अधिक कि क़ानून को न मानना मानों राजा का अपमान करना है—उसके प्रतिकूल विद्रोह करना है। यही हाल कितने ही कुटुम्बों का है। उनमें बच्चों के कृतापराधों के लिए जो दण्ड दिये जाते हैं वे अधिकतर आज्ञा-भङ्ग करने के कारण दिये जाते हैं। अपराधों का प्रायश्चित्त कराने के कारण नहीं। इस विषय मे लोग घर मे किस तरह की बातें करते हैं, सो सुनिए—"तुम्हे मेरी आज्ञा न मानने का क्या अधिकार"? "मैं तुमसे यह काम कराके

छोड़ूँगा"। "मैं जल्द तुम्हें सिखला दूँगा कि मालिक कौन है"। इस तरह के वाक्यो के शब्दो का, स्वर का और कहने के तरीक़े का तो ज़रा विचार कीजिए। उनसे यह साफ़ साबित है कि बच्चे के कल्याण की अपेक्षा उससे अपनी आज्ञा-पालन कराने ही की तरफ़ माँ-बाप का झुकाव अधिक है। आज्ञा-भङ्ग करने के कारण अपनी प्रजा मे से किसी को दण्ड देने का निश्चय करनेवाले किसी अन्यायी राजा के चित्त की जो दशा होती है उसमे और इस तरह के माँ-बापो के चित्त की स्थिति मे, उतनी देर के लिए, बहुत कम अन्तर होता है। परन्तु जिस माँ-बाप को न्यायान्याय का ख़याल है—भले बुरे का ज्ञान है—उसे सर्व-जन-प्रिय और उदार क़ानून बनानेवाले की तरह, सख़्ती और अन्याय मे नहीं, किन्तु उन्हे बन्द करने मे आनन्द होता है। बच्चों का चाल-चलन ठीक रखने के लिए यदि और साधनों से अभीष्ट सिद्ध हो सकता है तो वह कभी क़ानून से काम न लेगा, और यदि वैसा करने की ज़रूरत ही आ पड़ेगी तो उसे खेद हुए बिना न रहेगा। रिचर साहब कहते हैं—"सर्वोत्तम राजनीति वह है जिससे विशेष प्रभुता दिखाने या कठोरता से शासन करने की ज़रूरत नहीं पडती। यही लक्षण सर्वोत्तम शिक्षा का भी है"। अपनी प्रभुता दिखलाने की जिन माँ-बापों की अभिलाषा का उनके सच्चे कर्त्तव्य-ज्ञान से प्रतिबन्ध हो जाता है, अर्थात् जो अपनी प्रभुता की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य को अधिक समझते हैं, वे आपही आप इस नियम के अनुसार काम करेगे। जहाँ तक सम्भव होगा वे अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देंगे जिसमें वे ख़ुद ही अपने को अपने क़ाबू में रख सकें। क़ानून का ऐसा सख़्त बर्त्ताव वे तभी उनके साथ करेंगे जब और कोई इलाज कारगर न होगा। जब और सब उपाय करके वे थक जायँगे तभी वे अपनी प्रभुता दिखावेगे और कहेंगे कि हमारी अमुक आज्ञा का अमुक तरह से पालन करना ही होगा।

५०—ज़रूरत पड़ने पर आदेश दो, पर सङ्कोच छोड़ कर उनका पालन कराओ।

परन्तु यदि आज्ञा देने की ज़रूरत ही आ पड़े तो निश्चय के साथ

आज्ञा दो और दृढ़ता से उसका पालन कराओ। आज्ञा और बर्ताव परस्पर विरोध होना अच्छा नहीं। यदि कोई ऐसा प्रसङ्ग आजाय बिना आज्ञा दिये—बिना हुकूमत या शासन किये—काम ही न चले ज़रूर वैसा करो, परन्तु आदेश देकर--हुक्म सुना कर—फिर ज़रा उससे विचलित न हो। जो कुछ तुम करने जाते हो उस पर ख़ूब वि कर लो; उसके सब परिणामों को अच्छी तरह तौल लो; इस बात अच्छी तरह समझ लो कि जो काम तुम करना चाहते हो उसे पूरा क के लिए तुममे क़ाफी दृढ़ निश्चय है या नहीं। और, यदि, अन्त में, निश्च पूर्वक तुम्हे किसी विषय में कोई आदेश देना ही पड़े—कोई नियम कर ही पड़े—तो, फिर, चाहे कुछ ही क्यों न हो, उसका पालन कराकर छोड़ो तुम्हारे नियमो के परिणाम, निर्जीव सांसारिक पदार्थों की तरह, अट और अचल होने चाहिए। तुम्हारी हुकूमत, तुम्हारा शासन, तुम्हारा आधि पत्य अनिवार्य होना चाहिए। उसमें बिन्दु-विसर्ग का भी अन्तर न पड़ चाहिए। जब बच्चा पहले पहल चिनगारियों पर हाथ रख देता है त ज़रूर उसका हाथ जल जाता है, दूसरी दफ़े हाथ रखने से दूसरी द भी जल जाता है; तीसरी दफ़े रखने से तीसरी दफ़े भी जल जाता है हर दफ़े यही दशा होती है। इससे बच्चा बहुत जल्द सीख जाता है वि चिनगारियों को न छूना चाहिए। तुम्हारे शासन मे भी यदि इसी तरह का मेल रहे और तुम्हारे कहने के अनुसार, कि अमुक अमुक काम करने से अमुक अमुक परिणाम निश्चित रूप से वैसेही भोग करने पड़ेंगे, तो तुम्हारे निर्दिष्ट नियमों का, सृष्टि के नियमों ही की तरह, बच्चा आदर करने लगेगा। इस तरह तुम्हारा मान—तुम्हारा प्रभुत्व—एक दफ़े स्थापित हो जाने से गृह-सम्बन्धी अनेक अनिष्ट दूर हो जायँगे—शिक्षा-सम्बन्धी भूलों में से एक बहुत बड़ी भूल यह है कि किसी बात मे मेल ही नहीं है। अर्थात् कहा कुछ जाता है, होता कुछ है। जिस तरह समाज मे न्याय-विषयक कोई निश्चित प्रबन्ध न होने से अपराधों की संख्या बढ़ती है, उसी तरह कुटुम्ब में यथानियम दण्ड न देने या दण्ड देने में सङ्कोच करने से भी अपराधों की वृद्धि होती है। दिल की कच्ची माँ बच्चे को दण्ड देने की

हमेशा धमकी दिया करती है, पर उस धमकी को शायद ही कभी पूरा करती है। वह जल्दी में झटपट नियम बना डालती है और पीछे से पछताती बैठती है। एक ही अपराध के लिए कभी वह सख़्ती करती है और कभी, मन में मौज आ गई तो, योंही एक आध बात कह कर टाल जाती है। इस तरह की माँ अपने और अपने बच्चे, दोनों के लिए, आपदायें इकट्ठी करती है—भावी दुःखो का बीज बोती है। वह बच्चों की दृष्टि मे अपने को तुच्छ बनाती है। मनोविकारो को अपने क़ाबू मे न रखने का वह ख़ुद ही उनके लिए उदाहरण बनती है। वह उनको इस आशा पर अपराध करने के लिए उत्साहित करती है कि शायद वे दण्ड से बच जायँ—शायद किसी तरह दण्ड टल जाय। पर घर मे अनन्त झगड़े बखेड़े पैदा करती है, जिससे उसका और उसके छोटे छोटे बच्चो का स्वभाव बिगड जाता है। वह बच्चों के मन मे नैतिक तत्त्वों को बेतरह गड्डबड्ड करके उन्हें बहुत ही बुरी दशा को पहुँचा देती है। इसका फल यह होता है कि, बाद मे, बहुत तकलीफ़ उठाने पर भी, उनके नैतिक विचारो का सुधरना कठिन हो जाता है। इन सारी आपदाओं का एक-मात्र कारण माँ को समझना चाहिए। कुटुम्ब-शासन की व्यवस्था में यदि सब बातों मे मेल है तो, उसके असभ्यता-पूर्ण होने पर भी, हम उसे उस सभ्यता-पूर्ण व्यवस्था से अच्छी समझते हैं जिसकी बातों मे परस्पर मेल नहीं है। अर्थात् असभ्य-समाज की व्यवस्था मे मेल होने से वह सभ्य-समाज की बेमेल व्यवस्था से अच्छी है। यहाँ पर हम फिर कहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो बच्चों के साथ सख़्ती का व्यवहार मत करो। जहाँ तक हो सके ऐसे मौक़ों को टालो। परन्तु यदि कठोर शासन की सचमुच ही ज़रूरत देख पडे तो वैसा बर्ताव करने मे ज़रा भी सङ्कोच न करो। ऐसे मौक़ो पर सचमुच ही सख़्ती से काम लो।

५१—अपना शासन आप करने के लिए बचपन ही से भले बुरे परिणामों के तजरिबे की ज़रूरत।

तुम्हारी शिक्षा का उद्देश यह होना चाहिए कि उसकी बदौलत बच्चे

अपने मनोविकारों का आप ही शासन कर सके, यह नहीं कि दूसरे उनका शासन करें। यह बात तुम्हे .खूब ध्यान में रखनी चाहिए। यदि तुम्हारे बच्चों के भाग्य मे उम्र भर गुलामी करना ही लिखा होता तो बचपन में तुम उन्हे गुलामी की जितनी आदत डालते सब कम थी। पर बात ऐसी नहीं है। उन्हे धीरे धीरे स्वाधीन-प्रकृति के आदमी बनना है और उनके चाल-चलन की देख भाल रखने के लिए हर घड़ी किसी को उनके पास नहीं रहना है। अतएव जब तक वे तुम्हारी आँख के सामने हैं तब तक तुम उनको अपनी व्यवस्था आप ही करने की —अपने मनोविकारो को अपने ही क़ाबू मे रखने की—जितनी ही अधिक आदत डालो उतना ही अच्छा है। हम लोग, इस समय, इँग्लेड मे, जिस सामाजिक स्थिति को पहुँच गये हैं उसके लिए प्राकृतिक परिणामों के द्वारा शिक्षा देने की यह रीति विशेष उपयोगी है। पुराने ज़माने मे जब देश की दशा और तरह की थी और जब प्रत्येक नागरिक को अपने वरिष्ठ प्रभु के क्रुद्ध हो जाने का डर लगा रहता था तब लड़कों के साथ बचपन मे सख़्ती का बर्ताव ही शासन करने का प्रधान उपाय था। पर अब वह बात नहीं है। अब नागरिक लोगों को औरों से कुछ भी डर नहीं। सरकार को छोड़ कर और आदमियों से डरने का अब कोई विशेष कारण नहीं रह गया। अब तो वह समय लगा है कि जो भला या बुरा परिणाम आदमी को भोग करना पड़ता है वह वस्तु-स्थिति के अनुसार उसी के किये हुए कृत्यों का फल होता है। अतएव अब हर आदमी को चाहिए कि बचपन ही से तजरिबे के द्वारा वह वे भले या बुरे परिणाम सीखना शुरू कर दे जो भिन्न भिन्न प्रकार के कामों से स्वाभाविक तौर पर पैदा होते हैं। किस काम का क्या नतीजा होगा, इस बात को पहले ही से जान कर अपने आप को क़ाबू मे रखने की शक्ति जैसे जैसे बच्चे में आती जाय वैसे ही वैसे माँ-बाप के शासन की मात्रा कम होती जानी चाहिए। भावी परिणामों का ख़याल रख कर बच्चे को उनके अनुसार बर्ताव करने का ज्ञान होते ही माँ-बाप को चाहिए कि उस पर हुकूमत करना बन्द कर दें। हाँ, बहुत ही थोड़ी उम्र के दुधपिये बच्चों पर अधिक शासन करने की ज़रूरत रहती है। बुरे परिणामो से बचाने के लिए उनकी

देख भाल अधिक करनी पड़ती है। खुले हुए उस्तुरे से खेलनेवाले तीन वर्ष के बच्चे को यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि ऐसे खेल के परिणाम से वह शिक्षा ग्रहण करे, क्योंकि उसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर हो सकता है। परन्तु बच्चों की बुद्धि जैसे जैसे अधिक होती जाय वैसे वैसे उनके बीच में पड़ कर उनके काम मे दख़ल देना कम किया जा सकता है; और, कम किया जाना ही चाहिए। इस तरह कम करते करते जब बच्चे वयस्क हो जायँ तब उनके काम मे दख़ल देना और उन पर शासन करना बिलकुल ही बंद कर देना चाहिए। इस उद्देश को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे जाना बहुत भयङ्कर है; और कुटुम्बी जनों के प्रतिबन्ध की स्थिति से प्रतिबन्धहीन संसार मे प्रवेश करना तो अत्यन्त ही भयङ्कर है। इसी से जिस शिक्षा-पद्धति की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके अनुसार काम करने की बड़ी ज़रूरत है। लड़के को बचपन ही से धीरे धीरे आत्मसंयम करने—अपने आपको क़ाबू में रखने—की आदत डालने से उसकी आत्मसंयमशक्ति क्रम क्रम से बढ़ती जाती है। इस आदत को बढ़ाते जाने से एक दिन ऐसा आता है कि बिना किसी दूसरे की मदद के बच्चा अपना मनोनिग्रह आप ही आप स्वतन्त्रता-पूर्वक करने के योग्य हो जाता है। उसकी मनोनिग्रह-शक्ति इस तरह क्रम क्रम से इस स्थिति को पहुँच जाने से, अकस्मात् होनेवाले उस भयङ्कर स्थिति-परिवर्तन के पेंच से वह बच जाता है, जिसमे लड़कपन के बाहरी शासन का उल्लंघन करके वयस्क होने पर अपना शासन आप ही करने की स्थिति मे प्रवेश करते समय फँसना पड़ता है। कुटुम्बीय शासन-प्रणाली का इतिहास राजनैतिक शासन-प्रणाली का एक छोटा सा नमूना होना चाहिए। अर्थात् राज्य-व्यवस्था में जैसे फेरफार होते हैं वैसे ही घर की शिक्षण-व्यवस्था मे भी होने चाहिए। शुरू शुरू में, जहाँ दूसरों के पूरे पूरे शासन की ज़रूरत हो वहाँ, वैसा ही शासन किया जाय। धीरे धीरे राज्य-नियमानुसारी शासन जारी किया जाय जिसमे प्रजा की स्वतन्त्रता थोड़ी बहुत स्वीकार की जाती है। फिर प्रजा की स्वतन्त्रता क्रम क्रम से बढ़ाई जाय। अन्त मे प्रजा पूरे तौर पर स्वतन्त्र कर दी जाय। इसी राज-नीति को नमूना मान कर

माँ-बाप को चाहिए कि पहले वे अपनी सन्तति पर पूरा पूरा शासन करें। फिर सन्तति को थोड़ी सी स्वतन्त्रता देकर उसकी मात्रा को बढ़ावें और अन्त में उसका शासन करने से बिलकुल ही हाथ खींच लें।

५२—लड़कों में हठ और स्वेच्छाचार स्वाधीनता के अङ्कुर हैं।

यदि बच्चे बहुत अधिक हठ या स्वेच्छाचार करें तो तुम्हे रंज न करना चाहिए। आज कल की शिक्षा-प्रणाली मे कठोर वर्ताव का कम उपयोग किया जाता है। यह हठ और स्वेच्छाचार उसी कोमल शिक्षा-प्रणाली का फल है, क्योकि इसके कारण बच्चों मे स्वतन्त्रता का अङ्कुर उग आता है। एक तरफ़ कठोर शासन करने की प्रकृति कम होने से दूसरी तरफ़ स्वतन्त्रता-पूर्वक काम करने की प्रवृत्ति बढ़नी ही चाहिए। माँ-बाप जब बच्चों पर कम सख़्ती करेंगे तब बच्चे ज़रूर ही अधिक स्वाधीनचेता हो जायँगे। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस बात का सबूत हैं कि जिस शिक्षा-पद्धति का हम पक्ष कर रहे हैं उसी की तरफ़ लोग धीरे धीरे जा रहे हैं—उसी के अनुसार शिक्षा देना आरम्भ कर रहे हैं। इस पद्धति का प्रचार होने से बच्चों को स्वाभाविक परिणाम भोग करने पड़ेंगे। इससे उन्हे तजरिबा होता जायगा और अपने आपको प्रति दिन अधिकाधिक क़ाबू में रखने की योग्यता प्राप्त होती जायगी। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हम लोगों की उन्नत सामाजिक स्थिति के साथ साथ रहती हैं। अतएव शिक्षा-पद्धति में इनका स्थान पाना सर्वथा स्वाभाविक है। स्वतन्त्र-स्वभाव का अँगरेज़ लड़का स्वतन्त्र-स्वभाव के अँगरेज़ आदमी का बाप है। अर्थात् लड़के स्वतन्त्रता से प्रेम रखते हैं, इसी से वयस्क आदमियों मे भी स्वतन्त्रता पाई जाती है। यदि लड़के स्वाधीनचेता न होते तो आदमी कभी स्वाधीनचेता न हो सकते। जर्मनी के अध्यापक कहते हैं कि हम एक दरजन जर्मन लड़कों को क़ाबू मे रख सकते हैं, पर एक अँगरेज़ लड़के को क़ाबू में नहीं रख सकते। अतएव क्या हम लोगों की यह इच्छा होनी चाहिए कि हमारे लड़के जर्मन लड़कों की तरह भोले भाले, और वयस्क जर्मन लोगों की तरह दीन और राजनीति के दास हो

? या जिन गुणों से आदमी में स्वाधीनवृत्ति जागृत होती है उनके
र को अपने लड़कों में बना रहने दें और तदनुकूल अपने वर्ताव और
। चलन में फेरफार करें ?

—उत्तम शिक्षा-पद्धति के लिए अध्ययन, कल्पना-चातुर्य्य, शान्ति और आत्म-निग्रह की ज़रूरत ।

अन्त मे, यह बात हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिए कि ठीक ठीक शिक्षा
ा सीधा और सरल काम नहीं, किन्तु बहुत ही टेढ़ा और कठिन है ।
म तो यह समझते हैं कि प्रौढ़ वय मे आदमी को जो काम करने पड़ते
उनमें यह सबसे अधिक कठिन है । विषम और अपरिणामदर्शी
ह-शिक्षण या कुटुम्ब-शासन का भार अत्यन्त निकृष्ट और अत्यन्त
ाक्षित बुद्धि के आदमी भी अच्छी तरह अपने ऊपर ले सकते हैं । लड़कों
ो बुरा काम करते देख चपत लगा कर या गालियाँ देकर उनकी ख़बर
ेना ऐसा दण्ड है जो जंगली से भी जंगली असभ्यों और मूर्ख से भी मूर्ख
अहीर, गड़रिये आदि किसानों को भी, बिना किसी के बताये, सूझ जाता
है । किम्बहुना, पशु तक इस तरह का दण्ड एक दूसरे को देते हैं । तुमने
देखा होगा कि जब कोई पिल्ला अपनी माँ को बहुत तङ्ग करता है तब
कुतिया गुर्रा कर धीरे से उसे काटती है । अर्थात् नीच से भी नीच पशु इस
तरह की असभ्य शासन-पद्धति काम मे लाते हैं । परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा
उचित और सभ्यसम्मत पद्धति के द्वारा सफलता प्राप्त करने की हो तो
तुम्हें तदनुकूल बहुत कुछ मानसिक परिश्रम करने के लिए तैयार रहना
चाहिए । अर्थात् तुम्हे चाहिए कि तुम विशेष बुद्धिमानी से काम लो ।
अध्ययन, कल्पनाचातुर्य्य, शान्ति और आत्म-निग्रह का थोड़ा थोड़ा अंश तो
जरूर ही तुम में होना चाहिए । बिना इसके हमारी बतलाई हुई शिक्षा-
पद्धति व्यवहार में नहीं लाई जा सकती । बड़ी उम्र मे किस काम का क्या
परिणाम होता है, इस बात पर तुम्हे हमेशा ध्यान देना होगा । फिर तुम्हें
ऐसी युक्ति से काम लेना होगा जिसमें वही काम यदि तुम्हारे लड़के करें तो
उनके परिणाम भी वैसे ही हों । इस बात की छान बीन की प्रतिदिन ज़रूरत

होगी कि बच्चे ने जो अमुक काम किया उसमें उसका उद्देश क्या था। उसके हर काम का उद्देश जान कर यह देखना होगा कि यथार्थ में अच्छे काम कौन से हैं, और निकृष्ट मनोविकारों की प्रेरणा से उत्पन्न हुए परन्तु ऊपर से देखने मे अच्छे कौन से हैं। एक बहुत बड़ी भूल अकसर लोगों से हो जाया करती है। उससे बचने का तुम्हें हमेशा यत्न करना होगा। अर्थात् कुछ काम ऐसे हैं जो न अच्छे ही हैं न बुरे। पर लोग उन्हें बुरे समझ कर उनकी गिनती अपराधो में कर लेते हैं। इसी तरह बच्चों के किसी किसी काम मे उनका जितना उद्देश रहता है बहुधा लोग उससे अधिक उद्देश मान लेते हैं। इस तरह की भूलें बड़ी भयङ्कर हैं। अतएव तुम्हे उनसे बहुत सावधान रहना चाहिए। जिस तरीक़े से तुम बर्ताव करना चाहते हो उसमे तुम्हे हर एक बच्चे के स्वभाव के अनुसार थोड़ा बहुत फेर-फार ज़रूर करना चाहिए। यही नहीं, किन्तु जैसे जैसे हर एक बच्चे का स्वभाव नये नये ढंग का होता जाय तैसे तैसे अपने बर्ताव के तरीक़े मे तुम्हें और भी अधिक फेर-फार करने के लिए भी ज़रूर तैयार रहना चाहिए। कभी कभी ऐसा होगा कि जिस तरीक़े से तुम बर्ताव करोगे उससे बच्चे पर बहुत कम असर होगा या बिलकुल ही न होगा। पर इससे घबरा कर तुम्हें उस तरीक़े को छोड़ न देना चाहिए। उसे वैसे ही कुछ दिन तक जारी रखना चाहिए। जिन लड़कों की शिक्षा शुरू से ही बुरी तरह से हुई है उनसे यदि साबिक़ा पड़ेगा तो बहुत दिन तक धीरज के साथ तुम्हें अपने तरीक़े के अनुसार बर्ताव जारी रखना होगा। अतएव इसके लिए तुम्हें पहले ही से ख़ूब तैयार रहना चाहिए और यदि एक विशेष समय तक ठहरने पर भी कामयाबी के कोई चिह्न न देख पड़ें तो उससे अच्छे तरीक़े को ढूँढ़ना चाहिए। उसके पहले नहीं। जिन लड़कों के मन की स्थिति शुरू से ही अच्छी हो गई है उन्हें भी इस तरीक़े से शिक्षा देने मे कठिनता का सामना करना पड़ता है। तब जिनके मन की स्थिति पहले ही से ख़राब हो रही है उन्हें इस तरीक़े से शिक्षा देने मे ज़रूर ही दूनी कठिनता से काम पड़ेगा। तुम्हें हमेशा सिर्फ़ अपने लड़कों ही के उद्देशों की छान बीन न करनी पड़ेगी, किन्तु ख़ुद अपने भी उद्देशों की छान बीन करनी पड़ेगी। तुम्हें इस बात

का अच्छी तरह निर्णय करना होगा कि तुम्हारे अन्तःकरण की मनोवृत्तियों में से कौन सी वृत्तियाँ सच्चे पितृवात्सल्य से पैदा हुई हैं और कौन सी ख़ुद तुम्हारी ही स्वार्थपरता तुम्हारी ही सुखैषणा और तुम्हारी ही अधिकार-तृष्णा से पैदा हुई हैं। फिर इससे भी अधिक कठिन और सहनशीलता का काम तुम्हें यह करना पड़ेगा कि अपनी नीच मनोवृत्तियों का सिर्फ़ पताही न लगाना पड़ेगा, किन्तु, उनका निग्रह भी करना पड़ेगा—उन्हें वहीं काट देना पड़ेगा। सारांश यह कि तुम अपने बच्चो को भी शिक्षा देते जाव और उसके साथ ख़ुद अपनी भी ऊँचे दरजे की शिक्षा जारी रक्खो। संसार मे, तुम्हारे बच्चो मे, और ख़ुद तुममे जिस मनुष्य-स्वभाव और जिस मनुष्य-धर्म्म के नियमों के अनुसार सब बातें होती हैं वह बहुत ही कठिन समस्या है। तुम्हें चाहिए कि बुद्धि की सहायता से उसका ज्ञान प्राप्त करके तुम उसकी ऐसी उन्नति करो जिसमें उसका फल कल्याणकारक हो। सारासार-विचार-शक्ति की सहायता से तुम्हें अपने उच्च मनोविकारो से हमेशा काम लेते रहना और नीच मनो-विकारों को दबाये रखना चाहिए। सन्तति के साथ माँ-बाप का जो सम्बन्ध है उसके अनुसार जब तक माँ-बाप अपने कर्तव्य को पूरे तौर पर न करेंगे तब तक प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष की मानसिक उन्नति कभी सबसे ऊँचे दरजे तक न पहुँचेगी। और किसी तरह उसकी सर्वोच्च उन्नति होने ही की नहीं। यह बात बिलकुल सच है। पर इसकी तरफ़ लोगों का ध्यान अभी तक नहीं गया। जब उनका ध्यान इस तरफ़ जायगा और वे इस बात की सचाई को स्वीकार कर लेंगे तब उन्हे मालूम हो जायगा कि सृष्टि की व्यवस्था कैसी अद्भुत है। इसी प्राकृतिक व्यवस्था की बदौलत मनुष्यों के मनोविकार अत्यन्त प्रबल होकर इस बात की प्रेरणा करते हैं कि जो परमावश्यक शिक्षा उन्हें और किसी तरह नहीं मिल सकती उसे इन विकारों के वशीभूत होकर वे प्राप्त करें। अर्थात् प्राकृतिक संकेतों के अनुसार माता-पिता के मन मे सन्तान-सम्बन्धी प्रेम इतना उत्कट हो उठता है कि केवल उसी की उत्तेजना से मनुष्यों को परमावश्यक शिक्षा मिलती है। यदि माँ-बाप के मन मे प्रबल-प्रेमरूपी मनोविकार न जागृत हो तो ऐसी शिक्षा और किसी तरह कभी मनुष्य को न मिल सके।

५४—यह शिक्षा-पद्धति माँ-बाप और सन्तान दोनों के लिए मङ्गलजनक है।

इस विषय मे कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जो कुछ हमने यहाँ पर कहा उसमे किसी किसी को सन्देह होगा। कोई कोई उसकी सत्यता में शङ्का करेंगे। अतएव उसके अनुसार बर्ताव करने के लिए उन्हें उत्साह भी न होगा। परन्तु जिस शिक्षा-प्रणाली का हमने वर्णन किया वह सबसे ऊँचे दरजे की है—वह शिक्षा का सर्वोच्च नमूना है। इससे, हम समझते हैं, कि कुछ आदमियों को ज़रूर इसकी सत्यता के विषय मे सन्देह न होगा। अतएव वे इसको स्वीकार करने मे भी आगा पीछा न करेंगे। जो लोग चञ्चल-वृत्ति, निर्दय और अदूरदर्शी हैं उनकी समझ में हमारी शिक्षा-प्रणाली की यथार्थता नहीं आ सकती। उसे समझने के लिए मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी उच्च कोटि के गुणों की ज़रूरत है। अर्थात् जिनकी बुद्धि और सारासार-विचार-शक्ति ख़ूब विकसित है वही इस बात को समझ सकेंगे। अतएव समझदार आदमियों को हमारी शिक्षा-पद्धति में इस बात का सबूत मिलेगा कि जो जन-समाज विशेष उन्नत और विशेष शिक्षित अवस्था को पहुँच गया है सिर्फ़ उसी के लिए यह पद्धति उपयोगी है। इसके अनुसार शिक्षा देने मे यद्यपि बहुत श्रम पड़ता है; और स्वार्थ-त्याग भी करना पड़ता है; तथापि उसके बदले, जल्द या देरी से, कभी न कभी, विशेष सुख-प्राप्ति होती है। अर्थात् इस शिक्षा का परिणाम अवश्य सुखकर होता है। समझदार आदमियों के ध्यान में यह बात भी आजायगी कि बुरी शिक्षा-पद्धति से माता-पिता और सन्तान दोनों को हानि पहुँचती है। अतएव उससे दुहरा अनिष्ट होता है। परन्तु अच्छी शिक्षा-पद्धति से दुहरा इष्ट-साधन होता है। क्योंकि उसकी कृपा से शिक्षा पानेवाले और शिक्षा देनेवाले दोनों का कल्याण होता है।

———

चौथा प्रकरण।

शारीरिक शिक्षा।

जानवरों को पालने, उन्हें सधाने, और उनकी वंश-वृद्धि करने का अधिकांश आदमियों को शौक़ होता है।

अमीर आदमियों के यहाँ खाना खा चुकने के बाद, स्त्रियों के भीतर चले जाने पर, या खेत-खलिहान और हाट-बाजार का काम हो चुकने के बाद किसान आदमियों के इकट्ठे होने पर, या नशे-पानी के बाद गाँव मे किसी ख़ास जगह बैठक होने पर, वर्तमान राजकीय विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बाते ख़तम होते ही गाय, बैल, भैंस इत्यादि जानवरो की बात करने मे लोगो का बहुत दिल लगता है। उस समय सब लोग यही बाते करते हैं और बड़े चाव से करते हैं। शिकार खेल चुकने पर, घर लौटते समय, शिकारी लोग घोडो की वंश-वृद्धि और उनके गुण-दोषो की ज़रूर आलोचना करते हैं और कभी उनके किसी गुण की प्रशंसा करते हैं कभी किसी की। यदि शिकारी लोग एक विशेष प्रकार की ज़मीन मे शिकार खेलने गये तो बहुत करके कुत्तों के विषय मे बात-चीत हुए विना नहीं रहती। पास पड़ोस के खेतो में खेती करनेवाले लोग जब गिरजाघर से लौटते समय खेतो से होकर सब एक साथ निकलते हैं तब पादरी साहब की उपदेशपूर्ण वक्तृता की आलोचना करते करते मौसिम, फ़सल, हवा-पानी और धान्यसञ्चय इत्यादि की ज़रूर आलोचना करते हैं। इसके बाद चारा-पानी की बात छिड़ जाती है और इसका विचार होने लगता है कि कौन चारा पशुओं के लिए कितना अच्छा होता है। मुनुआँ और घुनुआँ अहीर

अपने अपने मालिक की गाय, भैंस इत्यादि के विषय में बात-चीत करके यह ज़ाहिर करते हैं कि वे उन्हे किस तरह रखते हैं और उनके रखने के तरीक़े से क्या हानि अथवा क्या लाभ है। यही नहीं कि सिर्फ़ देहाती ही श्वानशाला, गोशाला, अस्तबल, और गाय, बैल, भेड़, बकरी इत्यादि के बाड़े के विषय की बात-चीत को पसन्द करते हैं; किन्तु शहरों में अनेक प्रकार के व्यवसाय करनेवाले कारीगर जो कुत्ते पालते हैं, अमीर आदमियों के नवयुवक लड़के जिन्हे कभी कभी शिकार खेलने का शौक़ होता है, अधिक उम्रवाले उनके बड़े बूढे जो कृषि की उन्नति के विषय में बात-चीत करते हैं, या जो म्यकी साहब की वार्षिक रिपोर्टें और टाइम्स नाम के समाचारपत्र में छपी हुई केर्ड साहब की चिट्ठियाँ पढ़ते हैं उनकी भी आदत इस तरह की बातें करने की होती है। इन सब नगर-निवासियों को मिला लेने से इस तरह के आदमियों की संख्या और भी बढ़ जाती है। यदि देश के सभी बालिग़ आदमी हिसाब में लिये जायँ तो मालूम होगा कि उनमे अधिकांश आदमी जानवरों की वंश-वृद्धि करने, या उन्हे पालने, या उन्हें सधाने और सिखलाने मे से किसी न किसी बात का शौक़ ज़रूर रखते हैं।

२—अपने बच्चों के खाने पीने आदि की देख-भाल करना प्रायः लोग पुरुषत्व में बट्टा लगाना समझते हैं।

जानवरों के पालने पोसने इत्यादि के विषय में तो इतनी बात-चीत और इतनी आलोचना होती है, परन्तु भोजन हो चुकने अथवा और ऐसे ही मौक़ों पर, गपशप करते समय, क्या कभी किसी ने आदमी के बच्चों के पालने पोसने के विषय में भी वार्तालाप होते सुना है? देहाती सज्जन प्रति दिन सबेरे ख़ुद ही अपने अस्तबल की तरफ़ जाते हैं और ख़ुद ही इस बात को देखते हैं कि घोड़ों के खिलाने पिलाने और उनके औषध-पानी का ठीक ठीक प्रबन्ध है या नहीं। इसके बाद अपनी गाय, भैंस और बकरी आदि की देख-भाल करके उनको अच्छी तरह रखने के विषय में भी वे ख़ुद ही नौकर-चाकरों से ताकीद करते हैं, पर उनसे कोई पूछे कि क्यों साहब! यह सब तो

ाप करते हैं, परन्तु जहाँ आपके लडके रहते हैं वहाँ जाकर भी क्या कभी
ाप इस बात की देख-भाल करते हैं कि कब और किस तरह का खाना
न्हें मिलता है, उनके रहने का कमरा कैसा है और उसमे साफ़ हवा आने
का भी मार्ग है या नहीं ? कभी नहीं। ऐसे लोगों के पुस्तकालय की आल-
मारियों मे ह्वाइट, स्टिफेन्स और निमरोद की बनाई हुई अश्वचिकित्सा,
खेती और शिकार-विषयक दो एक पुस्तके शायद ज़रूर मिलेंगी और बहुत
सम्भव है कि उनमें लिखी हुई बातों से इन लोगों का थोड़ा बहुत परिचय
भी हो। परन्तु शैशव और कौमार अवस्था के लड़कों के पालन-पोषण और
रक्षण आदि के विषय की कितनी पुस्तकों से इन लोगों का परिचय रहता
है ? एक से भी नहीं। खली खाने से पशु ख़ूब मोटे ताज़े हो जाते हैं।
सूखी घास और भूसे के गुणो में क्या अन्तर है ? एक ही प्रकार का बहुत
अधिक चारा खिलाने से क्या हानि होती है ? ये ऐसी बातें हैं कि इन्हे
प्रत्येक ज़मींदार, प्रत्येक किसान और प्रत्येक देहाती आदमी थोडा बहुत
जरूर जानता है। परन्तु उनमे फ़ी सदी कितने आदमी इस बात की पूछ
पाछ करते हैं कि जो खाना वे अपने लड़कों और लड़कियों को खिलाते हैं
वह, उनकी बाढ़ के ख़याल से, उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा
करता है या नहीं ? यह बात कितने आदमियों को मालूम रहती है कि जैसे
जैसे उनके बच्चे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे उनको किस तरह का खाना खिलाने
की जरूरत है ? लोग शायद यह कहेगे कि इस तरह के आदमियों को अपने
काम-धन्धे ही से छुट्टी नहीं मिलती, लड़कों के खाने पीने इत्यादि की बातो
का वे कैसे विचार कर सकते हैं ? पर यह कारण सत्य और युक्तिसंगत नहीं,
क्योंकि और लोगों का भी तो यही हाल है। जो लोग इस तरह के काम-
धन्धे में नहीं लगे रहते वही कहाँ इन बातों का विचार करते हैं। दाना, घास
खा चुकने के बाद घोडे को तुरन्त ही न जातना चाहिए—यह एक ऐसी
बात है कि इसे बीस नगरनिवासियों में से, यदि न जानते होंगे तो, दो ही
एक न जानते होंगे। पर यदि यह मान लीजिए कि इन बीस आदमियो मे
सभी के लड़के वाले हैं तो इनमे से शायद एक भी आदमी आपको ऐसा न
मिलेगा जिसने इस बात का विचार किया हो कि उसके बच्चों के खाना खा

चुकने के बाद फिर पाठ शुरू करने तक जो समय उन्हें मिलता है वह काफ़ी है या नहीं। सच तो यह है कि यदि जिरह की जाय—यदि टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछे जायँ—तो यह मालूम होगा कि प्रायः हर आदमी अपने मन में यही समझता है कि बच्चों के खिलाने पिलाने और उनके आराम-तकलीफ़ का ख़याल रखना उसका काम नहीं। शायद वह यह जवाब देगा कि—"अजी, ये काम मैंने स्त्रियों को सौंप रक्खे हैं"। और बहुत करके उसके जवाब देने के तरीक़े से सुननेवाले को यह भासित होगा कि ऐसे कामों की देख-भाल रखना पुरुषों के योग्य काम नहीं। वह स्त्रियों ही का काम है। पुरुषों को ऐसे काम करना मानों अपने पुरुषत्व में बट्टा लगाना है।

३—जानवरों के पालन-पोषण में बेहद चाव और अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण में बेहद बेपरवाही।

कितने आश्चर्य्य की बात है कि अच्छे और बलवान् बैल पैदा करने की फ़िक्र मे तो पढे लिखे आदमी प्रसन्नता-पूर्वक न मालूम कितना समय ख़र्च करते हैं और न मालूम कितना मन लगाते हैं, पर मनुष्य के समान उच्च श्रेणी के प्राणी को, पालन-पोषण और रक्षण करके, सबल बनाने का काम वे अपने योग्य ही नहीं समझते। ऐसी समझ रखना सब लोगों की आदत हो गई है। इसी से ऐसी दुरवस्था देख कर भी लोगो को आश्चर्य्य नहीं होता, किसी बुरी चाल के चल जाने से आश्चर्य्य न मालूम होना और बात है, पर इस तरह की अव्यवस्था है ज़रूर आश्चर्य्य-कारक। माताओं को साधारण तौर पर भाषा का ज्ञान, गाना-बजाना और सभ्यतानुकूल व्यवहार करना छोड़ कर और कुछ बहुत ही कम सिखलाया जाता है। रहो दाइयाँ, सो उनकी समझ सबसे अधिक बेढँगी होती है।—वे सिर पैर की पुरानी बातें कूट कूट कर उनके मग़ज़ में भरी रहती हैं। ऐसी ही दाइयो की मदद से ये मातायें बच्चों के खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, और घुमाने-फिराने इत्यादि का प्रबन्ध करने के योग्य समझी जाती हैं। इधर इस तरह की अयोग्य मातायें और दाइयाँ बच्चों के पालन-पोषण का गुरुतर भार उठाती हैं, उधर बाप समाचार-पत्र, मासिक पुस्तकें और अनेक प्रकार की किताबें पढा करते हैं,

कृषि-सम्बन्धी सभा-समाजो में जाते हैं, तरह तरह के तजरिबे करते हैं, और अनेक प्रकार के वाद विवाद करके अपना मग़ज़ खाली करते हैं। यह सब इसलिए कि कोई ऐसा तरीक़ा उन्हे मालूम हो जाय जिसमे उनके पशु खूब मोटे हो जायँ और किसी प्रदर्शिनी से उन्हें इनाम मिले। इस मूर्खता का कहीं ठिकाना है! हम रोज़ अपनी आँखों से देखते हैं कि डरबी की घुड़-दौड़ में बाज़ी मारने के इरादे से एक अच्छा घोड़ा तैयार करने के लिए लोग जी जान लड़ा कर परिश्रम करते हैं और न जाने कितनी तकलीफ़ उठाते हैं। पर वर्तमान समय के योग्य एक अच्छा पहलवान तैयार करने की तरफ़ कोई ज़रा भी ध्यान नहीं देता। अँगरेज़-ग्रन्थकार स्विफ्ट ने "गलिवर के प्रवास" नामक एक विचित्र पुस्तक लिखी है। यदि उसमे लपूटा नामक द्वीप के निवासियों के विषय मे गलिवर यह लिखता कि वे और जानवरो के बच्चों को सबसे उत्तम रीति से पालने की तरकीब सीखने में तो एक दूसरे से चढा ऊपरी करते हैं; पर इस बात की वे बिलकुल ही परवा नहीं करते कि अपने निज के बच्चों के पालने की सबसे अच्छी तरकीब कौन है, तो जो कितनी ही और बे सिर पैर की बेहूदा बातें उसने वहाँ पर लिखी हैं उन्ही में यह भी खप जाती—और खूब खपती।

४—जीवन-निर्वाह के कामों में मेहनत बढ़ती जाती है। उसे सह सकने के लिए सुदृढ़ शरीर की ज़रूरत।

पर यह बात योही उड़ा देने की नहीं है। यह बड़े महत्त्व की है। जो काल्पनिक मुकाबला हमने यहाँ पर किया—जो विपरीत-भाव हमने यहाँ पर दिखलाया—उसे सुन कर हँसी आये बिना न रहेगी। पर उसका परिणाम कम भयङ्कर न समझिए। एक मार्मिक ग्रन्थकार लिखता है कि सासारिक कामों में कामयाबी प्राप्त करने के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि—"शरीर खूब दृढ़ होना चाहिए"। इसी तरह देश के अभ्युदय के लिए देश-वासियों के शरीर का सुदृढ़ और बलवान् होना भी पहली शर्त है। सिर्फ़ लड़ाई का परिणाम ही बहुत करके सिपाहियों की शरीर-सम्पत्ति और वीरता पर अवलम्बित नहीं रहता; किन्तु व्यापार मे कामयाब

होना भी व्यापार की चीज़ें पैदा करनेवाले के शरीर में मेहनत करने की शक्ति होने पर ही बहुत कुछ अवलम्बित रहता है । लड़ने-भिड़ने और व्यापार में दूसरे देशवालो के साथ अपना बल आज़माने में यद्यपि अभी तक हमे डरने का कोई कारण नहीं देख पड़ता, तथापि इस बात के चिह्न कम नही दिखाई दे रहे कि इस विषय मे बहुत शीघ्र हमें अपना हद से ज़ियादह बल खर्च करना पड़ेगा । आज कल जीवन-निर्वाह करने के लिए सब लोग आपस मे इतनी अधिक चढ़ा ऊपरी कर रहे हैं कि थोड़े ही आदमी ऐसे होंगे जो बिना शरीर को हानि पहुँचाये यथेष्ट मेहनत कर सकते होंगे । हज़ारों लोग काम के भारी बोझ से दब कर अभी से कुचले जा रहे हैं । यदि यह बोझ इसी तरह बढ़ता गया जैसा कि मालूम होता है, तो बलवान् और मज़बूत से भी मज़बूत आदमियों की शरीर-सम्पत्ति को हानि पहुँचे बिना न रहेगी । इसलिए लड़कों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिसमे अपना कठोर कर्तव्यपालन करने के लिए उनकी बुद्धि में यथेष्ट योग्यता आ जाय । यही नहीं, किन्तु उस कर्तव्य-पालन की मेहनत और उससे पैदा हुई थकावट सह सकने के लिए उनका शरीर भी यथेष्ट दृढ़ हो जाय ।

५—शारीरिक शिक्षा की तरफ़ लोगों का ध्यान अब कुछ कुछ जाने लगा है ।

सौभाग्य से लोगों का ध्यान अब इस तरफ़ जाने लगा है । प्रसिद्ध ग्रन्थकार किंग्ज़ले ने लड़कों से पढ़ने लिखने मे बहुत अधिक मेहनत लेने के विरुद्ध जो लेख लिखे हैं उनसे यह बात साफ़ ज़ाहिर है । इन लेखों में शायद अत्युक्ति का अंश बहुत अधिक है; पर ऐसे विषयों में बहुत करके अत्युक्ति हुआ ही करती है । समाचारपत्रो में कभी कभी इस विषय पर जो चिट्ठियाँ और लेख प्रकाशित होते हैं उनसे भी मालूम होता है कि शारीरिक शिक्षा की बातों मे लोग मन लगाने लगे हैं । अब एक स्कूल खोला गया है जिसका नाम—"बल-वर्धक ईसाईपन" है । यह नाम तिरस्कार-सूचक है, पर है ख़ूब सार्थक । इससे भी यह मालूम होता है कि लोगों के ध्यान मे

यह बात अधिकाधिक आने लगी है कि लड़कों को शिक्षा देने की
मान पद्धति में उनकी शरीर-रक्षा का पूरे तौर पर ख़याल नहीं किया
ा। इससे स्पष्ट है कि अब यह विषय वाद-विवाद करने योग्य
स्था को पहुँच गया है। अब इसकी स्थिति ऐसी हो गई है कि इसका
चार किया जा सके।

६—लड़कों की शारीरिक शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए।

आज कल के विज्ञान-शास्त्र की सहायता से जो बातें जानी गई हैं—
ो सिद्धान्त स्थिर हुए हैं—उन्हीं के अनुसार हम लोगों को बच्चों के
ालन-पोषण और विद्याभ्यास के नियम बनाने चाहिए। इसी की इस
मय बड़ी ज़रूरत है। रसायन-शास्त्र-सम्बन्धिनी नई नई बातों के ज्ञान से
पनी भेड़ों और बैलों को जो लाभ हम पहुँचा रहे हैं उस लाभ में हमें
पने बच्चों को भी साझी कर लेना चाहिए। जो कृपा हम भेड़ और
करियों पर कर रहे हैं उससे हमें अपने बच्चों को वञ्चित न रखना
ाहिए। घोड़ों के सिखाने और भेड़, बकरी, सुअर आदि पालने के विरुद्ध
म कुछ नहीं कहते। उनके पालने-पोषने और सिखाने की ज़रूरत है या
नहीं, इस तरह का प्रश्न हम नहीं करते। इन बातों की निस्संदेह ज़रूरत
है। हम सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि बच्चों को अच्छी तरह पाल-पोष कर
ख़ूब मज़बूत स्त्री-पुरुष बनाने की भी तो थोड़ी बहुत ज़रूरत है। अतएव
विचार और अनुभव से उपयोगी सिद्ध होने पर जिन बातों से हम पशुओं
के पालने-पोषने में काम लेते हैं उन्हीं से मनुष्यों के पालने-पोषने में भी
काम लेना चाहिए। सब कहीं एक ही प्रकार के नियमों का बर्ताव क्यों न
किया जाय? इन बातों को सुन कर शायद बहुत आदमियों को आश्चर्य
होगा—सम्भव है, उन्हें क्रोध भी आ जाय। परन्तु यह निर्विवाद है कि
जिन नियमों के अनुसार पशु आदि नीच श्रेणी के प्राणियों के इन्द्रिय-
व्यापार होते हैं उन्हीं नियमों के अनुसार मनुष्य के भी इन्द्रिय-व्यापार
होते हैं। दोनों के इन्द्रिय-व्यापार-विषयक नियम तुल्य हैं। यह बात सर्वथा

सच है, अतएव इसे हमे मानना ही चाहिए। कोई शरीर-शास्त्र का ज्ञाता, कोई प्राणि-शास्त्र का ज्ञाता, कोई रसायन-शास्त्र का ज्ञाता एक पल के लिए भी इस बात को मान लेने में सङ्कोच न करेगा कि जिन साधारण नियमों के अनुसार पशु आदि नीच योनि के जीवों का जीवन-व्यापार होता है उन्हीं नियमों के अनुसार मनुष्य का भी जीवन-व्यापार होता है। दोनों की जीवन-सम्बन्धिनी मुख्य मुख्य बातें एक सी हैं। उनमें कोई भेद नहीं। इस बात को सच्चे दिल से मान लेने ही से लाभ है। अच्छी तरह देखने भालने और शास्त्रीय रीति से तजरिबा करने से नीच योनि के पशु आदि जीवों के विषय में जो सर्वसाधारण नियम निश्चित किये गये हैं वही मनुष्य-मात्र के लिए भी लाभदायक हो सकते हैं। जीवन-शास्त्र कल का बच्चा है—अभी वह बाल्यावस्था में है। तथापि इन्द्रिय-विशिष्ट पदार्थों का जीवन जिन नियमों पर अवलम्बित रहता है उनमें से कितने ही प्रारम्भिक नियमों का पता इस शास्त्र के ज्ञाताओं ने लगा लिया है। मनुष्य का भी जीवन इन्हीं नियमों पर अवलम्बित रहता है। अब हमें सिर्फ़ इस बात का पता लगाना है कि बचपन और जवानी में मनुष्य की शरीर-रचा से इन नियमों का क्या सम्बन्ध है। अतएव इसे जानने के लिए अब हम कुछ प्रयत्न करना चाहते हैं।

७—संसार की कोई स्थिति एकसी नहीं रहती। उसमें हमेशा चढ़ाव-उतार लगा रहता है।

सामाजिक जीवन के जितने दरजे हैं सबमें एक प्रकार का उतार-चढ़ाव देख पड़ता है। अथवा यों कहिए कि संसार की स्थिति, सङ्गीत के स्वरों की तरह, उतरती चढ़ती रहती है। जब किसी स्थिति की चढ़ती कला होती है तब वह उसकी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। वहाँ पहुँच कर उसे उसकी विरोधी दशा प्राप्त हो जाती है और वह उतरने लगती है। उतरते उतरते एक दिन उसके उतार की भी पराकाष्ठा हो जाती है। उदाहरणार्थ—राज्यक्रान्ति के बाद प्रजापीडन ज़रूर होता है। इसका उदाहरण हम लोगों में भी पाया जाता है। देखिए, कुछ काल तक लोग

नये नये सुधार करने में तन्मय हो जाते हैं। पर उसके बाद ऐसा समय आता है कि पुरानी ही बातो का लोग बेतरह पक्षपात करने लगते हैं। इसी तरह सुधार के बाद प्राचीन-पद्धति-प्रीति का उदय होता है और प्राचीन-पद्धति-प्रीति के बाद सुधार का। इसी प्रवृत्ति के कारण कभी लोग विषयोपभोग मे लीन हो जाते हैं और कभी सारे विषयों से विरक्त होकर तपस्वी बन जाते हैं। व्यापार में भी इसी प्रवृत्ति के कारण कभी किसी चीज़ का व्यवसाय बेहद बढ़ जाता है और कभी बेहद घट जाता है। इसी तरह घटती के बाद बढ़ती और बढ़ती के बाद घटती लगी रहती है। शौक़ीन आदमियों की चाल-ढाल मे भी इसका उदाहरण मिलता है। इस तरह के आदमी कभी एक प्रकार के बेहूदा फ़ैशन के दास बन जाते हैं, कभी उसे छोड़ कर उसके विरोधी फ़ैशन के पीछे पागल बन बैठते हैं। इस चढ़ा-उतरी के क्रम ने हम लोगों के खाने-पीने की रीति रस्मों तक का पीछा नहीं छोड़ा। यह वहाँ भी पाया जाता है। बच्चों के खाने-पीने में भी इसका प्रभाव अटल है। जब बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में इस विरोधी क्रम का प्राबल्य देखा जाता है तब बच्चों की भोजन-व्यवस्था मे भला क्यो न देखा जाय? कुछ दिन पहले वह समय था जब लोग खाने-पीने ही में मस्त रहते थे—पेट-पूजा ही को सब कुछ समझते थे। पर अब सयम-शीलता का समय आया है। अब लोग मादक चीजो के पीने और मांस खाने को बहुत बुरा समझते हैं। इससे सूचित होता है कि खाने पीने की पहली अघोर-पंथी रीति के वे बहुत खिलाफ़ हैं। बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में हुए इस फेर-फार के साथ ही बच्चो की भोजन-व्यवस्था में भी फेर-फार हो गया है। किसी समय लोगो को यह विश्वास था कि बच्चों को जितना ही अधिक खिलाया पिलाया जाय उतना ही अच्छा। खेती पाती करनेवाले किसानों का अब भी यही विश्वास है। उन्हीं का नहीं, किन्तु दूर दूर के ज़िलो मे, जहाँ पुरानी बातो का खयाल जल्द आदमियों के दिल से दूर नहीं होता, और लोग भी ऐसे कितने ही मिल सकते हैं जो अपने बच्चो को गले तक खा लेने का लालच दिलाया करते हैं। परन्तु पढे लिखे शिक्षित आदमियों का विश्वास ऐसा नहीं है। वे

अल्पाहार ही को अच्छा समझते हैं। उनकी प्रवृत्ति विशेष करके उसी की तरफ़ है। वे अपने लड़कों को अधिक खिलाने की अपेक्षा थोड़ा खिलाने की कोशिश करते हैं। पुराने ज़माने में जो लोग आकण्ठ भोजन करने ही को सब कुछ समझते थे उनसे आज कल के शिक्षित आदमी घृणा करते हैं। उनकी यह घृणा अपने बाल-बच्चों की मिताहार-व्यवस्था के विषय मे विशेष स्पष्टतापूर्वक देख पड़ती है, पर ख़ुद अपनी आहार-व्यवस्था में उतनी स्पष्टतापूर्वक नहीं देख पड़ती। अर्थात् लड़कों को स्वल्पाहारी बनाने का उन्हें विशेष ख़याल रहता है, अपना नहीं। इसका कारण यह है कि उनकी निज की स्वल्पाहार-विषयक तापस-वृत्ति का ढोंग चल नहीं सकता। ख़ूब भूक लगने पर डट कर खाये बिना उनसे नहीं रहा जाता। उनका ढोंग रक्खा ही रहता है। पर लड़कों के लिए स्वल्पाहार के नियम बनाने में निज-सम्बन्धिनी कोई बाधा तो आती ही नहीं। इससे उस विषय में वे अपनी इस ढोंगी तापसवृत्ति से ख़ूब काम लेते हैं।

८—अधिक खा जाने की अपेक्षा भूखे रहना विशेष हानिकारी है।

कम खाना भी बुरा है और अधिक खा जाना भी बुरा है। यह बात सर्वथा सच है और सबको मालूम भी है। पर भूखे रहना, अधिक खाजाने से भी बुरा है। एक बहुत प्रामाणिक ग्रन्थकार लिखता है कि—"कभी कभी अधिक खा जाने से कम हानि होती है और उस हानि को दूर करने के उपाय भी सहज ही में हो सकते हैं। पर भूखे रखने के परिणाम बहुत भयंकर होते हैं और उनसे बचने के लिए प्रयत्न भी बहुत बड़े बड़े करने पड़ते हैं"। इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि बच्चों के खाने पीने में कोई अनुचित हस्ताक्षेप नहीं करता तो बच्चे शायद ही कभी ख़ूब डट कर खाते हैं। "गले तक खाजाने की भूल विशेष करके बड़े आदमियो ही से होती है, बच्चों से नहीं। यह दोष बड़ों ही में पाया जाता है, बच्चों मे बहुत कम। बच्चों के पालक यदि इस विषय में भूल न करें, और ज़बरदस्ती लड़कों को ज़ियादह न खिला पिला दें, तो वे कभी शायद ही खाऊ और

उदरपरायण हो जायँ" । अनेक माँ-बाप यह समझते हैं कि कम खाना—भूखे रहना—लड़कों के लिए बहुत ज़रूरी है । इसी लिए खाने पीने में वे बच्चों की रोक टोक करते हैं । इसका कारण यह है कि वे लोग संसार की स्थिति का अच्छी तरह विचार नहीं करते । वे नहीं देखते कि संसार मे क्या हो रहा है । जिन कारणो की प्रेरणा से वे रोक-टोक करते हैं वे कारण ही भ्रान्ति-पूर्ण हैं । बच्चो के खाने पीने के सम्बन्ध मे भी क़ायदे-क़ानून का रेल-पेल है और देश में राजकीय बातों के सम्बन्ध मे भी रेल-पेल है । दोनों विषयों में मतलब से ज़ियादह नियम बना डाले गये हैं । इन नियमों में सबसे अधिक हानिकारक नियम बच्चो के भोजन की मात्रा का नियमित करना है । बच्चों को सिर्फ़ इतना ही खाना तोल कर खाना चाहिए, इस तरह का नियम बहुत ही हानिकारक है ।

८—भूख भर खाने से हानि नहीं । खाने के विषय में पशु, पक्षी, मनुष्य, बाल, वृद्ध, युवा सबकी मार्ग-दर्शक क्षुधा है ।

"तो क्या बच्चों को गले तक खा लेने देना चाहिए ? क्या उन्हें ख़ूब स्वादिष्ट खाना पेट भर खाकर बीमार पड़ने देना चाहिए ? इस तरह डट कर खाने से भला वे बीमार होने से कभी बच सकेंगे ? कभी नहीं । वे ज़रूर बीमार पड़ जायँगे । इस तरह के प्रश्न का सिर्फ़ एक ही उत्तर हो सकता है। पर इस तरह का प्रश्न करना मानो जिस बात का विचार हो रहा है उसे पहले ही से मान लेना है । हम बल-पूर्वक कहते हैं कि पशु, पक्षी आदि नीच योनि के जितने जीव हैं, खाने पीने के विषय मे, क्षुधा अर्थात् खाने की इच्छा ही उन सबकी उत्तम पथदर्शक है, यही नहीं, किन्तु गोद के दुध-पिये बच्चे की भी वह उत्तम पथदर्शक है; बीमार आदमियो की भी उत्तम पथदर्शक है; भिन्न स्थिति और भिन्न भिन्न देश में रहनेवाली मनुष्य-जातियों की भी उत्तम पथदर्शक है, और जितने वयस्क अर्थात् बालिग़ आदमी स्वस्थ और नीरोग हैं उन सबकी भी उत्तम पथदर्शक है । अतएव बिना किसी खटके के इससे यह नतीजा निकलता है कि यही क्षुधा बच्चों को भी खाने

पीने में उत्तम पथदर्शक है। और सबके विषय में क्षुधा की कसौटी विश्वसनीय समझी जाकर यदि सिर्फ़ बच्चों ही के विषय में अविश्वसनीय समझी जाय तो निःसन्देह आश्चर्य की बात होगी। भूख भर खाने से कभी हानि नहीं हो सकती।

१०—खाने पीने में बच्चों की रोक टोक करने से हानियाँ।

सम्भव है, कोई कोई इस उत्तर को पढ़ कर अधीर हो उठेंगे—उनकी चित्तवृत्ति क्षुब्ध हो उठेगी। वे समझते होंगे कि जो कुछ हमने यहाँ पर कहा उसके बिलकुल ही प्रतिकूल उदाहरण वे दे सकते हैं—ऐसे उदाहरण जिनके ख़िलाफ़ हम कुछ कही नहीं सकते। और यदि हम कहे कि उनकी बातें प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं तो एक तरह का बेहूदापन होगा। परन्तु यह एक प्रकार का असत्याभास मात्र है। जो बात हमने कही है वह ऊपर से देखने में तो ठीक नहीं मालूम होती, पर अच्छी तरह विचार करने से उसके ठीक होने में कोई शंका नहीं रह जाती। सच तो यह है कि अधिक खा जाने से पैदा हुई बुराइयों के जो उदाहरण इन लोगों के मन में होंगे वे बहुत करके उसी रोक टोक के नतीजे होंगे जिसे वे ठीक समझते हैं। वे समझते हैं कि लड़कों को अधिक खाने पीने न देना चाहिए—यदि वे बहुत खाना चाहें तो उन्हें रोकना चाहिए। पर उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि अधिक खा जाना यथेच्छ भोजन न करने देने ही का नतीजा है। रोक टोक करके बच्चों से तापसवृत्ति धारण कराने ही से उनके मनोभावों में विपर्य्यय हो जाता है और मौका मिलते ही वे इतना खा जाते हैं कि हज़म नहीं कर सकते। लोग बहुधा कहा करते हैं कि जिन लड़कों के साथ बचपन में सख़्ती का बर्ताव किया जाता है वे बड़े होने पर (बे-लगाम के घोड़े की तरह) बहुत ही उद्दण्ड आचरण करने लगते हैं और परिमिताचार से कोसों दूर जा पड़ते हैं। यह बात बहुत ठीक है। इसकी यथार्थता ऊपर के उदाहरण से, थोड़े ही में, सिद्ध है। ये उदाहरण उन भयंकर घटनाओं की तरह के हैं जो रोमन कैथलिक सम्प्रदायवाले क्रिश्चियन लोगों

के मठों मे, किसी समय, अधिकता से होती थीं। वहाँ कठोर तापसवृत्ति से छूट कर जन्म-जोगिनी स्त्रियाँ एकदम ही महा-घोर पैशाचिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाया करती थीं। इन उदाहरणों से सिर्फ़ यह प्रकट होता है कि वासनाओं को बहुत दिनों तक दाब रखने से, मौक़ा पाते ही, वे बेतरह उच्छृङ्खल होकर क़ाबू के बाहर हो जाती हैं। विचार कीजिए कि किन चीज़ों को बच्चे अधिक चाहते हैं और उन चीज़ों के विषय मे उनसे किस तरह का बर्ताव किया जाता है। मीठी चीज़ें बच्चों को विशेष अच्छी लगती हैं। प्रायः सभी बच्चों मे यह बात पाई जाती है। शायद ही कोई बच्चा ऐसा हो जिसे मिठाई पसन्द न हो। पर सौ में से निन्नानवे आदमी यह समझते हैं कि यह सिर्फ़ चटोरपन है, और कुछ नहीं। अतएव इन्द्रियजन्य दूसरी वासनाओं की तरह इसे भी रोकना चाहिए। परन्तु प्राणिशास्त्र के ज्ञाता को इसमें शङ्का होती है। लड़कों को मिठाई अधिक पसन्द करने का कारण सर्वसाधारण जैसा समझते हैं वैसा समझने मे उसे संकोच होता है। वह अपने मन मे कहता है कि चटोरपन के सिवा इसका ज़रूर और कोई कारण होगा। क्योंकि प्राणि-विद्या-विषयक बातों के अभ्यास से जो नये आविष्कार होते रहते हैं उससे सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में उसका प्रेम प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। इस कारण वह इस बात की जाँच करता है। जाँच से उसे मालूम हो जाता है कि मेरा तर्क सच्चा है। बच्चे मिठाई को जो पसन्द करते हैं, इसका कारण चटोरपन नहीं है। जाँच करने से उसे इस बात का पता लगता है कि जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलने के लिए बच्चों के शरीर को मिठास की बड़ी ज़रूरत रहती है। जिन चीज़ों मे मिठास होता है और जिनसे चरबी पैदा होती है वे शरीर मे जाकर आक्साइट नाम का पदार्थ बन जाती हैं। इससे शरीर मे उष्णता पैदा होती है। कुछ और भी चीज़ें ऐसी हैं जो रूपान्तर होने पर शक्कर हो जाती हैं और उष्णता पैदा करती हैं। इस तरह शरीर के भीतर गई हुई चीज़ों का शक्कर में रूपान्तर होना बराबर जारी रहता है। पाचन-क्रिया के समय निशास्ता अर्थात् अन्न का पिष्टमय अंश ही शक्कर नहीं बन जाता; किन्तु क्लाड बरनार्ड नाम के फ़रासीसी विद्वान् ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि यकृतरूपी

कारख़ाने मे ख़ूराक के अन्यान्य अंश भी शकर बन जाते हैं। शरीर के लिए शकर की इतनी ज़रूरत है कि जब और कोई पदार्थ नहीं मिलते तब नाइट्रोजनवाले पदार्थों से ही यकृत को शकर बनानी पड़ती है। अच्छा, तो शरीर मे उष्णता उत्पन्न करनेवाली मीठी चीज़ें लड़के बहुत पसंद करते हैं। पर आक्साइड बनते समय जिनसे बहुत अधिक उष्णता बाहर निकलती है उन्हे, अर्थात् चरबी बढ़ानेवाली चीज़ों को, वे बहुधा बिलकुल ही नहीं पसन्द करते। इन बातो का विचार करने से यह तात्पर्य्य निकलता है कि चरबी बढ़ानेवाली चीज़ों के कम खाने से उष्णता में जो कमी आ जाती है उसे लड़के मीठी चीज़े अधिक खाकर पूरी कर लेते हैं। अतएव सिद्ध है कि लड़कों के शरीर के लिए शकर की ज़ियादह ज़रूरत रहती है, क्योकि चर्बी पैदा करनेवाली चीज़ें लड़के कम खाते हैं। इसके सिवा लड़कों को तरकारियाँ बहुत अच्छी लगती हैं। फल तो उनको प्राणों से भी अधिक प्यारे मालूम होते हैं। उन्हें पाने पर लड़कों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहता। यदि उन्हें अच्छे फल नहीं मिलते तो वे झरबेरी के कच्चे बेर और खट्टे से खट्टे करोंदे या जंगली सेब खा जाते हैं। तरकारियों और फलों मे जो खटाई रहती है वह वैसी ही पौष्टिक होती है जैसी कि खनिज पदार्थों की खटाई पौष्टिक होती है—पौष्टिक ही नहीं, किन्तु यह कहना चाहिए कि अत्यन्त पौष्टिक होती है। ये पदार्थ यदि बहुत अधिक न खा लिये जायँ तो शरीर को विशेष लाभ पहुँचाते हैं। एक बात और भी है कि यदि ये पदार्थ अपनी प्राकृतिक स्थिति मे—अर्थात् जिस हालत मे ये पैदा होते हैं उसी हालत मे—खाये जायँ तो इनके खाने से और भी कितने ही लाभ होते हैं। डाक्टर ऐंड्रू कोम्बा कहते हैं कि—"इँगलेंड की अपेक्षा योरप मे और सब कहीं पक्के फल अधिक खाये जाते हैं। विशेष करके जब पेट साफ़ नहीं रहता तब फलों से बहुधा बहुत अधिक लाभ होता है"। अच्छा तो अब यह देखिए कि बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उनके साथ पालन-पोषण-सम्बन्धी जो व्यवहार किया जाता है उसमे कितना भेद है। बच्चों को दो चीज़े अच्छी लगती हैं—जिन दो तरह के पदार्थों का वर्णन यहाँ पर किया गया उन्हें वे बहुत पसन्द करते हैं।

इससे बहुत करके यह प्रकट होता है कि उनकी शरीर-रचा के लिए किन चीज़ों की ज़रूरत होती है। पर यही नहीं कि ये चीज़ें बच्चों के खाने पीने में नहीं आतीं; किन्तु बहुधा लोग इनका खाना ही बन्द कर देते हैं। उनके मारे बच्चे इन्हे खाने ही नहीं पाते। सवेरे दूध और रोटी, और शाम को चाय, रोटी और मक्खन, या इसी तरह का और कोई फीका खाना बच्चों को दिया जाता है और इस बात की सख़्ती की जाती है कि इनके सिवा और कोई चीज़ उन्हें खाने को न मिले। लोग यह समझते हैं कि बच्चों को स्वादिष्ठ भोजन देना—उनकी रुचि के अनुसार उन्हे चीज़ें खिलाना—ज़रूरी बात नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु बच्चों की रुचि के अनुसार खाना खिलाना वे बुरा समझते हैं। अब देखिए, इस तरह की रुचि का परिणाम क्या होता है? जब तिथि-त्योहार के दिनों मे अच्छी अच्छी चीजें घर में अधिकता से होती हैं, जब जेब-ख़र्च मिलने पर हलवाइयों की दुकान तक बच्चों की पहुँच हो जाती है, या घूमते घामते जब किसी फलदार बाग़ मे बिना किसी रोक टोक के उनका प्रवेश हो जाता है, तब पुरानी कसर सब एक-दम निकल जाती है। तब बहुत दिन की अपूर्ण इच्छायें ख़ूब उच्छृङ्खल हो उठती हैं और मनमानी चीज़ें गले तक खाकर बच्चे उन्हे तृप्त करते हैं। कुछ तो इस तरह की अच्छी अच्छी चीजें खाने के पिछले प्रतिबन्ध के कारण, और कुछ यह समझ कर कि कल से अब फिर बहुत दिनों तक उपास करना है, बच्चे वृकोदर का ऐसा व्यवहार करते हैं—खाने के सिवा उन्हें और कुछ सूझता नहीं। और जब इस बे-हिसाब खाने की ख़राबियाँ देख पड़ने लगती हैं तब लोग यह कहना शुरू करते हैं कि खाने पीने की जिम्मेदारी बच्चों पर ही न छोड़नी चाहिए—उन्हे जो चीज जितनी मन में आवे न खाने देना चाहिए; क्षुधा बच्चों की विश्वसनीय पथदर्शक नहीं! अस्वाभाविक रोक टोक के कारण जो ये ऐसे दुःखदायक परिणाम होते हैं उन्हीं को उदाहरण मान कर लोग इस बात को साबित करते हैं कि अभी और रोक टोक की ज़रूरत है। इसी से हम कहते हैं कि रोक टोक के इस तरीक़े को सच्चा साबित करने के लिए जो कारण बतलाया जाता है जो दलील पेश की जाती है—वह बिलकुल ही पोच है। इसी से हम ज़ोर देकर

कहते हैं कि बच्चों की शरीर-रक्षा के लिए जिन स्वादिष्ठ चीज़ों की ज़रूरत है वे यदि उन्हे प्रति दिन बिना रोक टोक के दी जायँ, तो शायद ही कभी वे भूख से ज़ियादह खा जायँ, जैसा कि वे इस समय मौक़ा हाथ आते ही किया करते हैं। डाकृर कोम्बी की राय है कि फलों को, नियमित खाने का एक अंश समझना चाहिए और यदि वे बच्चों को बीच मे, और किसी समय नहीं, किन्तु भोजन करते समय दिये जायँ, तो जंगली सेब और झरबेरी के कच्चे पक्के फल खा जाने की इच्छा कभी बच्चों को न हो। और बातों का भी यही हाल समझना चाहिए।

११—भोजन का परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता। उसकी सच्ची माप बच्चों की क्षुधा है।

जिन चीज़ों के खाने की इच्छा बच्चों को हो उन्हे खाने देने में उनकी क्षुधा पर पूरा विश्वास करना चाहिए। अर्थात् भूख भर उन्हें खा लेने देना चाहिए। इसके कारण बहुत ही युक्तियुक्त और दृढ़ हैं। पर भूख पर विश्वास न करके बच्चों को उनकी अभीष्ट चीज़े न खाने देने के पक्ष में जो कारण बतलाये जाते हैं वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। यही नहीं, किन्तु बच्चो की इच्छा—बच्चों की भूख—को छोड़ कर इस विषय का विश्वसनीय निर्णय करनेवाला और कोई मार्ग ही नहीं है। किस चीज़ को खाने देना चाहिए और किसको न खाने देना चाहिए, इस विषय का फ़ैसला करने में यदि किसी पर विश्वास किया जा सकता है तो बच्चों की इच्छा पर—बच्चों की भूख पर। लोग समझते हैं कि इस विषय में माँ-बाप की राय भी विश्वास-योग्य मानी जा सकती है। पर माँ-बाप की राय की क़ीमत ही कितनी? जब बच्चा कहता है कि अभी मैं और खाऊँगा तब माँ या दाई कहती है—"बस, और नहीं"। भला इस "बस, और नहीं" का आधार क्या है? वह सिर्फ़ ख़याल करती है कि बच्चे ने मतलब भर के लिए खा लिया है। यह एक कल्पना-मात्र है। इस तरह की कल्पना के लिए क्या वह कोई कारण भी बतला सकती है? क्या वह बच्चे के पेट का हाल किसी गुप्त रीति से मालूम कर लेती है? क्या उसे कोई ऐसी विद्या मालूम है जिससे वह

यह समझ जाती है कि बच्चे के शरीर के लिए किन किन चीज़ों की जरूरत है? यदि इनमे से कोई बात नहीं, तो किस बुनियाद पर वह बेधड़क कह देती है कि—"बस, और नहीं"? क्या उसे यह बात न मालूम होनी चाहिए कि एक नहीं, अनेक पेचीदा कारणों से शरीर के लिए भोजन की ज़रूरत होती है? न्यूनाधिक भूख लगने के सैकड़ों कारण हो सकते हैं। हवा की गरमी, सरदी या बिजली की मात्रा के अनुसार भूख मे न्यूनाधिकता हो जाती है। इसी तरह व्यायाम (कसरत) के अनुसार, सबसे पिछले भोजन के समय खाये हुए अन्न के प्रकार और परिमाण के अनुसार, और उसके पाचन मे लगे हुए कम या अधिक समय के अनुसार भी भूख मे न्यूनाधिकता हो जाती है। इन सब कारणों के मेल से होनेवाले परिणाम का ज्ञान उसे किस तरह हो सकता है? हमने एक पाँच वर्ष का लड़का देखा। यह लड़का अपनी हमजोली के लड़कों से इतना ऊँचा था कि और लड़के उसके कन्धे ही तक पहुँचते थे। औरों की अपेक्षा वह विशेष सुदृढ़, सशक्त और चालाक भी मालूम होता था। उसके बाप को एक दफे हमने यह कहते सुना कि—"मेरे पास कोई ऐसी माप नहीं जिससे मैं यह जान सकूँ कि इसे कितना खाना खिलाना चाहिए। इस विषय मे मैं कोई नियम नहीं निश्चित कर सकता। यदि मैं कहूँ कि इतना भोजन कर लेना इसके लिए बस होगा तो यह अटकल-मात्र है। और अटकल सच भी हो सकती है, झूठ भी हो सकती है। अतएव, अटकल पर मेरा विश्वास न होने के कारण, मैं इसे पेट भर खा लेने देता हूँ"। परिणामों को ध्यान में रख कर विचार करने से हर आदमी को यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि इस बाप ने पूर्वोक्त बर्ताव करके बड़ी बुद्धिमानी का काम किया। सच तो यह है कि बहुत आदमी, जो अपने विश्वास के बल पर बच्चों के मेंदे (आमाशय) के विषय में नियम बना देते हैं वे, इस बात का सबूत देते हैं कि हम प्राणि-धर्म्म-शास्त्र से बिलकुल ही परिचित नहीं। यदि इस शास्त्र का इन लोगों को थोड़ा भी ज्ञान होता तो विश्वास के बल पर ये इतना ऊँचा उड़ान न भरते—इतना घमण्ड न करते। "विज्ञान का घमण्ड अज्ञान के घमण्ड के मुक़ाबले मे है क्या चीज़? उसकी हक़ी-

कत ही कितनी" ? यदि कोई यह जानने की इच्छा रखता हो कि मनुष्य की सम्मति पर कितना कम, और परम्परा से प्राप्त हुई वस्तु-स्थिति पर कितना अधिक, विश्वास करना चाहिए तो उसे अनुभवहीन वैद्यों के उतावले उपचारों का मुक़ाबला अनुभवशील वैद्यों के ख़ूब सावधानता-पूर्वक किये गये उपचारों से करना चाहिए। अथवा उसे चाहिए कि वह इँग्लेंड के प्रसिद्ध डाक्टर सर जान फार्ब्स की "रोगों के दूर करने मे प्रकृति और चिकित्सा-शास्त्र की उपयोगिता" नामक पुस्तक पढ़े। इससे उसे मालूम हो जायगा कि मनुष्यों को जैसे जैसे जीवन-सम्बन्धी नियमों का अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उन्हें अपनी राय—अपनी समझ—पर कम और प्रकृति, वस्तु-स्थिति या सृष्टि-क्रम पर अधिक विश्वास होता जाता है।

१२—बच्चों को हलका और अपौष्टिक भोजन देने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति के कारण।

बच्चों को कितना खाना खिलाया जाता है—उनके भोजन का परिमाण कितना होता है, इसका विचार हो चुका। अब हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि किस प्रकार का भोजन बच्चों को दिया जाता है—कौन कौन सी चीज़ें उन्हे खाने को मिलती हैं। इस बात के विचार में भी हम, लोगों को तपस्वियों की ऐसी वृत्ति की तरफ़ झुका हुआ पाते हैं। वे समझते हैं कि बच्चो का भोजन परिमित ही न हो, किन्तु हलका भी हो। अर्थात् पहले तो बच्चे पेट भर खाने को न पावें फिर जो कुछ पावें वह पौष्टिक न हो। बच्चो के लिए लोग यही हितकर समझते हैं। आज कल लोगों की राय यह हो रही है कि बच्चों को पौष्टिक भोजन (मांस) बहुत कम देना चाहिए। जान पड़ता है, मध्यम स्थिति के लोगों ने किफ़ायत के ख़याल से यह राय निश्चित की है। क्योकि मन में किसी इच्छा के पैदा होने के बाद उसे पूरा करने के साधनों की कल्पना होती है अथवा यों कहना चाहिए कि कल्पना की उत्पादक इच्छा है। मध्यम स्थिति के लोगों मे माँ-बाप अधिक मांस नहीं

मोल ले सकते। इस कारण बच्चों के माँगने पर वे यह उत्तर देते हैं कि—"छोटे छोटे बच्चों को मांस खाना अच्छा नहीं"। यह उत्तर, जो पहले बहुत करके एक सीधा सादा बहाना था, बार बार के प्रयोग से धीरे धीरे विश्वासपूर्ण मत हो गया। परन्तु जिन लोगों को ख़र्च का ख़याल नहीं, अर्थात् जो अच्छी दशा मे हैं, उन्होंने जब देखा कि अधिक आदमियों की राय ऐसी है तब उनकी देखा-देखी वे भी इसी मत के अनुयायी हो गये। उनके यहाँ जो दाइयाँ रहती हैं वे नीच स्थिति के कुटुम्बों से ली जाती हैं। उनकी राय भी मध्यम स्थिति के आदमियों ही की सी होती है। अतएव इन दाइयों की राय का भी कुछ असर इन उच्च स्थिति के लोगों पर पड़ा। इसके सिवा पहले ज़माने के लोगों के पेटू-पन का ख़याल करके उसके विपरीत आचरण करने, अर्थात् कम खाने, की तरफ़ स्वभाव ही से उनकी प्रवृत्ति हो गई। इन्हीं कारणों से उच्च स्थितिवालों की भी राय ने मध्यम स्थितिवालों की राय का अनुसरण किया।

१३—सिर्फ़ बहुत छोटे बच्चों के लिए मांस उपयोगी ख़ूराक नहीं।

परन्तु, यदि, हम इस बात की जाँच करते हैं कि लोगों की जो यह राय हो गई है उसका आधार क्या है—उसकी बुनियाद क्या है—तो हमें उसका बहुत ही कम पता चलता है, अथवा यों कहिए कि कुछ भी पता नहीं चलता। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी पुनरावृत्ति लोग, प्रमाण या आधार की कुछ भी परवा न करके, बराबर करते आ रहे हैं। यही नहीं, किन्तु उसका अनुसरण भी वे करते हैं। हज़ारो वर्ष तक लोगों का यह आग्रह था कि गोद के बच्चों के बदन पर कपड़े की पट्टियाँ बाँधनी चाहिए—उन्हें चीथड़ों से लपेटे रखना चाहिए। जिस व्यवस्था का हम ज़िक्र कर रहे हैं वह भी इसी तरह की है। वह भी एक ऐसा ही आग्रह-पूर्ण मत है। बच्चों का मेदा बहुत कमज़ोर होता है। उसके स्नायु सशक्त नहीं होते। परन्तु मांस का रस बन कर अच्छी तरह हज़म होने के लिए पेट में बहुत देर तक घर्षण-क्रिया की ज़रूरत होती है। अतएव बहुत छोटे

बच्चों के मेदे के लिए मांस उपयुक्त ख़ूराक नहीं है। सम्भव है, बच्चे मा
को अच्छी तरह न हज़म कर सकें। परन्तु यह एतराज़ उस मांस के विष
में नहीं किया जा सकता जिसके रेशे निकाल डाले गये हैं, और न उन बच्च
ही के विषय मे किया जा सकता जिनकी उम्र दो तीन वर्ष की हो चुकी है
इतनी उम्र के बच्चों के स्नायु बहुत कुछ मज़बूत हो जाते हैं। इससे उनर
मेदे की कमज़ोरी पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है। अतएव सर्व-
साधारण के इस आग्रहपूर्ण मत को पोषक जो बातें कही जाती हैं वे सिर्फ़
बहुत ही छोटे बच्चों के विषय मे ठीक हैं। सो भी पूरे तौर से नहीं। बडे
लड़कों के विषय में तो वे बिलकुल ही ठीक नहीं। परन्तु उनके साथ भी
छोटे बच्चो ही का ऐसा बर्ताव किया जाता है। पौष्टिक भोजन के सम्बन्ध मे
छोटे बड़े सब उम्र के लड़के बहुधा एक ही लाठो से हाँके जाते हैं। यह तो
इस मत के पक्ष की बात हुई। परन्तु जब हम इसके विपक्ष की बातों का
विचार करते हैं तब अनेक सबल और निश्चित कारण हमें इसके प्रतिकूल
मिलते हैं। विज्ञान इस सार्वजनिक आग्रह के बिलकुल ही ख़िलाफ़ है।
वैज्ञानिक रीति से विचार-पूर्वक निश्चित किये गये सिद्धान्त इस मत के
पूरे विरोधी हैं। हमने दो प्रसिद्ध डाक्टरों और प्राणि-धर्म्म-शास्त्र के कितने ही
नामी नामी विद्वानों से इस विषय मे प्रश्न किया। उन्होंने एकवाक्य होकर
निश्चित रूप से यह मत स्थिर किया कि बड़े आदमियों को जैसा अन्न दिया
जाता है उससे कम पौष्टिक अन्न बच्चों को न देना चाहिए। किम्बहुना, यदि
हो सके, तो बच्चों को बडे आदमियों से अधिक पौष्टिक अन्न देना उचित है।

१४—बड़े आदमियों की अपेक्षा बच्चों को ख़ूराक की अधिक ज़रूरत रहती है।

जिस आधार पर यह निर्णय किया गया है, बिलकुल ही स्पष्ट है और
इसकी सिद्धि भी बहुत ही सीधी सादी दलीलों से की जा सकती है। इसके
लिए बड़े आदमी की जीवन-क्रिया की तुलना सिर्फ़ लड़के की जीवन-क्रिया
से करने की ज़रूरत है। इससे मालूम हो जायगा कि वयस्क आदमी
की अपेक्षा लड़के को पौष्टिक पदार्थ खाने की अधिक ज़रूरत रहती है।

किस लिए आदमी अन्न खाता है ? किस निमित्त मनुष्य को खाना खाने की जरूरत पड़ती है ? मनुष्य का शरीर प्रति दिन थोड़ा बहुत ज़रूर चीण होता है—कुछ न कुछ कमी उसमें ज़रूर होती है । शारीरिक परिश्रम करने से हाथ-पैर आदि में, मानसिक परिश्रम करने से ज्ञान-तन्तुओं मे, और अनेक प्रकार के जीवन-व्यापार-सम्बन्धी परिश्रम करने से शरीर के भीतरी अवयवों मे कुछ न कुछ चीणता ज़रूर आ जाती है । इस तरह जो चीणता आती है उसे पूरा करना पड़ता है । इस प्रकार की कमी की पूर्ति होनी ही चाहिए । दीप्ति-विकिरण के द्वारा बहुत सी उष्णता मनुष्य के शरीर से प्रति दिन बाहर निकला करती है । परन्तु जीवन-व्यापार अच्छी तरह जारी रहने के लिए जितनी उष्णता शरीर को दरकार है उतनी ज़रूर ही उसमें रहनी चाहिए । अतएव चीण हुई उष्णता को बार बार पूरा करना पडता है । इसलिए शरीर के कुछ अवयवों का संयोग हमेशा आक्सिजन से हुआ करता है—उनके संयोग से हमेशा उष्णता उत्पन्न हुआ करती है । अतएव दिन भर मे शरीर का जितना अंश चीण हो जाता है उसे पूरा करने, और जितनी उष्णता बाहर निकल जाती है उसे पैदा करने के लिए काफ़ी ईंधन पहुँचाने, के लिए ही वयस्क आदमी को खाना खाने की ज़रूरत होती है । अच्छा अब लड़के की स्थिति का विचार कीजिए । वह भी काम करता है । अतएव उसका भी शरीर चीण होता है । उसकी लगातार दौड-धूप का ख़याल करने से यह बात ध्यान मे आये बिना नहीं रह सकती कि यद्यपि उसका शरीर छोटा है तथापि बहुत करके वह उतना ही चीण होता है जितना बडे आदमी का शरीर चीण होता है । अर्थात् बच्चे के शरीर का आकार यद्यपि छोटा होता है तथापि दिन भर वह हाथ-पैर चलाया ही करता है—कुछ न कुछ किया ही करता है । इससे उसे इतनी मेहनत पडती है कि बित्त बाहर उसका शरीर चीण होता है । किरण-विकिरण के कारण लड़के के शरीर से भी उष्णता बाहर निकला करती है । लड़के के पिण्ड या विस्तार को देखते बडे आदमी के शरीर का जितना अंश खुला रहता है उसकी अपेचा लडके के शरीर का अधिक अंश खुला रहता है । इससे बडे आदमी की अपेचा लड़के के शरीर की उष्णता

अधिक शीघ्रता से बाहर निकला करती है। अतएव उष्णता पैदा करनेवाले जितने भोजन की ज़रूरत बड़े आदमी के लिए होती है, अपने गात के हिसाब से बच्चे के लिए उससे भी अधिक की ज़रूरत होती है। इससे सिद्ध है कि जो जीवन-व्यापार बड़े आदमी को करने पड़ते हैं, यदि सिर्फ़ वही बच्चे को भी करने पड़ें, और कोई नहीं, तो भी अपने डील डौल के अनुसार—अपने गात के अनुसार—उसे वयस्क आदमी की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन की ज़रूरत हो। परन्तु शरीर को दुरुस्त रखने—उसकी क्षीणता की पूर्त्ति करने—और अपेक्षित उष्णता को बना रखने के सिवा बच्चे को बढ़ना भी पड़ता है। अपने शरीर के कुछ अंश को उसे नया भी बनाना पड़ता है। प्रति दिन की क्षीणता और उष्णता की कमी को पूरा करने के बाद जो भोजनांश बच रहता है वह शरीर को बढ़ाने मे काम आता है। इसी बचे हुए भोजनांश की बदौलत बच्चे की यथानियम बाढ़ सम्भव है। कभी कभी इस भोजनांश के न बचने पर भी बच्चे की बाढ़ होती है। परन्तु इस तरह की बाढ़ शरीर के अच्छी स्थिति मे न होने का लक्षण है। यन्त्र-विद्या का एक नियम बहुत पेचीदा है। इससे उसका विवरण यहाँ पर नहीं दिया जाता। तात्पर्य्य उसका यह है कि छोटा यन्त्र बड़े यन्त्र की अपेक्षा अधिक दिन चलता है और घिसने वग़ैरह के कारण कम ख़राब होता है। अर्थात् बड़े की अपेक्षा छोटे यन्त्र की गति में विशेष बाधा नहीं आती। यह एक ऐसी विशेषता है कि बाढ़ का सारा दारोमदार इसी पर है। यदि यह बात न होती तो बढ़ना ही असम्भव हो जाता। इस विशेषता को मान लेने से यह बात ज़रूर सिद्ध होती है कि बच्चे के खाने पीने के विषय में चाहे जितनी बेपरवाही की जाय उसके शरीर में कुछ न कुछ भोजनांश बच ही रहता है। अर्थात् बड़े आदमी की अपेक्षा बच्चे का शरीर, शक्ति को कम करनेवाले व्यवहार अधिक सहन कर सकता है। पर इससे यह बात भी सिद्ध होती है, और बहुत स्पष्टतापूर्वक सिद्ध होती है, कि बुरे व्यवहार के कारण जितना भोजनांश बचना चाहिए उसमे ज़रूर कमी हो जायगी। अतएव बच्चे की बाढ़ में भी ज़रूर बाधा आवेगी और उसका शरीर जितना दृढ़ और सशक्त होना चाहिए उतना न होगा। जो शरीर

बढ़ रहा है उसके लिए खाने पीने की बहुत अधिक ज़रूरत होती है। यही कारण है जो मदरसे मे पढ़नेवाले लड़कों को इतनी तेज़ भूख लगती है जितनी कि बडी उम्र के आदमियों को कभी नहीं लगती। यही नहीं कि लड़कों को बहुत तेज़ भूख लगती हो, नहीं, उन्हें बहुत जल्द जल्द भी भूख लगती है। यदि हमारे दिये हुए इन प्रमाणों से किसी का जी न भरे तो हम और प्रमाण भी दे सकते हैं। बच्चो को अधिक ख़ूराक की ज़रूरत का यह भी एक प्रमाण है कि जहाज़ों के डूबने अथवा और ऐसे ही अनर्थ होने से जब भूखों मरने का प्रसङ्ग आता है तब बच्चे ही पहले प्राण छोड़ते हैं। यदि भूख बरदाश्त करने की शक्ति उनमे होती—यदि उन्हें बडे आदमियों की अपेक्षा अधिक भूख न लगती—तो वे कभी इस तरह न मरते।

१५—बच्चों को हलका भोजन अधिक परिमाण में देना चाहिए या पौष्टिक भोजन थोड़े परिमाण में।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे यह सिद्ध हुआ, और सिद्ध होना ही चाहिए, कि बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को भोजन की अधिक ज़रूरत है। अतएव अब इस बात का विचार करना है कि इस ज़रूरत को रफ़ा करने के लिए किस तरह का भोजन बच्चों को दिया जाना चाहिए—हलका भोजन अधिक परिमाण में दिया जाय या पौष्टिक भोजन थोड़े परिमाण मे? पाव भर मांस खाने से शरीर को जितनी पुष्टता होती है उतनी के लिए पाव भर से अधिक रोटी खाने की ज़रूरत होती है और उतनी रोटी से भी अधिक आलू खाने की ज़रूरत होती है। अर्थात् मास विशेष पुष्टिकारक है, रोटी उससे कम और आलू रोटी से भी कम। यही हाल और चीज़ो का भी है। कोई चीज़ कम पुष्टिकारक है, कोई अधिक। जो चीज़ जितनी कम पुष्टिकारक है, ज़रूरत को पूरा करने के लिए उसे उतनी ही अधिक देना चाहिए। तो फिर शरीर की बाढ के लिए बच्चों को जो अधिक भोजन की ज़रूरत होती है उसे रफ़ा करने के लिए क्या उन्हें वैसाही अच्छा भोजन देना चाहिए जैसा बडो को दिया जाता है? या, इस बात की परवा न करके कि बच्चो के मेदे को यह अच्छा भोजन भी अपेक्षाकृत

अधिक परिमाण मे हज़म करना पड़ता है, उन्हे कम पौष्टिक भोजन और भी अधिक परिमाण मे देकर उनके मेदे के लिए उसे हज़म करने का काम और भी कठिन कर देना चाहिए ?

१६—बच्चों को पौष्टिक, पर जल्द हज़म होनेवाला, खाना खिलाना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर सहज ही मे दिया जा सकता है। हज़म करने में जितनी ही कम मेहनत पड़ती है, शरीर को बढ़ाने और दूसरे शारीरिक व्यापार चलाने के लिए शक्ति की उतनी ही अधिक बचत होती है। स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर के अधिक ख़र्च हुए बिना मेदे और अँतड़ियों के काम अच्छी तरह नहीं चल सकते। ख़ूब डट कर भोजन करने के बाद शरीर में जो एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है उससे बड़ी उम्र के हर एक सज्ञान आदमी को मालूम होना चाहिए कि उस समय स्नायु-सम्बन्धिनी, शक्ति और रुधिर की भरती शरीर के और अवयवो मे कम होकर—उन्हें हानि पहुँचा कर—मेदे की मदद करती है। शरीर के पोषण के लिए आवश्यक पुष्टता, यदि कम पुष्टिकारक भोजनों के अधिक परिमाण को हज़म करके, प्राप्त करनी पड़ती है तो मेदे आदि को विशेष पौष्टिक भोजन के कम परिमाण को हज़म करने की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। इस तरह की मेहनत जितनी ही अधिक पड़ती है उतनी ही अधिक हानि शरीर को पहुँचती है। इसका फल यह होता है कि या तो लड़के कमज़ोर हो जाते हैं, या उनकी बाढ़ मारी जाती है, या दोनों दोष उनमे आ जाते हैं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जहाँ तक हो सके बच्चो को ऐसा भोजन दिया जाना चाहिए जो पौष्टिक भी हो और जल्द हज़म भी हो जाय।

१७—वानस्पतिक पदार्थ खानेवालों की अपेक्षा मांस खानेवालों के लड़के अधिक सशक्त और बुद्धिमान् होते हैं।

लड़के लड़कियों का शरीर-पोषण प्रायः, अथवा बिलकुल ही, वानस्पतिक भोजन से हो सकता है। कन्द, मूल, फल, तरकारी और भिन्न भिन्न प्रकार

के धान्यों से ही वे पाले जा सकते हैं। यह सच है; इसमें कोई सन्देह नहीं। अमीर आदमियों के घरों मे ढूँढ़ने से ऐसे भी लड़के मिल सकते हैं जिनको अपेक्षाकृत कम मांस दिया जाता है। तिस पर भी वे मज़े में बढ़ते हैं और देखने में हृष्ट पुष्ट मालूम होते हैं। मेहनत मज़दूरी करके पेट पालनेवाले लोगों के बच्चो को शायद ही कभी मांस चीखने को मिलता होगा। फिर भी वे ख़ूब स्वस्थ रहते हैं और बढ़कर जवान हो जाते हैं। इन उदाहरणों में जो विरोध जान पड़ता है वह ऊपरी दृष्टि से देखने ही से मालूम हो जाता है। वह विरोधाभास-मात्र है। ऐसे उदाहरणो को साधारण तौर पर लोग जितना महत्त्व देते हैं उतना महत्त्व पाने के वे हरगिज़ लायक़ नहीं। पहले तो इन उदाहरणों से यह नतीजा नहीं निकलता कि जो लड़के बचपन में रोटी और आलू खाकर पलते हैं वे अन्त मे अच्छे जवान होते हैं। किसानी का काम करनेवाले इँगलिस्तान के मज़दूरों और अमीरो का, और फ़ास के मध्यम और नीच स्थिति के आदमियों का, परस्पर मुक़ाबला करने से यह मालूम हो जायगा कि वानस्पतिक भोजन उतना लाभदायक नहीं। दूसरे, यह बात सिर्फ़ शरीर के आकार को देखने ही से सम्बन्ध नहीं रखती, उसके गुणों से भी सम्बन्ध रखती है। नरम और ढीला ढाला मांसल शरीर वैसा ही अच्छा मालूम होता है जैसा कि गठीला शरीर मालूम होता है। स्थूल दृष्टि से देखनेवाले की निगाह मे भरे हुए, पर पिलपिले, पट्ठोंवाले और ख़ूब गँठे हुए चुस्त पट्ठोंवाले बच्चे के शरीर मे कोई भेद न मालूम होगा। पर उन दोनों की शक्ति की परीक्षा करने से उनका भेद तत्काल मालूम हो जायगा। अर्थात् दोनों से कोई ऐसा काम कराने से जिसमे शक्ति की ज़रूरत है, उनके शरीर की मज़बूती का अन्तर ध्यान मे आये विना न रहेगा। वयस्क आदमियों मे अधिक मोटापन का होना बहुत करके कमज़ोरी का लक्षण समझना चाहिए। कसरत करने से आदमी के बदन का वज़न घट जाता है। अतएव कम पौष्टिक अन्न खानेवाले लडको की शकल-सूरत को देख कर उन्हे सशक्त समझना भूल है। उनकी शकल सिर्फ़ देखने भर को है। तीसरे, आकार के सिवा हमें कामकाज करने की क्षमता-शक्ति को भी देखना चाहिए। मास खानेवालों के

लड़कों और रोटी और आलू खानेवालों के लड़कों में क्षमता-सम्बन्धी बहुत बड़ा फ़र्क़ होता है। शरीर के फुरतीलेपन और बुद्धि की तीव्रता, दोनों बातो मे, ग़रीब किसान का लड़का अमीर आदमी के लड़के से बहुत हीन होता है।

१८—परिश्रम करने की शक्ति भोजन की पौष्टिकता पर अवलम्बित रहती है।

यदि हम जुदा जुदा तरह के जानवरों का या जुदा जुदा तरह की मनुष्य-जातियों का परस्पर मुक़ाबला करें, अथवा एक ही तरह के जानवरों और एक ही जाति के आदमियों का, जुदा जुदा तरह का खाना खिला कर, मुक़ाबला करें, तो इस बात का हमे और भी अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलेगा कि काम करने की क्षमता—परिश्रम करने की शक्ति—का परिमाण सर्वथा भोजन की पौष्टिकता ही पर अवलम्बित रहता है।

१९—पौष्टिक ख़ूराक खानेवाले जानवर घास-पात खानेवाले जानवरों से अधिक चुस्त और चालाक होते हैं।

गाय घास खाती है जो बहुत ही कम पुष्टिकारक चारा है। इसीसे उसे बहुत ज़ियादा घास खानी पड़ती है और उसे हज़म करने के लिए बहुत बड़े मेदे इत्यादि की भी ज़रूरत होती है। यदि पाचन-क्रिया करनेवाले शरीर के भीतरी यन्त्र अधिक विस्तृत न हों तो वह इतनी घास हज़म ही न कर सके। शरीर की अपेक्षा गाय के पैर इत्यादि अवयव छोटे होते हैं। अतएव उन पर शरीर का बहुत बोझ पड़ता है। इस इतने बड़े शरीर को उठाने और इतना ज़ियादह चारा हज़म करने मे गाय की बहुत सी शक्ति ख़र्च हो जाती है। अतएव गाय में जो इतनी सुस्ती और शिथिलता देख पडती है वह शरीर में शक्ति के बहुत कम रह जाने का कारण है। घोड़े के शरीर की बनावट बहुत करके गाय के शरीर ही के सदृश होती है। परन्तु घोड़े को गाय की अपेक्षा अधिक सारवान्, अर्थात् पौष्टिक, खाना मिलता

है। अब यदि आप घोड़े का मुक़ाबला गाय से करेंगे तो मालूम होगा कि घोड़े का शरीर, विशेष करके पेट, उसके पैर आदि अवयवों के परिमाण के हिसाब से, बहुत बड़ा नहीं है। इसी से उसे पेट इत्यादि का बहुत अधिक बोझ नहीं उठाना पड़ता और न बहुत अधिक ख़ूराक ही हज़म करनी पड़ती। यही कारण है जो घोड़ा बहुत तेज़ चल सकता है और बहुत चुस्त और चालाक होता है। यदि हम घास-पात खानेवाली भेड़ की शिथिलता और सुस्ती का मुक़ाबला मांस, या रोटी इत्यादि, या दोनों तरह की ख़ूराक खानेवाले कुत्ते से करते हैं तो वही बात हमें यहाँ भी देख पड़ती है। किम्बहुना इस मुक़ाबले मे दोनों का पारस्परिक भेद और भी अधिकता से देख पड़ता है। अच्छा, यदि आप किसी अजायबघर या चिड़ियाख़ाने के बाग़ की सैर को जाइए और जङ्गली जानवरों के पिँजड़ों के पास से होकर निकलिए तो आप देखेंगे कि मांस-भक्षी जानवर किस बे-चैनी से अपने पिँजड़े मे इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर लगा रहे हैं। इससे आपके ध्यान में फ़ौरन ही यह बात आ जायगी कि घास-पात खानेवाले जानवरों में यह विलक्षणता नहीं पाई जाती और आप यह भी समझ जायँगे कि इस तरह की चुस्ती और चालाकी, सारवान् पौष्टिक खाना खाने ही की बदौलत है। इस चुस्ती और पौष्टिक ख़ूराक मे जो कार्य्यकारण-भाव है उसे समझने में आपको ज़रा भी देरी न लगेगी।

२०—यह भेद शरीर-रचना के कारण नहीं; पौष्टिक या अपौष्टिक ख़ूराक के कारण है।

कोई कोई शायद यह कहेंगे कि यह भेद, जो देख पड़ता है, शरीर-रचना में भेद होने के कारण है। इसका कारण जुदा जुदा तरह की ख़ूराक नहीं है। परन्तु इस तरह की तर्कना मे कोई अर्थ नहीं। जिस जानवर का शरीर जैसा है वह उसी के अनुकूल चारा पानी खाने के लिए बनाया गया है और इस भेद का प्रत्यक्ष कारण जानवरों के खाने पीने की चीज़ों मे भिन्नता ही है। इसका सबूत यह है कि यह भेद एक ही जाति के जुदा जुदा क़िस्म

के जानवरों म भी पाया जाता है। घोड़े एक तरह के नहीं होते; कई तरह के होते हैं। उनमे हमारे निर्णय का अच्छा उदाहरण मिलता है। गाड़ियों मे जोता जानेवाला बड़े पेट का सुस्त और मरियल घोड़ा लीजिए और उसका मुक़ाबला छोटी कोख के, पर .खूब चालाक, शिकारी या घुड़दौड़ के घोड़े से कीजिए। तब आप इस बात को याद कीजिए कि पहले की अपेक्षा दूसरे घोड़े की ख़ुराक कितनी पौष्टिक होती है। अथवा मनुष्य ही का उदाहरण लीजिए। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासी, आफ़्रीका के जंगली बुशम्यन और अन्यान्य महा असभ्य जातियाँ, जो कन्द, मूल, फल और कभी कभी कीड़े मकोड़े आदि अभक्ष्य जन्तु खाकर अपना निर्वाह करती हैं, और मनुष्य-जातियों की अपेक्षा अधिक खर्वाकार होती हैं। उनके पेट बड़े बडे होते हैं। स्नायु भी उनके पिलपिले होते हैं और पूरे तौर पर बढ़े बिनाही रह जाते हैं। ये लोग लड़ने, भिड़ने या देर तक मेहनत का काम करने मे योरपवालों की बराबरी नही कर सकते। पर उत्तरी अमेरिका के इंडियन, दक्षिणी अमेरिका के पेटा गोनियन और अफ़रीका के काफ़िर आदि जङ्गली आदमियों को देखिए। वे .खूब ऊँचे, चालाक और मज़बूत होते हैं। आप जानते हैं वे क्या खाते हैं? वे मास ही अधिक खाते हैं। पौष्टिक अन्न न खानेवाले हिन्दू मास-भक्षी अँगरेज़ों का मुक़ाबला नहीं कर सकते। शारीरिक और मानसिक दोनों बातों मे वे अँगरेज़ो से हीन हैं। साधारण तौर पर हम तो यह समझते हैं कि यदि संसार का इतिहास देखा जाय तो यह मालूम होगा कि जिन लोगो का खाना .खूब पौष्टिक होता है वही अधिक सशक्त होते हैं और वही औरों पर प्रभुत्व भी करते हैं*।

२१—जानवरों की .खूराक जितनी अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही अधिक मेहनत वे कर सकते हैं।

जिस जानवर की .खूराक जितनी कम या अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही कम या अधिक मेहनत भी वह कर सकता है। यह ऐसा उदाहरण है

---

* यदि हिन्दुओं न नही तो जापानियों ने तो स्पेन्सर के इस मत को ज़रूर बहुत कुछ भ्रामक सिद्ध कर दिया है। अनुवादक।

जिससे हमारे सिद्धान्त को और भी अधिक दृढ़ता आती है। यह बात घोड़े के दृष्टान्त से प्रमाणित हो चुकी है। सिर्फ़ घास खानेवाला घोड़ा मोटा तो हो जाता है—उसके बदन में चरबी तो बढ़ जाती है—पर उसकी शक्ति ज़रूर कम हो जाती है। उससे सख़्त मेहनत का काम कराने से इस बात की सत्यता का प्रमाण शीघ्र ही मिल जाता है। "घोड़ों को घास चरने के लिए छोड़ देने से उनके शरीर के स्नायु कमज़ोर हो जाते हैं"। "यदि किसी बैल को स्मिथ-फील्ड नामक नगर की मंडी में ले जाकर बेचना हो तो उसके लिए घास बहुत अच्छा चारा है, क्योंकि घास खाने से वह ख़ूब मोटा हो जायगा। पर शिकारी घोड़े के लिए वह बहुत हानिकारी है"। पुराने ज़माने के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि गरमी की ऋतु में बाहर खेतों में खेती-किसानी का काम करने के बाद शिकारी घोड़ों को कई महीने तक अस्तबल में बाँध कर खिलाने पिलाने की ज़रूरत होती है। तब कहीं वे शिकारी कुत्तों के साथ शिकार के पीछे दौड़ सकते हैं। वे यह भी अच्छी तरह जानते थे कि अगली वसन्त ऋतु आये बिना शिकारी घोड़ों की हालत अच्छी नहीं होती। अपरले नामक एक विद्वान् का कथन है कि "गरमी के मौसम में शिकारी घोड़ों को घास चरने के लिए कभी न छोड़ना चाहिए। यही नहीं, किन्तु यदि विशेष सुभीता और विशेष अच्छा प्रबन्ध न हो तो उन्हें बिलकुल ही बाहर न निकालना चाहिए"। मतलब यह कि घोड़ों को कभी हलका खाना मत दो। ख़ूब पौष्टिक और कसदार ख़ूराक बराबर देते रहने ही से घोड़ों में विशेष शक्ति आती है और तभी वे देर तक मेहनत के काम कर सकते हैं। यह सर्वथा सच है। अपरले साहब ने इस बात को साबित कर दिखाया है कि यदि मँझले दरजे के घोड़े को बहुत दिन तक अच्छी ख़ूराक दी जाय तो वह अपने काम-काज और करतबों में मामूली ख़ूराक खानेवाले ऊँचे दरजे के घोड़े की बराबरी कर सकता है। ये सब प्रमाण तो हैं ही। इनमें एक बात और जोड़ दीजिए। इसे सब लोग जानते हैं। वह यह है कि जब किसी घोड़े से दूना काम लेने की ज़रूरत होती है तब उसे लोबिये की तरह का बीन नामक धान्य दिया जाता है। घोड़े की मामूली ख़ूराक जई की अपेक्षा लोबिये में नायट्रोजन अधिक

रहता है । और नायट्रोजन वह चीज़ है जिससे मांस की वृद्धि होती है ।

२२—मांस न खानेवाले आदमियों की शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों में क्षीणता आ जाती है ।

इस विषय मे बस अब एक ही बात और कहनी है । जो प्रमाण जानवरों के विषय मे दिये गये उनकी यथार्थता मनुष्य-मात्र में उतनी ही अथवा उसकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टता से देख पड़ती है । हम उन लोगों के विषय में कुछ नहीं कहते जिन्हे शक्ति के बड़े, बड़े काम करने के लिए शिक्षा दी जाती है—जिन्हें कसरत के बड़े बड़े कर्तब दिखाने की तालीम दी जाती है । उनका खाना पीना तो पूरे तौर पर पूर्वोक्त नियम के अनुसार होता ही है । हम, जो लोग रेल के महकमे में ठेकेदारी करते हैं उनके और उनके मज़दूरों के तजरिबे की बात कहते हैं । इस बात को सिद्ध हुए बरसे' हो चुकीं कि मांस अधिक खानेवाली इँगलिस्तान की सामुद्री सेना गेहूँ का आटा खानेवाली योरप की सामुद्री सेना की अपेक्षा काम करने की अधिक शक्ति रखती है, इतनी अधिक शक्ति कि योरप में रेल की ठेकेदारी करनेवाले अँगरेज़ ठेकेदार अपने साथ इँगलिस्तान ही से वहाँ मज़दूर ले जाते हैं । ऐसा करने से उन्हें बहुत बचत होती है । इँगलिस्तान के मज़दूरों में अधिक शक्ति का होना भिन्न जातित्व का कारण नहीं, भिन्न प्रकार की ख़ूराक का कारण है । यह बात अब स्पष्टतापूर्वक साबित हो गई है । क्योंकि जब योरप के दूसरे देशों की सामुद्री सेना उसी तरह अपना जीवन-निर्वाह करती है जिस तरह कि इँगलिस्तान की सेना निर्वाह करती है, तो शक्ति के काम करने में वह थोड़े ही दिनों में इँगलिस्तान की सामुद्री सेना की थोड़ी बहुत बराबरी ज़रूर करने लगती है । इस विषय मे हम अपने निज के तजरिबे से एक और प्रमाण देना चाहते हैं । हमने ६ महीने तक मांस विरहित केवल वानस्पतिक भोजन किया । उससे हमें यह तजरिबा हुआ कि मांस न खाने से शरीर और मन दोनों की शक्ति कम हो जाती

है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों मे चीणता आ जाती है।

२३–पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि लड़कों के लिए पौष्टिक भोजन की बड़ी ज़रूरत है।

लड़कों के खाने पीने के विषय मे जो कुछ हमने कहा उसकी पुष्टि क्या इन अनेक प्रमाणों से नहीं होती ? यदि यह मान भी लिया जाय कि पौष्टिक और अपौष्टिक, दोनों तरह के, भोजनों से जितनी बाढ़ और पुष्टता होनी चाहिए उतनी होती है, तो भी क्या इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि अपौष्टिक भोजन से जिस शरीर का पोषण होता है उसमे विशेष सार नहीं होता—उसके पट्ठे ख़ूब मज़बूत नहीं होते ? क्या इन प्रमाणो से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि यदि शक्ति और बाढ़ दोनों अपेक्षित हों तो सिर्फ़ अच्छा खाना खाने ही से यह बात हो सकती है ? जिस लड़के से मानसिक या शारीरिक काम लेने की कोई विशेष ज़रूरत नहीं उसे यदि गेहूँ की रोटी या और कोई ऐसा ही सादा भोजन दिया जाय तो भी उसकी बाढ़ में विघ्न नहीं आता। परन्तु जिस लडके को प्रति दिन बढ़ना और शरीर मे नूतन धातुओं को पैदा ही नहीं करना पड़ता, किन्तु बहुत अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम के कारण होनेवाली चीणता की भी पूर्ति करनी पड़ती है उसका भोजन ज़रूर ही ऐसा होना चाहिए जिसमें पुष्टि-कारक पदार्थों का अंश अधिक हो। अच्छा, आप ही बतलाइए, जो कुछ इस विषय मे हमने कहा उससे क्या इसके सिवा और कोई नतीजा निकल सकता है ? क्या वह इसी नतीजे को नहीं दृढ़ करता ? और, क्या इससे साफ़ साफ़ यही बात नहीं प्रमाणित होती कि अच्छा पौष्टिक भोजन न मिलने से, शरीर-रचना और अन्य सापेक्ष बातों के अनुसार, या तो बाढ़ में बाधा आवेगी या शारीरिक किंवा मानसिक शक्तियों को हानि पहुँचेगी ? हमें विश्वास है कि जिसे समझ है—जो तर्कना करना जानता है—वह इसमें कुछ भी सन्देह न करेगा। इसके प्रतिकूल मत देना मानों उन लोगों की भूल को, पोशीदा तौर पर, स्वीकार करना है जो अखण्ड गति उत्पन्न कर

देना चाहते थे। अर्थात् जो यह समझते थे कि बिना कुछ खर्च किये ही यान्त्रिक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा यों कहिए कि शून्य से शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

२४—बच्चों के खाने में फेर-फार न करते रहना बहुत बड़ी भूल है।

खाने पीने की बात समाप्त करने से पहले एक और ज़रूरी विषय, अर्थात् खाने की चीज़ों मे फेर-फार, पर हम कुछ कहना चाहते हैं। जो अन्न हम लोग खाते हैं उसमे हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। परन्तु बच्चों के खाने मे फेर-फार नहीं किया जाता। यह बहुत बड़ी भूल है। हमारी फ़ौज के सिपाहियों की तरह यद्यपि हमारे बच्चों को बीस वर्ष तक उबला हुआ मांस खाने की सज़ा नहीं दी जाती, तथापि उन्हे बहुत करके एक ही तरह का अन्न खाना पड़ता है। यद्यपि इस विषय मे बच्चो के साथ सिपाहियों की ऐसी सख़्ती नहीं की जाती, और न उनकी तरह बीस बीस वर्ष तक एक ही तरह की ख़ूराक ही दी जाती, तथापि जो कुछ उन्हे खाने को दिया जाता है वह आरोग्य-रक्षा के नियमो के विरुद्ध ज़रूर है। यह सच है कि दोपहर को जो भोजन लड़कों को मिलता है उसमें बहुधा कई चीज़ें थोडो बहुत मिली हुई रहती हैं और प्रति दिन फेर-फार भी उसमें हुआ करता है। परन्तु सबेरे के कलेऊ में हफ़्तो, महीनों, बरसों तक वही दूध रोटी या जई के आटे की कढ़ी मिलती है। योंही शाम को भी किसी एक तरह के नियमित भोजन—दूध-रोटी या चाय और मक्खन-रोटी की पुनरावृत्ति करा कर लड़कों का पेट भर दिया जाता है।

२५—खाने की चीज़ों में हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए।

यह दस्तूर प्राणिधर्म्मशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है। जो लोग यह समझते हैं कि एक ही तरह का खाना बार बार खाने से जो अरुचि पैदा हो जाती है और जिस खाने का स्वाद बहुत दिन तक जीभ को नहीं मिलता

उसे मिलने से जो समाधान होता है उसमें कोई अर्थ नहीं, वे भूलते हैं। नहीं, उसमे ज़रूर अर्थ है। ये बातें मतलब से खाली नहीं। कई तरह की चीज़ें बदल बदल कर खाना आरोग्यकारी है। अतएव इस तरह रुचि-परिवर्त्तन की इच्छा होना बहुत अच्छी बात है। उससे आरोग्यवर्द्धक वस्तुओं के खाने की उत्तेजना मिलती है। यथेष्ट रीति से जीवन-व्यापार चलने के लिए जो अन्नांश उचित परिमाण या उचित रूप मे दरकार होते हैं वे सब किसी एक ही तरह की ख़ूराक मे नहीं पाये जाते, फिर वह ख़ूराक चाहे जितनी अच्छी क्यो न हो। इस बात की परीक्षा सैकडो तरह के तजरिबे से की गई है और वह सच निकली है। इससे सिद्ध है कि उचित परिमाण में सब तरह के अन्नांशों की प्राप्ति के लिए खाने की चीज़ों मे हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। प्राणिधर्म्मशास्त्र के जाननेवालों ने एक और बात का भी पता लगाया है कि जो चीज़ आदमी को अधिक पसन्द होती है उसे खाने से शरीर के भीतर की सारी नाड़ियाँ उत्तेजित और उल्लसित हो उठती हैं। इससे हृदय-व्यापार जल्दी जल्दी होने लगता है, अर्थात् रक्ताशय अपना काम पहले की अपेक्षा अधिक तेज़ी से करने लगता है। अतएव रुधिराभिसरण का वेग बढ़ जाता है और अन्न हजम होने मे बहुत मदद मिलती है। पशुओं के पालने के सम्बन्ध मे आज कल जिन नियमों के अनुसार काम होता है उन नियमो से ये बाते बिलकुल मिलती हैं। तदनुसार पशुओ की ख़ूराक में हमेशा अदल बदल करना चाहिए।

२६—खाना खाते समय कई तरह की चीज़ें खाने की ज़रूरत।

यही नहीं कि खाने मे सिर्फ़ समय समय पर फेर-फार करने ही की ज़रूरत हो। नहीं, जिन कारणों से इस सामयिक फेरफार की ज़रूरत है उन्हीं कारणों से हर दफ़े कई चीज़ें मिला कर खाने की भी बड़ी ज़रूरत है। ऐसा करने से मेदे को सब तरह के अभीष्ट अन्नांश पहुँचते रहते हैं और नाड़ियाँ उत्तेजित बनी रहती हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इससे बहुत फ़ायदा होता है; चित्त प्रसन्न रहता है, रुधिराभिसरण अच्छी तरह होता

है, और खाना सहज ही में हज़म हो जाता है। यदि इस बात का प्रमाण माँगा जाय तो हम उदाहरण के तौर पर फ़्रांसवालों के खाने का प्रमाण देंगे। फ़्रांसवाले दोपहर को बहुत सा खाना खाते हैं; पर उसमे जुदा जुदा तरह की न मालूम कितनी चीज़ें होती हैं। इसी से उनका मेदा इतना अधिक खाना सहज ही में हज़म कर सकता है। इस बात पर शायद ही किसी को एतराज़ होगा कि एक ही तरह का इतना अधिक खाना, फिर चाहे वह कितनी अच्छी तरह से पकाया गया हो, इतना सहज में हज़म नहीं हो सकता। यदि किसी को इस विषय मे और भी अधिक प्रमाण दरकार हों तो वे पशु-प्रबन्ध-सम्बन्धी आज कल की प्रत्येक पुस्तक में मिल सकते हैं। यदि पशुओं को खाने के समय कई चीज़े मिला कर दी जाती हैं तो उनसे बड़ा लाभ होता है—पशु ख़ूब मोटे-ताजे हो जाते हैं। गाँस और स्टार्क आदि विद्वानो ने इस विषय मे जो तजरिबे किये हैं उनसे—"इस बात का विश्वसनीय प्रमाण मिलता है कि मेदे का काम ख़ूब अच्छी तरह चलने के लिए जिस तरह का रस-मिश्रण दरकार होता है उसके लिए खाने मे कई चीज़ें मिला कर देना बहुत लाभकारी, अथवा यों कहिए कि बहुत ज़रूरी, है"।

२७—बच्चों के खाने में अदल बदल करने और हर दफ़े कई तरह की चीज़ें खिलाने की तकलीफ़ खुशी से उठानी चाहिए।

यदि कोई यह कहे, और, सम्भव है, बहुत लोग कहेंगे, कि बच्चों के खाने में अदल बदल करते रहना और हर दफ़े कई तरह की चीज़े खिलाना बहुत तकलीफ़ का काम है तो हमारा जवाब यह है कि बच्चो की मानसिक उन्नति के लिए चाहे जितनी तकलीफ़ उठानी पड़े उसे तकलीफ़ ही न समझना चाहिए। उनके भावी कल्याण के लिए उनके शरीर के दृढ़ और नीरोग होने की तो इतनी अधिक ज़रूरत है कि उसकी सिद्धि के लिए आदमी को भारी से भी भारी तकलीफ़ो को कुछ न समझना चाहिए।

का ख़ूब अच्छा प्रबन्ध करके उनको मोटा ताज़ा बनाने के लिए जो तकलीफ़ लोग ख़ुशी से सहते हैं वही तकलीफ़ बच्चों के पालने पोसने में यदि असह्य मालूम हो तो क्या यह अफ़सोस और आश्चर्य्य की बात नहीं ?

२८—भोजन-सम्बन्धी तीन सिद्धान्त।

खाने पीने के विषय में हमारे बतलाये हुए नियमों के अनुसार वर्ताव करने की जिनकी इच्छा हो उनके लिए, सूचना के तौर पर, हम दो चार सतरें और लिखने की ज़रूरत समझते हैं। बच्चों के खाने में एक-दम परिवर्तन करना अच्छा नहीं। क्योंकि लगातार हलका अन्न खाते रहने से बच्चों का शरीर इतना क्षीण हो जाता है कि वे पौष्टिक अन्न सहसा नहीं हज़म कर सकते। अपौष्टिक और हलका अन्न ख़ुद ही अजीर्ण पैदा करता है। पशुओं तक में यह बात पाई जाती है। कृषि-सम्बन्धी एक प्रामाणिक पुस्तक में लिखा है कि—"यदि बछड़ों को मलाई निकाला हुआ दूध, या मठा, या और कोई अपौष्टिक हलकी चीज़े खिलाई जाती हैं तो उन्हें अजीर्ण हो जाने का डर रहता है"। अतएव शरीर में शक्ति कम होने के कारण पौष्टिक खाना खाने की आदत धीरे धीरे डालनी चाहिए—क्रम क्रम से पौष्टिक चीजें खिला कर खाने में परिवर्तन करना चाहिए। जैसे जैसे शक्ति बढ़ती जाय वैसे ही वैसे अधिक पौष्टिक चीज़ें खाने को देना चाहिए। इसके सिवा यह बात भी याद रखनी चाहिए कि पौष्टिक चीज़ों की मात्रा बहुत ही कम न कर दी जाय। उनके ठीक परिमाण का ज़रूर ख़याल रखना चाहिए। पेट भर खाने ही का नाम भोजन है। यदि पेट ख़ाली रह गया तो उसे भोजन ही नहीं कह सकते। अच्छा खाना खानेवाले शिक्षित आदमियों की पचनेन्द्रियों का आकार बुरा खाना खानेवाले असभ्य जंगली आदमियों की पचनेन्द्रियों के आकार की अपेक्षा यद्यपि छोटा होता है, और यद्यपि भविष्यत् में उसके और भी छोटे होने की सम्भावना है, तथापि, तब तक, उनकी पचनेन्द्रियों के—उनके मेदे के—आकार के ही अनुसार इसका निश्चय होना चाहिए कि उन्हें कितना खाना खिलाना मुनासिब है। इन दोनों बातों को ध्यान में रख कर, हमारे यहाँ तक के प्रतिपादन से ये सिद्धान्त निकलते हैं

कि (१) बच्चों का भोजन ख़ूब पौष्टिक होना चाहिए; (२) प्रत्येक भोजन के समय कई तरह की चीज़ें खिलाना और साधारण तौर पर भोजनों मे हमेशा अदल बदल करते रहना चाहिए, और (३) ख़ूब पेट भर खाने को देना चाहिए।

२८—मनोवृत्तियों को दबाना न चाहिए। सारे मानसिक और शारीरिक व्यापार उनके अनुकूल करने चाहिएँ।

खाने पोने की तरह कपड़े लत्ते के विषय में भी लोगों का झुकाव कमी की ही तरफ़ है। यह भी अनुचित है। लड़कों को काफ़ी कपडे न पहनाना अच्छा नहीं। पर लोग उन्हें कपड़े लत्ते के विषय में भी तपस्वी बनाना चाहते हैं। आज कल लोगों की समझ ने, इस विषय मे, विलक्षण रूप धारण किया है। वे समझते हैं कि मनोवासनाओं की परवा न करना ही अच्छा है। उनको मारने ही में भलाई है। इस समझ ने यद्यपि अभी तक सिद्धान्त का रूप नहीं पाया, तथापि वह एक अनिश्चित रूप मे दृढ़ ज़रूर हो गई है। सब लोगों को कुछ ऐसा विश्वास हो गया है कि जितनी वासनायें हैं कोई भी सुपथदर्शक नहीं। सब कुपथदर्शक हैं। उनको पथदर्शक मान कर तदनुसार व्यवहार न करना चाहिए। मनोवृत्तियों को तृप्त करना मुनासिब नहीं। वे हम लोगों को सुपथ से भ्रष्ट करने ही के लिए हैं। लोगों की इस समझ का मूल पर्य्यन्त विचार करने से यही नतीजा निकलता है कि उसका कारण उनका अन्ध-विश्वास है। यह बहुत बड़ी भूल है। परमेश्वर ने हमारे शरीर के निर्म्माण करने मे जो कौशल दिखाया है उससे उसकी अपार दयालुता सूचित होती है। नाना प्रकार के जो शारीरिक क्लेश हमें सदा सहन करने पड़ते हैं उनका कारण मनोजन्य वासनाओं का आज्ञा-पालन नहीं; किन्तु उनकी आज्ञाओं का अपरिपालन है। भूख लगने पर भोजन करना बुरा नहीं। बुरा है बिना भूख भोजन करना। प्यास मे पानी पीना अनुचित नहीं। अनुचित है, प्यास बुझ जाने पर भी पानी पीते चले जाना। जिस स्वच्छ हवा मे साँस लेना प्रत्येक स्वस्थ आदमी को अच्छा लगता है उसमे साँस लेने से हानि नहीं होती। हानि होती है उस गन्दी

हवा में साँस लेने से जिसमें, फेफड़ो के मना करने पर भी, लोग साँस लेते हैं। उस घूमने फिरने अथवा कसरत करने से अहित नहीं होता जिसके लिए आपही आप तबीयत चलती है। उसकी इच्छा तो मनुष्य को स्वभाव ही से होती है। उसे सर्वथा स्वाभाविक समझना चाहिए। देखिए न, बचपन में लड़के ख़ुशी से कैसे उछला कूदा करते हैं। यह स्वाभाविक प्रेरणा का सबूत है। इस तरह की दौड़ धूप से अहित नहीं होता। अहित होता है स्वाभाविक प्रेरणाओं के अनुसार काम न करने के अत्यन्त आग्रह से। जिस बात के करने को जी चाहे उसे न करने ही से हानि होती है, करने से नहीं। जो मानसिक काम ख़ूब उमङ्ग से किये जाते हैं और जिन्हे करने से आनन्द मिलता है उनसे हानि की सम्भावना नहीं। मस्तक गरम हो जाने या सिर दर्द करने पर भी जो काम जारी रक्खे जाते हैं, हानि की सम्भावना उन्हीं से है। सिर में गरमी चढ़ जाना या दर्द पैदा हो जाना मानो काम बन्द कर देने की आज्ञा है। हानि ऐसे ही आज्ञा-भङ्ग से होती है। शारीरिक श्रम जब तक अच्छा लगे, अथवा जब तक न अच्छा ही लगे और न बुरा ही, तब तक करने से अपाय नहीं होता। थकावट मालूम होने के बहाने श्रम बन्द करने की आज्ञा मिलने पर भी उसे बन्द न करने से अपाय होता है। यह सच है कि जिन लोगों का शरीर बहुत दिनो से नीरोग नहीं—जो चिररोगी हैं—उनकी मनोवासनायें विश्वसनीय नहीं। उनके इच्छानुसार बर्ताव करने से जरूर हानि होती है। जो लोग बरसों घर से बाहर नहीं निकलते, प्रायः भीतर ही पड़े रहते हैं, जो लोग दिन रात मानसिक श्रम किया करते हैं, शायद ही हाथ-पैर हिला कर कभी शारीरिक श्रम करते हैं, जो लोग अपने मेदे के ख़ाली या भरे होने की परवा न करके अपने घडी घंटे की परवा करते हैं—खाने का वक्त नहीं टलने देते—वे, बहुत सम्भव है, अपनी दूषित मनोवासनाओं के अनुसरण से हानि उठावें। परन्तु उनको याद रखना चाहिए कि यदि वे पहले से अपनी मनोवासनाओं की आज्ञा मानते—तदनुकूल व्यवहार करते—तो कभी ऐसा न होता। वासनाओं के अनुकूल काम न करने ही से उनमें दोष आ जाता है। यदि वे लड़कपन ही से अपने शारीरिक प्रवृत्तिरूपी शिक्षक की आज्ञा न उल्लंघन

करते तो कभी उन्हें धोखा न होता। अन्त तक वह उन्हे विश्वसनीय शिक्षक की तरह सन्मार्ग से कभी च्युत न होने देता।

३०—गरमी और सरदी का ख़याल रख कर बच्चों को यथेष्ट कपड़े न पहनाने से ज़रूर हानि होती है।

जो मनोवासनायें या मनोवृत्तियाँ हमारे लिए पथदर्शक का काम करती हैं, जाड़े और गरमी का ज्ञान उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ उन्हीं मे से हैं। अत-एव बच्चो के कपड़े-लत्तो से सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्था यदि इन प्रवृत्तियो के अनुसार न हो तो उससे ज़रूर हानि होती है। इस तरह की अस्वा-भाविक व्यवस्था कभी उचित नहीं मानी जा सकती। बहुत लोगो की यह समझ है कि लड़कपन में कपड़े लत्ते कम पहनने की आदत डालने से बच्चे मज़बूत और श्रमसहिष्णु हो जाते हैं। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है। कितने ही बच्चे तो मज़बूत और श्रमसहिष्णु बनते ही बनते स्वर्ग को सिधार जाते हैं। और, जो बच जाते हैं, उनकी बाढ या तो हमेशा के लिए बन्द हो जाती है, अर्थात् वे जन्म भर ठिँगने ही बने रहते हैं, या उनके शरीर की बनावट को हमेशा के लिए हानि पहुँच जाती है। डाक्टर कोम्बी का मत है कि—"लड़कों की नाज़ुक और कमज़ोर सूरत शकल इस बात का प्रमाण है कि उनको इस तरह मज़बूत और श्रमसहिष्णु बनाने का यत्न करने ही की बदौलत उनकी यह दशा हुई है। जो माँ-बाप बहुत ही बेपरवाह हैं उन्हें भी, लड़कों को बार बार बीमार पड़ते देख, इस बात की शिक्षा लेनी चाहिए कि कम कपड़े लत्ते पहना कर लड़कों को मज़बूत बनाने की व्यर्थ चेष्टा हानिकारी है"। जिस भित्ति पर—जिस दलील पर—लड़कों को मज़बूत बनाने के ख़याल ने ज़ोर पकड़ा है वह बिलकुल ही निर्जीव है। उसमे कोई अर्थ नहीं। अमीर आदमी ग़रीब किसानो के छोटे छोटे बच्चों को बाहर सर्दी मे बिना अच्छी तरह कपड़े लत्ते पहने ही खेलते कूदते देखते हैं। वे यह भी देखते हैं कि इन बच्चो के मेहनत मज़दूरी करनेवाले माँ-बाप (किसान और मज़दूर आदि) ख़ूब नीरोग और सशक्त होते हैं। अपएव इससे वे यह नतीजा निकालते हैं कि उनकी नीरोगता और दृढ़ता

इस तरह अर्ध-दिगम्बर रूप मे वाहर घूमने फिरने ही का फल है । इसी से वे अपने लड़कों को भी उन्हीं के लड़कों की तरह रखना चाहते हैं । पर यह उनकी भूल है । इससे यह नतीजा नहीं निकलता । वे इस बात को बिलकुल ही भूल जाते हैं कि इन लड़कों के लिए, जो बाहर देहात मे हरे हरे खेतों और मैदानों में घूमा करते हैं, और भी कितनी ही बातों का सुभीता है जो अमीर आदमियों के लड़कों को नसीब नहीं । उनके ध्यान मे यह बात नही आती कि किसानों और मज़दूरों के लड़के बहुत करके सारा दिन खेल कूद ही मे बिताते हैं; हमेशा ख़ूब ताज़ी हवा मे साँस लेते हैं, और बहुत अधिक मानसिक श्रम के कारण उनके शरीर को कभी पीड़ा नहीं पहुँचती । उनके शरीर के मज़बूत और सशक्त रहने का कारण कपड़े लत्ते की कमी नहीं । उसके और कारण हैं । इसी से इस कमी के रहते भी उनकी शरीर-सम्पत्ति नहीं बिगड़ती । हमें विश्वास है कि जो नतीजा हमने निकाला है वह यथार्थ है; और, बदन पर यथेष्ट कपड़े न होने से, शरीर से बहुत अधिक गरमी निकल जाने के कारण, हानि हुए बिना नही रह सकती ।

२१—सरदी में बदन खुला रहने से मनुष्य का क़द ज़रूर छोटा हो जाता है ।

यदि शरीर सरदी-गरमी बरदाश्त करने भर के लिए सशक्त है तो उसे खुला रखने से मज़बूती आती है; परन्तु बाढ़ जरूर बन्द हो जाती है । यह बात मनुष्यों और पशुओं दोनों मे एक सी पाई जाती है । शटलेंड टापू के टट्टू दक्षिणी इँगलिस्तान के घोड़ों की अपेक्षा सरदी अधिक बरदाश्त कर सकते हैं; पर वे बहुत छोटे होते हैं । उन्हे बहुत सरदी सहनी पड़ती है । इसी से उनकी बाढ़ रुक जाती है और वे ठिंगने रह जाते हैं । स्काटलेंड की पहाड़ी भेड़ें और गाय, बैल आदि बहुत सर्द आबो हवा मे रहते हैं । इस कारण वे इँगलिस्तान की भेड़ों और गाय-बैलों की अपेक्षा डील-डौल में छोटे होते हैं । उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के आस पास के टापुओं के आदमियों की ऊँचाई और लोगों की साधारण ऊँचाई से कम होती है ।

लापलेंड और ग्रीनलेंड के निवासी बहुत ही छोटे होते हैं। ट्यरा ड्यल फ्यूगो के निवासी, जो प्रचण्ड सर्दी में नंगे घूमा करते हैं, अत्यन्त ही बौने और कुरूप होते हैं। उनके विषय मे डारविन साहब ने लिखा है कि—"उनको देख कर इस बात पर कठिनता से विश्वास किया जा सकता है कि वे भी हम लोगो ही की तरह मनुष्य हैं।"

३२—विज्ञान इस बात का प्रमाण है कि शरीर से अधिक गरमी निकलने ही से आदमी ठिँगना हो जाता है।

विज्ञान-शास्त्र पुकार कर कह रहा है कि इस ठिँगनेपन का कारण शरीर से अधिक गरमी निकल जाना है। वह इस बात का प्रमाण है कि खाना पीना और दूसरी बाते यथास्थित होने पर भी शरीर से अधिक गरमी निकलने से आदमियों का क़द ज़रूर ही ठिँगना हो जाता है। क्योंकि, जैसा पहले हम कह चुके हैं, शरीर से जो गरमी निकला करती है उसकी कमी को पूरा करने के लिए—उसके कारण पैदा हुई सरदी को दूर करने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि जो कुछ हम खायँ उसमें ऐसी चीज़ें हों जिनके योग से आक्सिजन का बनना बराबर जारी रहे। और आक्सिजन बनने के लिए जिन चीज़ो की ज़रूरत है वे उतनी ही अधिक हों जितनी अधिक गरमी शरीर से निकलती हो। परन्तु खाये हुए अन्न को हज़म करनेवाले अवयवों की शक्ति नियमित है। इससे, शरीर की गरमी कम न होने देने के लिए जब उन्हे गरमी पैदा करनेवाले रस की मात्रा अधिक तैयार करनी पड़ती है तब शरीर की बाढ़ होने के लिए जो उसी तरह का रस दरकार होता है उसकी बहुत ही थोड़ी मात्रा वे तैयार कर सकते हैं। इस तरह शरीर को गरम रखने के लिए गरमी पैदा करनेवाली चीज़, ईंधन के तौर पर, बहुत अधिक ख़र्च हो जाने से और कामों के लिए वह ज़रूर ही कम रह जाती है। नतीजा यह होता है कि या तो आदमी का क़द छोटा हो जाता है, या शरीर की बनावट में हीनता आ जाती है, या एकही साथ दोनों दोष पैदा हो जाते हैं।

३३—शरीर को गरम रखने के लिए कपड़े-लत्ते भी एक अंश में अन्न ही का काम देते हैं।

इसी से हम कपड़े-लत्ते को इतना महत्त्व देते हैं। लीविग साहब कहते हैं—"शरीर की गरमी के ख़याल से हमारे कपड़े-लत्ते अन्न के एक अंश-विशेष का काम देते हैं"। अर्थात् जो काम अन्न से होता है वही काम, थोड़ी मात्रा में, कपड़ों से भी होता है। कपड़े लत्ते से शारीरिक गरमी की कमी कम होती है। अतएव गरमी को बना रखने के लिए अन्न-रस-रूपी जो ईंधन दरकार होता है वह कम लगता है। मेदे को यदि इस ईंधन के तैयार करने का काम कम करना पड़ता है तो उसे और चीज़ें तैयार करने में विशेष सुभीता होता है। जो लोग गाय, बैल, बकरी आदि पशु पालते हैं और उनका प्रबन्ध करते हैं उनके तजरिबे से इन बातों की सत्यता अच्छी तरह साबित होती है। यदि पशुओं को सरदी खानी पड़ती है तो चरबी, पट्ठे, या बाढ़, इनमें से एक आध को हानि पहुँचे बिना नहीं रहती। मार्टन साहब की बनाई हुई कृषि-सम्बन्धी एक किताब में लिखा है कि—"जिन पशुओं को खूब मोटे करना हो उन्हें सर्द जगह में रखना अच्छा नहीं। क्योंकि ऐसी जगह में रखने से या तो उनकी बाढ़ को हानि पहुँचेगी या उनके चारा पानी के लिए अधिक ख़र्च उठाना पड़ेगा"। आपरले साहब इस बात को बहुत ज़ोर देकर कहते हैं कि शिकारी घोड़ों को ख़ूब अच्छी हालत में रखने के लिए तबेले को गरम रखने की बड़ी ज़रूरत है। और, जो लोग घुड़दौड़ के घोड़े पालते हैं उनका तो ऐसे घोड़ों को सरदी से बचाना एक प्रकार का सिद्धान्त सा हो गया है।

३४—बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को गरमी पैदा करनेवाली चीज़ें दूनी खानी चाहिए।

इस प्रकार इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के सच होने का प्रमाण नर-वंश-विद्या दे रही है। भिन्न भिन्न आदमियों की भिन्न भिन्न स्थितियों का विचार करने से इसके सच होने में सन्देह नहीं। किसान और शिकारी इसे मानते

ही हैं । तो यही सिद्धान्त बच्चों के विषय मे क्यो न माना जाय ? उनके विषय में तो इसके अनुसार व्यवहार करने की दूनी ज़रूरत है । बच्चे जितने ही छोटे होते हैं और जितनी ही अधिक उनकी बाढ़ होती है सरदी से उन्हें उतनी ही अधिक हानि पहुँचती है । फ़्रांस में नवजात बच्चों को उनके जन्म की रजिस्टरी कराने के लिए मेअर नामक एक अधिकारी के दफ़्तर में ले जाना पड़ता है । इससे जाड़े के दिनों में अकसर बच्चे राह मे ही मर जाते हैं । क्वेटिलेट साहब ने लिखा है कि—"बेलजियम मे छोटे छोटे बच्चे जितने जुलाई में मरते हैं उसके दूने जनवरी में मरते हैं" । रूस की तो कुछ पूछिए ही नहीं । वहाँ नवजात बच्चों की मृत्यु-संख्या बहुत ही भयङ्कर है । प्राय: जवान हो जाने तक भी बाढ़ पूरी न होने के कारण शरीर खुला रखने से हानि होती है । उस समय तक भी शरीर सरदी नहीं बरदाश्त कर सकता । उदाहरणार्थ, जिन लड़ाइयों में बहुत तकलीफ़ें झेलनी पड़ती हैं उनमें जवान सिपाही कितना जल्द मरते हैं । उनसे गरमी, सरदी और भूख, प्यास कम बरदाश्त होती है । इसी से वे बहुत जल्द मर जाते हैं । हम पहले ही बयान कर चुके हैं कि बच्चों के डोल डौल और उनके शरीर के बाहरी भाग के सम्बन्ध में न्यूनाधिकता होने के कारण, बड़े आदमियों के शरीर की अपेक्षा बच्चों के शरीर से अधिक गरमी निकला करती है । यहाँ पर हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि इस तरह बहुत अधिक गरमी निकल जाने से बच्चों को जो हानि पहुँचती है उसे थोडी न समझना चाहिए । इस विषय में लेमन साहब कहते हैं:—"बच्चों और छोटे छोटे जानवरों के बदन से जो कारबोनिक आसिड बाहर निकलती है उसका यदि हिसाब लगाया जाय तो मालूम होगा कि बड़े आदमियों के शरीर के उतने ही वज़नी भाग से जो आसिड निकलती है उसकी अपेक्षा दूनी आसिड बच्चे पैदा करते हैं । कल्पना कीजिए कि किसी बच्चे का वज़न आठ सेर है । अब वयस्क आदमी के बदन का कोई उतना ही वज़नी भाग लीजिए । ऐसा करने से आप देखेंगे कि उस उतने भाग से जितनी कारबोनिक आसिड निकलेगी उसकी अपेक्षा दूनी आसिड बच्चे के बदन से निकलेगी । अब देखिए कि जिस परिमाण से शरीर में गरमी पैदा होती है प्राय: उसी परिमाण मे यह कारबोनिक

आसिड भी शरीर से बाहर निकलती है। अतएव यह सिद्ध है कि शरीर के लिए किसी तरह की कमी या असुविधा न होने पर भी, यथेष्ट गरमी पैदा करनेवाली चीज़ें, लड़कों को बड़े आदमियों की अपेक्षा दूनी खानी चाहिए।

३५—बच्चों को यथेष्ट कपड़ा न पहनाने से उनकी बाढ़ या शरीर की बनावट को हानि पहुँचे बिना नहीं रहती।

अतएव छोटे बच्चों को कम कपड़े पहनाना कितनी मूर्खता है। जिसकी बाढ़ पूरे तौर पर हो चुकी है, जिसके बदन से बच्चे की अपेक्षा कम शीघ्रता से गरमी निकलती है, और दैनन्दिन होनेवाली क्षीणता को पूर्ण करने के सिवा जिसे अपने शरीर को सुस्थ रखने के लिए और किसी बात की ज़रूरत नहीं है ऐसा कौन बाप अपने हाथ, पैर और गर्दन को खुली रख कर बाहर इधर उधर घूमना लाभदायक समझेगा? हम पूछते हैं कि क्या कोई बाप ऐसा होगा जो इस तरह अपने बदन को नंगा रख कर बाहर निकलना पसन्द करेगा? परन्तु जो काम करने से वह ख़ुद डरता है, जिसे वह ख़ुद पसन्द नहीं करता, वही काम, अपने छोटे छोटे बच्चों के शरीर में उसे सहन करने की बहुत कम शक्ति होने पर भी, वह उनसे कराता है! यदि कदाचित् वह ख़ुद उनसे यह काम नहीं कराता तो औरों को उनसे कराते देखता है, पर मना नहीं करता। उसे याद रखना चाहिए कि एक एक पैसे भर अन्न रस, जो शरीर में यथेष्ट गरमी बनी रखने के लिए व्यर्थ खर्च होता है, उस अन्न-रस की मात्रा से घट जाता है जो बच्चों के शरीर की बाढ़ के काम आता है। और यदि बच्चे ज़ुकाम, खाँसी इत्यादि बीमारियों से बच भी गये तो भी इस विषय में माँ-बाप की बेपरवाही के कारण या तो उनकी बाढ़ में ज़रूर बाधा आ जाती है या उनके शरीर की बनावट में थोड़ी बहुत ज़रूर कमी हो जाती है।

३६—बच्चों को कपड़े-लत्ते पहनाने के विषय में डाक्टर कोम्बी की राय।

"हमारी राय में कपड़ों के विषय में एक ही निश्चित नियम के अनुसार

काम करना मुनासिब नहीं। सब हालतों मे एक ही नियम से काम नहीं चल सकता। बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाने चाहिए जिसमे सरदी से—फिर चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो—उनकी अच्छी तरह रक्षा हो। किसी तरह के और कितने कपड़े पहनाने चाहिए, इस विषय का कोई निश्चित नियम नहीं किया जा सकता। माँ-बाप को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि जो कपडे हम बच्चों को पहनाते हैं वे सरदी से उनका अच्छीं तरह बचाव कर सकते हैं या नहीं। "बस"। यह वचन डाकृर कोम्बी का है और बड़े महत्त्व का है। इसके महत्त्व को उन्होंने इसे बड़े बड़े अक्षरो मे लिख कर सूचित किया है। डाक्टर कोम्बी से, इस विषय मे, बड़े बडे विज्ञानवेत्ता और डाक्टर सहमत हैं। जो लोग इस सम्बन्ध मे राय देने की योग्यता रखते हैं—जिन्हें इस सम्बन्ध मे कुछ कहने का अधिकार है—उनमे से एक भी आदमी हमे ऐसा नही मिला जिसने यह न कहा हो कि बच्चों के बदन का खुला रखना बहुत बड़ी भूल है। दुनिया में सबसे बढ़ कर यदि कोई काम ऐसा है जिसमें महाहानिकारी पुरानी रीति के छोड़ने की ज़रूरत है तो वह काम बच्चो के बदन को खुला रखना है।

३७—बच्चों के कपड़ों के विषय में मूर्खता-वश फ्रांसवालों की नक़ल की जाती है। इससे बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं।

बच्चों की माताओं को अनर्थ-कारिणी रीतियों की दासी बन कर अपनी सन्तति की शरीर-प्रकृति को सख्त हानि पहुँचाते देख सचमुच बड़ा अफ़सोस होता है। अपने पड़ोसियों को मूर्खता से भरी हुई रीतियों का प्रचार करते देख उनकी देखादेखी ख़ुद भी उनकी प्रत्येक मूर्खता का अनुकरण करने दौड़ना बहुत बुरी बात है। जो कपडे वे पहनाते हैं वे बच्चों के लिए योग्य और यथेष्ट हैं या नहीं, इस बात का कुछ भी विचार न करके, नये नये तर्ज़ के कपड़ो की तसवीरें छापनेवाले फ्रांस के अख़बारों को देख कर अपने बच्चों को माँ-बाप का भड़कदार और दिखाऊ कपड़े पहनाना अजब पागलपन है। इस तरह के कपड़ों से बच्चो को थोड़ी बहुत तकलीफ़

ज़रूर होती है। वे बहुधा बीमार पड़ जाते हैं। या तो उनकी बाढ़ रुक जाती है या शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। कभी कभी तो उनकी अकाल-मृत्यु तक हो जाती है। ये सब आपदायें झेलनी किस लिए पड़ती हैं? इसलिए कि सनक में आकर अपने मन-मौजीपन के कारण फ़्रांसवाले जिस कपड़े और जिस काट और नाप के कोट बनाने लगते हैं उन्हीं की नक़ल करना ज़रूरी समझा जाता है। इस तरह फ़्रांसवालों की नक़ल करके मातायें अपने बच्चों को काफ़ी कपड़े न पहना कर उन्हें दण्ड देती हैं। इस दण्ड के कारण बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पडती हैं। पर माताओं को इतने ही से सन्तोष नहीं होता। वे अपने बच्चों के साथ कुछ और भी सलूक करती हैं। नक़ल करने की सनक मे आकर वे ऐसे वज़े क़ते के कपड़े बच्चों को पहनाती हैं कि बच्चों का बदन जकड़ सा जाता है। अतएव वे आरोग्यवर्धक खेल कूद से वञ्चित हो जाते हैं। उनके बदन मे कपड़े ऐसे कम कस जाते हैं कि फिर वे दौड़-धूप नहीं कर सकते। सिर्फ़ देखने में अच्छे लगने के कारण मातायें ऐसे रंगीन कपड़े पहनाती हैं जो लड़कों के प्रतिबन्धहीन खेल-कूद के तड़ाके को बरदाश्त नहीं कर सकते। फिर वे मनमाना खेल-कूद करने से बच्चों को इसलिए रोकती हैं कि कहीं कपड़े ख़राब न हो जायें। जो बच्चा ज़मीन पर लोट रहा है, या खेल रहा है, उसे हुक्म दिया जाता है—"फ़ौरन खड़े हो जाव, तुम्हारा अच्छा अच्छा साफ़ कोट मैला हो जायगा"। हवा खाने के लिए बाहर निकलने पर यदि कोई बच्चा रास्ता छोड कर किसी टीले पर चढ़ना चाहता है तो बच्चों की देख भाल करनेवाली दाई फ़ौरन ही चिल्ला उठती है—"अभी लौटो, तुम्हारे मोज़े मैले हो जायँगे"। इससे दूनी हानि होती है। पहले तो बच्चो को सिर्फ इसलिए थोडे और बुरी वज़े क़ते के कपड़े पहनाये जाते हैं जिसमे वे अपनी माँ की तरह ख़ूबसूरत मालूम हों और जो लोग अपने घर भेंट-मुलाक़ात करने आवें वे उनकी तारीफ़ करें। फिर, ज़रा से धक्के में फटने-वाले इन कपड़ों को साफ़ सुथरा बना रखने और फटने न देने का हुक्म देकर अत्यन्त स्वाभाविक और आवश्यक खेल-कूद से बच्चे रोके जाते हैं। बदन पर कपडे काफ़ी न होने के कारण खेलने कूदने और व्यायाम करने

काम करना मुनासिब नहीं । सब हालतों मे एक ही नियम से काम नहीं चल सकता। बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाने चाहिए जिसमे सरदी से—फिर चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो—उनकी अच्छी तरह रक्षा हो। किसी तरह के और कितने कपड़े पहनाने चाहिए, इस विषय का कोई निश्चित नियम नहीं किया जा सकता। माँ-बाप को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि जो कपड़े हम बच्चों को पहनाते हैं वे सरदी से उनका अच्छी तरह बचाव कर सकते हैं या नहीं। "बस"। यह वचन डाक्टर कोम्बी का है और बड़े महत्त्व का है। इसके महत्त्व को उन्होंने इसे बड़े बड़े अक्षरो मे लिख कर सूचित किया है। डाक्टर कोम्बी से, इस विषय में, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता और डाक्टर सहमत हैं। जो लोग इस सम्बन्ध मे राय देने की योग्यता रखते हैं—जिन्हें इस सम्बन्ध मे कुछ कहने का अधिकार है—उनमे से एक भी आदमी हमें ऐसा नही मिला जिसने यह न कहा हो कि बच्चों के बदन का खुला रखना बहुत बड़ी भूल है। दुनिया में सबसे बढ़ कर यदि कोई काम ऐसा है जिसमें महाहानिकारी पुरानी रीति के छोड़ने की ज़रूरत है तो वह काम बच्चो के बदन को खुला रखना है।

३७—बच्चों के कपड़ों के विषय में मूर्खता-वश फ़्रांसवालों की नक़ल की जाती है। इससे बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं।

बच्चों की माताओं को अनर्थ-कारिणी रीतियों की दासी बन कर अपनी सन्तति की शरीर-प्रकृति को सख़्त हानि पहुँचाते देख सचमुच बड़ा अफ़सोस होता है। अपने पड़ोसियों को मूर्खता से भरी हुई रीतियों का प्रचार करते देख उनकी देखादेखी ख़ुद भी उनकी प्रत्येक मूर्खता का अनु-करण करने दौड़ना बहुत बुरी बात है। जो कपडे वे पहनाते हैं वे बच्चों के लिए योग्य और यथेष्ट हैं या नहीं, इस बात का कुछ भी विचार न करके, नये नये तर्ज़ के कपड़ों की तसवीरें छापनेवाले फ़्रांस के अख़बारों को देख कर अपने बच्चों को माँ-बाप का भड़कदार और दिखाऊ कपड़े पहनाना अजब पागलपन है। इस तरह के कपड़ो से बच्चो को थोड़ी बहुत तकलीफ़

ज़रूर होती है। वे बहुधा बीमार पड़ जाते हैं। या तो उनकी बाढ़ रुक जाती है या शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। कभी कभी तो उनकी अकाल-मृत्यु तक हो जाती है। ये सब आपदायें झेलनी किस लिए पड़ती हैं? इसलिए कि सनक में आकर अपने मन-मौजीपन के कारण फ़्रांसवाले जिस कपड़े और जिस काट और नाप के कोट बनाने लगते हैं उन्हीं की नक़ल करना ज़रूरी समझा जाता है। इस तरह फ़्रांसवालों की नक़ल करके मातायें अपने बच्चों को काफ़ी कपड़े न पहना कर उन्हें दण्ड देती हैं। इस दण्ड के कारण बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पडती हैं। पर माताओं को इतने ही से सन्तोष नहीं होता। वे अपने बच्चों के साथ कुछ और भी सलूक करती हैं। नक़ल करने की सनक मे आकर वे ऐसे वज़े क़ते के कपड़े बच्चो को पहनाती हैं कि बच्चो का बदन जकड सा जाता है। अतएव वे आरोग्यवर्धक खेल कूद से वञ्चित हो जाते हैं। उनके बदन मे कपड़े ऐसे कस कस जाते हैं कि फिर वे दौड़-धूप नहीं कर सकते। सिर्फ़ देखने में अच्छे लगने के कारण मातायें ऐसे रंगीन कपड़े पहनाती हैं जो लड़कों के प्रतिबन्धहीन खेल-कूद के तड़ाके को बरदाश्त नहीं कर सकते। फिर वे मनमाना खेल-कूद करने से बच्चो को इसलिए रोकती हैं कि कहीं कपड़े ख़राब न हो जायँ। जो बच्चा ज़मीन पर लोट रहा है, या खेल रहा है, उसे हुक्म दिया जाता है—"फ़ौरन खड़े हो जाव, तुम्हारा अच्छा अच्छा साफ़ कोट मैला हो जायगा"। हवा खाने के लिए बाहर निकलने पर यदि कोई बच्चा रास्ता छोड कर किसी टीले पर चढ़ना चाहता है तो बच्चों की देख भाल करनेवाली दाई फ़ौरन ही चिल्ला उठती है—"अभी लौटो, तुम्हारे मोजे मैले हो जायँगे"। इससे दूनी हानि होती है। पहले तो बच्चों को सिर्फ़ इसलिए थोडे और बुरी वज़े क़ते के कपड़े पहनाये जाते हैं जिसमें वे अपनी माँ की तरह ख़ूबसूरत मालूम हो और जो लोग अपने घर भेट-मुलाक़ात करने आवें वे उनकी तारीफ़ करें। फिर, ज़रा से धक्के मे फटने-वाले इन कपड़ों को साफ़ सुथरा बना रखने और फटने न देने का हुक्म [illegible] अत्यन्त स्वाभाविक और आवश्यक खेल-कूद से बच्चे रोके जाते हैं। [illegible] पर कपड़े काफ़ी न होने के कारण खेलने कूदने और व्यायाम करने

की दूनी ज़रूरत होती है। पर वह इसलिए रोकी जाती है कि कहीं कपड़े न ख़राब हो जायँ। क्या ही अच्छा होता यदि वे लोग, जो इस बुरी रीति को नहीं छोड़ते, इसके भयङ्कर परिणामों को समझ सकते। हमें यह कहते ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता कि इस बाहरी दिखाव पर इतनी अविवेकपूर्ण श्रद्धा रखने के कारण हर साल हज़ारों आदमी अकाल ही में काल का कौर होकर, माँ के झूँठे आत्माभिमानरूपी दानव के निमित्त बलिदान होने से यदि बच भी जाते हैं, तो भी शरीरारोग्य बिगड़ जाने, शक्ति क्षीण हो जाने और रोज़गार-धन्धे मे कामयाबी न होने के कारण संसार-सुख से वे हाथ ज़रूर धो बैठते हैं। इस विषय मे हम कठोर उपायों की योजना की सलाह नहीं देना चाहते, पर ये आपदायें सचमुच ही इतनी गुरुतर हैं कि इन्हे दूर करने के इरादे से बापों का इस काम मे हस्तक्षेप करना मुनासिब ही नहीं, बहुत ज़रूरी भी है।

३८—कपड़ों के विषय में चार बातों का ख़याल।

अतएव यहाँ तक हमने जो प्रतिपादन किया उससे ये नतीजे निकलते हैं:—

(१) बच्चों के कपड़े कभी इतने ज़ियादह न होने चाहिए कि बहुत अधिक गरमी पैदा होने के कारण उन्हे तकलीफ़ हो; पर इतने ज़रूर हों कि साधारण तौर पर सरदी की बाधा बच्चों को न हो*।

---

* यहाँ पर यह कह देने की ज़रूरत है कि जिन लड़कों के हाथ-पैर (टांगे और बाज़ू) शुरू से ही खुले रहते हैं उन्हें उनको खुले रखने की आदत पड़ जाती है। इसलिए उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि खुले रहने के कारण उनके हाथ पैर ठंडे है। अर्थात् ठंडे होने से उन्हें कोई तकलीफ़ होती नही मालूम होती। जैसे मुँह खुला रखने की आदत पड़ जाने से, घर के बाहर घूमने फिरने में हमें अपना मुँह ठंडा नही लगता वैसे ही लड़को को भी, आदत पड़ जाने से, हाथ-पैर ठंडे नहीं लगते, परन्तु, इन अवयवों के खुले रहने से लड़कों को सरदी यद्यपि नहीं सताती, तथापि इससे यह नहीं सूचित होता कि उनके शरीर को हानि नही पहुँचती। हानि ज़रूर पहुँचती है। फ़्यूगो टापू के रहनेवाले नंगे बदन सरदी में घूमा करते है और उनके बदन पर बर्फ़ गिर गिर कर पिघला करती है। उसे वे बेपरवाही से बरदाश्त करते है। पर क्या इससे यह नतीजा निकल सकता है कि इस तरह नंगे बदन बर्फ़ मे घूमने से उन्हें हानि नहीं पहुँचती? [ग्रन्थकार]

(२) रुई के, सन के, या इन दोनो के मेल से बने हुए बारीक कपड़े, जैसे कि प्रायः हमेशा बच्चों को पहनाये जाते हैं, न पहना कर मोटे ऊनी कपडे, या और उसी तरह के, पहनाने चाहिएँ जिसमे शरीर की गरमी बाहर न निकलने पावे।

(३) कपड़े ऐसे मज़बूत होने चाहिएँ कि लडके चाहे जितना खेले कूदें, उन्हें हानि न पहुँचे—न वे फटें, न घिसें।

(४) कपड़ों का रंग ऐसा होना चाहिए कि पहनने और खुला रहने से उड़ न जाय।

३८—लड़कों के शारीरिक व्यायाम की तरफ़ लोगों का ध्यान पहले ही जा चुका है।

शरीर-सञ्चालना को प्राय. सब आदमी थोड़ा बहुत महत्व पहले ही से देते हैं। व्यायाम, अर्थात् कसरत, करने की ज़रूरत पर उनका ध्यान जा चुका है। शारीरिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनमे से बहुतेरी बातों की अपेक्षा इस बात के विषय मे अधिक विस्तार करने की ज़रूरत नहीं है। कम से कम जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है वहाँ तक तो हमे ज़रूर ही बहुत कम कहना है। सरकारी और प्रजा के, दोनों तरह के, मदरसों मे लड़को के खेलने कूदने के लिए जगहे बना दी गई हैं। और, बाहर मैदान मे दौड धूप के खेलों के लिए समय भी यथेष्ट दिया जाता है। इसके सिवा सब यह भी समझने लगे हैं कि इस तरह के खेल लड़को के लिए बहुत ज़रूरी हैं। यदि और किसी विषय मे नहीं तो इस विषय मे तो लोगों ने इस बात को जरूर ही क़बूल कर लिया जान पड़ता है कि लडकों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने देने मे लाभ है। सवेरे और शाम को देर तक पाठ याद करने के बाद खुली हुई हवा मे लड़कों को इधर उधर खेलने कूदने के लिए छुट्टी देने की जो आज कल चाल है उससे मालूम होता है कि विद्यार्थियों की शारीरिक प्रवृत्तियों को ध्यान मे रख कर उनके अनुसार मदरसे के नियम निश्चित करने की रीति ज़ोर पकड़ती जाती है। अतएव

इस विषय मे लोगो को झाड़ फटकार बतलाने या सूचना देने की कोई वैसी ज़रूरत हमें नहीं मालूम होती ।

४०—लड़कियों के लिए आरोग्यवर्द्धक व्यायाम का अभाव ।

पूर्वोक्त बातें स्वीकार करने में हमें—"जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है"—यह वाक्य लाचार होकर लिखना पड़ा है। अभाग्यवश, इस सम्बन्ध मे लड़कियों की स्थिति बिलकुल ही उलटी है । जो लड़कियाँ मदरसे मे पढ़ती हैं उनकी शारीरिक-व्यायाम-सम्बन्धिनी स्थिति लड़कों की स्थिति से बिलकुल ही भिन्न है । इस बात का विचार करके कुछ न कुछ आश्चर्य्य ज़रूर होता है कि हमें लड़कों और लड़कियों की स्थिति का मुक़ाबला करने का रोज़ मौक़ा मिलता है । एक लड़कों का मदरसा और एक लड़कियों का, दोनों, रोज़ हमारी नज़र के सामने आते हैं । इन दोनों की स्थिति एक सी नहीं । इनमे जो भेद है वह याद रखने लायक़ है। वह देखते ही ध्यान मे आ जाता है । लड़कों के मदरसे के हाते मे जो एक बड़ा बाग़ है उसका प्रायः सभी हिस्सा खुला मैदान बना दिया गया है और उस पर रेती और मुरुम कूट दिया गया है । अतएव लडकों के खेल-कूद के लिए उसमे काफ़ी जगह है। वहाँ कसरत के लिए मलखंभ हैं, बल्लियाँ हैं और उनके सिवा और भी सब तरह का सामान है । हर रोज़, सबेरे खाना खानें के पहले, फिर ग्यारह बजे, फिर दोपहर को, फिर तीसरे पहर, और फिर मदरसा बन्द होने के बाद एक बार शाम को खेलने-कूदने के लिए, लड़कों के बाहर निकलने पर, उनके एक साथ जोर ज़ोर से हँसने और शोर करने से आस पास चारो तरफ़ हाहाकर मच जाता है, और जब तक वे बाहर उस मैदान मे रहते हैं तब तक हमारे कान और हमारी आँखे इस बात की गवाही देती रहती हैं कि लड़के उन आनन्ददायक खेलों मे मग्न हो रहे हैं जिनमें लीन होने से आनन्दातिरेक के कारण उनकी नाड़ी बड़े वेग से चलने लगती है और शरीर का प्रत्येक अवयव उछल-कूद से उत्तेजित होकर आरोग्यवर्धक चञ्चलता दिखाता है । परन्तु तरुण लड़-कियों की शिक्षा के लिए जो प्रबन्ध किया गया है उसका चित्र, देखिए,

कितना भिन्न है । जब तक हमसे लड़कियों के मदरसे का पता नहीं बत-लाया गया तब तक हमें यही न मालूम था कि लड़कियों का मदरसा हमारे घर के उतना ही पास है जितना कि लड़कों का मदरसा है। इस मदरसे मे भी उतना ही बडा बाग़ है जितना कि लड़कों के मदरसे मे है। परन्तु इस बाग़ मे लड़कियों के खेल-कूद के सामान का कहीं नाम तक नहीं। परन्तु, हॉ, हरी हरी घास की कियारियों, मुरुम कुटी हुई रविशों, और अनेक तरह की बेल-बूटों और फूलो से वह खूब सजा हुआ है। शहरों के बाहर जैसे बाग़ हुआ करते हैं वह भी बिलकुल वैसा ही है। पॉच महीने तक हम बराबर इस मदरसे के पास रहे। परन्तु किसी के हँसने, बोलने या गुलगपाड़े को सुन कर एक दफ़े भी हमारा ध्यान उस तरफ़ नहीं खिँचा। कभी कभी लडकियॉ पढ़ने की किताबे हाथ मे लिये रविशों पर घूमती हुई, या एक दूसरी के हाथ मे हाथ डाले हुए सिर्फ़ इधर उधर फिरती हुई देख पड़ती थीं। हां एक दफ़े एक लड़की को दूसरी लड़की के पीछे बाग़ के चारों तरफ़ दौड़ते हुए हमने जरूर देखा था। परन्तु इस एक उदाहरण के सिवा और किसी तरह का शक्तिवर्धक खेल या कसरत हमारे देखने मे नहीं आई।

४१—कृत्रिम उपायों से स्त्रियों को अशक्त, सुकुमार और डरपोक बनाना बहुत बुरा है।

इतना आश्चर्यजनक फ़रक क्यों? क्या लडकियो की शरीर-रचना लड़को की शरीर-रचना से इतनी भिन्न है कि लड़कियों के लिए उछल-कूद की कसरत की ज़रूरत ही नहीं है? क्या गुल-गपाड़े के खेल खेलने के लिए लड़कों की तरह लड़कियों का जी ही नहीं चाहता? अथवा क्या यह बात है कि लड़को मे तो खेलने-कूदने की प्रवृत्ति, शरीर की बाढ़ पूरी होने के लिए उत्तेजनादायक समझी जाती है, परन्तु उनको बहनों के विषय मे ख़याल किया जाता है कि प्रकृति या परमेश्वर ने उन्हें इस तरह की प्रवृत्ति पाठ-शाला की अध्यापिकाओं को तङ्ग करने के सिवा और किसी मतलब से दी ही नहीं? परन्तु, सम्भव है, लड़कियों को शिक्षा देनेवालों का मतलब

समझने में हम भूलते हों। हमें कुछ कुछ ऐसी शङ्का होती है कि लड़कियों का शरीर दृढ़ होने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। स्वभाव मे कड़ापन और शरीर मे विशेष शक्ति का होना लोग शायद गँवारपन समझते हैं। एक प्रकार की नज़ाकत, अर्थात् सुकुमारता, एक ही दो मील पैदल चल सकने की शक्ति, थोड़े ही मे क्षुधा की शान्ति, और कमज़ोरी का साथी डरपोकपन —ये बाते स्त्रियों के लिए भूषण समझी जाती हैं। हमे यद्यपि यह आशा नहीं कि इन बातों को साफ़ साफ़ सबके सामने कहनेवाले कोई मिलेंगे, पर हमारी समझ मे लडकियों को अपनी देख भाल में रखनेवाली स्त्रियों और अध्यापिकाओं के मन मे बहुत करके यही आता होगा कि ऐसी युवतियाँ पैदा हों जो पूर्वोक्त नमूने से बहुत कुछ मिलती जुलती हों। यदि हमारा यह ख़याल सच हो तो यह बात ज़रूर मान लेनी पड़ेगी कि पूर्वोक्त नमूने की स्त्रियाँ बनाने के लिए लड़कियों की शिक्षा का जैसा ठान ठना गया है—जैसी शिक्षा-पद्धति जारी की गई है—बहुत ही योग्य है। इस पद्धति के प्रसाद से ज़रूर उस तरह की स्त्रियाँ मदरसों की टकसाल मे ढल कर बाहर निकलेंगी, परन्तु यह ख़याल करना कि उत्तम स्त्रियों का यही नमूना है बहुत बड़ी भूल है। इस नमूने की स्त्रियों को सर्वोत्तम स्त्रियाँ समझना सख़्त ग़लती है। यह बात निःसन्देह सच है कि मर्दानी शकल-सूरत और स्वभाव की स्त्रियों की तरफ़ पुरुषों का चित्त बहुत करके आकृष्ट नहीं होता। हम इस बात को भी मानते हैं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम शक्ति होने ही से वे अपनी रक्षा के लिए अधिक शक्तिमान् पुरुषों पर अवलम्बित रहती हैं। अतएव स्त्रियों की यह अशक्तता ही उनके मनोहर होने का कारण है। स्त्रियों के अशक्त होने ही के कारण पुरुषों का चित्त उनकी तरफ़ इतना आकृष्ट होता है। परन्तु स्त्री-पुरुषों में शक्ति-सम्बन्धी जो यह फ़रक़ है, और जिसका होना पुरुष अच्छा समझते हैं, जन्म ही से होता है। वह आपही आप उत्पन्न होता है। परमेश्वर पहले ही से उसकी योजना कर देता है। अतएव कृत्रिम रीति से उसे उत्पन्न करने या बना रखने की कोशिश व्यर्थ है। इस तरह कृत्रिम उपायों से स्त्रियों में इस फ़रक़ की मात्रा यदि मनुष्य बढ़ाते जायँगे तो धीरे धीरे स्त्रियों

की सारी मनोहरता नष्ट हो जायगी और उन्हें देख कर उलटी घृणा मालूम होगी।

४२—लड़कों की तरह लड़कियों को उछल-कूद के खेल खेलने देने से लड़कियों के बड़ी होने पर उनकी शालीनता में बाधा नहीं आ सकती।

यह सुन कर औचित्य के पक्षपातियों में से कोई शायद यह कहने दौड़ेगा कि—"तो क्या जहाँ चाहें वहाँ लड़कियों को घूमने फिरने देना चाहिए? क्या उन्हें लड़कों की तरह शरारत करने और ख़ूब ढीठ और चञ्चल होने देना चाहिए?" हम समझते हैं कि मदरसे की अध्यापिकाओं को हमेशा यही खटका लगा रहता है। दरियाफ़्त करने से हमें मालूम हुआ है कि बड़ी लड़कियों के मदरसों में धूम-धाम और गुल-गपाड़े के खेल जो लड़के रोज़ खेला करते हैं, खेलने की मनाई है। ऐसे खेल यदि लड़कियाँ खेलें तो उन्हें सज़ा मिले। इस मनाई का हम यह अर्थ करते हैं कि इस तरह के खेल से लोग समझते हैं कि लड़कियों की आदत ख़राब हो जाने का डर है। अर्थात् उनकी समझ में ऐसे ऐसे खेल स्त्रियों को शोभा नहीं देते। इससे लोगों को यह खटका रहता है कि इस तरह के खेलों के कारण लड़कियों की आदत कहीं ऐसी न हो जाय जो भले घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ हो। परन्तु इस तरह के डर का कोई अर्थ नहीं। वह व्यर्थ है। क्योंकि इस तरह के खेल खेलने पर भी, बड़े होने पर, लड़के भलमनसी के ख़िलाफ़ कोई काम नहीं करते। इसके कारण उनकी शिष्टता को ज़रा भी धक्का नहीं पहुँचता। तब इस तरह के खेल यदि लड़कियाँ खेलें तो भलेमानसों के घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ उनकी आदतें हो जाने का क्यों डर होना चाहिए? लड़कपन में खेल के मैदान में लड़कों ने चाहे जितने धूम-धाम और अक्खड़पन के खेल खेले हों, परन्तु मदरसा छोड़ने पर, गलियों में एक दूसरे के कन्धों पर हाथ रखकर मेंढकों की तरह उछलते या बैठक के कमरे में गोलियाँ खेलते भी क्या किसी ने कभी उन्हें

देखा है ? मदरसा छोड़ते समय जब लड़के लड़कपन की पोशाक छोड़ देते हैं तभी वे लड़कपन के खेल कूद को भी तिलाञ्जलि दे देते हैं, और जो काम वयस्क आदमियों के अनुरूप नहीं, उनसे बचने की वे हृदय से इच्छा भी रखते हैं। इसे इच्छा नहीं, किन्तु उद्वेग कहना चाहिए। किसी किसी का उद्वेग ते इतना बढ़ जाता है कि वह कहाँ से कहाँ जा पहुँचता है। अतएव बड़े होने पर, पुरुषत्व की मर्यादा रक्षित रखने का ख़याल, यदि लड़कपन के खेलो से युवकों को बचाता है, तो क्या स्त्रीत्व की मर्य्यादा रक्षित रखने, अर्थात् अपनी स्वाभाविक लज्जा के ख़िलाफ़ कोई काम न करने, का ख़याल, जो वयोवृद्धि के साथ साथ बढ़ता है, लड़कियो को उनके लड़कपन के खेलो से न बचावेगा ? लोकाचार का ख़याल क्या पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक नहीं होता ? कौन बात देखने मे अच्छी लगती है कौन बुरी, इस विषय मे क्या स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा अधिक ध्यान नहीं देतीं ? इस कारण भद्दे और उच्छृङ्खलता के कामो को रोकनेवाले ख़याल क्या उनके मन मे और भी अधिक प्रबलता के साथ न पैदा होंगे ? यह समझना कि मदरसे की अध्यापिकाओं के दबाव के बिना—उनकी खूब कड़ी नज़र के बिना—स्त्रियों की स्वाभाविक शालीनता का विकास ही न होगा, कितना बड़ा पागलपन है !

४३—"जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद से बहुत अधिक लाभ होता है।

और विषयों की तरह इस विषय में भी एक प्रकार के कृत्रिम उपायों से होनेवाली हानियों से बचने के लिए दूसरे प्रकार के कृत्रिम उपायों की योजना की गई है। खेल-कूद और दौड़-धूप आदि ऐसे व्यायाम हैं—ऐसी कसरतें हैं—कि उनके करने की इच्छा स्वभाव ही से बच्चो के मन मे पैदा होती है। ऐसी स्वाभाविक कसरत को बन्द कर देने से जब लोगों की नज़र मे बुरे परिणाम आने लगे तब उन्होंने एक और अस्वाभाविक उपाय की योजना की। स्वाभाविक कसरत को तो उन्होंने बन्द कर दिया और अस्वाभाविक कसरत, अर्थात् "जिमनास्टिक", शुरू करा दी। लड़कों से नटों की

तरह लोग कसरत कराने लगे। बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा "जिमनास्टिक" की कसरत अच्छी है। इस बात को हम मानते हैं। परन्तु इस बात को हम नहीं मानते कि उससे उतना ही लाभ होता है जितना कि खेल-कूद से। "जिमनास्टिक" मे पहले तो कितने ही प्रत्यक्ष दोष हैं। फिर उसमे कितनी ही ऐसी लाभदायक बातें नहीं हैं जिन्हे होना चाहिए। लडकपन के खेल-कूद में लडको के शरीर के प्रत्येक स्नायु और पुट्ठे को गति प्राप्त होती है। दौडने धूपने में शरीर का कोई अवयव ऐसा नहीं जो हिलता डुलता न हो—जिसे कसरत न पड़ती हो। परन्तु "जिमनास्टिक" मे शरीर के सब अवयवो को अनेक प्रकार की गतियाँ नहीं प्राप्त होतीं। उसकी कसरत नियमित होती है। शरीर के कुछ ही स्नायु हिलते डुलते हैं। सब अवयवों को बराबर एक सी कसरत नहीं पड़ती। अतएव शरीर के कुछ ही विशेष भागो को अधिक परिश्रम पडने के कारण लड़के बहुत जल्द थक जाते हैं। यदि सब भागो को कसरत पडती तो परिश्रम सारे शरीर मे बँट जाता और थकावट भी इतना जल्द न मालूम होती। इसके सिवा "जिमनास्टिक" मे एक दोष यह भी है कि शरीर के विशेष विशेष भागों ही पर बहुत दिनो तक परिश्रम का बोझ पडने से शरीर के सब भागो की बाढ बराबर नहीं होती। फिर, सारे शरीर को बराबर एक सा परिश्रम न पड़ने ही के कारण व्यायाम की मात्रा—उसकी मिक़दार—कम नहीं होती, किन्तु "जिमनास्टिक" की कसरत में लड़कों का जी न लगने के कारण भी उसके परिमाण मे कमी हो जाती है। यदि सारे शरीर को श्रम पड़े तो कसरत भी अधिक हो। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे एक तो इस कारण से कसरत कम होती है, दूसरे जी न लगने से। अत. दो तरह से वह कम हो जाती है। "जिमनास्टिक" की कसरत लड़कों को उसी तरह सिखलाई जाती है जिस तरह मदरसे मे उन्हे पाठ्य पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। अर्थात् कसरत के भी उन्हे नियमित पाठ सीखने पडते हैं। इससे लडको का मनोरञ्जन नहीं होता और बहुधा वे इस तरह की कसरत से घृणा करने लगते हैं। परन्तु यदि ऐसी कसरत घृणोत्पादक या त्रासदायक न भी हो तो भी. मनोरञ्जन न होने के कारण, बार बार नियमित रीतियों से ही शरीर को तोड़ने मरो-

ड़ते रहने से उनका जी ज़रूर ऊब उठता है। यह सच है कि परस्पर चढ़ा ऊपरी करने से शरीर के अवयवों मे एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अङ्ग की अपेक्षा अधिक सशक्त और श्रम-सहिष्णु हो जाने का हौसला दिखाता है। परन्तु अनेक प्रकार के खेल खेलने से जो आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा यह हौसला—यह उत्साह—कम देर तक ठहरता है। वह चिरस्थायी नहीं होता। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा आक्षेप—सबसे भारी एतराज़—अभी बाक़ी ही है। "जिमनास्टिक" से जो सबसे बड़ा हानि होती है वह अभी तक हमने बतलाई ही नहा। इस प्रकार की कसरत से शरीर के स्नायु और पुट्ठों को जो श्रम पड़ता है वह कम तो होता ही है; किन्तु दरजे मे भी वह बहुत हीन होता है। अर्थात् खेल-कूद के स्वाभाविक श्रम के मुक़ाबले मे वह परिमाण में भी कम होता है और दरजे में भी कम होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "जिमनास्टिक" की कसरत में लड़कों का तादृश जी नहीं लगता। इससे वे बहुत जल्द उसे छोड़ देते हैं। इस जी न लगने—इस मनोरञ्जन न होने—से एक यह भी हानि होती है कि इस कसरत का बहुत कम असर शरीर पर पड़ता है। लोग अक्सर यह समझते हैं कि जब तक शरीर को बराबर एक सा श्रम पड़ता है तब तक इस बात के विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि लड़कों को उससे आनन्द मिलता है या नहीं—उनका मनोरञ्जन होता है या नहीं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। अनुकूल मानसिक उत्साहों का बहुत बड़ा असर पड़ता है। किसी काम के करने मे जी लगने पर जो उत्साह उत्पन्न होता है उसके असर में बहुत बड़ी शक्ति होती है। देखिए, कोई अच्छी ख़बर मिलने या किसी पुराने मित्र की मुलाक़ात होने से बीमार आदमी पर कितना असर पड़ता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि समझदार डाक्टर विशेष अशक्त रोगियों को आनन्दवृत्ति और हँसमुख आदमियों के पास बैठने उठने की कितनी सिफ़ारिश करते हैं। विचार कीजिए कि दृश्यों मे फेर-फार करने—जगह बदल देने—से जो आनन्द होता है वह आरोग्य के लिए कितना लाभदायक है। सच तो यह है कि आनन्द की प्राप्ति एक प्रकार की अत्यन्त लाभदायक पौष्टिक ओषधि है।

चित्तवृत्ति आनन्दित होने से रुधिर का अभिसरण—उसका दौरान—जल्दी जल्दी होने लगता है। इससे सारे जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलते हैं, और यदि मनुष्य के स्वास्थ्य मे कोई बाधा न आई हो तो वह और भी अच्छा हो जाता है, और यदि कोई बाधा आगई हो तो वह दूर हो जाती है। इसी से "जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद की महिमा इतनी अधिक है। खेलने-कूदने मे लड़कों का बेहद जी लगता है—उससे उनका अत्यधिक मनोरञ्जन होता है। दौड़ने-धूपने और अक्खड़पन के खेल वे बड़े ही आनन्द से खेलते हैं। इस मनोरञ्जन और आनन्द का महत्त्व खेलने-कूदने से होनेवाली कसरत के महत्त्व से किसी तरह कम नहीं। दोनो से बराबर एक सा लाभ होता है। परन्तु "जिमनास्टिक" में न तो लड़कों का मन ही लगता है और न उससे उन्हे आनन्द ही मिलता है। अतएव उसकी बुनियाद ही बुरी है—उसकी जड़ ही दोषपूर्ण है।

४४—खेल-कूद की बराबरी "जिमनास्टिक" नहीं कर सकती। खेल-कूद का रोकना मानों शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वरदत्त साधनों का रोकना है।

अतएव यदि यह बात मान ली जाय, जैसा कि हम मान लेते हैं, कि "जिमनास्टिक" से शरीर के अवयवों को जो एक प्रकार की नियमित कसरत पड़ती है वह बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा अच्छी है—और यदि यह बात भी मान ली जाय कि और और कसरतों के साथ "जिमनास्टिक" की कसरत से और कुछ न सही तो थोडी बहुत सहायता मिलने से विशेष लाभ होने की ज़रूर सम्भावना रहती है, तथापि हम इस बात को नहीं मानते कि जिन कसरतो को—जिन परिश्रम के कामों को—स्वभाव ही से करने को जी चाहता है उनकी बराबरी ये कृत्रिम कसरतें कर सकती हैं। खेल-कूद के जिन कामों की तरफ़ लड़कों और लड़कियों की स्वभाव ही से प्रवृत्ति होती है वे शरीर को आरोग्य रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। जो आदमी उनको रोकता है वह मानों उन

ड़ते रहने से उनका जी ज़रूर ऊब उठता है। यह सच है कि परस्पर चढ़ा ऊपरी करने से शरीर के अवयवों मे एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अङ्ग की अपेक्षा अधिक सशक्त और श्रम-सहिष्णु हो जाने का हौसला दिखाता है। परन्तु अनेक प्रकार के खेल खेलने से जो आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा यह हौसला—यह उत्साह—कम देर तक ठहरता है। वह चिरस्थायी नहीं होता। इस सम्बन्ध मे सबसे बड़ा आक्षेप—सबसे भारी एतराज़—अभी बाक़ी ही है। "जिमनास्टिक" से जो सबसे बड़ा हानि होती है वह अभी तक हमने बतलाई ही नहा। इस प्रकार की कसरत से शरीर के स्नायु और पुट्ठों को जो श्रम पड़ता है वह कम तो होता ही है; किन्तु दरजे मे भी वह बहुत हीन होता है। अर्थात् खेल-कूद के स्वाभाविक श्रम के मुक़ाबले मे वह परिमाण में भी कम होता है और दरजे में भी कम होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "जिम-नास्टिक" की कसरत मे लड़कों का तादृश जी नहीं लगता। इससे वे बहुत जल्द उसे छोड़ देते हैं। इस जी न लगने—इस मनोरञ्जन न होने—से एक यह भी हानि होती है कि इस कसरत का बहुत कम असर शरीर पर पड़ता है। लोग अक्सर यह समझते हैं कि जब तक शरीर को बराबर एक सा श्रम पड़ता है तब तक इस बात के विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि लड़कों को उससे आनन्द मिलता है या नहीं—उनका मनोरञ्जन होता है या नहीं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। अनुकूल मानसिक उत्साहों का बहुत बड़ा असर पड़ता है। किसी काम के करने मे जी लगने पर जो उत्साह उत्पन्न होता है उसके असर में बहुत बड़ी शक्ति होती है। देखिए, कोई अच्छी ख़बर मिलने या किसी पुराने मित्र की मुलाक़ात होने से बीमार आदमी पर कितना असर पड़ता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि समझदार डाक्टर विशेष अशक्त रोगियों को आनन्दवृत्ति और हँसमुख आदमियों के पास बैठने उठने की कितनी सिफ़ारिश करते हैं। विचार कीजिए कि दृश्यों में फेर-फार करने—जगह बदल देने—से जो आनन्द होता है वह आरोग्य के लिए कितना लाभदायक है। सच तो यह है कि आनन्द की प्राप्ति एक प्रकार की अत्यन्त लाभदायक पौष्टिक ओषधि है।

चित्तवृत्ति आनन्दित होने से रुधिर का अभिसरण—उसका दौरान—जल्दी जल्दी होने लगता है। इससे सारे जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलते हैं, और यदि मनुष्य के स्वास्थ्य मे कोई बाधा न आई हो तो वह और भी अच्छा हो जाता है, और यदि कोई बाधा आगई हो तो वह दूर हो जाती है। इसी से "जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद की महिमा इतनी अधिक है। खेलने-कूदने में लड़कों का बेहद जी लगता है—उससे उनका अत्यधिक मनोरञ्जन होता है। दौड़ने-धूपने और अक्खड़पन के खेल वे बड़े ही आनन्द से खेलते हैं। इस मनोरञ्जन और आनन्द का महत्त्व खेलने-कूदने से होनेवाली कसरत के महत्त्व से किसी तरह कम नहीं। दोनों से बराबर एक सा लाभ होता है। परन्तु "जिमनास्टिक" में न तो लड़कों का मन ही लगता है और न उससे उन्हें आनन्द ही मिलता है। अतएव उसकी बुनियाद ही बुरी है—उसकी जड़ ही दोषपूर्ण है।

४४—खेल-कूद की बराबरी "जिमनास्टिक" नहीं कर सकती। खेल-कूद को रोकना मानों शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वरदत्त साधनों को रोकना है।

अतएव यदि यह बात मान ली जाय, जैसा कि हम माने लेते हैं, कि "जिमनास्टिक" से शरीर के अवयवों को जो एक प्रकार की नियमित कसरत पड़ती है वह बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा अच्छी है—और यदि यह बात भी मान ली जाय कि और और कसरतो के साथ "जिमनास्टिक" की कसरत से और कुछ न सही तो थोड़ी बहुत सहायता मिलने से विशेष लाभ होने की ज़रूर सम्भावना रहती है, तथापि हम इस बात को नहीं मानते कि जिन कसरतों को—जिन परिश्रम के कामों को—स्वभाव ही से करने को जी चाहता है उनकी बराबरी ये कृत्रिम कसरतें कर सकती हैं। खेल-कूद के जिन कामों की तरफ़ लड़कों और लड़कियों की स्वभाव ही से प्रवृत्ति होती है वे शरीर को आरोग्य रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। जो आदमी उनको रोकता है वह मानो उन

साधनों को रोकता है जिन्हें शरीर की बाढ़ के लिए परमेश्वर ने निर्दिष्ट किया है।

४५—हम लोग अपने पूर्वजों की अपेक्षा कम शक्ति रखते हैं और हमारी सन्तति में हमसे भी अधिक अशक्त होने के लक्षण देख पड़ते हैं।

अभी एक और विषय पर विचार करना बाक़ी है। वह विषय ऐसा है कि जिन विषयों का यहाँ तक ज़िक्र हुआ उनमें शायद वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहुत आदमी यह कहा करते हैं कि पढ़े लिखे लोगों में वयस्क या प्राय: वयस्क नव-युवक अपनी पहली पीढ़ी के नव-युवकों की अपेक्षा कम मज़बूत होते हैं और बाढ़ भी उनकी पूर्व पीढ़ी के युवकों की ऐसी अच्छी नहीं होती। पहले पहल जब हमने लोगो को यह कहते सुना तब हमें यह ख़याल हुआ कि सारी पुरानी बातों को अच्छा और नई बातों को बुरा कहने की जो पूर्वापर चाल चली आती है वही इस तरह के एक-पक्षीय मत का कारण होगी। क्योंकि पुराने ज़िरहों अर्थात् झिलम-कवचों को नापने से मालूम होता है कि उस समय के आदमियों की अपेक्षा आज कल के आदमी डील डौल मे बड़े होते हैं*। इसके सिवा मृत्युसंख्या का हिसाब देखने से यह भी मालूम होता है कि पहले की अपेक्षा आज कल लोगों की उम्र कम नहीं, किन्तु कुछ अधिक ही होती है। इन सब बातों का विचार करके हमें लोगों की पूर्वोक्त राय ठीक नहीं मालूम हुई। अतएव हमने उसकी तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया। परन्तु इस विषय के प्रत्येक अंश का जब हमने अच्छी तरह बारीक़ तौर से विचार किया तब हमें अपनी राय बदलने की ज़रूरत पड़ी। लोगों की पूर्वोक्त बात को पहले हमने अन्ध-विश्वास के आधार पर स्थित समझा था। परन्तु ख़ूब विचार करने पर हमे अपना यह ख़याल ग़लत मालूम होने लगा। मेहनत मज़दूरी

* हिन्दुस्तान के विषय मे स्पेन्सर का यह खयाल ठीक नही मालूम होता।

अनुवादक

करनेवाले आदमियों को छोड़ कर और लोगों मे हमने बहुत से उदाहरण ऐसे देखे हैं जिनमे लडके अपने माँ-बाप की बराबर क़द मे ऊँचे नहीं होते और उम्र की न्यूनाधिकता को हिसाब मे ले कर देखने से हमे यह भी मालूम हुआ है कि अपने माँ-बाप की अपेक्षा आज कल के लड़कों का आकार भी छोटा ही होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि आज कल के आदमी पुराने आदमियों के बराबर फ़स्द नहीं ले सकते। जितना ख़ून पुराने आदमी फ़स्द खुला कर निकलवा सकते थे उतना ख़ून निकलना आज कल के लोग नही बरदाश्त कर सकते। असमय मे ही खल्वाट हो जाना—बुड्ढे होने के पहले ही सिर के बालों का गिर जाना— पहले की अपेक्षा अब अधिक देखा जाता है। आज कल इतनी थोडी उम्र में लोगो के दाँत गिर जाते हैं कि उसका ख़याल करके आश्चर्य होता है। साधारण शक्ति का मुक़ाबला करने से भी वैसा ही आश्चर्य्य-जनक अन्तर देख पड़ता है। पुराने ज़माने के आदमी आज कल के आदमियो की तरह मिताहारी न थे। वे मन-मौजी थे। जो कुछ जी चाहता था खाते थे और जहाँ कहीं जी चाहता था जाते थे। मिथ्या-हार-विहार की उन्हे कुछ भी परवा न थी। तथापि वे अधिक मेहनत कर सकते थे। मेहनत के काम कर सकने की उनमें अधिक शक्ति थी। एक पीढ़ी पहले के हमारे पूर्वज ख़ूब नशा करते थे, समय के बिलकुल पाबन्द न थे; स्वच्छ हवा की भी उन्हे कोई परवा न थी, सफ़ाई का भी उन्हें बहुत कम खयाल था, तथापि बुड्ढे होने तक, बिना बीमार पड़े या आरोग्य को और किसी तरह की हानि पहुँचाये, देर तक मेहनत कर सकते थे। उदाहरण के तौर पर जजों और विकालत का पेशा करनेवालों ही की दिन-चर्य्या का विचार करने से हमारे इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी। हम लोगों को ज़रा देखिए तो सही। हम अपनी शरीर-रक्षा की हमेशा फ़िक्र में रहते हैं, खाना-पीना भी अपना परिमित रखते हैं; बहुत अधिक नशा-पानी भी नहीं करते, साफ़ हवा का भी हमेशा ख़याल रखते हैं; नहाते धोते भी अधिक हैं; हर साल सैर-सपाटे के लिए बाहर भी जाया करते हैं, और वैद्य-विद्या के विशेष प्रचार से दवा-पानी का सुभीता भी हमे अधिक है—तथापि प्रति दिन हम काम के बोझ से बराबर कुचले जा रहे

हैं। हमारे पिता और पितामह आदि पूर्वज स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों को, कितने ही विषयों मे, तोड़ते थे। परन्तु, उन नियमों की यद्यपि हम बहुत अधिक परवा नहीं करते हैं, तथापि अपने पूर्वजों की अपेक्षा हम कमज़ोर मालूम होते हैं। और, आगामी पीढी के युवकों की शकल-सूरत और उनके बार बार बीमार पड़ने से यही मालूम होता है कि वे हम लोगों की अपेक्षा अधिक कमज़ोर निकलेंगे।

४६—शरीर-सम्बन्धी दोषों के कारणों में से मानसिक श्रम की अधिकता प्रधान कारण है।

इसका अर्थ क्या है? ऐसा क्यों होता है? हम कह चुके हैं कि आज कल बच्चों को खूब पेट भर खिलाने की तरफ़ लोगों का कम ध्यान है। परन्तु, पुराने ज़माने मे, बडे भी और लड़के भी, दोनों, खूब डट कर खाते थे। तो क्या इससे यह समझना चाहिए कि पहले का आकण्ठ-भोजन आज कल के परिमित भोजन की अपेक्षा कम हानिकारक था? अथवा क्या यह समझना चाहिए कम कपड़े-लत्ते पहना कर लड़कों को खूब मज़बूत बनाने का जो भ्रमपूर्ण सिद्धान्त लोगों ने निश्चित किया है वह इसका कारण है? अथवा क्या यह, झूठी शिष्टता और सफ़ाई सुथराई के ख़याल से लडकपन के खेल-कूद को कुछ न कुछ रोक देने का फल है? जो कारण हमने बतलाये हैं—जो दलीलें हमने पेश की हैं—उनसे तो यही नतीजा निकलता है कि इन बातों मे से कुछ न कुछ प्रत्येक बात इन अनर्थों का कारण है*। परन्तु एक और भी हानिकारी कारण अपना काम कर रहा है। यह कारण औरों से अधिक बलवान् है। इससे हमारा मतलब मानसिक श्रम की अधिकता से है।

---

* टीका लगाने से शारीरिक रोग कुछ दिनों के लिए दव जाते हैं, परन्तु इस तरह दबे हुए रोग फिर किसी न किसी समय ज़रूर पैदा हो जाते है। हमें इस बात का निश्चय तो नहीं है, पर, बहुत सम्भव है, इन अनर्थों का थोड़ा बहुत कारण यही हो। रोगनिदान-विद्या की कुछ बातों का विचार करने से इस तरह का नतीजा निकलता

४७—बहुत अधिक मेहनत करने से पिता की शरीर-प्रकृति बिगड़ जाती है। इससे उसकी सन्तति भी अशक्त होती है।

आज कल के उद्योग-धन्धे ऐसे हैं कि उनका बोझ दिन दिन बढ़ता जाता है और उनके कारण तरुण और बूढ़े सबको खींचा खींच में फँसना पड़ता है। जितने रोज़गार हैं—जितने पेशे हैं—सबमें चढ़ा ऊपरी की मात्रा बढ़ती ही जाती है। अतएव हर एक वयस्क आदमी की मानसिक शक्तियों पर पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक दबाव पडता है। इस तरह की विकट चढ़ा ऊपरी के ज़माने में अपने उद्योग-धन्धे को हानि से बचाने—हर एक बात में औरों के मुक़ाबले मे हार न खाने—के लिए नवयुवकों को शिक्षा देने में उनके साथ अब अधिक सख़्ती की जाती है। इससे उन्हे दोहरी हानि उठानी पड़ती है। पिता को अनेक चढ़ा ऊपरी करनेवालों का मुक़ाबला करने मे बेहद तंग होना पड़ता है। इस तरह की आपदायें भोग करते हुए भी उसे अच्छी तरह खाने पीने, और रहने के लिए पहले से अधिक ख़र्च करना पडता है। अतएव उस बेचारे को साल भर सुबह शाम, अबेर-सबेर, सारा दिन काम ही करते बीतता है। घूमने, फिरने और व्यायाम करने के

जरूर है। जब किसी बच्चे के टीका लगाया जाता है तब टीके की जगह पड़े हुए आबलो से विषाक्त मवाद बाहर निकलता है। इस मवाद के साथ शरीर के भीतर जमा हुआ और भी रोगजनक मवाद निकलना चाहता है। इस तरह का रोगजनक मवाद यदि त्वचा या रोमकूपों के मुँह से निकलने लायक़ होता है तो वह और भी टीके के मवाद के साथ निकलना चाहता है। और, बहुत ही उपद्रवकारी मवाद कुछ ऐसे भी हैं जो त्वचा के रास्ते निकल सकते हैं। किसी किसी बच्चे के शरीर में इस तरह का विषाक्त विकार इतना कम होता है कि वह बीमारी के रूप में प्रकट नहीं हो सकता। अतएव टीका लगानेवालो या और लोगों को उसके होने का ज्ञान ही नहीं होता। इस दशा में ऐसे बच्चों के शरीर से लिये गये टीके के "लिंफ" के साथ वह रोगमूलक विपाक्त विकार और बच्चों के शरीर में भी प्रवेश पा सकता है और उनके "लिंफ" से दूसरो के शरीर मे भी पहुँच सकता है। इस तरह एक बच्चे का विकार अनेको को रोगी कर सकता है। ग्रन्थकार।

लिए उसे बहुत ही कम समय मिलता है। छुट्टियाँ भी उसे थोड़ी ही मिलती हैं। इस तरह शक्ति के बाहर बराबर काम करते रहने से उसके शरीर में घुन लग जाता है। अतएव उसकी सन्तति भी वैसी ही अशक्त होती है। यह सन्तति, अशक्त होने के कारण, परिश्रम के साधारण कामों से ही थक जाने को पहले ही से तैयार रहती है। तिस पर भी, गत पीढ़ियों के सुदृढ और सशक्त बच्चों के लिए नियत की गई शिक्षा-पद्धति से भी चार अंगुल अधिक लम्बी चौड़ी शिक्षा-पद्धति का उससे अभ्यास कराया जाता है।

४८—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से हानियाँ।

इस दुरवस्था के परिणाम बहुत भयङ्कर होते हैं और वे ऐसे नहीं कि छिपे हों। सब कहीं वे देख पड़ते हैं। आप जहाँ चाहिए जाइए। थोड़ी ही देर में आपको छोटे बड़े, सब तरह के, लड़के लड़कियाँ देख पड़ेंगी, जिनकी शरीर-प्रकृति अधिक विद्याभ्यास के कारण थोड़ी बहुत ज़रूर बिगड़ी होगी। शक्ति से बाहर अभ्यास करने से पैदा हुई अशक्तता को दूर करने के लिए कहीं कोई लड़का आपको ऐसा मिलेगा जिसका पढ़ना एक वर्ष के लिए बन्द कर दिया गया है। कहीं कोई लड़का ऐसा देख पडेगा जिसका दिमाग़ बिगड़ गया है—जिसके दिमाग़ में ख़ून जमा होगया है। इस रोग से वह कई महीने से पीड़ित है और जल्द अच्छे होने के अभी कोई लक्षण भी नहीं हैं। कहीं आप सुनेंगे कि किसी कारण से मदरसे मे चित्त को बहुत अधिक उत्ताप पहुँचने से किसी लड़के को बुख़ार आ रहा है। कहीं आपको इस तरह का उदाहरण मिलेगा कि एक दफ़े अमुक लड़के को कुछ समय के लिए पढ़ना बन्द करना पड़ा; परन्तु दुबारा मदरसे मे भरती होने पर अब उसकी यह दशा है कि मूर्च्छा आ जाने के कारण बार बार उसे दरजे से उठा लाना पड़ता है। ये घटनाये सब सच्ची हैं—बनावटी नहीं। इनको हमें ढूँढ़ना नहीं पड़ा। किन्तु गत दो वर्षों में ये घटनायें आपही आप हमारे देखने में आई हैं। और, ये बहुत दूर की भी नहीं हैं, पास ही की हैं। यह भी न समझिए कि यह सूची इतनी ही है। नहीं, अभी और भी कितनी ही घटनायें इसमें दर्ज हैं। अभी थोड़े ही दिन की बात है जब हमे इस बात के

देखने का मौक़ा मिला कि ये अनर्थकारी आपदायें किस तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक वंशपरम्परा से चली जाती हैं। एक स्त्री थी। उसके माँ-बाप खूब सशक्त और नीरोग थे। वह स्काटलेंड के एक मदरसे में पढने के लिए भेजी गई। उस मदरसे के विद्यार्थियों के लिए एक बोर्डिङ्ग-हाउस (छात्रावास) भी था। वहाँ उससे काम तो बहुत अधिक लिया जाता था, पर खाने को उसे कम दिया जाता था। इस कारण उसकी शरीर-प्रकृति इतनी बिगड़ गई—उसका स्वास्थ्य यहाँ तक ख़राब हो गया—कि सबेरे बिछौने से उठने पर उसे चक्कर आता है, उसका सिर घूमने लगता है। इसका यह नतीजा हुआ कि उसके लड़कों को भी यही बीमारी हो गई। उनका भी दिमाग़ कमज़ोर हो गया। अब उसके कई एक लड़कों की यह दशा है कि पढ़ने लिखने में साधारण श्रम करने से भी या तो उनका सिर दर्द करने लगता है या उन्हें चक्कर आने लगता है। आज कल हम एक ऐसी तरुण स्त्री को रोज़ देखते हैं जिसकी शरीर-प्रकृति, कालेज मे अपना विद्याभ्यास पूर्ण करने की बदौलत, जन्म भर के लिए बिगड़ गई है। उसे कालेज मे इतनी मेहनत करनी पड़ती थी—उसे विद्याभ्यास का इतना बोझ उठाना पड़ता था—कि घूमने फिरने या और किसी तरह का व्यायाम करने की उसमें शक्ति ही न रह जाती थी। अब उसका विद्याभ्यास पूरा हो चुका है। परन्तु एक न एक बात की शिकायत उसे बनी ही रहती है। उसे अच्छी तरह भूख ही नहीं लगती और जितनी लगती है वह भी समय पर नहीं लगती। मांस वह बहुधा बिलकुल ही नहीं खाती। गरमी के मौसिम में भी उसके हाथ-पैर की उँगलियाँ ठंडी रहती हैं। कमज़ोर वह इतनी हो गई है कि बहुत ही धीरे धीरे चल सकती है। ज़रा भी जल्दी चलने की शक्ति उसमे नहीं। फिर, जो कुछ वह चल सकती है सो भी थोड़ी ही देर तक। धीरे धीरे भी वह देर तक नहीं चल सकती। ज़ीने पर चढ़ने से उसका दिल धड़कने लगता है—उसका दम फूल उठता है। दृष्टि उसकी बहुत ही मन्द हो गई है। बाढ़ उसकी रुक गई है। टाँगे और पुट्ठे सब ढीले पड़ गये हैं। ये सब आपदायें उसे शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने के कारण भोगनी पड़ती हैं। उसकी एक सखी है। वह भी उसी के साथ साथ

कालेज मे पढ़ती थी। उसकी भी यही दशा है। वह भी ऐसी ही कमज़ोर है। बहुत शान्त-स्वभाव की मित्रमण्डली मे बैठने से भी उसे इतना उत्ताप होता है कि मूर्छा आने की नौबत पहुँच जाती है। आखिर को अब उसके डाक्टर ने उसे पढ़ने लिखने की बिलकुल ही मनाई कर दी है।

४८—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से होनेवाली दृश्य हानियों की अपेक्षा अदृश्य हानियाँ अधिक होती हैं।

अतएव शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से यदि इतने बडे बड़े अपाय होते हैं तो न मालूम छोटे छोटे कितने अपाय, जिन्हें आदमी आँखो से नहीं देख सकता, होते होंगे। बहुत मेहनत करने से प्रत्यक्ष बीमार पड़ जाने का यदि एक उदाहरण होगा, तो, सम्भव है, आधे दर्जन उदाहरण ऐसे होंगे, जिनमे होनेवाली हानियाँ प्रत्यक्ष न देख पड़ती होंगी; किन्तु धीरे धीरे शरीर में इकट्ठी होती जाती होगी। अर्थात् ऐसे अदृश्य उदाहरण ज़रूर होगे जिनमें शारीरिक अशक्तता या और किसी विशेष कारण से मनुष्य के इन्द्रिय-व्यापार अच्छी तरह न चलते होंगे, अथवा शरीर की बाढ धीरे धीरे कम होकर असमय मे ही बन्द हो जाती होगी; अथवा छिपे हुए क्षयी रोग के बीज धीरे धीरे अंकुरित होकर रोग को प्रत्यक्ष पैदा कर देते होंगे, अथवा जवानी मे अधिक मेहनत पड़ने के कारण दिमाग़ से सम्बन्ध रखनेवाले जो रोग बहुधा हो जाया करते हैं उनके होने के लक्षण पहले ही से देख पड़ते होंगे। अनेक प्रकार के पेशे और व्यापार-धन्धे में बहुत अधिक मेहनत करनेवाले वयस्क आदमी भी बार बार बीमार पड़ा करते हैं। इसको ध्यान में रख कर जो लोग उन विशेष अधिक हानिकारी परिणामों का विचार करेंगे जो शक्ति के बाहर मेहनत करने से बच्चो के अपरिपक्व शरीर को भोगने पड़ते हैं उन्हें यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी कि इस कारण से सर्व-साधारण के स्वास्थ्य की जड़ पर किस तरह कुठाराघात हो रहा है। अच्छे जवान आदमियों की तरह लड़के न तो तकलीफ ही बरदाश्त कर सकते हैं, न शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, और न मानसिक परिश्रम ही के काम कर सकते हैं। अब आप ही विचारिए कि यदि बहुत अधिक मानसिक

परिश्रम के काम करने से अच्छे अच्छे जवान आदमियों को अनेक आपदायें प्रत्यक्ष भोगनी पडती हैं, तो बहुधा उतना ही मानसिक परिश्रम करनेवाले लड़कों को कितनी आपदायें भोगनी पड़ती होंगी—कितना कष्ट उठाना पड़ता होगा!

५०—इँगलिस्तान के लड़कियों के मदरसों की व्यवस्था की तफ़सील और उसके भयङ्कर परिणाम।

मदरसों में जो निर्दय क़वायद बच्चों से बहुधा बलपूर्वक ली जाती है—जिस कठोर शिक्षा-पद्धति का अनुसरण उनसे अक्सर कराया जाता है—उसकी जाँच करने पर, यह जान कर कि उससे बच्चों को अत्यन्त हानि पहुँचती है, हमें आश्चर्य नही होता। आश्चर्य तो हमे इस बात का विचार करके होता है कि उसे बच्चे बरदाश्त कैसे करते हैं। बहुत कुछ जाँच-पड़ताल के बाद, अपनी आँख से देखी हुई बातों के आधार पर, सर जान फार्ब्स ने सारे इँगलिस्तान के मँझले दरजे के लड़कियों के मदरसे की व्यवस्था का जो हिसाब दिया है उसका विचार कीजिए। उनका दिया हुआ २४ घटे का खुलासा इस प्रकार है। इस हिसाब में हमने मिनिट आदि की तफ़सील छोड दी है:—

सोना	९ घटे (बहुत छोटे बच्चे १० घंटे)
मदरसे मे लिखना पढ़ना या बताये हुए और कोई काम करना	९ घटे
मदरसे में या घर पर बड़े बच्चों ने इच्छानुसार पढना लिखना या काम करना और छोटे बच्चों ने खेलना	३½ घंटे
भोजन	१½ घटे
साफ़ हवा मे घूमने फिरने के रूप में कसरत करना। इस समय भी पुस्तके बहुधा हाथ में लिये रहना। यह भी नियत समय पर, यदि मौसिम अच्छा हो तो।	१ घंटा
	२४ घंटे

सर जान फार्ब्स इस पद्धति को विलक्षण कठोर शिक्षा-पद्धति कहते हैं। अच्छा, अब इस बात का विचार कीजिए कि ऐसी कठोर पद्धति के नतीजे क्या होते हैं? अशक्तता, तेजोहानि, उदासीनता और हमेशा रोगी बने रहना। इनके सिवा और क्या नतीजे होगे? परन्तु फार्ब्स साहब कुछ और भी बतलाते हैं। वे कहते हैं कि मानसिक शिक्षा की प्राप्ति में बहुत अधिक ध्यान देने के कारण शरीर को नीरोग रखने के विषय मे अत्यन्त असावधानी की जाती है। अर्थात् दिमाग़ से बहुत अधिक काम लिया जाता है और शरीर से बहुत ही कम। फार्ब्स साहब ने इस अव्यवस्था को जो जाँच की तो उन्हे मालूम हुआ कि इसके कारण इन्द्रियाँ अपने अपने काम अच्छी तरह नही कर सकतीं। यही नहीं, किन्तु इससे कुरूपता भी आ जाती है—शरीर मे किसी न किसी तरह का व्यङ्ग पैदा हो जाता है। वे कहते हैं:—"अभी हाल मे हमने एक बड़े क़सबे मे लड़कियों का एक मदरसा देखा। उसमे ४० लड़कियाँ थीं। उनके खाने-पीने का भी प्रबन्ध वहीं मदरसे ही की तरफ़ से होता था। हमने अच्छी तरह सच्ची सही जाँच की तो मालूम हुआ कि उन ४० लड़कियों में से एक भी लडकी ऐसी नहीं जो दो वर्ष तक उस मदरसे में रही हो और उसकी कमर थोड़ी बहुत न झुक गई हो। और जितनी लड़कियाँ उसमें थीं प्रायः सभी दो वर्ष तक रह चुकी थीं"।

५१—एक मुदर्रिसों के मदरसे का और भी बुरा शिक्षा-क्रम।

फार्ब्स साहब ने अपनी इस जाँच का हाल १८३३ ईसवी मे लिखा था। सम्भव है, तब से इस विषय मे कुछ सुधार हुआ हो, और हमे विश्वास है कि ज़रूर हुआ है। परन्तु पूर्वोक्त शिक्षा-पद्धति अब भी बहुत जगह वैसी ही जारी है। नहीं, कहीं कहीं तो यह पद्धति पहले की भी अपेक्षा अधिक दूषित हो गई है। इसे अटकल न समझिए। इस बात को हम अपने निज के तजरिबे से कहते हैं। अभी कुछ ही दिन हुए हम एक नार्मल स्कूल देखने गये। मदरसों मे पढ़ाने के लिए अच्छे अच्छे

मुदर्रिस मिले, इसलिए आज कल कितने ही मदरसे खोले गये हैं। यह मदरसा इसी तरह का था। इसमे जवान जवान लडके पढ़ते थे। यह सरकारी मदरसा था और सरकार ही के नियत किये गये अध्यापक भी इसमे थे। अतएव हम समझे थे कि ग़ैर-सरकारी मदरसों की अध्यापिकाओं के निश्चित किये हुए क्रम की अपेक्षा इसका क्रम अच्छा होगा। परन्तु वहाँ हमने हर रोज़ का क्रम इस प्रकार पाया:—

६ बजे विद्यार्थी उठाये जाते हैं।

७ से ८ बजे तक पढ़ना।

८ से ९ तक धर्म्म-पुस्तक का पाठ, भजन और भोजन।

९ से १२ तक फिर विद्याभ्यास—पढ़ना, लिखना आदि।

१२ से १ १/४ तक छुट्टी। यहाँ छुट्टी नाम-मात्र के लिए घूमने फिरने या और किसी व्यायाम के लिए दी जाती है। परन्तु बहुत करके इस समय भी लड़के पढ़ने ही मे लगे रहते हैं।

१ १/४ से २ तक दोपहर का भोजन। इसमें बहुत करके २० मिनट लगते हैं।

२ से ५ तक फिर पढ़ना, लिखना।

५ से ६ तक चाय-पानी और विश्राम।

६ से ८ १/२ तक फिर विद्याभ्यास।

८ १/२ से ९ १ तक अगले दिन के पाठ तैयार करने के लिए अपने आप, विना अध्यापक की मदद के, अभ्यास करना।

१० बजे सो जाना।

इस प्रकार चौबीस घंटे मे से आठ घंटे सोने के लिए हैं, सवा चार घटे कपड़े पहनने, भजन-पूजन करने, भोजन करने और कुछ देर आराम करने के लिए हैं, साढे दस घंटे पढ़ने लिखने के लिए हैं, और सवा घंटा कसरत के लिए है, जिसका करना या न करना लड़कों की इच्छा पर छोड़ दिये जाने के कारण बहुधा कोई करता ही नहीं। परन्तु विद्याभ्यास के लिए जो साढे दस घंटे रक्खे गये हैं उनमें कसरत के लिए नियत किया गया समय मिला कर उस काम के लिए बहुधा साढे ग्यारह घंटे कर दिये जाते हैं।

इतना ही नहीं, कोई कोई लड़के तो अपना पाठ तैयार करने के लिए सवेरे चार बजे उठते हैं और अध्यापक लोग उन्हे ऐसा करने के लिए सचमुच ही उत्तेजित करते हैं ! एक नियमित समय मे लड़को को बहुत अधिक विद्याभ्यास करना पड़ता है । फिर सब विषयों की परीक्षा मे लड़कों के अच्छी तरह पास हो जाने ही पर अध्यापकों की नेकनामी अवलम्बित रहती है । अतएव वे भी लड़कों को नियत समय से भी अधिक देर तक पढ़ने के लिए उत्साहित किया करते हैं । इससे क्या होता है कि रोज़ बारह बारह तेरह तेरह घंटे पढने के लिए अध्यापक महाशय लड़कों को बार बार उत्तेजना दिया करते हैं ।

५२—पूर्वोक्त मदरसे के विद्यार्थियों को होनेवाली बीमारियाँ ।

इस बात के बतलाने के लिए किसी भविष्यद्वक्ता या ज्योतिषी की ज़रूरत नहीं कि इस तरह की शिक्षा-पद्धति से विद्यार्थियो के आरोग्य को भारी धक्का पहुँचेगा । जैसा कि उस मदरसे मे रहनेवाले एक आदमी ने हमसे बयान किया, जिन लड़कों का रंग मदरसे में भरती होते समय लाल और सतेज होता है उनका रंग वहाँ रहने से बहुत जल्द पाण्डुवर्ण और निस्तेज हो जाता है । लडके बहुधा बीमार रहा करते हैं, कुछ लड़कों के नाम हमेशा बीमारों की फ़हरिश्त में लिखे रहते हैं । भूख न लगना और अजीर्ण बना रहना रोज़ की शिकायते हैं । अतीसार और संग्रहणी का बड़ा ज़ोर रहता है—इतना कि बहुधा एक तिहाई विद्यार्थी एकही साथ इन बीमारियों से पीड़ित रहते हैं । बहुतो का सिर दर्द किया करता है । कुछ लड़के तो महीनो सिर के दर्द से दुखी रहते हैं । फ़ी सैकड़ा कुछ लडकों का शरीर यहाँ तक रोगी हो जाता है कि बीच ही में मदरसा छोड़ कर उन्हे अपने घर चला जाना पड़ता है ।

५३—यह इस मदरसे के अधिकारियों की निर्दयता अथवा शोकजनक मूर्खता का प्रमाण है ।

यह मदरसा और मदरसों के लिए एक तरह का नमूना है । यह एक

आदर्श पाठशाला है । इसे इस समय के उन विद्वानों ने खोला है जिन्होंने सर्वोत्तम शिक्षा पाई है और वही इसकी देख-भाल भी करते हैं। ऐसे आदर्श विद्यालय में—ऐसे नमूनेदार मदरसे मे—इस तरह की दुरवस्था का होना सचमुच ही बहुत बड़े विस्मय की बात है। परीक्षायें बेहद कठोर होती हैं। तिस पर भी उनकी तैयारी के लिए बहुत थोडा समय दिया जाता है। इससे, बेहद सख़्त मेहनत पड़ने के कारण, परीक्षार्थी उम्मेदवारों का आरोग्य—उनका स्वास्थ्य—बिलकुल ही बिगड जाता है। यह इस बात का प्रमाण है कि जिन लोगों ने इस तरह की दूषित शिक्षा-पद्धति प्रचलित की है वे यदि निर्दयी नहीं तो मूर्ख जरूर हैं, और मूर्ख भी कैसे कि उनकी मूर्खता का खयाल करके शोक होता है।

५४—शिक्षा-पद्धति को विशेष कठोर करने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति का प्रमाण।

यह उदाहरण बहुत करके अपवादात्मक है—यह मिसाल बतौर मुस्तसना के है। इसी तरह के और जो मदरसे हैं उन्हीं के विद्यार्थियों को बहुत करके ऐसी आपदायें भोगनी पडती होगी। परन्तु ऐसे शोचनीय उदाहरणों का होना ही इस बात का क्या कम सबूत है कि आज कल के लडके मानसिक श्रम से पिसे जा रहे हैं? इस तरह के कालेजों का स्थापित किया जाना ही यह बतला रहा है कि शिक्षित आदमियो का समुदाय उनकी ज़रूरत समझता है। इससे यही सूचित होता है कि इस तरह की कठोर शिक्षा-पद्धति इस समय के विद्वानो को पसन्द है। अतएव, यदि और कोई सबूत न हो, तो भी, सिर्फ़ इस इतने ही सबूत से, यह बात साबित है कि आज कल लोग शिक्षा-पद्धति को बहुत अधिक कठोर करने की तरफ़ झुके हुए हैं।

५५—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से बचपन में भी हानि होती है और जवानी में भी।

बहुत छोटी उम्र में पढ़ने लिखने मे शक्ति के बाहर मेहनत करने से बच्चों

को जो हानि पहुँचने का डर रहता है उसे तो सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। परन्तु इस बात का विचार करके आश्चर्य होता है कि बडे होने पर, जवानी मे, बहुत अधिक मेहनत करने से लडकों को जो हानियाँ होती हैं उनका सब लोग बहुत ही कम ख़याल करते हैं। थोडी उम्र मे लडकों के शरीर की अप्राप्तकालिक पूर्णता से जो अनर्थ होते हैं उसका थोड़ा बहुत ज्ञान बहुत आदमियों को होता है। हर समाज मे—हर जाति मे—हम देखते हैं कि जो लोग अपने छोटे छोटे बच्चों की मानसिक शक्तियों को अकाल ही में उत्तेजित करते हैं उनकी सब कहीं निन्दा होती है। बचपन की इस तरह की उत्तेजना से होनेवाले परिणामो का जितना ही अधिक ज्ञान लोगो को होता है उतना ही अधिक वे उससे डरते भी हैं। प्राणिधर्म्म-शास्त्र सिखलानेवाले एक बहुत प्रसिद्ध अध्यापक की बात सुनिए। उसने हमसे कहा कि आठ वर्ष का होने तक वह अपने लडके को कुछ भी पढ़ाने लिखाने का नहीं। इससे आप इस बात का अन्दाज़ कर सकते हैं कि अकाल ही मे बच्चों से मानसिक श्रम करने के विषय मे उसकी क्या राय होगी। सब लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि बुद्धि को बढ़ानेवाली शिक्षा बचपन में ज़बरदस्ती देने से या तो बच्चों का शरीर अशक्त हो जाता है, या अन्त मे उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है, या अकाल ही मे वे काल का ग्रास हो जाते हैं। परन्तु, मालूम होता है, उनकी समझ मे यह बात नहीं आती कि बुद्धि को बढ़ाने मे ज़बरदस्ती करने से जवानी में भी यही नतीजे होते हैं। चाहे उनकी समझ में आवे चाहे न आवे, पर ये नतीजे होते ज़रूर हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं। जितनी मानसिक शक्तियाँ हैं सबका क्रम भी नियत है और परिमाण भी नियत है। उसी क्रम और उसी परिमाण के अनुसार वे परिपक्वता को पहुँचती हैं। यदि उसी क्रम और उसी परिमाण को ध्यान मे रख कर शिक्षा दी गई तो उत्तम। यदि न दी गई तो हानि ज़रूर होती है। क्योंकि, यदि छोटी उम्र मे ऐसे पेचीदा और कठिन विषय सिखलाये गये, जो सहज ही मे लड़कों की समझ मे नहीं आ सकते, तो ऊँचे दरजे की मानसिक शक्तियो पर ज़रूर खिँचाव पड़ता है। अथवा यदि थोडी ही उम्र मे बहुत अधिक विद्याभ्यास कराया गया तो उस समय स्वाभाविक तौर पर बुद्धि

को जितना विकसित और उन्नत होना चाहिए उससे वह अधिक विकसित और उन्नत हो उठती है । इस अकालिक खिँचाव और अस्वाभाविक बुद्धि विकास से जो विशेष लाभ होता है उसके बदले उतनी ही, या उससे भी अधिक, हानि हुए बिना नहीं रहती ।

५६—शक्ति के ख़र्च का हिसाब रखने में प्रकृति बड़ी प्रवीण है ! एक काम में अधिक शक्ति ख़र्च करने से दूसरे काम में ख़र्च होनेवाली शक्ति को वह ज़रूर उतनी घटा देती है ।

इसका कारण यह है कि संसार में सब काम हिसाब से होते हैं । कोई बात ऐसी नहीं जिसका हिसाब न रहता हो । जिस मद मे जितना ख़र्च होने को है उसमे से यदि उससे अधिक तुम ले लोगे तो किसी दूसरी मद से उतना ही निकाल कर जमाख़र्च बराबर करना पड़ेगा । इसमे कभी भूल न होगी । क्योंकि हिसाब रखने मे प्रकृति अर्थात् कुदरत, बड़ी प्रवीण है । शरीर और मन की उन्नति के लिए जिस उम्र में जो चीज़े जितनी दरकार हैं वे यदि ठीक ठीक उतनी पहुँचाई जायँ और प्रकृति को अपने ही रास्ते पर चलने दिया जाय तो सब काम यथेष्ट होगा । इस अवस्था में प्रकृति की बदौलत मनुष्य के सब अङ्गों की बाढ़ बहुत करके बराबर होगी । परन्तु यदि तुम इस बात का आग्रह करोगे कि शरीर के किसी भाग की वृद्धि अकाल ही मे हो जाय, अथवा जितनी होनी चाहिए उससे अधिक हो जाय, तो वह थोड़ा बहुत अप्रसन्नता प्रकट करके—कुछ न कुछ एतराज़ करके—तुम्हारी बात को मान जरूर लेगी, परन्तु बीच ही में अधिक काम करने मे लगे रहने के कारण कोई न कोई और ज़रूरी काम उसे बे-किये ही छोड़ना पड़ेगा । इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि जीवन-व्यापार चलाने के लिए, मनुष्य के शरीर मे, हर घड़ी, जो शक्ति विद्यमान रहती है वह नियमित होती है । उसके नियमित होने के कारण यह बात बिलकुल ही असम्भव है कि जितना काम—जितना जीवन-व्यापार—उससे होना

चाहिए उससे अधिक लिया जा सके। अर्थात् जितनी शक्ति होगी उतना ही काम भी होगा। शक्ति नियमित होने से जीवन व्यापार भी नियमित होने चाहिए। लड़कपन और जवानी मे जीवन-व्यापार चलानेवाली इस शक्ति का बहुत अधिक ख़र्च होता है, और एक ही प्रकार से नहीं, अनेक प्रकार से होता है। जैसा कि पहले, कहीं पर, बतलाया जा चुका है, परिश्रम करने के कारण शरीर का कुछ अंश हर रोज क्षीण हो जाता है। उस क्षीणता को—उस कमी को—पूरा करना पड़ता है। विद्याभ्यास करने में हर रोज़ जो मानसिक श्रम पड़ता है उससे दिमाग़ थोडा बहुत ज़रूर कमजोर हो जाता है। उस कमज़ोरी को दूर करना पड़ता है। इसके सिवा शरीर और दिमाग़ को थोडा बहुत हर रोज बढना भी पड़ता है। इस बाढ के लिए भी सामग्री पहुँचानी होती है। इस तरह अनेक प्रकार से शरीर और दिमाग़ क्षीण हुआ करता है। इस क्षीणता की पूर्ति के लिए बहुत सा अन्न खाना पड़ता है। इस अन्न को हज़म करने के लिए भी बहुत सी शक्ति ख़र्च होती है। अब यदि इन कामो में से किसी एक काम में कुछ अधिक शक्ति ख़र्च कर दी जायगी तो उतनी ही शक्ति किसी और काम मे कम करनी पडेगी। शक्ति का जितना प्रवाह किसी तरफ अधिक हो जाता है उतना ही किसी और तरफ़ वह ज़रूर कम हो जाता है। यह ऐसी बात है कि शास्त्रीय रीति से भी सिद्ध है और हर आदमी के निज के तजरिबे से भी सिद्ध है। उदाहरणार्थ, सब आदमी इस बात को जानते हैं कि बहुत अधिक भोजन कर लेने से उसे हज़म करने के लिए इतनी अधिक शक्ति दरकार होती है कि शरीर और मन दोनो शिथिल हो जाते हैं। उनमें विलक्षण मन्दता आ जाती है—यहाँ तक कि उसक कारण आदमी को बहुधा नींद आ जाती है। इस बात को भी सब आदमी जानते हैं कि बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम, विचार या मनन शक्ति को घटा देता है। एक-दम अधिक परिश्रम का काम करने से शरीर अवसन्न हो जाता है और कुछ देर तक चुपचाप पडा रहना पड़ता है। इसी तरह दस पन्द्रह कोस लगातार चलने से इतनी थकावट आती है कि फिर कुछ करने को जी नहीं चाहता - फिर मानसिक मेहनत के कामो मे बिलकुल ही जी नहीं लगता। एक महीने तक

बराबर पैदल चलने से मानसिक शक्तियाँ यहाँ तक चीण हो जाती हैं कि उन्हे फिर अपनी पहली स्थिति में लाने के लिए कई दिन तक आराम करने की ज़रूरत पड़ती है। किसान आदमियो को देखिए। वे दिन रात खेती के काम में लगे रहते हैं। इस कारण उन्हे जन्म भर शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है। इन बातों को कौन नहीं जानता? हर आदमी इनसे परिचित है। फिर, एक बात और भी है। वह यह कि लड़कपन में कभी कभी लड़को की बाढ़ बहुत जल्द होती है। ऐसे समय मे लड़को की जीवनी शक्ति सब तरफ़ से खिँच कर बहुत अधिक ख़र्च हो जाती है। इस कारण उनका शरीर और मन यहाँ तक अवसन्न हो जाता है कि उठने को जी नहीं चाहता। यही इच्छा होती है कि पडेही रहे। इस बात को भी सब जानते हैं। भोजन करने के बाद यदि बहुत अधिक शारीरिक श्रम करना पडता है तो अन्न हज़म नहीं होता और लड़को को यदि बहुत छोटी उम्र में अधिक मेहनत के काम करने पड़ते हैं तो वे ठिँगने रह जाते हैं। इन उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि शक्ति का प्रतिकूल व्यवहार करने से ज़रूर हानि होती है। अर्थात् एक काम में शक्ति का अधिक ख़र्च हो जाने से दूसरे काम के लिए वह ज़रूर कम हो जाती है। इस प्राकृतिक नियम का असर जब बड़ी बड़ी बातों मे इतनी स्पष्टता से देख पड़ता है तब छोटी छोटी बातों मे भी थोड़ा बहुत ज़रूर देख पड़ना चाहिए। अर्थात् प्राकृतिक नियम अखण्डनीय हैं। उनका असर पड़े बिना नहीं रहता। शारीरिक शक्ति का अनुचित ख़र्च चाहे बार बार थोड़ा थोडा हो, चाहे एकही बार बहुत सा हो, हानि ज़रूर होती है। हानि से बचाव नहीं हो सकता। अतएव, लडकपन में, स्वाभाविक तौर पर जितना मानसिक श्रम लडके कर सकते हैं उससे अधिक यदि उनसे लिया जाय तो दूसरे कामों के लिए जो शक्ति दरकार होती है वह ज़रूर कम हो जायगी। ऐसा होने से किसी न किसी तरह की आपदायें भोगनी ही पड़ेंगी—कोई न कोई हानियाँ उठानी ही पड़ेंगी। आइए, इन आपदाओं का—इन हानियों का—थोड़े में विचार करें।

५७—दिमाग़ी मेहनत कुछ ही अधिक होने के नतीजे।

मान लीजिए कि दिमाग़ से जितना काम लेना चाहिए उससे थोड़ा ही अधिक लिया गया। इस थोड़ी सी अधिक दिमाग़ी मेहनत से सिर्फ़ इतनीही हानि होगी कि शरीर की बाढ़ में कुछ कमी आ जायगी। अर्थात् शरीर की ऊँचाई जितनी होनी चाहिए थी उससे कुछ कम रह जायगी; या डील-डौल में कुछ कमी आ जायगी; या शरीर के पुट्ठे ऐसे अच्छे न होंगे जैसे कि उचित दिमाग़ी मेहनत करने से होते हैं। इनमें से एक या एक से अधिक, कोई न कोई, बात ज़रूर होगी। इन हानियों में से कोई न कोई हानि ज़रूर ही भोगनी पड़ेगी। दिमाग़ी मेहनत करते समय दिमाग़ को अधिक रक्त पहुँचाना पड़ता है। इसके सिवा, इस तरह की मेहनत से दिमाग़ का जो अंश चीण होजाता है उसे पूरा करने के लिए, दिमाग़ी मेहनत हा चुकने के बाद भी, अधिक रक्त दरकार होता है। इस प्रकार जो रक्त अधिक ख़र्च हो जाता है वह दिमाग़ के लिए न था। यह वह रक्त था जिसे शरीर के और और भागों में अभिसरण करना था। परन्तु उसके दिमाग़ में ख़र्च हो जाने से, शरीर की जिस चीणता को पूरा करने या जिस बाढ़ के काम आने के लिए उसे सामग्री पहुँचानी थी, उसे पहुँचाने से वह असमर्थ हो गया। अतएव वह चीणता वैसे ही रह गई और वह बाढ़ भी न होने पाई। इस तरह शारीरिक शक्ति के दुरुपयोग से जो हानि होती है उसमें कोई सन्देह नहीं। वह ज़रूर ही होती है। तो अब विचार इस बात का करना है कि अस्वाभाविक रीति से दिमाग़ लड़ा कर जो अधिक शिक्षा प्राप्त की जाती है वह उस हानि के बराबर है या नहीं? अर्थात् इस तरह जो ज्ञान की अधिक प्राप्ति होती है वह शरीर के ठिँगने रह जाने—बीच ही में बाढ़ के बन्द हो जाने और शरीर की बनावट के पूर्णता को न पहुँचने,—से होने-वाली हानि का काफ़ी बदला है या नहीं। यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिए कि आदमी के पूरे ऊँचे होने और बदन की बनावट में किसी तरह की कमी न आने ही से शरीर में शक्ति और सहिष्णुता आती है।

५८—अधिक दिमाग़ी मेहनत से अधिक हानि, और, विकास और बाढ़ का पारस्परिक विरोध।

यदि मानसिक श्रम बहुत किया जाता है—यदि दिमाग़ से बहुत ज़ियादह मेहनत ली जाती है—तो और भी अधिक भयङ्कर परिणाम होते हैं। उससे शरीर ही की पूर्णता और बाढ़ नहीं मारी जाती, किन्तु खुद दिमाग़ की भी पूर्णता और बाढ़ को हानि पहुँचती है। प्राणिधर्म्म-शास्त्र के सिद्धान्तो के अनुसार बाढ़ और विकास मे परस्पर विरोध है। विकास से यहाँ पर मतलब शरीर के उपचय से—उसकी परिपक्वता से है। अर्थात् शरीर की बाढ़ और परिपक्वता एक साथ नहीं होती। बढ़ने की स्थिति मे शरीर के कोई अवयव परिपक्व नहीं होते और परिपक्व हो जाने पर फिर बढ़ते नहीं। फ़्रांस के विद्वान् एम० इसिडोर सेंट हिलेर ने इस सिद्धान्त को पहले पहल ढूँढ़ निकाला। इसके बाद लुइस साहब ने "सर्वाङ्ग और दीर्घाङ्ग मनुष्य" नामक जब लेख लिखा तब उन्होंने उसमे इस सिद्धान्त का हवाला दिया। इस सम्बन्ध मे 'बाढ़' शब्द का अर्थ आकार की अधिकता और 'विकास' का अर्थ 'बनावट की अधिकता' समझना चाहिए। 'विकास' (Development) का अर्थ अच्छी तरह ध्यान मे आने के लिए यदि उसकी जगह पर 'परिपक्वता' या 'उपचय' शब्द का प्रयोग किया जाय तो भी अनुचित नहीं। अब, नियम यह है कि इन दोनों स्थितियों मे से किसी एक स्थिति की अधिकता होने से दूसरी स्थिति में कमी ज़रूर आ जाती है। विकास अधिक होने से बाढ़ बन्द हो जाती है और बाढ़ अधिक होने से विकास को हानि पहुँचती है। रेशम के कीड़े मे इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। वह अपनी पहली, अर्थात् कैटरपिलर नामक, स्थिति मे बहुत बढ़ता है। उसके आकार की बेहद बाढ़ होती है। परन्तु उसके विकास या उपचय में कोई विशेष अन्तर नहीं देख पड़ता। जैसा वह बाढ़ पूरी होने के पहले रहता है प्रायः वैसा ही बाढ़ पूरी हो जाने पर भी मालूम होता है। जब यह कीडा अंडे से निकलता है तब इसकी लंबाई कोई पाव इंच होती है। पर थोड़े ही दिनों मे बढ़ कर वह तीन इंच लम्बा हो जाता है। जब

उसकी बाढ़ पूरी हो जाती है तब वह अपने मुँह से रेशम के धागे निकाल निकाल कर अपने ऊपर लपेटता है और उस रेशम का कोया बना कर उसके भीतर बन्द हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त होने पर उसकी बाढ़ बन्द हो जाती है; यही नहीं, किन्तु; उसका वजन भी घट जाता है। परन्तु उसके विकास में—उसके डील डौल की बनावट मे—अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देख पड़ती हैं। उसमें एक के बाद दूसरी विषमता झट झट पैदा होती जाती है। यह विरोधी भाव रेशम के कीड़े की तरह के छोटे छोटे कृमि-कीटकों मे जितनी स्पष्टता से देख पड़ता है उतनी स्पष्टता से बड़े बड़े जीवधारियों मे नहीं देख पड़ता, क्योंकि विकास और बाढ़, ये दोनों बातें, उनमें एक ही साथ हुआ करती हैं। परन्तु स्त्रियों और पुरुषों की इन स्थितियो का परस्पर मुक़ाबला करने से हमे यह पारस्परिक विरोध अच्छी तरह देख पड़ता है। लडकियों के शरीर और मन जल्द विकसित हो उठते हैं। इसी से लडकों की अपेक्षा उनके शरीर की बाढ़ जल्द बन्द हो जाती है। परन्तु लडकों के शरीर और मन के विकसित होने में कुछ देर लगती है। उनका विकास धीरे धीरे होता है। अतएव उनकी बाढ उतना जल्द नहीं बन्द होती; अधिक दिनों तक वह होती रहती है। जिस उम्र में लड़की तरुण होकर शरीर की परिपूर्णता को पहुँच जाती है और साथ ही उसकी सारी मानसिक शक्तियाँ भी परिपक्व हो जाती हैं उस उम्र मे लड़कों की जीवनी शक्तियाँ, शरीर का आकार बढ़ाने मे लगी रहने के कारण, उनके शारीरिक अवयवों का पूरा पूरा विकास नहीं होता। यह बात लड़कों के शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार के, अल्हड़पन से प्रकट है। यह नियम जुदा जुदा शरीर के हर एक अवयव और इन्द्रिय के विषय मे भी चरितार्थ है। और सारे शरीर के विषय मे भी। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर मे जिस तरह इस विषय के अनुसार सब बातें होती हैं उसी तरह हर एक अवयव मे भी होती हैं। सबके लिए एक ही नियम है। यदि कोई अवयव बहुत जल्द परिपक्वता को पहुँच जाता है तो अकाल ही में उसकी बाढ़ ज़रूर बन्द हो जाती है। यह बात जैसे और सब अवयवों के विषय मे घटित होती है वैसे ही मानसिक शक्तियो के विषय में भी घटित होती है। लड़कपन में दिमाग़ का

आकार अपेक्षाकृत बहुत बड़ा होता है, परन्तु वह अपरिपक्व दशा मे रहता है । यदि उससे अस्वाभाविक रीति से बहुत अधिक काम लिया जायगा तो उस उम्र में उसे जितना परिपक्व होना चाहिए उससे अधिक परिपक्व हो जायगा । अर्थात् अकाल ही में वह विशेष परिपक्वता को पहुँच जायगा । इसका फल यह होगा कि उसका आकार छोटा रह जायगा और उसमे जितनी शक्ति आनी चाहिए उतनी न आवेगी । अकाल ही मे परिपक्व अवस्था को पहुँचे हुए जो लड़के और नव-युवक पहले इतने तेज़ होते हैं कि किसी बात को कुछ समझते ही नहीं, कुछ दिनों के बाद उनकी तीव्रता के वहीं रह जाने और माँ-बाप की बड़ी बड़ी आशाओं के धूल मे मिल जाने का एक कारण—अथवा यों कहिए कि सबसे बड़ा कारण—यही है ।

५८—दिमाग़ से अधिक काम लेने से शरीर पर होनेवाले भयङ्कर परिणाम ।

शक्ति से बाहर शिक्षा देने के जिन परिणामों का हमने ऊपर ज़िक्र किया वे सचमुच ही बड़े भयङ्कर हैं । परन्तु इस तरह की शिक्षा से शरीर का जो नाश होता है— स्वास्थ्य को जो हानि पहुँचती है—उसके ख़याल से यह भयङ्करता कुछ भी नहीं है । इससे शरीर पर जो परिणाम होते हैं वे ऊपर वर्णन किये गये परिणामों की अपेक्षा बहुत ही भयङ्कर हैं । इससे शारीरिक स्वास्थ्य बिलकुल ही बिगड़ जाता है, शक्ति बेहद क्षीण हो जाती है, और एक प्रकार की उदासीनता छाई रहने से विचार-शक्ति भी मन्द पड जाती है । प्राणिधर्म्म-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली हाल की एक जाँच से यह मालूम हुआ है कि शारीरिक व्यापारों पर दिमाग़ का बहुत अधिक असर पड़ता है । इन्द्रियजन्य व्यापारों का दिमाग़ से बहुत घनिष्ठ ,सम्बन्ध है । दिमाग़ पर बहुत अधिक दबाव पड़ने से—मन से बहुत अधिक काम लेने से—अन्न-पाचन-शक्ति और रुधिराभिसरण को धक्का पहुँचता है । इससे शरीर के सारे इन्द्रिय-व्यापार बेतरह शिथिल हो जाते हैं । शरीर में वेगस नाम का एक ज्ञान-तन्तु है । उसका एक छोर दिमाग़ से लगा हुआ है, दूसरा आमाशय से । इसे छेड़ने—इसे त्रास देने—से क्या होता है, इस बात के

देखने का प्रयोग पहले पहल वेबर नाम के एक विद्वान् ने किया था। जिसने, हमारी तरह, वेबर की बतलाई हुई रीति से इस ज्ञान-तन्तु को छेड़ने का प्रयोग देखा है—अर्थात् जिसने यह देखा है कि इसे त्रास देने से रक्ताशय का व्यापार किस तरह बन्द हो जाता है; त्रास बन्द होने पर फिर किस तरह वह धीरे धीरे शुरू होता है, और फिर उसे छेड़ने से किस तरह तत्काल ही वह फिर बन्द हो जाता है—वह इस बात को अच्छी तरह समझ सकेगा कि दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेने से शरीर पर शैथिल्य उत्पन्न करनेवाला कितना असर पड़ता है। इस तरह जिन परिणामो का होना वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया गया है उनका प्रत्यक्ष प्रमाण हमे अपने प्रति दिन के तजरिबे मे मिलता है। विज्ञान जिन बातों की गवाही देता है वही बाते तजरिबे से हमे प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं। ऐसा एक भी आदमी न मिलेगा जिसका कलेजा—आशा, डर, क्रोध और आनन्द आदि मनोविकारो के उत्पन्न होने पर—न धड़का हो। कोई आदमी ऐसा न होगा जिसे यह तजरिबा न हुआ हो कि इन मनोविकारों के बहुत प्रबल होने पर रक्ताशय के व्यापार मे कितनी बाधा आती है। मनोविकारों के अतिशय उच्छृङ्खल होने से रक्ताशय का व्यापार बन्द होकर मूर्छा आने का तजरिबा यद्यपि बहुत कम आदमियों को होता है तथापि इस बात को हर आदमी जानता है कि मनोविकारों के प्राबल्य और मूर्छा में परस्पर कार्य्य-कारण-भाव ज़रूर है। अर्थात् मनोविकारों के अतिशय प्रबल होने ही से आदमी मूर्छित हो जाता है, इसे सब लोग ज़रूर जानते हैं। इस बात को भी प्रायः सब लोग जानते हैं कि मेदे मे जो ख़राबियाँ पैदा हो जाती हैं उनका कारण मानसिक विकारों की प्रबलता का एक निश्चित हद से आगे बढ़ जाना ही है। यह एक बहुत ही साधारण सी बात है कि अत्यन्त आनन्द अथवा अत्यन्त दुःख पहुँचने से भूख मारी जाती है। और आनन्दित होना या दुःख पाना मन का व्यापार है। यदि भोजन करने से थोड़ी ही देर बाद कोई बहुत ही आनन्ददायक या दुःखजनक बात होती है तो खाया हुआ अन्न बहुधा पेट में नहीं ठहरता और यदि ठहरता भी है तो बहुत मुश्किल से हज़म होता है। हर आदमी, जो अपने दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेता

है, इस बात की सचाई को अपने तजरिबे से साबित कर सकता है, कि किसी विषय मे बुद्धि को अतिशय लगाने से भी ऐसे ही परिणाम होते हैं। अतएव दिमाग़ और शरीर में परस्पर जो सम्बन्ध है वह जैसे इन बड़ी बड़ी बातों मे साफ़ साफ़ देख पड़ता है वैसे ही छोटी छोटी बातो मे भी देख पड़ता है। दिमाग़ को अल्पकालिक, परन्तु प्रबल, उत्तेजना पहुँचने से मेदे मे जैसे अल्पकालिक, परन्तु प्रबल, विकार पैदा हो जाते हैं, वैसे ही उसे थोड़ा, परन्तु देर तक, धक्का पहुँचने से मेदे में थोड़ा, परन्तु बहुत देर तक, विकार बना रहता है। इसे आप निरा अनुमान या तर्क न समझिए। यह बात सर्वथा सच है। इसकी सचाई का प्रमाण हर एक वैद्य या डाक्टर दे सकता है। हमें खुद इस बात का तजरिबा है, जिसे याद करके हमे बहुत रंज होता है। हमने खुद इस व्यथा को बहुत दिनों तक भोगा है। अतएव हम खुद भी इस बात के सच होने के प्रमाण हैं। बहुत दिनों तक शक्ति से अधिक मानसिक श्रम करने से अनेक प्रकार के न्यूनाधिक दुःखदायी रोग भोगने पडते हैं और उनसे थोड़ा बहुत बचने के लिए काम काज छोड़ कर बरसों बेकार बैठना पड़ता है। बहुत करके रक्ताशय ही अधिक बिगड़ता है—छाती धडका करती है और नाड़ी की चाल यहाँ तक मन्द हो जाती है कि एक मिनट में ७२ दफ़े की जगह उसकी चाल ६० तक गिर जाती है। और कभी कभी इससे भी कम हो जाती है। कभी कभी मेदा बिगड़ जाता है। इससे अजीर्ण पैदा हो जाता है और संसार मे जीना बोझ मालूम होने लगता है। कोई दवा कारगर नहीं होती। इसलिए अपने भाग्य पर भरोसा करके चुपचाप बैठना पड़ता है। बहुत आदमियों का तो मेदा भी ख़राब जाता है और रक्ताशय भी। उन बेचारो को दोनों व्यथाये साथ ही भुगतनी पड़ती हैं। बहुधा नींद अच्छी तरह नहीं आती और आती भी है तो कच्ची नींद मे आँख खुल जाती है। मन का थोड़ा बहुत उदास रहना तो एक मामूली बात है।

६०—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से होनेवाले शारीरिक विकार।

अच्छा तो अब इस बात का विचार कीजिए कि बहुत अधिक मानसिक

परिश्रम से दिमाग़ को उत्तेजित करने—उसे सन्ताप पहुँचाने—से लड़कों और नव युवकों को कितनी सख़्त तकलीफ़ उठानी पड़ती है। जितना काम दिमाग़ से लेना चाहिए उससे अधिक लेने से स्वास्थ्य को थोड़ा बहुत हानि पहुँचे बिना नहीं रह सकती। यदि उससे इतना अधिक काम न लिया गया—यदि उसे इतना परिश्रम न करना पड़ा—कि बहुत ज़ियादह हानि पहुँच कर कोई बीमारी पैदा हो जाय तो इतना तो ज़रूर ही होगा कि धीरे धीरे तबीयत बिगड़ती जायगी। इस तरह के श्रम से जो ख़राबियाँ पैदा होंगी वे बढ़ते बढ़ते शरीर को थोड़ा बहुत विकृत ज़रूर कर देंगी। भूख थोड़ी—सो भी देर मे लगने, अन्न अच्छी तरह हज़म न होने, रक्त का अभिसरण मन्द हो जाने से लड़कों का वर्तमान शरीर किस तरह पनप सकता है—किस तरह वह अच्छी तरह बढ़ सकता है? जीवन-सम्बन्धी जितने व्यापार हैं वे, शरीर में शुद्ध रक्त की यथेष्ट मात्रा होने ही से अच्छी तरह चल सकते हैं। शुद्ध रक्त की मात्रा शरीर मे यथेष्ट न होने से मांस-ग्रन्थियाँ अच्छी तरह नहीं बनतीं, अवयव अपना अपना काम अच्छी तरह नही कर सकते; ज्ञान-तन्तु, स्नायु, पुट्ठे, झिल्लियाँ और शरीर के अन्यान्य भागों की कमी अच्छी तरह पूरी नहीं हो सकती। जिस समय शरीर की बाढ़ हो रही है उस समय मेदा कमज़ोर हो जाने से यदि यथेष्ट रक्त न पैदा हुआ और जो पैदा भी हुआ वह अशुद्ध, और रक्ताशय के कमज़ोर हो जाने से इस थोड़े और अशुद्ध रक्त का अभिसरण बहुत ही धीरे धीरे होने लगा, तो इस बात का आप ही विचार कर लीजिए कि परिणाम कितना भयङ्कर होगा।

६१—लड़कों से बहुत सी बातें मार-कूट कर याद कराने से वे जल्द भूल जाती हैं। यही नहीं, इस तरह की शिक्षा से और भी अनेक हानियाँ होती हैं।

विद्याभ्यास मे बहुत अधिक मेहनत करने से आरोग्य को धक्का ज़रूर पहुँचता है—स्वास्थ्य ज़रूर बिगड़ जाता है। इस विषय मे जिन लोगों ने जाँच की है वे इस बात को क़बूल करते हैं। अतएव यदि ऐसे लोग इस प्रकार के परिश्रम को हानिकारी समझते हैं तो लड़कों के दिमाग़ में

बहुत सी शिक्षा ज़बरदस्ती भर देने की जो पद्धति आज कल जारी है उसे जितना ही दोष दिया जाय थोड़ा है। चाहे जिस तरह इसका विचार किया जाय, ऐसी पद्धति को जारी रखना बड़ी ही भयङ्कर भूल है। सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति से जहाँ तक सम्बन्ध है, इस भूल के होने में कोई सन्देह नहीं। क्योंकि शरीर की तरह मन भी किसी चीज़ को एक नियमित अन्दाज़ से अधिक नहीं ग्रहण कर सकता। अतएव जितनी देर में मन सिखलाई हुई बातों को अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है उससे अधिक जल्द जल्द यदि उसमें शिक्षणीय बातें ठूँसी जायँ तो वह उन्हें याद नहीं रख सकता। थोड़े ही समय में वे भूल जाती हैं। बुद्धि-रूपी पटल पर हमेशा के लिए अङ्कित हो जाने के बदले, जिस परीक्षा के पास करने के लिए वे याद कराई गई थीं उसे पास कर लेने के थोड़े ही दिन बाद, वे ध्यान से उतर जाती हैं। इस तरह बहुत सी बातें ज़बरदस्ती याद कराने से लड़कों का जी पढ़ने में नहीं लगता। इस कारण से भी यह शिक्षा-पद्धति सदोष है। बराबर लगातार मानसिक श्रम करने से होनेवाली अनेक प्रकार की पीड़ाओं की बदौलत, या बहुत अधिक श्रम करने से दिमाग़ के बिगड़ जाने के कारण, किताबों से घृणा हो जाती है। शिक्षा-पद्धति अच्छी होने से मदरसा छोड़ने पर अपना सुधार आपही आप होना चाहिए। परन्तु प्रचलित शिक्षा-पद्धति ऐसी बुरी है कि उसके कारण स्वयमेव सुधार होने के बदले बात बिलकुल ही उलटी होती है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति इसलिए भी दोष देने लायक़ है कि इसके कारण सब लोगों की समझ यह हो जाती है कि विद्या पढ़ लेना ही सब कुछ है—ज्ञानोपार्जन ही से सब काम हो जाता है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ज्ञान उपार्जन करके सबसे ज़रूरी बात उस ज्ञान को अपने में लीन कर लेना है, जो बहुत काल तक मनन के बिना नहीं हो सकता। साधारण तौर पर सब लोगों की बुद्धि की बाढ़ के विषय में जर्मनी का हम्बोल्ट नामक विद्वान् कहता है कि "जब किसी विषय की बहुत सी बातें एक साथ दिमाग़ में भर दी जाती हैं तब उस विषय के वर्णन का असर कम हो जाता है। अतएव सृष्टि-सौन्दर्य्य का ज्ञान अच्छी तरह नहीं होता—प्राकृतिक पदार्थों का मतलब ठीक ठीक समझ में नहीं आता"। यही बात

अलग अलग हर आदमी की बुद्धि की बाढ़ के विषय में भी कही जा सकती है। बहुत सी बातों का शुष्क ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश से सब बातें याद नहीं रहतीं। थोड़े ही दिनों मे वे भूल जाती हैं। उनके बोझ से दिमाग़ को व्यर्थ तकलीफ़ उठानी पड़ती है और धीरे धीरे बुद्धि मन्द हो जाती है। शरीर मे व्यर्थ बढ़नेवाली चर्बी की जैसे कोई क़ीमत नही, वैसे ही जो ज्ञान बुद्धि की चर्बी बन कर रहता है उसकी भी कोई क़ीमत नहीं। जो ज्ञान बुद्धि-रूपी शरीर का स्नायु बन कर रहता है उसी को क़ीमती समझना चाहिए। परन्तु, इस विषय में लोग जो भूल करते हैं वह और भी अधिक गम्भीर है—वह और भी अधिक सख़्त है। बहुत सी बातों को तोते की तरह रटाने से बुद्धि का बिलकुल ही विकास नहीं होता—बुद्धि की बिलकुल ही वृद्धि नहीं होती। परन्तु, यदि, इस तरह की शिक्षा से बुद्धि की वृद्धि होती भी तो भी हम उसे बुरी ही कहते। क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, इस रीति के अनुसार शिक्षा देने से शरीर की शक्ति का नाश हो जाता है। अतएव मदरसे में इतने परिश्रम से प्राप्त किये गये ज्ञान से मनुष्य को आगे सांसारिक काम-काज मे कोई लाभ नहीं होता। सांसारिक झंझटो मे जिस ज्ञान की इतनी ज़रूरत रहती है उसका यदि कोई उपयोग ही न हुआ तो उसके सम्पादन से क्या लाभ? शरीर ही अशक्त, अतएव बेकाम, हो जाता है। लाभ हो कैसे? जो अध्यापक सिर्फ विद्यार्थियों के मन को सुशिक्षित करने—उन्हे ज्ञान-प्राप्ति कराने—मे उत्सुकता दिखाते हैं, उनके शरीर की स्वस्थता या अस्वस्थता की परवा नहीं करते, उन्हें यह बात याद नहीं कि शरीर सशक्त होने ही से संसार के सब काम-काज हो सकते हैं। सांसारिक कामों में कामयाबी होना जितना शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है उतना बहुत सा ज्ञान दिमाग़ में भर लेने पर अवलम्बित नहीं। जो पद्धति दिमाग़ में ज़बरदस्ती ज्ञान को ठूँस कर शारीरिक बल का विनाश करती है वह आपही अपनी नाकामयाबी का कारण है। वह मानो अपने ही हाथ से अपने पैरो पर कुल्हाड़ी मारती है। शरीर मे यथेष्ट बल होने ही से दृढ निश्चय और बे थके हुए लगातार उद्योग करने की शक्ति पैदा होती है। और जिस आदमी में दृढ़ निश्चय है, और जो बराबर परिश्रम-पूर्वक काम-काज कर सकता है, उसे ज्ञान की कमी

तादृश हानि नहीं पहुँचा सकती। ऐसे आदमी की शिक्षा चाहे जितनी दोष-पूर्ण क्यों न हो, तथापि उसे अपने उद्योग-धन्धे में कामयाबी हुए बिना नहीं रहती। यदि शरीर की शक्ति क्षीण हुए बिना मतलब भर के लिए शिक्षा मिल गई, और दृढ़ निश्चय तथा सतत उद्योग, इन दोनों बातों की मदद पहुँच गई, तो दिन रात सिर-खपी करके प्राप्त की गई शिक्षा के बदौलत महा अशक्त विद्वानो के साथ चढ़ा ऊपरी करने में जीत हुए बिना नहीं रह सकती। जो लोग अपनी शरीर-सम्पदा को क्षीण न करके काफ़ी शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं वे यदि दृढ़ निश्चयवान् और उद्योगी हैं तो बड़े बड़े विद्वान् भी, अशक्त होने के कारण, काम-काज में उनसे पार नहीं पा सकते। जो यंजिन छोटा है और बनाया भी अच्छी तरह नहीं गया उससे यदि खूब ज़ोर से काम लिया जाय तो वह उस यंजिन से अधिक काम देगा जो बड़ा भी है और अच्छी तरह बनाया भी गया है, पर जो धीरे धीरे चलाया जाता है। यंजिन खूब अच्छा बनाने की कोशिश करने में उसके बाइलर (भभके या बवे) को ऐसा बिगाड़ देना कि उसके भीतर भाफ़ ही न बन सके, कितनी मूर्खता का काम है! आप ही कहिए, है या नहीं? यदि बिना भाफ़ के यंजिन चल ही न सकेगा तो उसकी खूबसूरती को लेकर क्या चाटना है। शिक्षा का वर्तमान तरीक़ा एक और कारण से भी सदोष है। वह यह है कि जो लोग इस तरीक़े से शिक्षा पाते हैं उनको यही नहीं समझ पड़ता कि उनका मङ्गल किस बात मे है— उनकी बेहतरी किस तरह हो सकती है। वे इस बात के जानने मे असमर्थ हो जाते हैं कि उनका सच्चा सुख या सच्चा हित किसमे है। ज़रा देर के लिए मान लीजिए कि इस तरीक़े से सांसारिक काम-काज में हानि के बदले हमेशा लाभ ही लाभ होता जायगा—नाकामयाबी की जगह हमेशा कामयाबी ही होती रहेगी—तो भी इसकी बदौलत जन्म भर के लिए शरीर का मिट्टी हो जाना क्या एक बहुत बड़ी हानि नहीं है? उस कामयाबी की गुरुता की अपेक्षा इस महाहानि की गुरुता क्या अधिक नहीं है? यदि आदमी हमेशा बीमार ही बना रहा तो सम्पत्ति किस काम की? सम्पत्ति के साथ साथ बीमारी बनी रहने से सम्पत्ति का उपयोग ही नहीं हो सकता। उस नामवरी की क़ीमत ही कितनी जिसके कारण आदमी विक्षिप्त हो जाय

या जन्म भर उदास और म्रियमाण दशा में अपने दिन काटे ? अच्छी तरह अन्न हज़म होना, नाड़ी का ख़ूब धड़ाके से चलना, चित्त-वृत्ति का हमेशा उल्लसित रहना, सचमुच ही सच्चे सुख के कारण हैं। इनके मुक़ाबले मे बाहरी सुख या लाभ कोई चीज़ नहीं। यदि ये नहीं, तो करोड़ों की सम्पत्ति और दिगन्त-व्यापी नाम व्यर्थ हैं। ये ऐसी बातें हैं कि इनके गौरव के सम्बन्ध में किसी को सबक़ देते बैठने की जरूरत नहीं। किसी रोग से चिरकाल पीडित रहने से बड़ी से बड़ी आशाओं पर पानी पड़ जाता है—वे निराशा के अन्धकार मे लोप हो जाती हैं। परन्तु शरीर नीरोग और सशक्त होने से मन मे एक प्रकार की जो प्रफुल्लता रहती है उसके कारण आदमी बड़े बड़े अरिष्टो की भी परवा नहीं करता। तो हम इस बात पर ज़ोर देकर कहते हैं कि यह अतिशिक्षण की रीति हर तरह से दूषित है—

(१) यह इसलिए दूषित है कि इसके योग से प्राप्त किया गया ज्ञान बहुत जल्द भूल जाता है।

(२) यह इसलिए दूषित है कि इसके कारण आदमी ज्ञान-सम्पादन से घृणा करने लगता है।

(३) यह इसलिए दूषित है कि इससे ऊपर ही ऊपर का ज्ञान-सम्पादन होता है। पर सम्पादित ज्ञान को अपने में लीन करने की तरफ़, जो अधिक महत्त्व का काम है, आदमी का ध्यान ही नहीं जाता।

(४) यह इसलिए दूषित है कि इसके कारण वह शारीरिक शक्ति, जिसके बिना प्राप्त की हुई शिक्षा का कोई उपयोग ही नहीं हो सकता, कम किंवा बिलकुल ही नष्ट हो जाती है।

(५) यह इसलिए दूषित है कि इससे स्वास्थ्य यहाँ तक बिगड़ जाता है कि यदि सांसारिक उद्योग-धन्धे मे कामयाबी भी हुई, तो भी, आदमी सुखी नहीं होता, और यदि नाकामयाबी हुई तो दुःख दूना हो जाता है।

६२—वर्तमान शिक्षा-पद्धति से स्त्रियों को जो हानि पहुँचती है वह और भी भयङ्कर है।

दिमाग़ में इस तरह ज़बरदस्ती बहुत सी शिक्षा ठूँसने का नतीजा

मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए, सम्भवतः और भी अधिक हानिकारी है। बहुत अधिक विद्याभ्यास से होनेवाली हानियों को लड़के आनन्ददायक और शक्तिवर्धक खेल-कूद से कम कर देते हैं। परन्तु लड़कियों के लिए इस तरह के खेल-कूद की मनाई है। वे दौड़ धूप के खेल नहीं खेलने पातीं। इस कारण लड़कियों को इस शिक्षा-पद्धति की हानियाँ पूरे तौर पर भोगनी पड़ती हैं। इसी से पढ़ी लिखी स्त्रियों में नीरोग और पूर्ण बाढ़ पाई हुई मज़बूत स्त्रियाँ बहुत ही कम देख पड़ती हैं। लन्दन मे अमीर आदमियों की बैठकों में अनेक पाण्डुवर्ण, कूबड़ निकली हुई, कुरूप और अपरिस्फुट अवयववाली तरुण स्त्रियाँ देख पड़ती हैं। यह खेलने कूदने की मनाई करके, निर्दयता से दिन रात दिमाग़ में शिक्षा को ज़बरदस्ती भरने का नतीजा है। यदि उन्हे खेलने कूदने दिया जाता और उनके दिमाग़ पर शिक्षा का इतना बोझ न डाला जाता तो उनकी कभी इतनी बुरी दशा न होती। उनकी विद्वत्ता, कुशलता और व्यवहार-चातुर्य्य का सांसारिक कामों मे जितना उपयोग होता है, शरीर के रोगी हो जाने से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उनका संसार-सुख मिट्टी मे मिल जाता है। माताओ की यह इच्छा रहती है कि उनकी बेटियाँ ऐसी प्रवीण हो जायँ कि लोग उन्हें देखते ही लट्टू हो जायँ। इसी लिए वे उनके स्वास्थ्य की कुछ भी परवा न करके उन्हे खूब शिक्षित बनाती हैं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। शरीर के आरोग्य का नाश करके मन को शिक्षित बनाने के इस तरीक़े से बढ़कर हानिकारी तरीक़ा शायद ही और कोई हो। वे या तो इस बात के जानने की परवा नहीं करतीं कि पुरुषों की रुचि कैसी है—उनकी पसन्द किस तरह की है—या इस विषय में उनका निश्चय ही ठीक नहीं है। स्त्रियों की विद्वत्ता की बहुत ही कम परवाह पुरुष करते हैं। उनकी सुघरता, उनके सुस्वभाव और उनकी सदसद्विचार-शक्ति ही की वे ज़ियादह परवाह करते हैं। बतलाइए तो सही, एक पढ़ो लिखी भले घर की अविवाहित तरुणी अपने अप्रतिम इतिहास-ज्ञान की बदौलत कितने पुरुषों को मोहित कर सकती है? इटली की भाषा मे पारदर्शिता प्राप्त करने ही के कारण क्या किसी स्त्री के प्रेम मे कभी कोई पुरुष पागल हुआ है? क्या ऐसा भी कोई प्रेमी देखा गया है जो

अपनी प्रेयसी के जर्मन-भाषा के पाण्डित्य को देख कर ही उसका दास हो गया हो ?

"बिम्बोष्ठी चारुनेत्रा गजपतिगमना दीर्घकेशी सुमध्या"

कामिनियों को देख कर पुरुष उन पर आसक्त होते हैं। सुघर और सुन्दर शरीर पर ही मोहित होने से पुरुषों की दृष्टि कमनीय कामनियों की तरफ़ खिँचती है। शरीर नीरोग होने से स्त्रियों का चित्त हमेशा प्रसन्न रहता है; उनकी चित्त-वृत्ति हमेशा उल्लसित रहती है, उनकी बातचीत मे एक प्रकार की विशेष मोहकता आजाती है। इन्हीं गुणों के कारण पुरुष स्त्रियों से प्रेम करते हैं। प्रेम-सम्पादन मे यही गुण सहायता देते हैं। और किसी गुण की परवा न करके, सिर्फ़ उनके सुन्दर और सुघर रूप पर मोहित होकर स्त्रियों के प्रेमपाश मे फँसनेवाले पुरुषों के उदाहरण, कौन ऐसा है जिसने नहीं देखे ? परन्तु स्त्रियों के सुस्वभाव और सुन्दर रूप को तुच्छ समझ कर सिर्फ़ उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनके प्रेम के भिखारी बननेवाले एक भी पुरुष का [illegible]ाहर शायद कोई न दे सके। सच तो यह है कि न्यूनाधिक भाव मे बहुत से मनोविकारों के मेल से पुरुष के हृदय मे प्रेम-नामक जो मिश्रित विकार पैदा होता है, उसमे शरीर-सौन्दर्य्य के दर्शन से पैदा हुए मनोभाव ही विशेष प्रबल होते हैं। उनसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो सदाचरण-सम्बन्धी सद्व्यवहारो को देख कर पैदा होते हैं। और, सबसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो विद्वत्ता इत्यादि बुद्धि-विषयक बातों को देख कर पैदा होते हैं। ये पिछले मनोभाव स्त्रियों के विद्वत्त्व और ज्ञान पर उतना अवलम्बित नहीं रहते जितना कि उनकी तीव्र बुद्धि, उनकी कल्पना-शक्ति और उनके परिज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। यदि कोई महाशय हमारे इस कथन को अपमानजनक खयाल करें और यह कहे कि स्त्रियो की ऐसी ऐसी तुच्छ बातो पर भूल कर पुरुषो का उन पर आसक्त होना बतलाना उनकी निन्दा करना है, तो हम उनको यह कह कर उत्तर देगे कि ईश्वरीय नियमों मे इस तरह दोषोद्भावना करना मानों अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जो लोग इस तरह के ख़याल रखते हैं वे यही नहीं जानते कि वे कह क्या रहे हैं—वे अपनी बातों का मतलब ही अच्छी

तरह नहीं समझे। जितनी ईश्वरीय योजनायें हैं—जितने ईश्वरीय नियम हैं—उनका अभिप्राय यदि ठीक ठीक समझ में न भी आवे तो भी निःशङ्क होकर हम इस बात को कह सकते हैं कि उनका कोई न कोई बहुत ही अच्छा उपयोग ज़रूर होता होगा। स्त्रियों की सुस्वरूपता आदि के विषय में जो लोग अच्छी तरह विचार करेंगे उनकी समझ मे तत्सम्बन्धी ईश्वरीय योजनाओं का मतलब भी ज़रूर आ जायगा। प्रकृति का एक उद्देश—अथवा यह कहिए कि सबसे प्रधान उद्देश—भावी सन्तति के कल्याण की सामग्री प्रस्तुत कर देना है। परन्तु बहुत सी शिक्षा प्राप्त करने से बुद्धि यदि संस्कृत या प्रगल्[illegible] भी हो गई, तो भी, शरीर रोगी रहने के कारण उस बुद्धि का बहुत [illegible] उपयोग हो सकता है। इस तरह की बुद्धि का प्रभाव दो ही एक [illegible] नष्ट हो जाता है, क्योंकि रोगी आदमियों की सन्तति इसके आगे [illegible] पीढ़ी रह सकती। विपरीत इसके, शरीर यदि सुदृढ़ और रो[illegible] [illegible] न हो जीत मानसिक शिक्षा चाहे जितनी थोड़ी हो—विद्या की प्राप्ति [illegible] [illegible] है तो की गई हो—सन्तति की उत्पत्ति तो बराबर होती र[illegible] [illegible] हैं। [illegible]तनी, शरी[illegible] को नीरोग बनाये रखने की बड़ी ज़रूरत है। क[illegible]ण, उसकी बदौलत भावी पीढ़ियो मे विद्या की अनन्त वृद्धि की जा सकती है। इन [illegible]ओं का विचार करने से जिन ईश्वरीय योजनाओं का हमने ऊपर उल्लेख किया उनका महत्त्व अच्छी तरह ध्यान में आ जाता है। पूर्वोक्त ईश्वरीय योजनाओं के अनुसरण से जो लाभ होता है उसे यदि हम हिसाब मे न भी ले, तो भी, जो मनोवृत्तियाँ आज तक एक सी चली आती हैं उनकी अवहेलना करके, लड़कियों की स्मरण-शक्ति पर बेहद बोझ लाद कर उनके शरीर का सत्या-नाश करना ज़रूर पागलपन है। आप जितनी ऊँची शिक्षा चाहिए दीजिए। जितनी ही अधिक आप शिक्षा देंगे उतना ही अच्छा होगा। परन्तु शिक्षा से शरीरारोग्य का नाश करना उचित नहीं। यहाँ पर, लगे हाथ, हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि तोते की तरह रटाने की तरफ़ कम, पर सदय होकर बुद्धि को सुशिक्षित करने की तरफ़ अधिक, ध्यान दिया जाय, और मदरसा छोड़ने और विवाह होने के बीच का समय जो व्यर्थ जाता है उसमें शिक्षा का क्रम जारी रक्खा जाय, तो लड़कियाँ काफ़ी तौर पर ऊँची

दरजे की शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। परन्तु इस तरीक़े से शिक्षा देना, या इतनी अधिक शिक्षा देना, कि शरीर किसी काम ही का न रहे मानों जिस निमित्त इतनी मेहनत, इतना ख़र्च और इतनी फ़िक्र उठानी पड़ती है उस निमित्त ही को—उस हेतु ही को—जड से उखाड़ फेंकना है। लड़कियों से बहुत अधिक विद्याभ्यास करा कर माँ-बाप उनके सारे सांसारिक सुखों और सारी आशाओं पर अक्सर पानी डाल देते हैं। अधिक विद्याभ्यास से वे उनके शरीर को क्षीण करके उसके साथ ही वे उन्हें अनेक प्रकार के क्लेश, अशक्तता और उदासीनता ही के दुःख भोग करने को विवश नहीं करते; बहुधा उनके नैरोग्य को यहाँ तक बरबाद कर डालते हैं कि उन को जन्म भर अविवाहित रहना पड़ता है।

३—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के चार दोष और जीवनी शक्ति के ख़र्च का हिसाब।

[illegible] से यह बात सिद्ध है कि बच्चों की शारीरिक शिक्षा-पद्धति में अनेक [illegible] और बड़े बड़े दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि [illegible] भर खाने [illegible] नहीं दिया जाता। दूसरा दोष यह है कि उन्हें अच्छी तरह कपड़ा पहनने को नहीं मिलता। तीसरा दोष यह है कि उनसे (कम से कम लड़कियों से) काफ़ी तौर पर व्यायाम नहीं कराया जाता। चौथा दोष यह कि उनसे बहुत अधिक मानसिक श्रम लिया जाता है। इस शिक्षा-पद्धति की सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि यह बहुत सख़्त है। इसके कारण बच्चों को शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करना पड़ता है। यह पद्धति माँगती बहुत है, पर देती बहुत थोड़ा है। अर्थात् परिश्रम बहुत करना पड़ता है, पर लाभ कम होता है। इसकी बदौलत बच्चों की जीवनी शक्ति की इतनी खींच खाँच होती है कि बहुत छोटी उम्र में ही उन्हे वयस्क आदमियों से भी ज़ियादह काम करना पड़ता है। गर्भस्थ बालक की सारी जीवनी शक्ति उसकी बाढ़ में ख़र्च होती है। छोटे छोटे बच्चों की भी जीवनी शक्ति उनकी बाढ ही में विशेष ख़र्च होती है—वह यहाँ तक अधिक ख़र्च होती है कि शारीरिक और मान-

उतनी ही अधिक क़ीमती भी है। हर एक बात का उपयोगीपन ही उसकी क़ीमत की माप है। यदि कोई आकर तुमसे कहे कि तुम्हारे पड़ोसी की बिल्ली या कुतिया ने कल बच्चे दिये तो तुम कहोगे कि दिये होंगे; हमको इससे क्या ? आपकी यह ख़बर व्यर्थ है। इससे हमे क्या फ़ायदा ? इसका हमे क्या उपयोग ? यद्यपि यह भी एक घटना है, और सही घटना है, तथापि तुम इसे बिलकुल ही व्यर्थ समझोगे। सासारिक व्यवहारों से इसका कुछ भी सरोकार नहीं। तुम्हारी ज़िन्दगी के कर्तव्य कामो पर इस घटना का कुछ भी असर नहीं हो सकता। यह एक ऐसी घटना है जो तुमको अपनी ज़िन्दगी को पूरे तौर पर सार्थक करने मे किसी तरह की मदद नही दे सकती। अच्छा, तो आप इसी उपयोग-विषयक कसौटी से ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी काम लीजिए। इसी कसौटी पर कस कर उनकी भी क़दर और क़ीमत निश्चित कीजिए। ऐसा करने से हम जो कुछ कह रहे हैं वह आपको ज़रूर सच मालूम होगा—वह आपके ध्यान मे ज़रूर आ जायगा। इतिहास में जो घटनायें बयान की जाती हैं उनका कार्य्य-कारण-भाव नही दिखलाया जाता, उनमे परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बतलाया जाता। इससे उन घटनाओं के—उन बातों के—आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर नही किया जा सकता। जितनी घटनायें हैं उनका एक-मात्र उपयोग यह है कि उनकी मदद से हम अपने चालचलन-सम्बन्धी, हम अपने सांसारिक व्यवहार-सम्बन्धी, नियम निश्चित कर सकें; हम यह जान सकें कि हमें किस तरह का चाल-चलन अख़्तियार करना चाहिए—किस तरह का व्यवहार पसन्द करना चाहिए। परन्तु इन ऐतिहासिक घटनाओं से हमे इस तरह की कोई शिक्षा नही मिलती; इनकी मदद से हम इस तरह का कोई नियम निश्चय नही कर सकते। अतएव इनका जानना व्यर्थ है; ये हमारे किसी उपयोग की नहीं। हां, ऐतिहासिक घटनाओं को यदि आप दिल बहलाने के लिए पढ़ना चाहें—मनोरञ्जन के लिए पढ़ना चाहें—तो ख़ुशी से पढ़ सकते हैं। परन्तु इस बात की आप व्यर्थ आशा न करें—आप अपने दिल को व्यर्थ न फुसलावें—कि वे आपके किसी काम भी आ सकती हैं। उनसे आपका कोई काम नहीं निकल सकता। वे आपके किसी उपयोग की नहीं।
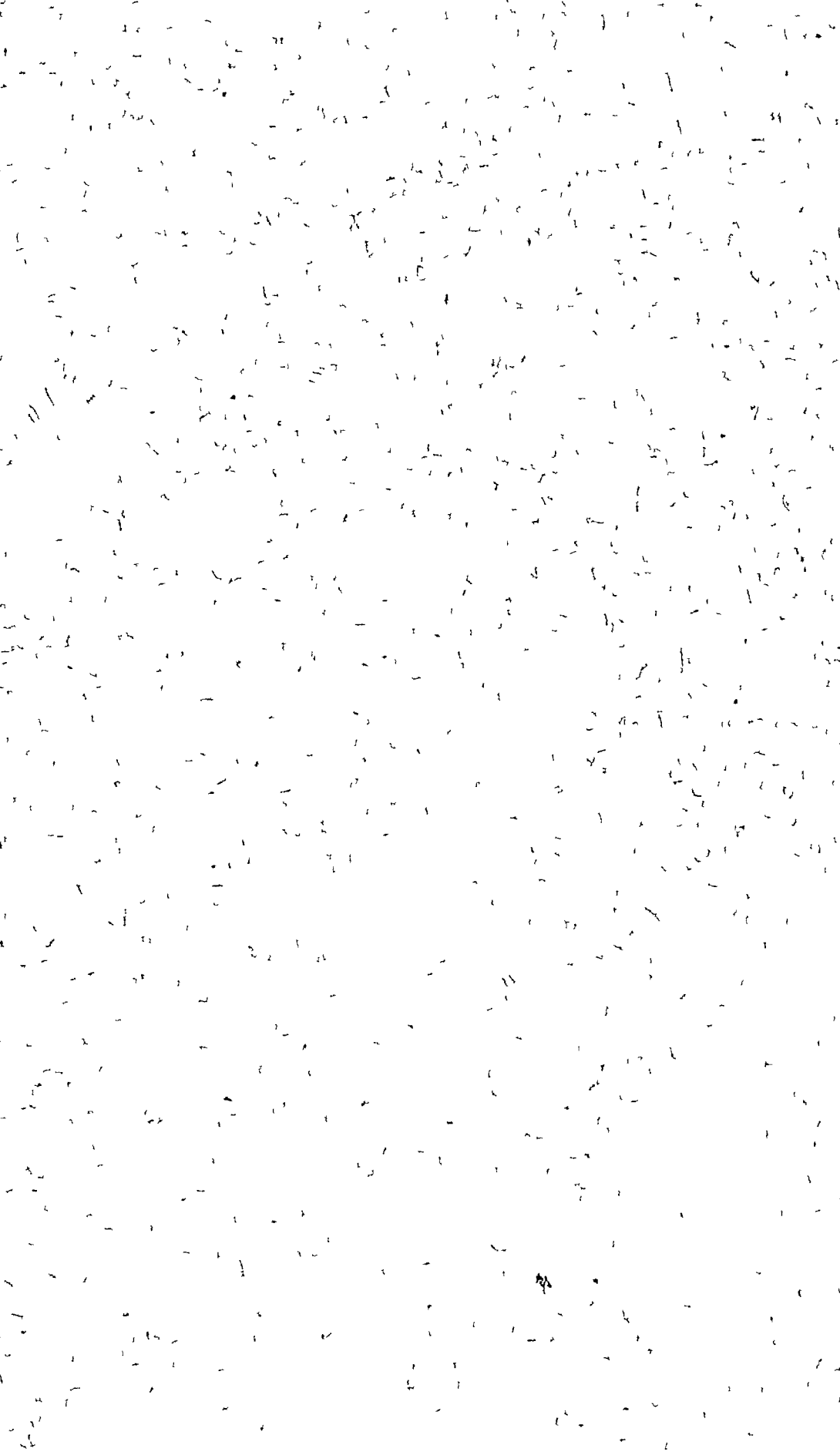
५२—इतिहास की पुस्तकें कैसी होनी चाहिएँ; उनमें किस तरह की बातों का होना ज़रूरी है।

यथार्थ मे जिन बातों का नाम इतिहास है वे बातें इतिहास-विषयक पुस्तकों में बहुत करके छोड़ दी जाती हैं। वे वहाँ फटकने ही नही पातीं; निकाल बाहर की जाती हैं। हाँ, अब कुछ दिनों से, इतिहास लिखने-वालों ने, सच्ची सच्ची उपयोगी बातें, अधिकता के साथ, लिखनी शुरू की हैं। पुराने ज़माने मे लोगो का यह ख़याल था कि राजा ही सब कुछ है, प्रजा कोई चीज़ नहीं। इससे पुराने इतिहास बहुत करके राजाओ की ही बातों से भरे हुए हैं, प्रजा के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें—देश की दशा से सम्बन्ध रखनेवाली घटनायें—उनमे बहुत कम हैं, और हैं भी तो कहीं किसी अँधेरे कोने मे पड़ी हुई हैं। पर अब समय ने पलटा खाया है। अब लोग समझने लगे हैं कि राजा के कल्याण की अपेक्षा प्रजा का कल्याण अधिक महत्त्व का है, इससे प्रजा के कल्याण की तरफ़ लोगो का ध्यान अधिक खिँचने लगा है और इतिहास के लेखक प्रजा की तरक्क़ी से सम्बन्ध रखनेवाली घटनायें अधिकता से लिखने लगे हैं। जिसका जानना हमारे लिए बहुत ज़रूरी है वह जन-समूह का स्वाभाविक इतिहास है। जनसमूह, जनसाधारण या प्रजा-वर्ग की दशा मे कैसे कैसे फेरफार हुए, उसमे क्या क्या विशेषतायें थीं, किस बात का क्या नतीजा हुआ, यही बातें हैं जिनका जानना और जान कर जिनसे शिक्षा लेना हमारे लिए ज़रूरी है। हमे उन सब घटनाओं को जानना चाहिए जिनकी मदद से हम यह शिक्षा प्राप्त कर सकें कि किस तरह से किस देश की उन्नति हुई और किस तरह से किस जाति ने अपनी जातीयता स्थापित की। इन सब घटनाओं के वर्णन मे राज्य-व्यवस्था का भी वर्णन रहे—बेशक रहे—पर उसके अधिकारियों के विषय की बेसिरपैर की बातें जितनी कम हों उतना ही अच्छा। इस व्यवस्था-वर्णन में राज्य के आकार, गठन, बुनियाद या बनावट का, उसके नियमों और सिद्धान्तों का, उसकी परिपाटी अर्थात् तौर-व-तरीक़े का, उसके दुराग्रह और मिथ्या विश्वासों का, और उसकी भ्रष्टता, दुष्कृत्य और घूसखो

आदि का जहाँ तक हो सके, ख़ूब विस्तृत विचार होना चाहिए। इसमें सार्वभौम राज-सत्ता के—प्रधान गवर्नमेंट के—प्रकार या क़िस्म और उसकी कारवाइयों का ही वर्णन न होना चाहिए, किन्तु, इन विषयों मे, हर एक प्रान्त की स्थानिक गवर्नमेंटों और उनकी शाखा-प्रशाखाओं का भी वर्णन ज़रूर होना चाहिए। इसके साथ साथ धर्म-सम्बन्धी बातो का भी वर्णन ज़रूर रहे, उसमे यह दिखलाया जाय कि धार्मिक सत्ता की स्थिति कैसी थी, धर्माधिकारी पुरुषो का चालचलन कैसा था, उनको अधिकार क्या क्या प्राप्त थे, और राजसत्ता से धार्म्मिक सत्ता का सम्बन्ध कैसा था। इतना ही नही, किन्तु इन बातों के साथ साथ यह भी बतलाया जाय कि लोगों के धार्म्मिक विचार कैसे थे, पन्थ कौन कौन से प्रचलित थे, धार्म्मिक विश्वास किस तरह के थे और धार्म्मिक रीति-रस्में किस प्रकार की थीं। सिर्फ़ उन्ही धार्म्मिक विचारों का वर्णन न रहे जिन पर लोगोंका नाम-मात्र के लिए विश्वास हो, किन्तु उन विचारों का भी वर्णन रहे जिन पर लोगों का सच्चा विश्वास हो और जिनके अनुसार वे व्यवहार भी करते हों—जिनके अनुसार वे चलते भी हों। इसके साथ ही नमस्कार, प्रणाम, रामराम और सलाम आदि के तरीके, चिट्ठियो मे प्रयोग की गई सिरनामे और सम्बोधन आदि की रीतियाँ और मान-मर्य्यादा के अनुसार ख़िताबों के प्रकार इत्यादि सामाजिक बातों का वर्णन करके यह भी बतलाया जाय कि एक समुदाय के लोगो को दूसरे समुदाय के लोगों पर कहाँ तक प्रभुत्व प्राप्त था। यह भी हमे मालूम होना चाहिए कि सब लोगो में, घर के भीतर और बाहर, इनके सिवा और कौन कौन से आचार-विचार या रीति-रवाज प्रचलित थे, जिनके अनुसार वे अपने व्यवहार-सम्बन्धी काम करते थे। इन रीति-रस्मो के वर्णन में यह भी दिखलाया जाना उचित है कि स्त्री-पुरुषो का तथा माँ-बाप और सन्तान का सम्बन्ध परस्पर कैसा था। प्रसिद्ध पौराणिक कथाओ से लेकर प्रचलित यन्त्र, मन्त्र और टोटकों तक का ज़िक्र करके लोगों के दुराग्रहों और मिथ्याविश्वासों का भी हाल लिखा जाना चाहिए। इसके बाद देश के कल-कारख़ानों और दूसरी औद्योगिक बातों का वर्णन होना चाहिए जिससे यह मालूम हो जाय कि श्रम का कहाँ तक विभाग किया गया था—कौन कौन

लोग किस किस तरह की मेहनत के काम कहाँ तक करते थे, बनिज-व्यापार की क्या अवस्था थी—जाति के अनुसार थी, या कम्पनियाँ खड़ी करके की गई थी, या और किसी तरीके पर थी; स्वामी और सेवक में परस्पर कैसा सम्बन्ध था; माल भेजने और मँगाने के क्या साधन थे—माल मँगाया किस तरह जाता था और भेजा किस तरह; लोगों के आने-जाने और चिट्ठी-पत्री भेजने का क्या प्रबन्ध था, और लेन-देन मे किस तरह के सिक्के का चलन था। इन बातों का वर्णन करते समय कलाकौशलों का भी हाल, उनकी कला-सम्बन्धिनी योग्यता के अनुसार, लिखना चाहिए और यह भी बतलाना चाहिए कि माल किस तरह तैयार किया जाता था और वह कैसा होता था। इन बातों के सिवा इस विषय की भी तसवीर उतारनी चाहिए कि सब लोगो की बुद्धि की क्या दशा थी, वे कहाँ तक सज्ञान थे, कौन विद्या कितनी सिखलाई जाती थी· वैज्ञानिक विषयों मे लोगों को कहाँ तक शिक्षा मिलती थी, और उनके ख़यालात किस तरह के थे—उनके विचारों का झुकाव किस तरफ़ को था। स्थापत्य (अर्थात् घर बनाने की) विद्या, पत्थर लकड़ी या धातु पर नक़ाशी के काम, पोशाक चित्रकारी गाना-बजाना, कविता और उपन्यास आदि का वर्णन करके यह भी दिखलाना चाहिए कि कल्पकता, ललित-कला और मनोरञ्जन की बातों में लोगों की कहाँ तक गति थी और उनकी रुचि कैसी थी। इस बात की समालोचना करना भी न भूलना चाहिए कि लोगो के रहने का ढंग कैसा था, किस तरह वे अपना जीवन-निर्वाह करते थे, उनकी दिनचर्य्या कैसी थी, उनके खाने-पीने के पदार्थ, उनके घर-द्वार, उनके खेल-तमाशे कैसे थे। इन सबका भी वर्णन होना चाहिए। और, अख़ीर में, क़ायदे-क़ानून, स्वभाव, रीति-रस्म, कहावते और व्यावहारिक कामों का वर्णन करके यह बतलाना चाहिए कि हर एक स्थिति आदमियों के मानसिक और नैतिक विचार कैसे थे और व्यवहार में वे कैसा वर्ताव करते थे—किस नीति से काम लेते थे। फिर इन सब बातों का परस्पर सम्बन्ध दिखलाना चाहिए। ये सब बाते, जहाँ तक हो सके, थोड़े में, सही सही, लिखी जायँ और इस तरह लिखी जायँ कि पढ़नेवाले उन्हे अच्छी तरह समझ जायँ। ये बातें

इस तरह इकट्ठी की जायँ और क्रम से रक्खी जायँ कि सब बातों के एकदम ध्यान में आने मे बाधा न हो, पढ़ते समय वे एक दूसरी से सम्बद्ध मालूम हों, यह न जान पड़े कि जिन बातों का वर्णन हुआ है उनके समुदाय से कोई बात अलग है। सबमे परस्पर-सापेक्षता रहे और उनका वास्तविक ऐक्य दर्शित हो। लिखनेवाले का अभिप्राय यह होना चाहिए कि जिन बातों को वह अपने इतिहास मे जगह दे उनके पारस्परिक सम्बन्ध का चित्र पढ़नेवाले के हृत्पटल पर सहज मे खचित हो जाय और उसे यह मालूम हो जाय कि लोक-स्थिति की अमुक अवस्था होने से अमुक अमुक बाते होती हैं। मतलब यह कि कार्य्य-कारण-भाव खूब समझ मे आ जाना चाहिए। समय समय की लोक-स्थिति का वर्णन इस तरह किया जाना चाहिए जिससे यह साफ़ साफ़ मालूम हो जाय कि लोगो के मत, विश्वास, चालचलन, रीति-रस्म, क़ायदे-क़ानून आदि में किस तरह फेरफार होते गये और पहली पीढ़ी के सामाजिक ढाँचो और व्यवसायों ने किस तरह अगली पीढ़ो के सामाजिक ढाँचों और व्यवसायों का रूप धारण किया। नागरिक आदमी को—जनसमुदाय के मेम्बर को—इस बात की शिक्षा ग्रहण करने के लिए, कि सार्वजनिक कामों मे उसे किस तरह का वर्ताव करना चाहिए, ऐसे ही ऐतिहासिक वर्णन की ज़रूरत है। इसी तरह के वर्णन या प्रतिपादन से उसे लाभ हो सकता है और किसी तरह के वर्णन या प्रतिपादन से नहीं। जिस इतिहास मे समाज की स्थिति, अवस्था और उसके दशा-परिवर्तन का वर्णन होगा, व्यवहार में वही लोगो के काम आवेगा—व्यवहार-दृष्टि से उसी का आदर होगा। सबसे बड़ा महत्त्व का काम, जो इतिहासकार कर सकता है, यह है कि वह जुदा जुदा देशों और जातियों का ऐसा इतिहास लिखे—ऐसा वर्णन करे—जिससे जुदा जुदा समय की लोक-स्थिति के हिसाब से उन उन देशों और जातियों की परस्पर तुलना हो सके, और आगे के लिए इस बात का निश्चय हो सके, कि जिन नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार जन-समुदाय की स्थिति में परिवर्तन होता है वे क्या हैं।

५३—इतिहास की कुंजी विज्ञान है; बिना वैज्ञानिक ज्ञान के अच्छे इतिहास का भी तादृश उपयोग नहीं हो सकता।

पर, इस विषय मे एक बात पर ध्यान देना अभी बाक़ी है। मान लीजिए कि इस सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान का ख़ज़ाना, मतलब भर के लिए, आपने प्राप्त कर लिया। तथापि उस ख़ज़ाने की कुञ्जी पाये बिना वह आपके काम नहीं आसकता। आप उसका तादृश उपयोग ही नहीं कर सकते। यह कुञ्जी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा है—शास्त्रीय विषयों का ज्ञान है। यदि जीवन-विज्ञान और मनोविज्ञान के मुख्य मुख्य नियमों का ज्ञान आपको नहीं है तो कार्य्य-कारण-भाव दिखला कर आप जन-समुदाय की व्यावहारिक बातों को कभी अच्छी तरह न समझा सकेंगे। आदमी जैसे मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी कुछ बातों का ज्ञान, अनाड़ियों की तरह, अन्दाज़ से थोड़ा बहुत प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही सामाजिक जीवन-सम्बन्धी बहुत ही सीधी-सादी बातों का ज्ञान भी वे प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरण के लिए किसी चीज़ की पैदावार और माँग के विषय को लीजिए। इन दोनो का सम्बन्ध तभी हमारी समझ में आ सकेगा जब हम यह जानते होंगे कि अमुक बात होने से मनुष्य अमुक तरह का बर्ताव करेंगे। अतएव, यदि, समाज-शास्त्र की मोटी मोटी प्रारम्भिक बातों का भी ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक हमे यह न मालूम हो कि किस स्थिति मे आदमी क्या ख़याल करते हैं, क्या समझते हैं और किस तरह का बर्ताव करते हैं, तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस शास्त्र को अच्छी तरह समझने के लिए मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का पूरा पूरा ज्ञान होना बहुत ही ज़रूरी है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इन बातों की स्वतःसिद्धता आप ही ध्यान में आजायगी। विचार करने से जो नतीजा निकलेगा वह ख़ुदही इस विषय की सत्यता को साबित कर देगा, कोई उदाहरण देने की ज़रूरत न पड़ेगी। देखिए, जन-समुदाय, व्यक्तियों के मेल से बना है—एक एक आदमी मिल कर मनुष्यों का समुदाय हुआ है। जन-समुदाय में जो कुछ होता है वह हर आदमी के सम्मिलित कामों की बदौलत होता है। इससे, जन-समुदाय के सब कामों का बीज,

हर आदमी के काम पर ध्यान देने ही से मालूम हो सकता है। और हर आदमी जो कुछ करता है अपने स्वभाव के अनुसार करता है। अर्थात् उसका स्वभाव जिन तत्वों, नियमों या सिद्धान्तो का अनुसरण करता है उन्हीं पर उसका काम अवलम्बित रहता है। अतएव इन तत्त्वों या नियमों को विना जाने किसी के काम समझ में नही आ सकते। विचार करते करते मनुष्य-स्वभाव के इन नियमों की आदि अवस्था तक पहुँचने पर—उनके मूल कारणों का पता लगाने पर—यह साबित होता है कि साधारण रीति पर ये नियम मनुष्य के मानसिक और शारीरिक नियमों से सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सिद्ध है कि समाज-शास्त्र के नियमों को अच्छी तरह समझने के लिए मनोविज्ञान और जीवन-शास्त्र की शिक्षा के बिना काम नहीं चल सकता। इन शास्त्रो का ज्ञान होना ही चाहिए। यह सिद्धान्त, इससे भी अधिक सरल रीति पर, इस तरह समझाया जा सकता है:—जितनी सामाजिक बाते हैं सब जीवन-सम्बन्धी बाते हैं—सबका सम्बन्ध ज़िन्दगी से है। उन्हे जीवन का सङ्कीर्ण अवतार या रूपान्तर कहना चाहिए—वे ज़िन्दगी के पेचीदा प्रादुर्भाव हैं। जिन नियमों पर जीवन अवलम्बित है उन्ही पर ये बातें भी निःसन्देह अवलम्बित हैं। जीवन-सम्बन्धी नियमों का ज्ञान होने ही से वे समझ मे आ सकती हैं, अन्यथा नहीं। अतएव मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों के इस चौथे भाग की उचित व्यवस्था करने के लिए, पूर्ववत्, विज्ञान-शास्त्र के ज्ञान की हमें बड़ी ज़रूरत है। साधारण रीति पर मदरसों मे जो शिक्षा दी जाती है उसका सार्वजनिक कामो मे बहुत ही कम उपयोग हो सकता है। इन बातों के जानने में उससे बहुत ही कम मदद मिल सकती है कि नागरिक को किस तरह का बर्ताव या व्यवहार करना चाहिए, अथवा उसे कौन काम करना चाहिए और कौन न करना चाहिए। जो इतिहास मदरसों में पढ़ाया जाता है उसका बहुत ही थोड़ा अंश व्यवहार मे काम आने लायक़ होता है। और इस थोड़े अंश को भी उचित रीति पर काम मे लाने की योग्यता हममें नहीं। समाज-शास्त्र का ज्ञान होने के लिए जिस सामग्री की ज़रूरत होती है वह सामग्री ही हम लोगो के पास नहीं। लोकस्थिति, अर्थात् सामाजिक

व्यवस्था, के व्यापक नियमों का ज्ञान होना तो बहुत दूर की बात है। और क्या कहा जाय, हम इतना भी तो नहीं जानते कि समाज-शास्त्र चीज़ क्या है ? यही नहीं, किन्तु इन्द्रियविशिष्ट-पदार्थ-विषयक जीवन-शास्त्र की मोटी मोटी बातें तक तो हम जानते नहीं, जिनके बिना, समाज-शास्त्र के व्यापक नियमों का ज्ञान होने पर भी, उनसे बहुत कम मदद मिल सकती है।

५४—मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद की योग्यता और ज़रूरत।

अब हम मनुष्य-जीवन के व्यवहारों के शेष भाग का विचार करते हैं। यह वह भाग है जो फ़ुरसत के समय किये जानेवाले आमोद-प्रमोद और दिल-बहलाव आदि के कामों से सम्बन्ध रखता है। आत्म-रक्षा, उदर-निर्वाह, सन्तान के विषय में माँ-बाप के कर्तव्य, और राजकीय तथा सार्व-जनिक काम-काज का विचार यहाँ तक किया गया और दिखलाया गया कि इनके लिए किस तरह की शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है। अब हमें इस बात का विचार करना है कि जो फुटकर बातें पूर्वोक्त भागचतुष्टय में नहीं आईं—जैसे प्राकृतिक पदार्थ, ग्रन्थावलोकन, सब तरह की ललित कलायें उनसे आनन्द उठाने के लिए किस तरह की शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है। जिन बातों का मनुष्य-कल्याण से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है उनका विवे-चन हमने पहले किया और उस विवेचन में हर एक बात को हमने उसकी उपयोगिता—उसकी क़दर व क़ीमत—की कसौटी पर कसा। यह कर चुकने पर, अब, पीछे से, हम आमोद-प्रमोद की बातों का विचार करने चले हैं। इससे यह न ख़याल करना चाहिए कि हम इन कम ज़रूरी बातों को कुछ समझते ही नहीं, या इन्हें बिलकुल ही निरुपयोगी समझते हैं। यदि कोई ऐसा ख़याल करे तो उसकी बहुत बड़ी भूल है। बल्कि यह कहना चाहिए कि उससे अधिक बड़ी भूल और होही नहीं सकती। सुन्दर और मनोमोहक बातों से प्रेम रखने और उनसे आनन्द उठाने को हम बहुत अच्छा समझते हैं। हम इन बातों को तुच्छ नहीं समझते। हम यह कदापि नहीं समझते कि इन बातों का उपयोग ही नहीं—इनसे कुछ लाभ ही नहीं। चित्रविद्या, प्रतिमानिर्म्माण, संगीत, कविता और प्राकृतिक दृश्यों की

सुन्दरता को देख कर पैदा होनेवाले अनेक प्रकार के मनोविकार यदि न होते तो मनुष्य-जीवन का आधा आनन्द चला जाता । सुरुचि और रसिकता सीखने, और काव्य-संगीत आदि के रसास्वादन से आनन्द उठाने, को हम अनावश्यक अथवा कम योग्यता का काम तो समझते नहीं, उलटा हमारा यह विश्वास है कि आज-कल की अपेक्षा अगले जमाने में ज़िन्दगी का अधिक भाग इन्हीं बातों में ख़र्च हुआ करेगा । जब सृष्टि की पञ्चमहाभूतात्मिका प्रकृति-देवी को पूरे तौर पर अपने वश मे करके उससे हम यथेच्छ काम लेने लगेंगे, जब ज़रूरत की चीज़े पैदा करने के साधन पूर्णता को पहुँच जायँगे; जब सारे काम यथासम्भव अत्यन्त कम मेहनत से होने लगेंगे, जब शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध हो जायगा कि जीवन-निर्वाह से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष महत्त्व के काम ख़ूब जल्द किये जाने लगेंगे; और, जब, इन कारणों से, हमे आज-कल की अपेक्षा बहुत अधिक फ़ुरसत मिलने लगेगी, तब ललित-कलाओं और प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य्य से मनोरञ्जन करने की प्रवृत्ति सब लोगों के हृदय मे ख़ूब अधिकता से उत्तेजित हो उठेगी ।

५५—मनोरञ्जक कामों की और कामों से तुलना और उनका पारस्परिक महत्त्व ।

परन्तु यह क़बूल करना कि आमोद-प्रमोद और मनोरञ्जन के कामों से मनुष्य के सुख की बढती होती है एक बात है; और यह मान लेना कि मनुष्य को सुखी बनाने के लिए उनका होना अनिवार्य्य है—अर्थात् बिना उनके मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता—दूसरी बात है । यह हमारा मतलब नहीं कि मनोरञ्जन के कामों के बिना मनुष्य सुख से वञ्चित रहता है । ये काम चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों–चाहे कितने ही ज़रूरी क्यों न हो–तथापि हमारे प्रतिदिन के कर्तव्यों से जिन कामो या शिक्षाओं का प्रत्यक्ष, अर्थात् बहुत ही घनिष्ठ, सम्बन्ध है उनके बाद इनका नम्बर है । उनके हो चुकने पर मनोरञ्जक बातों की तरफ़ ध्यान देना मुनासिब है । उन कामों से इनका दरजा ज़रूर कम है । अपने निज के और सार्वजनिक कामों की यथोचित व्यवस्था हो सकने के लिए जिन बातों की ज़रूरत है

उनके सम्पादन के बाद पुस्तकावलोकन और ललित-कलाओं से मनोरञ्जन होना सम्भव है। यह हम, इशारे के तौर पर, पहले ही कह चुके हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस वस्तु का होना किसी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित होता है वह उस दूसरी वस्तु के बाद होनी चाहिए। आधार का प्रबन्ध कर चुकने पर आधेय की तरफ़ ध्यान देना मुनासिब होता है। माली, या और कोई आदमी जो फूलों से प्रेम रखता है, गुलाब के पौधे सिर्फ़ फूलों ही के लिए बाग़ में लगाता है। पत्तियों और जड़ों की परवा विशेष करके वह इसलिए करता है कि वे फूलों की पैदावार की सहायक हैं। उसका असल मतलब फूल पैदा करना होता है। और फूल ऐसी चीज़ है कि और चीज़ों का महत्त्व उसके महत्त्व की हरगिज़ बराबरी नहीं कर सकता। परन्तु वह समझता है कि वास्तव मे जड़ें और पत्तियाँ अपने हिसाब से फूलों से भी अधिक महत्त्व की हैं, क्योंकि जड़ों और पत्तियों ही की बदौलत फूल खिलते हैं। पौधों को वह बड़ी ख़बरदारी से रखता है। उनको अच्छी तरह रखने की वह दिल लगा कर कोशिश करता है। क्योंकि वह जानता है कि फूल पाने की आतुरता मे पौधो को अच्छी तरह न रखना पागलपन है। जिस बात का हम विचार कर रहे हैं उसका भी ठीक यही हाल है। स्थापत्य-विद्या, प्रतिमा-निर्म्माण, चित्रकला, सङ्गीत और कविता सभ्य-समाज-रूपी पेड़ के फूल हैं। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि इन फूलों की योग्यता, इनके जन्मस्थान, सभ्य-समाज-रूपी पेड़, की योग्यता से भी अधिक है (जो कि शायद ही कोई कहे) तो भी यह क़बूल करना पड़ेगा कि सभ्य-समाज-रूपी वृक्ष को बड़ा करके अच्छी हालत मे लाने की तरफ़ सबसे पहले ध्यान देना चाहिए और जिस शिक्षा से हम लोगों के सामाजिक जीवन की दशा सुधरे उसे बहुत ऊँचे दरजे की शिक्षा समझना चाहिए।

५६—वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोष।

यहाँ पर हमे अपनी शिक्षा-पद्धति के दोष बहुत ही स्पष्टता के साथ देख पड़ते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित है कि वह फूल पाने

की जल्दी में पौधे की कुछ भी परवा नहीं करती । वह शोभा और सिंगार के पीछे दौड़ कर मूल वस्तु को बिलकुल ही भूल जाती है । वह इतनी ख़राब है कि जिस शिक्षा से आत्म-रक्षा होती है उसका कुछ भी ज्ञान नहीं होने देती । जिससे उदर-निर्वाह होता है उसे वह, सिर्फ़ दिग्दर्शन करा कर, छोड़ देती है और उसका अधिकांश, भविष्यत् मे, जिस तरह जिससे हो सके उस तरह प्राप्त करने के लिए हर आदमी को लाचार करती है । बाल-बच्चों के पालन पोषण के विषय में माँ-बाप के कर्तव्यों की वह बिन्दुमात्र भी शिक्षा नहीं देती । रही सामाजिक और राजकीय बातों की शिक्षा, सो उसका वह एक ढेर सामने रख देती है । इस ढेर का अधिक अंश बिलकुल ही असम्बद्ध होता है, इसकी एक बात का दूसरी से क्या सम्बन्ध है, इसका कुछ पता ही नहीं चलता । जो थोड़ा अंश बाक़ी रहता है उसकी कुञ्जी नहीं बतलाई जाती । इस कारण, उसका भी कोई तादृश उपयोग नहीं हो सकता । जो शिक्षा अत्यन्त ज़रूरी है उसकी तो यह दशा, पर शोभा-सिंगार, बाहरी दिखाव, टीम-टाम, ठाट-बाट आदि की शिक्षा का बेहद विस्तार ! क्या कहना है ! हम मानते हैं, और पूरे तौर पर मानते हैं, कि आज-कल जो भाषायें प्रचलित हैं उनका विस्तृत ज्ञान होना बहुत अच्छी बात है । क्योंकि अनेक भाषाओं की पुस्तकें पढ़ने, अनेक लोगों के साथ बात-चीत करने, और अनेक देशों मे घूमने से आदमी चतुर हो जाता है । परन्तु बहुत अधिक जरूरी ज्ञान को खोकर चतुरता के पीछे दीवाना होना क्या मुनासिब बात है ? जो ज्ञान बहुत ही ज़रूरी है उसके सामने बेचारी चतुरता की क़ीमत ही कितनी ? यदि हम इस बात को सच मान लें कि पुरानी भाषायें पढ़ने से शुद्ध और सुन्दर भाषा लिखने में मदद मिलती है तो भी क्या इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि महत्त्व के ख़याल से शुद्ध और सुन्दर भाषा लिखनी उतना ही ज़रूरी है जितना कि बाल-बच्चों के पालने-पोसने और लिखाने-पढ़ाने से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों की शिक्षा ज़रूरी है ? इन दोनों बातों का महत्त्व एक सा नहीं । दोनों में बड़ा अन्तर है । जिस शिक्षा से आदमी अपनी सन्तति को अच्छी तरह शिक्षित कर सकता है उसकी अपेक्षा शुद्ध और मनोहर भाषा लिख सकना बहुत कम महत्त्व की

बात है। मान लीजिए कि पुरानी मुर्दा भाषाओं में काव्य पढ़ने से मनुष्य में रसिकता आ जाती है, तो क्या इससे आप यह अर्थ निकाल सकेंगे कि रसिकता की उतनी ही क़ीमत है जितनी कि आरोग्य-रक्षा के नियमों की शिक्षा की? कदापि नहीं। आरोग्य-शास्त्र का जानना रसिक होने की अपेक्षा अधिक ज़रूरी और अधिक महत्त्व की बात है। सुघरता, बोल-चाल की चतुराई, कविता और सङ्गीत आदि ललित-कलायें, और वे सब आलङ्कारिक बातें जिन्हें हम सभ्य-समाज-रूपी पेड़ के फूल समझते हैं, महत्त्व के हिसाब से, सभ्यता की आधार-भूत शिक्षा और सुधार से कम दरजे की हैं। इसी से हम कहते हैं कि जैसे हम इन मनोरञ्जक कामों को फ़ुरसत पाने पर करते हैं वैसे ही अधिक ज़रूरी और अधिक उपयोगी बातों की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर फ़ुरसत के समय में ही हमें इनको सीखना चाहिए।

५७—सृष्टि-सौन्दर्य और ललित-कलाओं से पूरे तौर पर मनोरञ्जन होने के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है।

सुख, समाधान, सृष्टि-सौन्दर्य और मनोरञ्जन की बातों का दर्जा इस तरह निश्चित करने के बाद हमने जो राय क़ायम की है वह यह है, कि और बातों की शिक्षा के साथ ही साथ, शुरू से ही, इन बातों की शिक्षा होनी चाहिए। पर, हाँ, इस बात को न भूलना चाहिए कि मनोरञ्जक बातों की शिक्षा गौण शिक्षा है; उनकी शिक्षा और बातों की शिक्षा से कम महत्त्व की है। वह प्रधान शिक्षा नहीं, अप्रधान है। अब हमें इस बात का विचार करना है कि किस तरह का ज्ञान इस काम के लिए सबसे अधिक उपयोगी है—किस तरह की शिक्षा मनोरञ्जकता से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्य-जीवन के इस बाक़ी बचे हुए काम के लिए सबसे अधिक मुनासिब है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है जो इसके पहले दिया जा चुका है। हर एक ऊँचे दरजे का कला-कौशल, विज्ञान, अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान, पर ही अवलम्बित है। विज्ञान ही उसकी जड़ है, विज्ञान ही उसकी नींव है, विज्ञान ही उसका आधार है। यह बात यद्यपि किसी किसी को चमत्कारिक मालूम होगी, पर है यह सच। इसके सच होने में सन्देह नहीं। बिना विज्ञान

के—बिना शास्त्रीय ज्ञान के—न तो किसी कला से सम्बन्ध रखनेवाला कोई काम ही सर्वोत्तम हो सकता है और न उसे देख कर किसी को पूरा पूरा आनन्द ही मिल सकता है। इन बातों के लिए कारीगर दर्शक या परीक्षक का विज्ञान से परिचित होना बहुत ज़रूरी है। सर्व-साधारण आदमी शास्त्र या विज्ञान का अर्थ परिमित समझते हैं। उनका ख़याल है कि विज्ञान का अर्थ बहुत आकुञ्चित है। इन लोगों के हिसाब से तो बड़े बड़े प्रसिद्ध कारीगरों को भी विज्ञान न आता होगा। पर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कारीगरों और शिल्पियों की बुद्धि बड़ी शोधक होती है। इससे विज्ञान के मोटे मोटे नियमों से वे हमेशा परिचित रहते हैं। अन्दाज़ और तजरिबे से ही वे लोग वैज्ञानिक नियमों का स्थूल ज्ञान प्राप्त कर लिया करते हैं। जितने विज्ञान हैं—जितने शास्त्र हैं—बाल्यावस्था मे उनके नियमों का ऐसा ही ज्ञान हुआ करता है। कारीगर लोग वैज्ञानिक बातों में इस-लिए कच्चे रहते हैं—वे वैज्ञानिक नियमों का इसलिए बहुत ही थोड़ा ज्ञान रखते हैं—क्योंकि अन्दाज़ और तजरिबे से जानी हुई वैज्ञानिक बातो की बहुत ही थोड़ी पूँजी उनके पास होती है और वह भी निर्भ्रान्त और सुव्यवस्थित नहीं होती। उसमें भी भूले होती हैं। मतलब यह कि उनका वैज्ञानिक ज्ञान बहुत नीचे दरजे का होता है। जितनी ललित-कलायें हैं—जितने कारीगरी के काम हैं—सबकी जड़ विज्ञान है। ललित-कलाओं से जो चीज़ें पैदा होती हैं वे सब सृष्टि के भीतर या बाहर की चीज़ों की प्रतिनिधि होती हैं। सृष्टि ही की चीजों की जगह पर दूसरी चीज़ो को ललति-कलायें बनाती हैं। इन कलाओं से पैदा हुई चीज़ों का सादृश्य सृष्टि की चीज़ों से थोड़ा-बहुत ज़रूर होता है। इस बात का विचार करने—इस बात को याद करने—से यह आप ही साबित हो जाता है कि कारीगरी के जितने काम हैं सबका आधार, सबका सहारा, सबकी बुनियाद विज्ञान है। सृष्टि की जिन भीतरी या बाहरी चीज़ो के नमूने कारीगर बनाते हैं उनका रूप उन चीज़ो से जितना ही अधिक मिलेगा—उनके रूप में जितनी ही अधिक तुल्यता होगी—उतना ही अधिक वे अच्छे होंगे। अतएव कारीगरी की चीज़ों में

तुल्यरूपता लाने के लिए सृष्टि की चीज़ों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रीय नियमों का ज्ञान होना कारीगर के लिए बहुत ज़रूरी है। यह नतीजा अन्दाज़ से तो निकलता ही है, पर तजरिबे से भी निकलता है। इस बात को हम अभी साबित करके दिखाते हैं।

५८—प्रतिमा-निर्म्माण-विद्या के लिए मनुष्य-शरीर की बनावट और यन्त्रशास्त्र का जानना ज़रूरी है।

जो नव-युवक प्रतिमा-निर्म्माण के—मूर्ति बनाने के—पेशे के लिए तैयार होना चाहते हैं उनको मनुष्य-शरीर की हड्डियों और पट्ठो का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, और यह भी सीखना पड़ता है कि वे कहाँ कहाँ पर हैं, किस तरह एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, और कैसे हिलते डुलते हैं। ये वैज्ञानिक बातें हैं। इनको सीखने की इसलिए ज़रूरत पड़ती है जिससे मूर्तियाँ बनाने में भूलें न हों। जो लोग शास्त्रीय ज्ञान के इस हिस्से से परिचित नही होते उनसे मूर्ति-निर्माण मे ज़रूर भूलें होती हैं। मूर्तियाँ बनानेवालों को यन्त्र-विद्या के सिद्धान्तों का जानना भी ज़रूरी बात है। इन सिद्धान्तों का ज्ञान बहुधा न होने से कभी कभी लोग यन्त्र-विद्या-सम्बन्धी बड़ी बड़ी भूलें कर बैठते हैं। एक उदाहरण लीजिए। मूर्ति अच्छी तरह खड़ी रहने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके तुल्य गुरुत्व के बीच से जो सन्धान-रेखा निकाली जाय वह मूर्ति की बैठक के वाहर न पड़े। इसी से फ़ौजी क़वायद के वक़्त "स्टैंड एट ईज़" के हुक्म पर, आराम से खड़े होने मे जब आदमी का एक पैर तना हुआ और दूसरा कुछ ढीला और टेढा होता है, तब सन्धान-रेखा तने हुए पैर के भीतर पड़ती है, बाहर नही। परन्तु जो मूर्तिकार तुल्यगुरुत्व (अर्थात् सब तरफ़ से वज़न के बराबर तुले रहने) के इस सिद्धान्त को नहीं जानता वह इस स्थिति मे खड़ी हुई मूर्ति बहुधा इस तरह बना डालता है कि सन्धान-रेखा दोनों पैरों के ठीक बीच में पड़ती है। यह बहुत बड़ी भूल है। इसके कारण मूर्ति ठीक तौर पर नहीं खड़ी रहती। पदार्थों की गति के वेग के सिद्धान्त को न जाननेवालों से भी ऐसी ही भूलें होती हैं।

डिस्कोबोलस* की मूर्ति की बड़ी तारीफ़ है। उसे देख कर लोग अचरज करते हैं। पर यदि उसे आप, जिस समय वह अपनी जगह पर खड़ी है, देखेंगे तो ऐसा जान पड़ेगा कि उसके हाथ का पत्थर यदि खींच लिया जाय तो खींचने के साथ ही वह मूर्ति आगे की तरफ़ झुक जायगी।

५८—चित्रकला के लिए भी विज्ञान जानने की बड़ी ज़रूरत है।

चित्रकला के लिए भी विज्ञान की जरूरत है, और यह ज़रूरत ऐसी है कि और भी अधिक साफ़ मालूम होती है। हम यह नहीं कहते कि चित्रकार को विज्ञान का ज्ञान शास्त्रीय रीति से ही होना चाहिए; नहीं, यदि उसके सिर्फ़ मोटे मोटे नियम उसे मालूम हों तो भी उसका काम चल सकता है। चीन में बने हुए चित्र क्यों वेडौल और बुरे लगते हैं? इसका कारण यह है कि वहाँ के चित्रकार दिखावे और आकार प्रकार के नियमों की परवा नहीं करते, रेखागणित का उपयोग करना नहीं जानते, और चित्र खींचते समय जुदा जुदा चीज़ों की दूरी और उनकी छुटाई बड़ाई का ख़याल भी अच्छी तरह नहीं रखते। वे यह नहीं समझते कि दूरी के हिसाब से, प्रकाश और छाया में चित्र उतारते समय, अन्तर हो जाता है। चित्र के स्वच्छ और अस्वच्छ हिस्सों में वे यथानियम रंग लगाना नहीं जानते। लड़कों के चित्र क्यों इतने ख़राब होते हैं? क्योंकि उनमें असलियत नहीं होती। जुदा जुदा हालतों में चीज़ों के दृश्य भी जुदा जुदा होते हैं—उनकी सूरतें भी जुदा जुदा होती हैं। पर इस बात पर चित्रकार बहुधा ध्यान नहीं देते। इसी से उनके बनाये हुए चित्रों में दोष रह जाते हैं। चित्र-विद्या की उन किताबों और वक्तृताओं का तो ज़रा स्मरण कीजिए जो लड़कों को पढ़ाई जाती हैं; या इँगलेंड के विद्वान् ग्रन्थकार

---

* गोल और वजनी पत्थर आदि के टुकड़ों को फेंक कर जो पहलवान कसरत करते हैं उनका नाम डिस्कोबोलस है। पुराने ज़माने में इस कसरत की दर्शक एक मूर्ति योरप में बनी थी। इसी को देख कर और भी कई मूर्तियां पीछे से बनाई गई थीं। उन्हीं से यहां मतलब है।

रस्किन ने इस विषय की जो आलोचना की है उस पर तो ज़रा विचार कीजिए, या इटली के प्रसिद्ध चित्रकार रैफल के पहले के बने हुए चित्रों को तो देखिए। ऐसा करने से मालूम हो जायगा कि चित्रण-कला की उन्नति उस ज्ञान की उन्नति पर अवलम्बित रहती है जिससे यह जाना जाता है कि प्राकृतिक पदार्थों के—सृष्टि-सम्भूत बातों के—परिणाम किस तरह पैदा होते हैं। जैसे जैसे यह मालूम होता जाता है कि संसार मे जो बातें देख पड़ती हैं उनके क्या क्या नतीजे होते हैं वैसे ही वैसे चित्र खींचने की विद्या में भी उन्नति होती जाती है। जिस चीज, या जिस बात, का जैसा परिणाम होता है उसको वैसा ही चित्र मे दिखला देना चित्रकार का काम है। यह बात तभी उससे हो सकती है जब वह उस परिणाम को अच्छी तरह जानता हो। उसे जानने ही से चित्र मे असलियत आ सकती है। आदमी के चेहरे पर क्रोध का क्या परिणाम होता है, यह जो नहीं जानता उसके बनाये हुए चित्र में असलियत का आना असम्भव है। मनुष्य चाहे जितना चतुर, बुद्धिमान्, शोधक और सूक्ष्मदर्शी हो, जब तक उसे शास्त्रीय ज्ञान नहीं—जब तक वह विज्ञान से परिचित नहीं—तब तक वह भूल किये बिना नहीं रह सकता। उससे ज़रूर भूले होंगी। इस बात को कोई भी चित्रकार क़बूल करेगा कि जुदा जुदा हालतो मे जुदा जुदा चीज़ों की सूरतो का ज्ञान हुए बिना चित्र मे उन्हे तद्वत् दिखलाना बहुधा असम्भव होता है। और, इस बात का जानना कि किस हालत में किस चीज़ की कैसी सूरत होती है, एक तरह का शास्त्र है—एक प्रकार का विज्ञान है। ल्युइस साहब एक चतुर चित्रकार हैं। वे अपना काम बड़ी सावधानी से करते हैं। पर उन्होंने चित्र मे जालीदार खिड़की की छाया सामने की दीवार पर साफ़ साफ़ लकीरों मे दिखलाई है। यह विज्ञान न जानने का फल है। यदि उन्हे छाया का शास्त्रीय ज्ञान होता, यदि वे जानते कि अपूर्ण छाया कैसी होती है, यदि उन्हे मालूम होता कि प्रकाश के योग मे छाया किस तरह अदृश्य सी होकर उसमे मिल जाती है, तो कभी उनसे ऐसी भूल न होती। रासेटी नाम के चित्रकार ने यह देखा कि किसी बालदार जगह पर एक विशेष प्रकार का प्रकाश पड़ने से प्रकाश की छाया ने इन्द्र-धनुष की तरह के रंग

पैदा कर दिये । उस बालदार जगह पर बालों में घुसते समय प्रकाश का वक्रीभवन होने के कारण ये रंग पैदा हुए थे । बस इसी के आधार पर उसने इन्द्र-धनुष की तरह के चित्र-विचित्र रग ऐसी जगहों पर ऐसी हालतों में दिखलाये जहाँ उनके होने की कोई सम्भावना न थी । यह विज्ञान न जानने का फल है । यदि वह विज्ञान जानता तो कभी उससे ऐसी भूल न होती ।

६०—संगीत में भी विज्ञान काम आता है । वहाँ भी उसकी ज़रूरत है ।

यदि हम यह कहें कि संगीत-विद्या के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है तो तुम्हें और अधिक आश्चर्य्य होगा । परन्तु आश्चर्य्य का कोई कारण नहीं; क्योंकि यह बात साबित की जा सकती है कि मन मे जो विकार पैदा होते हैं संगीत उनका चित्र है । अथवा यों कहिए कि स्वाभाविक विकारों या उद्गारों के पूरे उत्कर्ष का नाम संगीत है । अतएव इन मनोविकारों के जो नियम हैं—आदमी की इस क़ुदरती ज़बान के जो क़ायदे हैं—उन नियमों की संगीत में जितनी ही अधिक पाबन्दी होगी उतना ही वह अधिक अच्छा होगा । उसका अच्छा या बुरा होना इन्हीं नियमों के अनुसरण पर अवलम्बित रहता है । मनोविकार अनेक तरह के होते हैं । उनमे न्यूनाधिकता भी होती है । कोई विकार कम प्रबल होता है, कोई अधिक । इन्हीं मनोविकारों के कारण ध्वनि में भी भेद होता है । कोई ध्वनि ऊँची होती है, कोई नीची । स्वर के उतार चढ़ाव का कारण मनोविकारों की भिन्नता ही है । यही उतार चढ़ाव संगीत का बीज है, इसी से संगीत की उत्पत्ति है । यह बात अच्छी तरह साबित की जा सकती है कि ध्वनि का उतार चढ़ाव—स्वर का ऊँचा नीचा होना—कोई आकस्मिक घटना नहीं । स्वर में बेक़ायदे उतार चढ़ाव नहीं होते । उसमे अन्धाधुन्ध भेद नहीं होता । उसके नियम हैं और ये नियम बहुत व्यापक हैं । उन्हीं व्यापक नियमों के अनुसार स्वर धीमे या ऊँचे होते हैं । जुदा जुदा हालतों मे जीवधारियों के जुदा जुदा

व्यापार होते हैं । स्वरों का उतार चढ़ाव इन्हीं व्यापारों पर अवलम्बित रहता है । और जितने व्यापार हैं सब मन की प्रेरणा से होते हैं । इससे स्वरों को मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब समझना चाहिए । उनमे मनोवृत्तियों की झलक साफ़ मालूम होती है । इससे यह नतीजा निकलता है कि गाते समय स्वरों के उतार चढ़ाव से जो तानें और मूर्च्छनायें आदि पैदा होती हैं उनका असर सुननेवाले पर तभी पड़ सकता है जब वे पूर्वोक्त नियमों के अनुकूल हों । इस बात को उदाहरण देकर समझाना कुछ कठिन है। परन्तु, यहाँ पर शायद इतना ही कहना काफ़ी होगा कि ये सैकड़ों निकम्मी ठुमरियाँ, दादरे और गज़लें जिन्हे हम लोग, गन्दी भाषा मे, उठते बैठते सुनते हैं, और जो महफ़िलों मे लोगों की कुरुचि को बढ़ाती हैं, संगीत-विद्या के नियमों के अनुकूल नहीं हैं । शास्त्र की रीति से ये जैसी होनी चाहिएँ वैसी नहीं । ऐसे गीतों की शास्त्र मे आज्ञा नहीं । इस तरह के गीत विज्ञान की दृष्टि मे—सङ्गीत-शास्त्र की नज़र मे—अपराधी हैं । क्योंकि वे ऐसे भावों को, ऐसे ख़यालों को, ऐसी बातों को सङ्गीत में ज़बरदस्ती लाते हैं जिनमें काफ़ी रस नहीं होता । उनमे ऐसी बाते कही जाती हैं जिन्हे कहने के लिए मनोविकारों से काफ़ी प्रेरणा नही मिलती । उनमें इस तरह के भाव रहते हैं जिन्हे संगीत की सहायता से प्रकट करने के लिए मनुष्य के मनोविकार गायक को उत्तेजित ही नहीं करते । इस तरह के गीत इस कारण से भी सङ्गीत-शास्त्र की दृष्टि मे अपराधी हैं, कि उनमे वे भाव प्रकट किये जाते हैं जो बिलकुल ही अस्वाभाविक हैं—जो मनुष्य के मनोविकारों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते । यदि मनोविकारों से वे सम्बन्ध भी रखते हैं तो भी वे स्वाभाविक नहीं होते । ऐसे गीतों को हम इसलिए बुरा कहते हैं कि उनमे असलियत नहीं होती—उनके भावों मे यथार्थता का अभाव रहता है । और यह कहना कि उनमें असलियत नहीं होती—उनमे यथार्थता नही होती—मानों उन्हें अशास्त्रीय कहना है । दोनों बातों का मतलब एकही है । क्योकि जिसमें असलियत नहीं—जिसमें बनावट है—उसकी विज्ञान मे गिनती नहीं हो सकती । वह शास्त्र की परिभाषा के भीतर नही आ सकता ।

६१—कविता में भी स्वाभाविक मनोविकारों से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता।

कविता का भी यही हाल है। मन मे मनोविकारों के प्रवल होने से जो बातें स्वाभाविक तौर पर मनुष्य के मुँह से निकलती हैं उन्ही के आधार पर, संगीत की तरह, कविता भी होती है। मनोविकारों ही को कविता का बीज समझना चाहिए। कविता मे जो शब्द-चातुर्य्य, जो स्वर-संवाद, जो प्रभावपूर्ण रूपक, जो अतिशयोक्तियाँ, जो तीव्र विपर्यास देख पड़ते हैं वे क्षुब्ध हुई मनोवृत्ति के उत्कट उच्छ्वास हैं। मन मे विकार पैदा होने से वाणी में जो विशेषता आ जाती है, ये अलङ्कार उसी के अवतार या आविष्कार हैं। अथवा यों कहिए कि उद्दाम मनोवृत्ति को वाणी की सहायता से प्रकट करने के ये साधन हैं। इससे कविता मे स्वाभाविकता लाने के लिए—उसे उत्तम बनाने के लिए—कवि का काम है कि वह ज्ञानतन्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले उन नियमों को ध्यान में रक्खे जो क्षुब्ध हुई वाणी का कारण होते हैं। अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होने पर वाणी जिन नियमों की पाबन्दी करती है उनको जानना कवि का सबसे बड़ा काम है। क्षुब्ध मनोवृत्ति से उत्तेजित हुई वाणी को कविता का रूप देते समय क्षोभ के लक्षण दिखाने और तीव्रता लाने मे कवि को चाहिए कि वह सीमा के बाहर न जाय और जिन साधनों से अपनी वाणी को कविता का रूप दे उन्हे प्रतिबन्ध मे रक्खे। परिणाम और प्रतिबन्ध का उसे ज़रूर ख़याल रखना चाहिए। उनका दुरुपयोग करना उचित नहीं। उन्हें क़ाबू मे रखना चाहिए। यह नहीं कि कविता के साधनीभूत अलङ्कार, वर्ण-विन्यास, वर्णनक्रम और रस-परिपाक आदि को बेरोकटोक अनर्गल होकर अपनी सीमा के बाहर चले जाने दे। जहाँ मनोवृत्तियों का वेग प्रबल न हो वहाँ कविता का भी वेग प्रबल न होने पावे, जैसे जैसे मनोवृत्तियों का वेग बढ़ता जाय तैसे तैसे कविता का भी वेग बढ़ता जाय, और जहां मनोवृत्तियों का वेग प्रबल होकर पराकाष्ठा को पहुँच जाय वहाँ कवितागत रस का भी वेग बढ़ कर सीमा के शिखर पर आरूढ़ हो जाय। जिस कविता में इन बातों की बिलकुल परवा नहीं की

जाती—जिसमे इन नियमों का सर्वतोभाव से उल्लंघन होता है—वह कविता ही नहीं। उसे नीच काव्य, शब्दाडम्बर या क़ाफ़ियाबन्दी कह सकते हैं, कविता नहीं कह सकते। उपदेश-विषयक कविता मे इन नियमों की बहुत कम परवा की जाती है। बहुतेरी कविताओं के नीरस होने का यही कारण है कि उनके कर्ता कवियों ने नियमों की बहुत ही कम पाबन्दी की है। उन्होंने शायद ही कभी इनका पालन पूरे तौर पर किया हो।

६२—प्रत्येक कारीगर के लिए मनोविज्ञान के नियम जानने की ज़रूरत।

हर एक कारीगर, वह चाहे जो काम करता हो, तब तक अपना काम ठीक तौर पर नहीं कर सकता—तब तक उसे निर्दोष नहीं बना सकता—जब तक कि वह उस काम से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों को न समझ ले और उसके गुण-धर्मों को न जान ले। इतनाही नहीं, किन्तु उसके लिए इस बात का जानना भी बहुत ज़रूरी है कि उसके काम की—उसकी कारीगरी की—खूबियों का देखने या सुननेवालों पर कैसा असर पड़ेगा। और यह मनोविज्ञान की बात है। जिनके सामने कोई करीगरी या कोई चीज़ रक्खी जाती है उनके दिल पर उसका क्या असर पड़ेगा—यह एक ऐसी बात है जो स्वभाव से सम्बन्ध रखती है। और स्वभावों का यह धर्म्म है कि वे विशेष विशेष बातों मे एक दूसरे से थोड़ा बहुत ज़रूर मिलते हैं। इसलिए उन बातों के सम्बन्ध मे ऐसे व्यापक नियम ज़रूर निकाले जा सकते हैं जिनके अनुसार कारीगरी करने से कामयाबी हो सकती है। अर्थात् जिन नियमों के अनुसार किसी किसी बात मे सब लोगों के स्वभाव परस्पर मिलते हैं उन नियमों का ख़याल रख कर यदि कारीगर कोई चीज़ बनावेगा तो वह चीज़ लोगों को ज़रूर पसन्द आवेगी। इन साधारण नियमों को कारीगर तब तक नहीं समझ सकता और तब तक इनका उपयोग भी नहीं कर सकता जब तक वह इस बात को न जान ले कि मनोधर्मों से इन नियमों का कैसा सम्बन्ध है—मनोविकारों के झुकाव का ये किस तरह अनुसरण करते हैं। किसी चित्र के विषय मे किसी से यह पूछना कि वह

कैसा है—अच्छा है या बुरा—मानो यह पूछना है कि उसके मनोभाव और पदार्थ-ज्ञान पर उसका कैसा असर पड़ेगा। अर्थात् उसे देख कर देखनेवाले की मनोवृत्ति कैसी होगी। इसी तरह, यह पूछना कि अमुक नाटक अच्छा है या नहीं, मानो यह पूछना है कि उसके कथानक की रचना क्या ऐसी है कि वह अभिनय देखनेवालों के चित्त को अपनी तरफ़ खींच कर एकाग्र कर सके? अथवा, क्या उसमे किसी मनोभाव या रसपरिपाक की मात्रा इतनी अधिक तो नहीं हो गई कि उसके कारण दर्शकों के मन मे उद्वेग पैदा होजाय। कविता और उपन्यासों का भी यही हाल है। इनके मुख्य मुख्य भागों की रचना, और प्रत्येक वाक्य के शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध, इस ख़ूबी से होना चाहिए कि सुनने या देखनेवालों के मन मे उद्वेग न होकर आनन्द उत्पन्न हो। तभी समझना चाहिए कि रचना निर्दोष हुई है। नाटक या उपन्यास की कामयाबी सिर्फ़ इस बात पर अवलम्बित है कि उसे देखने या सुनने से लोगों की मनोवृत्तियाँ जग कर उत्तेजित हो जायँ और उनका चित्त आनन्द से उल्लसित हो उठे।

६३—तजरिबे से जाने गये कारीगरी के सिद्धान्तों की जड़ मनोविज्ञान है।

हर एक कारीगर, अपनी शिक्षा के समय—अपना काम सीखते समय—और उसके बाद भी, तजरिबे से कुछ ऐसे नियम और सिद्धान्त सीख लेता है जिनकी मदद उसे हमेशा दरकार होती है। इन सिद्धान्तों की जड़ों का पता लगाने से वे आपको मनोविज्ञान की भूमि मे गड़ी हुई मिलेंगी। ये सिद्धान्त मनोविज्ञान के सिद्धान्त हैं। अतएव जब कारीगर इस विज्ञान के सिद्धान्तों और तदन्तर्गत जुदा जुदा बातों को समझ लेगा तभी वह अपना काम उनके अनुसार यथानियम कर सकेगा, अन्यथा नहीं।

६४—स्वाभाविक प्रतिभा और विज्ञान के मेल से ही कवि और कारीगर को पूरी पूरी कामयाबी होती है।

हम इस बात पर एक क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं करते कि

विज्ञान पढ़ने से ही कोई कारीगर हो सकता है। हम यह ज़रूर कहते हैं कि कारीगर के लिए बाहरी सृष्टि के मुख्य नियमों और उनके स्थूल धर्मों का ज्ञान होना ही चाहिए, पर हम यह भी कहते हैं कि सिर्फ़ इसी ज्ञान से किसी कारीगर का काम नहीं चल सकता। उसे अपने काम से—अपने उद्योग-धन्धे से—सम्बन्ध रखनेवाला स्वाभाविक ज्ञान भी होना चाहिए। सिर्फ़ कवि ही नहीं, किन्तु हर विषय का कारीगर बनाया नहीं जाता। वह पैदा ही वैसा होता है। उसमें कविता और कारीगरी का बीज स्वाभाविक होता है। उनका अंकुर वह जन्म से ही अपने साथ लाता है। हमारे कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि मूलांकुर से काम नहीं निकल सकता। उसके लिए शास्त्रीय ज्ञान की ज़रूरत है। विज्ञान सीखने ही से—शास्त्र पढ़ने ही से— उसे कामयाबी हो सकती है। अन्तर्ज्ञान से बहुत कुछ काम निकल सकता है, पर सब काम नहीं। जब प्रतिभा और विज्ञान दोनों का मेल हो जाता है—जब प्रतिभा विज्ञान के गले में संवरणमाल डाल देती है—तभी ऊँचे दरजे की कामयाबी होती है।

६५—विज्ञान का ज्ञान जितना ही अधिक होगा कारीगरी भी उतनी ही अधिक अच्छी होगी और आनन्द भी उससे उतना ही अधिक मिलेगा।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, विज्ञान की शिक्षा सिर्फ़ इसी लिए ज़रूरी नहीं कि उसकी मदद से कारीगरी सर्वोत्तम हो, किन्तु इसलिए भी ज़रूरी है जिसमे ललित-कलाओं की ख़ूबियों को जान कर उनसे आनन्द भी प्राप्त हो सके। किसी चित्र की ख़ूबियों को जानने की योग्यता बच्चे की अपेक्षा वयस्क आदमी मे क्यों अधिक होती है? इसका कारण सिर्फ़ इतना ही है कि सृष्टि और जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें जो चित्र में चित्रित रहती हैं उनका मर्म्म वयस्क आदमी को अधिक समझ पड़ता है। क्या कारण है जो विद्वान् और रसिक आदमी को, एक अक्षरशून्य ग्रामीण की अपेक्षा, अच्छी कविता के आस्वादन मे अधिक आनन्द मिलता है? कारण यही है कि उसे सृष्टि के पदार्थों और मानुषिक जीवन के व्यवहारों का ज्ञान, नादान

ग्रामीण की अपेक्षा, अधिक होता है । इसी से काव्यों मे इस विषय की बातें वह अधिक समझता है और उनसे उसका मनोरञ्जन भी अधिक होता है । जैसा कि इस उदाहरण मे बहुत ही स्पष्टतापूर्वक दिखलाया गया है, यदि चित्रों की ख़ूबियों को थोड़ा बहुत समझने के पहले उन चीज़ों का कुछ न कुछ ज्ञान होना बहुत ज़रूरी है जिनके कि वे चित्र हैं, तो उन ख़ूबियों को पूरे तौर पर समझने के लिए उन असल चीज़ों का पूरा ज्ञान प्राप्त करना भी बहुत ज़रूरी है । यह एक ऐसी बात है जिसके लिए और कोई सबूत दरकार नहीं । बात बिलकुल साफ़ है । और अपनी सचाई को आपही साबित कर रही है । सच तो यह है कि चाहे जिस विषय की कारीगरी हो उसमें जितनी अधिक असलियत होती है—जितनी अधिक ख़ूबियाँ उसमे दिखाई देती हैं—समझदार आदमी को उतनाही अधिक आनन्द मिलता है ! ये ख़ूबियाँ जिन लोगों के ध्यान मे नहीं आतीं उनको यह आनन्द भी नहीं मिलता, वे इससे सर्वथा वञ्चित रहते हैं । कारीगर अपने काम मे जितनी ही अधिक ख़ूबियाँ दिखलाता है उतनीही अधिक मानसिक शक्तियों को वह जागृत करता है, उस काम को देख कर उतने ही अधिक मनोभाव और विचार पैदा होते हैं, और उतनाही अधिक आनन्द भी मिलता है । पर इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए देखने, सुनने या पढ़नेवाले के ध्यान मे वे ख़ूबियाँ आनी चाहिए जिनको कि उस कारीगर ने अपने काम मे दिखलाया है । और इन ख़ूबियों का जानना—इन मर्मों का समझना—मानों उनके विज्ञान या शास्त्र का जानना है ।

९६—विज्ञान कविता की जड़ ही नहीं; वह ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार की कविता है ।

अब हम एक और बात कहना चाहते हैं । यह बात औरों से अधिक ज़रूरी है । इसलिए इसे न भूलना चाहिए । वह बात यह है कि मूर्त्ति-निर्म्माण किंवा सङ्ग-तराशी, चित्र-विद्या, सङ्गीत और कविता की जड़ ही विज्ञान नहीं; विज्ञान ख़ुद भी एक प्रकार की कविता है । इन कलाकौशलों का महत्त्व सिर्फ़ इसी लिए नहीं कि उनकी जड़ विज्ञान है । नहीं, विज्ञान में

ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार का आनन्द है। आज-कल लोग जो यह समझते हैं कि विज्ञान और कविता में परस्पर विरोध है सो भ्रममात्र है। जो ऐसा समझते हैं वे भूलते हैं। यह जरूर सच है कि ज्ञान और मनोविकार, ये दोनों, मन की जुदा जुदा स्थितियाँ हैं। अतएव जब मन इन दोनों मे से किसी एक स्थिति मे रहता है तब वह, एक ही साथ, दूसरी स्थिति में नहीं रह सकता। और यह भी ज़रूर सच है कि विचार-सागर में निमग्न होने से मन की सारी भावनायें शिथिल हो जाती हैं। और भावनाओ मे मन के डूब जाने से विचार-परम्परायें बन्द हो जाती हैं। इस हिसाब से तो मन से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं सभी परस्पर विरोधी हैं। पर यह कदापि सच नहीं कि वैज्ञानिक बातों मे काव्यरस नहीं—उनसे आनन्द की प्राप्ति नहीं। और न यही सच है कि विज्ञान मे प्रवीणता प्राप्त करने से—विज्ञान सीखने से—कल्पनाशक्ति मे बाधा आती है और सृष्टि-सौन्दर्य्य से मिलनेवाली रसिकता कम हो जाती है। उलटा इसके, जो लोग विज्ञान के ज्ञाता हैं उनके सामने काव्य के वे विस्तृत मैदान, जो विज्ञान न जाननेवालों को रेगिस्तान मालूम होते हैं, नन्दनवन बन कर प्रकट होते हैं। जो लोग वैज्ञानिक विचारों मे लगे हैं—जो लोग वैज्ञानिक खोज में निमग्न हैं—वे बार बार इस बात को साबित कर दिखाते हैं कि अपने वैज्ञानिक विषयों की कविता से वे और लोगों की अपेक्षा कम नहीं, किन्तु बहुत अधिक आनन्द पाते हैं। उनका आनन्द एक विलक्षण प्रकार का होता है और उसका अनुभव वे बड़ी ख़ूबी से करते हैं। स्काटलेंड के राजा ह्यू मिलर की भूगर्भ-शास्त्र-विषयक पुस्तकें और ल्यूइस साहब की "सामुद्रिक तट के विचार" (सी साइड स्टडीज़) नाम की पुस्तक जो ध्यान से पढेगा उसे साफ़ मालूम हो जायगा कि विज्ञान से कवित्व-शक्ति की दीपशिखा बुझती नहीं, किन्तु अधिक प्रज्वलित हो जाती है। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् गेटी के जीवन-चरित को जो विचारपूर्वक पढेगा उसके ध्यान मे यह बात ज़रूर आ जायगी कि कवित्व और विज्ञान, ये दोनों, एकही साथ एकही आदमी मे किस तरह रह सकते हैं और किस तरह वे दोनों अपना अपना काम उत्साह-पूर्वक कर सकते हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि जो आदमी विज्ञानवेत्ता है

वह साथ ही कवि भी हो सकता है। क्या यह कहना बेहूदा और प्राय: अपवित्र या नास्तिकतापूर्ण नहीं है कि जैसे जैसे आदमी सृष्टि के पदार्थों को अधिक देखता और उनके विषय मे अधिक विचार करता है वैसेही वैसे उन पर उसकी भक्ति और श्रद्धा कम होती जाती है ? क्या तुम कभी इस बात का खयाल कर सकते हो कि पानी का एक बूँद जो नादान और कमसमझ आदमियों की नज़र में सिर्फ़ पानी का बूँद है, पदार्थशास्त्र मे पण्डित को भी वैसा ही मालूम होगा ? अथवा क्या उसकी क़ीमत उसकी नज़र में कुछ कम हो जायगी जो यह जानता है कि उस बूँद के परमाणु एक शक्ति विशेष के बल से परस्पर बँधे हुए हैं और यदि वह शक्ति सहसा दूर कर दी जाय—यदि अकस्मात् उसका विच्छेद हो जाय—तो उसी बूँद से बिजली की चमकीली शिखा निकल पड़े ? अब आप ही कहिए कि पानी के ऐसे बूँद को देख कर किसे अधिक आनन्द होगा ? जब कोई मामूली आदमी अपने चर्म्म-चक्षुओं से बर्फ़ के किसी ग़ाले को बेपरवाही से देखता है तब उसे उसमे कोई विशेषता नहीं मालूम होती। पर उसी को जब कोई विज्ञानवेत्ता खुर्दबीन लगा कर देखता है तब उसे उसमे कितनी ही तरह के मनोहर रंग और कितनी ही तरह की अद्भुत अद्भुत शकले देख पड़ती हैं। इस दशा मे मामूली आदमी की अपेक्षा विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता के मन मे क्या ऊँचे दरजे के अनेक ख़यालात अधिक न पैदा होंगे ? क्या तुम समझते हो कि किसी गोल चट्टानी पत्थर पर समान्तराल रेखाओं को देख कर अज्ञान आदमी के चित्त मे वैसे ही कविजनोचित विचार पैदा होंगे जैसे कि भूगर्भ-विद्या के ज्ञाता के चित्त मे, जो इस बात को जानता है कि दस लाख वर्ष पहले उसी पत्थर के ऊपर पर्वतप्राय बर्फ़ जमा था ? सच तो यह है कि जिनको शास्त्रीय ज्ञान का गन्ध भी नहीं—जो विज्ञानविद्या के पास से होकर भी कभी नहीं निकले—वे सृष्टि की उन हज़ारों रमणीय वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाली कविता से बिलकुल ही वञ्चित रहते हैं जो उनके चारों तरफ़ पाई जाती हैं। वे उन चीज़ों से हमेशा घिरे हुए रहते हैं, पर उनसे उनको कुछ भी आनन्द या समाधान नहीं मिलता। जिसने लड़कपन मे तरह तरह के पौधों और कीड़ों-मकोड़ों

को नहीं इकट्ठा किया उसे उस आनन्द और मनोरञ्जन का अर्धांश भी नहीं मिल सकता जो गली-कूँचों और काँटेदार झाड़ियों में इन चीज़ों को ढूँढने से मिलता है। हज़ारों वर्ष से पृथ्वी के पेट मे गड़ी हुई चीज़ों को खोद निकालने का जिसने कभी प्रयत्न नहीं किया उसके मन मे वे कवि-जनोचित भाव कभी पैदा नहीं हो सकते जो उन जगहों को देख कर पैदा होते हैं जहाँ ऐसी चीज़ों का ख़ज़ाना पृथ्वी के भीतर गड़ा हुआ पाया जाता है। समुद्र के किनारे सामुद्रिक जीवों से भरे हुए किसी कुण्ड को जिसने खुर्दबीन से नहीं देखा वह बेचारा नहीं जान सकता कि समुद्र-तट में सबसे अधिक आनन्द-दायक चीज़े कौनसी हैं। बड़े अफ़सोस की बात है कि आदमी तुच्छ बातो के पीछे अपना अनमोल समय व्यर्थ नष्ट करते हैं और बहुत बड़ी बड़ी बातों की बिलकुल परवा नहीं करते। परमेश्वर ने इस विस्तृत विश्व मे जो नाना प्रकार के अपूर्व अपूर्व दृश्य और चमत्कार दिखलाये हैं उनको समझने की लोग कुछ भी कोशिश नहीं करते; पर रानी एलिज़ब्यथ के खिलाफ़ षड्यन्त्र रचनेवाली स्काटलेंड की रानी मेरी की कपट-कालिमा-विषयक एक आध शुष्क बात की चर्चा बड़े उत्साह से करने बैठते हैं! किसी ग्रीक या संस्कृत-कवि के एक आध श्लोक की आलोचना करने मे तो लोग अपनी सारी विद्वत्ता खर्च कर देते हैं, पर इस पृथ्वी के विशाल पृष्ठ पर जगदीश्वर ने अपनी करांगुली से प्रकृति-रूपी इस बड़े महाकाव्य की जो रचना कर रक्खी है उसकी तरफ़ वे आँख उठा कर भी नहीं देखते। कैसा निन्द्य व्यापार है!

६७—विज्ञान में विलक्षण सरसता है। बिना उसे जाने मनोरञ्जक कला-कौशलों से पूरा पूरा आनन्द नहीं मिल सकता।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाले इस आख़िरी काम के लिए भी विज्ञान की शिक्षा बहुत ज़रूरी है। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने ही में पूरे तौर पर मनोरञ्जन हो सकता है; और किसी तरह नहीं। हम कह चुके हैं कि साधारण रीति पर मनोरञ्जन की सारी बातों के आधार वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं।

सृष्टि-सौन्दर्य्य से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी कलायें हैं सबको जड़ शास्त्रीय तत्त्व हैं। इन तत्त्वों से—इन सिद्धान्तों से—जानकारी प्राप्त करने ही से मनोरञ्जक कलाकौशलों से आनन्द उठाने में कामयाबी हो सकती है। बिना इनको जाने पूरे तौर पर मनोरञ्जन नहीं हो सकता; और जितनी कारीगरियाँ हैं उनकी अच्छी तरह परीक्षा कर सकने और उनसे पूरा पूरा आनन्द उठा सकने के लिए उन चीज़ों के अवयवों का सम्बन्ध ज्ञात होना बहुत ज़रूरी है। वे किस तरह बनी हैं? उनके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध कैसा है? उनको देख कर मन में क्या क्या भाव पैदा होते हैं? बिना इन बातों के जाने कलाकौशल्य के कामों से पूरा पूरा आनन्द नहीं मिल सकता। और इन सब बातों को जानना मानों विज्ञान जानना है—मानों शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना है। यही नहीं कि कला-कौशल और कविता के जितने रूप हैं, विज्ञान-विद्या उन सबकी सिर्फ़ सखी है, किन्तु यथार्थ रीति से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि वह खुद ही कवितामय है। अर्थात् विज्ञान वह वस्तु है जिसमें खुद ही एक प्रकार की विलक्षण सरसता है।

६८—मन और बुद्धि पर हर तरह के ज्ञान का क्या असर होता है और उनकी अन्यसापेक्ष-योग्यता कितनी है।

यहाँ तक हमने इस बात का विचार किया कि व्यवहार में सब तरह के ज्ञानों का कितना उपयोग होता है और उनमें से हर एक का मोल कितना है। अब तक हमने सिर्फ़ इस बात पर बहस की कि किस तरह के ज्ञान से आदमी का कितना काम निकलता है। अब हमको यह देखना है कि हर तरह के ज्ञान का मन और बुद्धि पर क्या असर होता है और उनकी अन्य-सापेक्ष-योग्यता कितनी है—सापेक्षभाव के ख़याल से किसकी योग्यता कम है, किसकी अधिक। जिस विषय पर हम लिख रहे हैं उसके इस अंश का विचार, विवश होकर, हमें थोड़े ही में करना पड़ेगा, और सौभाग्य से इस पर बहुत कुछ लिखने की ज़रूरत भी नहीं है। थोड़े ही में काम निकल जायगा। जब हमको यह मालूम हो गया कि किसी एक काम के लिए

कौन बात सबसे अधिक अच्छी है तब, अनुमान द्वारा, हमें यह भी मालूम हो गया सा है कि किसी दूसरे काम के लिए कौन बात सबसे अधिक अच्छी है। एक काम हो जाने से दूसरा भी हो गया समझना चाहिए। इसमे कोई सन्देह नहीं कि जिन बातों का जानना चालचलन को सुधारने और हर एक काम को मुनासिब तौर पर करने के लिए सबसे अधिक ज़रूरी है उनके जानने—उनका अभ्यास करने—से मानसिक शक्तियों को भी सबसे अधिक लाभ पहुँचता है। ऐसी बातों के अभ्यास से बुद्धि की भी सञ्चालना होकर उसमे मज़बूती आती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए यदि एक तरह का अभ्यास दरकार होता और मानसिक शक्तियों को सुधारने के लिए दूसरी तरह का, तो सृष्टि के सुन्दर और सरल नियमों मे बट्टा लग जाता। इस संसार में सब कहीं हम यही देखते हैं कि जिस शक्ति का जो काम है उसी को करने से उस शक्ति में वह काम करने की अधिक योग्यता आती है, बनावटी कामों का अभ्यास करने से नहीं आती। इसके लिए स्वतंत्र संथा लेने और उसे घोखते बैठने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जानवरों के पीछे दौड़ने से ही अमेरिका के लाल रंग के जंगली आदमी इतने चुस्त, चालाक और तेज़ दौड़नेवाले हो जाते हैं कि शिकार उनसे भाग कर नही जाने पाता। इन लोगो का काम हमेशा दौड़ धूप करने का है। उसकी बदौलत इनके बदन की सब शक्तियाँ, मामूली तौर पर कसरत करके घर मे बैठे रहनेवालो की अपेक्षा, अधिक प्रबल और बढ़ी चढी होती हैं। इनके सब अंग बराबर बलवान् होते हैं—उनमे समभाव रहता है: यह नहीं कि कोई अंग अधिक सशक्त हो, कोई कम। इन लोगों को अपने शत्रुओं और शिकार की खोज मे प्रायः रोज़ दौड़ना पड़ता है। अतएव हमेशा दौड़ने धूपने के कारण इन लोगों मे जो चुस्ती और चालाकी आ जाती है वह और लोगों मे अस्वाभाविक कसरत करने से कभी नहीं आ सकती। यही बात सब कहीं पाई जाती है। दक्षिणी अफ़रीक़ा के घर-द्वार-विहीन बुशमैन नाम के असभ्य आदमियों को देखिए। जिन जीवों को पकड़ना या जिनसे दूर रहना चाहिए उन्हें ये लोग अभ्यास-वश दूर ही से पहचान लेते हैं। इस विषय मे इनकी दृष्टि इतनी तेज़ होती है

कि उसके सामने दूरबीन कोई चीज़ ही नहीं। जितनी दूर की चीज़ें ये लोग आँख से देख सकते हैं उतनी दूर की और लोग बिना दूरबीन लगाये हरगिज़ नही देख सकते। इन जंगली आदमियों से लेकर उन हिसाबी बाबुओं तक, जो प्रति दिन अभ्यास करते करते हिन्दसों की दस दस सतरों का एक साथ जोड़ लगा देते हैं, सब कहीं यही देखा जाता है कि स्वाभाविक शक्तियों की सबसे अधिक बढ़ती तभी होती है जब उन शक्तियों से वे काम लिये जाते हैं, जो आदमी को, अपनी जुदा जुदा अवस्थाओं के अनुसार, उदर निर्वाह के लिए, करने पड़ते हैं। बिना और कोई सबूत दिये हम इस बात को विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यही नियम सब तरह की शिक्षा के लिए भी उपयुक्त है। प्रति दिन व्यवहार मे काम आनेवाली जो शिक्षा सबसे अधिक क़ीमती और उपयोगी होगी वही शरीर, मन और बुद्धि की उन्नति के लिए भी सबसे अधिक क़ीमती और उपयोगी होगी।

६८—भाषा-शिक्षा की अपेक्षा विज्ञान-शिक्षा से स्मरण-शक्ति अधिक बढ़ती है।

हमारी आज-कल की शिक्षा-पद्धति मे भाषाओं के सीखने पर जो इतना जोर दिया जाता है उसका कारण लोग यह बतलाते हैं कि उससे स्मरण-शक्ति खूब बढ़ जाती है। वे कहते हैं कि भाषा-शिक्षा से यह बडा फायदा होता है। वे यह समझते हैं कि शब्दों को रटने से ही स्मरण-शक्ति बढ़ सकती है, और किसी तरह नहीं। परन्तु यह उनका भ्रम है। सच बात यह है कि स्मरण-शक्ति की बढती के लिए विज्ञान से बढ़ कर और कोई विषय नही। उसके लिए विज्ञान ही की सबसे अधिक जरूरत है। स्मरण-शक्ति को अपना विस्तार बढ़ाने के लिए शास्त्रीय विषयों के अभ्यास मे बहुत बड़ा मैदान खाली मिलता है। सौर-जगत् अर्थात् ग्रह-मालिका के विषय मे आज तक जितनी बातें जानी गई हैं उन सबको याद कर लेना कोई सहज काम नहीं। और आकाश-गङ्गा की रचना आदि के सम्बन्ध मे आज तक जो कुछ मालूम हुआ है उसे याद रखना तो और भी

कठिन काम है। रसायन-शास्त्र मे प्रति दिन नये नये मिश्रित पदार्थों का पता लगने से उनकी संख्या इतनी बढ़ गई है कि, स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों को छोड़ कर, शायद ही और कोई उन सबकी गिनती कर सके। सब मिश्र-पदार्थों की घटना, उनके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध, और उनकी संयोग-क्रिया आदि की बाते अच्छी तरह याद रखना तो, जन्म भर रसायन-विद्या का अभ्यास किये बिना, प्रायः असम्भव सा है। पृथ्वी की पीठ से, उसकी तहों से, और उसके पेट मे भरे हुए अनन्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने-वाली बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भूगर्भशास्त्र का अभ्यास करनेवालों को वर्ष के वर्ष बिताने पड़ते हैं। पृथ्वी की पीठ से जिन बातों का सम्बन्ध है वही थोड़ी नही; पेट से सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो और भी अधिक हैं। पदार्थ-विज्ञानशास्त्र को देखिए। ध्वनि, उष्णता, प्रकाश, बिजली इत्यादि इस शास्त्र के प्रधान अङ्ग हैं। इनमे सीखने लायक़ इतनी बाते हैं, कि उनकी असंख्येयता का ख़याल करके उसे सीखने की इच्छा रखनेवालों का कलेजा धड़क उठता है। और जब हम इन्द्रिय-विशिष्ट-विज्ञान की तरफ़ ध्यान देते हैं तब हमे वहाँ स्मरण-शक्ति की और भी अधिक ज़रूरत देख पड़ती है। अकेले मानव-शरीर-शास्त्र ही में हड्डियों, रगो और पट्ठों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबको अच्छी तरह याद रखने के लिए सीखनेवालों को छः छः सात सात दफ़े उनके नाम रटने पड़ते हैं। वनस्पति-विद्या के जाननेवालों ने वनस्पतियों के जो भेद किये हैं उनकी संख्या तीन लाख बीस हज़ार तक पहुँची है, और प्राणि-शास्त्र के ज्ञाताओं को प्राणियों की जिन तरह तरह की सूरतों से काम पड़ता है उनकी संख्या कोई बीस लाख है। विज्ञान-वेत्ताओ के सामने याद रखने और समझने लायक़ इतना बड़ा ख़ज़ाना पडा हुआ है कि उन्हे इन बातों के जानने के लिए अपनी मेहनत को अनेक भागों और उन भागो को अनेक विभागो मे बाँटना पड़ता है। बिना इसके उनका काम ही नहीं चल सकता। एक एक शाखा प्रशाखा का अलग अलग अभ्यास करने के लिए उन्हे विवश होना पडता है। हर आदमी किसी विशेष शाखा या प्रशाखा का पूरे तौर पर अभ्यास करके उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी शाखा-

प्रशाखाओं का साधारण तौर पर सिर्फ़ थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेता है; और बहुत हुआ तो और और शाखा-प्रशाखाओं की भी मोटी मोटी बातें जान लेता है । शास्त्रज्ञान की आज कल ऐसी ही व्यवस्था है । अतएव इसमे सन्देह नहीं कि यदि वैज्ञानिक विषयो की, काम निकाल लेने ही भर के लिए, बहुत ही परिमित शिक्षा प्राप्त की जाय तो भी स्मरणशक्ति को बढ़ाने के लिए काफ़ी सामग्री विद्यमान है । और कुछ नहीं तो कम से कम इतना तो ज़रूर ही है कि विज्ञान की शिक्षा से स्मरण-शक्ति उतनी ही बढ़ सकती है जितनी कि भाषा की शिक्षा से ।

७०—वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा से स्मरण-शक्ति भी बढ़ती है और बुद्धि भी बढ़ती है ।

अब इस बात का विचार कीजिए कि सिर्फ़ स्मरण-शक्ति को बढ़ाने के लिए यदि भाषा-शिक्षा का उतना ही उपयोग हो जितना कि विज्ञान-शिक्षा का, उससे अधिक नहीं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक विषयो के अभ्यास से स्मरण-शक्ति की जो वृद्धि होती है उसमे एक प्रकार की विशेषता है । इस विशेषता के कारण वह वृद्धि भाषाओ के अभ्यास से प्राप्त हुई वृद्धि की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है । भाषा सीखने मे जो बातें याद करनी पड़ती हैं उनका सम्बन्ध संसार की जिन घटनाओं से होता है वे बहुत करके आकस्मिक होती हैं । उनके सम्बन्ध को लोग वैसा मान लेते हैं । यह नहीं कि इस तरह का सम्बन्ध निश्चित रूप से होता ही है । परन्तु वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा प्राप्त करने मे जिन बातों या जिन कल्पनाओ का सम्बन्ध ध्यान मे रखना पड़ता है वह सम्बन्ध सांसारिक घटनाओं और सांसारिक वस्तुओं से निश्चित होता है । वैज्ञानिक बातों का जो सम्बन्ध सांसारिक वस्तुओं से होता है वह बहुधा जरूरी होता है, नित्य होता है, नियमित होता है । वह आकस्मिक या अनिश्चित नहीं होता; उसमे कार्य्य-कारण-भाव का लगाव भी रहता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्द और अर्थ में एक प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध-सूत्र की खोज यदि जड़ तक नहीं, तो बहुत दूर तक, ज़रूर हो सकती है । यह खोज कुछ

निश्चित नियमों के अनुसार की जाती है। इन नियमों के समूह से मनो-विज्ञान की एक शाखा बन गई है। इस शाखा का नाम है—"भाषा-विज्ञान"। परन्तु इस बात को शायद सब लोग स्वीकार करेंगे कि आज कल, मामूली तौर पर, भाषाओं की शिक्षा मे न तो शब्द और अर्थ का ही सम्बन्ध बतलाया जाता है और न उनके नियम ही बतलाये जाते हैं। इससे लोग शब्दार्थ के सम्बन्ध को अनित्य या आकस्मिक समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इस तरह का सम्बन्ध नित्य है—स्वाभाविक है। परन्तु विज्ञान की बात इससे बिलकुल उलटी है। क्योंकि जितनी वैज्ञानिक बाते हैं—जितने वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं—उन सबका सम्बन्ध कार्य-कारण-भाव-युक्त होता है और अच्छी तरह सिखलाने से समझ मे भी आजाता है। भाषा की शिक्षा मे शब्दार्थों का सम्बन्ध जानने के लिए बुद्धि-सञ्चालना की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। वैज्ञानिक बातों का सम्बन्ध समझने के लिए बुद्धि-संचालना के बिना काम ही नहीं चल सकता। मतलब यह कि भाषा सीखने के लिए स्मरण-शक्ति की संचालना की भी ज़रूरत पड़ती है और बुद्धि की संचालना की भी।

७१—विज्ञान-शिक्षा से विचार और विवेचना की भी शक्ति बढ़ती है। अतएव भाषा की शिक्षा से उसका महत्त्व अधिक है।

एक बात और भी है। वह यह कि शास्त्रीय विषयों का अभ्यास करने में मन से अधिक काम लेना पड़ता है। इससे विचार और विवेचना की शक्ति बढ़ जाती है। अतएव इस कारण से भी भाषा की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्त्व देना चाहिए। रायल इन्स्टिट्यूशन नामक विद्यालय मे एक दफ़े अध्यापक फराडे ने मानसिक शिक्षा पर एक व्याख्यान दिया। उसमें उन्होने यह बात बहुत ही अच्छी कही कि हम लोगों की मानसिक शिक्षा मे सबसे बड़ा दोष विचार-शून्यता है। अध्यापक महाशय का कथन है कि मामूली तौर पर लोग सिर्फ़ इस बात से ही अनभिज्ञ नहीं कि हमारी शिक्षा मे विचार और विवेचना-शक्ति की कमी है, किन्तु इस विषय की अपनी अनभिज्ञता से भी वे अनभिज्ञ हैं। उनकी राय मे इस अज्ञान का कारण वैज्ञा-

निक शिक्षा का अभाव है । यह यथार्थ है । इसमे कोई संदेह नहीं । जिन चीज़ो को हम रोज़ अपने चारों तरफ़ देखते हैं, जिन बातों को हम रोज़ सुनते हैं, और जो नतीजे रोज़ हमारी आँखों के सामने रहते हैं, उनका यथार्थ ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब हम उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी तरह समझ सके और यह जान सकें कि किस तरह वे एक दूसरे पर अवलम्बित हैं । शब्दों के अर्थ से चाहे जितनी जानकारी हो जाय, पर उसकी सहायता से कार्य्य-कारण-सम्बन्धी अनुमान नहीं निकाले जा सकते । अर्थ जानकर कोई यह नहीं जान सकता कि उस अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाला कारण क्या है और उसका कार्य्य क्या है । सच्ची विवेचना की शक्ति तभी आती है जब आदमी किसी बात को लेकर उससे सिद्धान्त निकालने, और तजरिबे तथा प्रत्यक्ष देख-भाल के द्वारा उस सिद्धान्त की सचाई साबित करने, की आदत डालता है । इसी आदत की बदौलत आदमी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होता है, अन्यथा नहीं। विज्ञान-शास्त्र के अभ्यास से इस तरह की आदत ज़रूर पड़ जाती है । विज्ञान-शिक्षा से जो अनगिनत लाभ होते हैं उनमें से यह भी एक है ।

७२—विज्ञान-शिक्षा से विचार-शक्ति भी बढ़ती है और आचरण भी सुधर जाता है ।

विज्ञान की शिक्षा सिर्फ़ इसी लिए उत्तम नहीं कि उससे बुद्धि बढ़ती है—उससे विचार-शक्ति तेज़ हो जाती है—किन्तु आचरण सुधारने के लिए भी वह सर्वोत्तम है । सदाचार की उन्नति के लिए भी उसे सबसे अच्छा साधन समझना चाहिए । भाषाओं के अभ्यास से यदि कुछ होता है तो यह कि दूसरों की कही हुई बातों को प्रामाण्य मान लेने की आदत, जो पहले ही से रहती है, और भी अधिक हो जाती है । औरों के वाक्यों का हम लोग यों ही बहुत आदर करते हैं । भाषायें सीखने से वह आदर और भी अधिक बढ़ जाता है । अमुक अध्यापक अथवा अमुक कोशकार के अनुसार इन शब्दों का यह अर्थ है ; इस विषय में व्याकरण का यह नियम है । विद्यार्थी को इस तरह की बातें वेद-वाक्य के समान ग्रहण करनी पड़ती हैं । विचार

और विवेचना से उसे कोई काम नहीं लेना पड़ता। उसके मन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी हो जाती है कि जो कुछ उससे कहा जाता है उसे वह चुपचाप मान लेता है। इसका यह नतीजा होता है कि जो बाते परम्परा से चली आई हैं उनको बिना विचार या विवेचना के ही वह प्रामाण्य मान बैठता है। उसकी तबीयत का झुकाव ही कुछ ऐसा हो जाता है कि इस तरह की बातो के सत्यासत्य-निर्णय की वह परवा ही नहीं करता। पर विज्ञान-शिक्षा का फल इससे बिलकुल उलटा होता है। विज्ञान के अभ्यास से मन का झुकाव और ही तरह का हो जाता है। विज्ञान सीखने मे बहुत सी बातों का विचार आदमी को ख़ुद ही करना पड़ता है—उसे अपनी ही बुद्धि से बहुत कुछ काम लेना पड़ता है। शास्त्रीय बातें की सत्यता किसी के वाक्य पर अवलम्बित नही रहती। किसी के कह देने ही से शास्त्रीय बाते सच नहीं मान ली जातीं। उनकी परीक्षा—उनकी जॉच—का सबको अख़तियार है। सबको इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे उन बातों की यथेच्छ जॉच कर लें। यहॉ तक कि अनेक विषयें मे विद्यार्थी को ख़ुद ही विचार करके सिद्धान्त निकालने पड़ते हैं। वैज्ञानिक विषयें के विचार में विद्यार्थी को हर घड़ी अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। उससे यह कभी कोई नहीं कहता कि बिना प्रत्यक्ष अनुभव के वह किसी बात को सच मान ले। अपने अनुभव से वह जो सिद्धान्त निकालता है उनकी सत्यता का प्रमाण जब उसे सृष्टिक्रम में मिल जाता है तब अपनी मानसिक विचार-शक्ति पर उसे और भी अधिक भरोसा हो जाता है। अपनी की हुई विवेचना के नतीजो पर तब उसका विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। ये सब बातें उस विचार-स्वातन्त्र्य का अंकुर हैं जो सदाचरण के लिए बहुत ही लाभदायक हैं। इस तरह का विश्वास प्रति दिन बढ़ते रहने से मनुष्य की स्वतन्त्रता भी बढ़ जाती है। और यह विचार-स्वतन्त्रता बहुत ही अच्छी चीज़ है। यह न समझना चाहिए कि विज्ञान के अभ्यास से सिर्फ़ इतना ही बुद्धिविषयक लाभ होता है। अपनी ही बुद्धि के भरोसे यदि विज्ञान की शिक्षा हमेशा प्राप्त की जाय, और सब बातो की असलियत की खोज मे बुद्धि का प्रयोग किया जाय—और ऐसा ही होना भी चाहिए—तो धैर्य्य, एकनिष्ठा

और सत्य-प्रीति भी बढ़ जाय। अर्वाचीन विद्वान्, अध्यापक टिंडल, व्यक्ति-परीक्षा-पूर्वक खोज के विषय मे कहते हैं:—"इसमे धैर्य्य से काम करना चाहिए। इस तरह की खोज मे जल्दी करना उचित नही। बहुत धीरज के साथ मेहनत करनी चाहिए। सृष्टि मे जो कुछ देख पड़े उसे अधीनता और एकनिष्ठा से आदर-पूर्वक मानना चाहिए। इस विषय मे कामयाबी की पहली शर्त यह है कि जो बातें पहले से अपने दिमाग़ मे भरी हुई हैं वे यदि सत्य की विरोधी हैं तो, फिर चाहे वे कितनी ही प्रिय क्यों न हो, उन्हे छोड़ने और नई नई सच्ची बातों को स्वीकार करने के लिए जी जान से तैयार रहना चाहिए। जिसे किसी बात का आग्रह नही है—जो अपने पूर्व-स्वीकृत मत छोडने को तैयार है—उसके मन को बहुत उदार समझना चाहिए। विश्वास कीजिए, ऐसी उदारता दुनिया में बहुत कम पाई जाती है। पर विज्ञान के सच्चे सेवक के तजरिबों में इस तरह की उदारता बहुधा देखी जाती है"।

७३—वैज्ञानिक शिक्षा से धर्म्म पर अधिक श्रद्धा हो जाती है।

अखीर में हमें एक बात और कहनी है। इसे कह कर हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। यह ऐसी बात है कि इसे सुन कर सुननेवालों को अत्यन्त आश्चर्य होगा। साधारण विद्याभ्यास की अपेक्षा वैज्ञानिक शिक्षा को जो हम इतना महत्त्व देते हैं—उसे जो हम इतना उपयोगी समझते हैं—उसका एक कारण और भी है। वह यह कि वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से धार्मिक शिक्षा भी मिलती है। उससे लोगों की श्रद्धा धर्म्म पर अधिक हो जाती है। कहिए, यह आश्चर्य की बात है या नहीं? बेशक, हम, यहां पर, "वैज्ञानिक" और "धार्म्मिक" शब्दों का प्रयोग उस परिमित और संकुचित अर्थ मे नहीं करते जिसमें कि सब लोग, मामूली तौर पर, प्रति दिन करते हैं। हम इन शब्दों का प्रयोग, यहां पर, बहुत उदात्त और व्यापक अर्थ मे करते हैं। धर्म्म के नाम से जो अन्ध-परम्परायें फैली हुई हैं उनमें और विज्ञान में जरूर परस्पर विरोध है। विज्ञान-शास्त्र उनका जरूर दुश्मन है। परन्तु धर्म्म के जो सच्चे तत्त्व इन अन्ध-परम्पराओं में छिपे रहते हैं उनका

और विवेचना से उसे कोई काम नहीं लेना पड़ता। उसके मन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी हो जाती है कि जो कुछ उससे कहा जाता है उसे वह चुपचाप मान लेता है। इसका यह नतीजा होता है कि जो बाते परम्परा से चली आई हैं उनको बिना विचार या विवेचना के ही वह प्रामाण्य मान बैठता है। उसकी तबीयत का झुकाव ही कुछ ऐसा हो जाता है कि इस तरह की बातों के सत्यासत्य-निर्णय की वह परवा ही नहीं करता। पर विज्ञान-शिक्षा का फल इससे बिलकुल उलटा होता है। विज्ञान के अभ्यास से मन का झुकाव और ही तरह का हो जाता है। विज्ञान सीखने मे बहुत सी बातो का विचार आदमी को ख़ुद ही करना पड़ता है—उसे अपनी ही बुद्धि से बहुत कुछ काम लेना पड़ता है। शास्त्रीय बातों की सत्यता किसी के वाक्य पर अवलम्बित नहीं रहती। किसी के कह देने ही से शास्त्रीय बातें सच नहीं मान ली जातीं। उनकी परीक्षा—उनकी जॉच—का सबको अख़तियार है। सबको इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे उन बातों की यथेच्छ जॉच कर लें। यहॉ तक कि अनेक विषयों मे विद्यार्थी को ख़ुद ही विचार करके सिद्धान्त निकालने पड़ते हैं। वैज्ञानिक विषयों के विचार मे विद्यार्थी को हर घड़ी अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। उससे यह कभी कोई नहीं कहता कि बिना प्रत्यक्ष अनुभव के वह किसी बात को सच मान ले। अपने अनुभव से वह जो सिद्धान्त निकालता है उनकी सत्यता का प्रमाण जब उसे सृष्टिक्रम में मिल जाता है तब अपनी मानसिक विचार-शक्ति पर उसे और भी अधिक भरोसा हो जाता है। अपनी की हुई विवेचना के नतीजो पर तब उसका विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। ये सब बातें उस विचार-स्वातन्त्र्य का अंकुर हैं जो सदाचरण के लिए बहुत ही लाभदायक हैं। इस तरह का विश्वास प्रति दिन बढ़ते रहने से मनुष्य की स्वतन्त्रता भी बढ़ जाती है। और यह विचार-स्वतन्त्रता बहुत ही अच्छी चीज है। यह न समझना चाहिए कि विज्ञान के अभ्यास से सिर्फ़ इतना ही बुद्धिविषयक लाभ होता है। अपनी ही बुद्धि के भरोसे यदि विज्ञान की शिक्षा हमेशा प्राप्त की जाय, और सब बातों की असलियत की खोज मे बुद्धि का प्रयोग किया जाय—और ऐसा ही होना भी चाहिए—तो धैर्य्य, एकनिष्ठा

और सत्य प्रीति भी बढ़ जाय। अर्वाचीन विद्वान्, अध्यपाक टिंडल, व्यक्ति-परीक्षा-पूर्वक खोज के विषय में कहते हैं:—"इसमे धैर्य्य से काम करना चाहिए। इस तरह की खोज मे जल्दी करना उचित नहीं। बहुत धीरज के साथ मेहनत करनी चाहिए। सृष्टि मे जो कुछ देख पड़े उसे अधीनता और एकनिष्ठा से आदर-पूर्वक मानना चाहिए। इस विषय मे कामयाबी की पहली शर्त यह है कि जो बातें पहले से अपने दिमाग़ मे भरी हुई हैं वे यदि सत्य की विरोधी हैं तो, फिर चाहे वे कितनी ही प्रिय क्यों न हों, उन्हें छोड़ने और नई नई सच्ची बातों को स्वीकार करने के लिए जी जान से तैयार रहना चाहिए। जिसे किसी बात का आग्रह नहीं है—जो अपने पूर्व-स्वीकृत मत छोड़ने को तैयार है—उसके मन को बहुत उदार समझना चाहिए। विश्वास कीजिए, ऐसी उदारता दुनिया मे बहुत कम पाई जाती है। पर विज्ञान के सच्चे सेवक के तजरिबों में इस तरह की उदारता बहुधा देखी जाती है"।

७३—वैज्ञानिक शिक्षा से धर्म्म पर अधिक श्रद्धा हो जाती है।

अखीर मे हमे एक बात और कहनी है। इसे कह कर हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। यह ऐसी बात है कि इसे सुन कर सुननेवालों को अत्यन्त आश्चर्य होगा। साधारण विद्याभ्यास की अपेक्षा वैज्ञानिक शिक्षा को जो हम इतना महत्त्व देते हैं—उसे जो हम इतना उपयोगी समझते हैं—उसका एक कारण और भी है। वह यह कि वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से धार्मिक शिक्षा भी मिलती है। उससे लोगों की श्रद्धा धर्म्म पर अधिक हो जाती है। कहिए, यह आश्चर्य की बात है या नहीं? बेशक, हम, यहाँ पर, "वैज्ञानिक" और "धार्म्मिक" शब्दो का प्रयोग उस परिमित और संकुचित अर्थ मे नहीं करते जिसमे कि सब लोग, मामूली तौर पर, प्रति दिन करते हैं। हम इन शब्दों का प्रयोग, यहाँ पर, बहुत उदात्त और व्यापक अर्थ मे करते हैं। धर्म्म के नाम से जो अन्ध-परम्परायें फैली हुई हैं उनमें और विज्ञान मे ज़रूर परस्पर विरोध है। विज्ञान-शास्त्र उनका ज़रूर दुश्मन है। परन्तु धर्म्म के जो सच्चे तत्त्व इन अन्ध-परम्पराओं में छिपे रहते हैं उनका

वह विरोधी नही। उनसे तो विज्ञान का सर्वथा ऐक्य है। इसमें कोई सन्देह नही कि जिसे लोग आज कल विज्ञान या शास्त्रीय अभ्यास कहते हैं उसमें नास्तिकता का कुछ अंश ज़रूर है। उसमें थोड़ी बहुत अधार्मिकता जरूर पाई जाती है। पर उस सच्चे विज्ञान-शास्त्र मे यह बात नही जो बाहरी बातों का उल्लंघन करके भीतरी तत्त्वो तक पहुँच गया है। जो शास्त्र अगाध तत्त्वों के विचार में लीन है उसमें अधार्मिकता का लेश-मात्र भी नही। अध्यापक हक्सले नाम के विज्ञान-वेत्ता ने, अभी थोड़े ही दिन हुए, कई व्याख्यान दिये थे। उनका उपसंहार करते समय विज्ञान और धर्म्म के विषय मे उन्होंने क्या कहा था सो सुनिए:—

"सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म्म, ये दोनो, यमज भाई है। अथवा यों कहिए कि ये एक ही साथ जुडे हुए पैदा हुए है। इनमें से यदि एक दूसरे से अलग कर दिया जायगा तो दोनो की मौत हो जायगी, दो मे से एक भी बचने का नहीं। विज्ञान में जितनी ही अधिक धार्म्मिकता होगी उतनी ही अधिक उसकी उन्नति होगी। विज्ञान का अभ्यास करते समय मन की धार्म्मिक वृत्ति का परिमाण जितना होगा उसी परिमाण के अनुसार अभ्यास की तरक्क़ी होगी। इसी तरह विज्ञान-विषयक खोज जितनी अधिक गहरी होगी और उसका आधार जितना अधिक दृढ़ होगा, धर्म्म का विकाश भी उतना ही अधिक होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने आज तक जो बडे बडे काम किये है उन्हें सिर्फ़ उनके बुद्धि-वैभव का फल न समझिए। उनकी धार्म्मिक प्रवृत्ति इसमे अधिक कारणीभूत है। यदि उनके मन मे धार्म्मिक उत्साह की मात्रा अधिक न होती तो उनके हाथ से कभी ऐसे बडे बडे काम न होते। विद्या-वधू ने सिर्फ़ उनकी कुशाग्र-बुद्धि और तर्कना-शक्ति पर मोहित होकर उनके कण्ठ में जयमाल नहीं डाला, किन्तु उनकी धीरता, सत्यप्रीति, सहिष्णुता, एकनिष्ठा और आत्मनिग्रह पर मोहित होकर डाला है"।

७४—विज्ञान के अभ्यास से आदमी अधार्म्मिक नहीं हो जाता, उसके अनभ्यास से अधार्म्मिक हो जाता है।

बहुत लोगों का ख़याल है कि विज्ञान का अभ्यास करने से आदमी अधार्म्मिक हो जाता है, उसमें नास्तिकता आ जाती है। यह भ्रम है।

विज्ञान पढ़ने से धर्म्म-हानि नहीं होती, इसके न पढ़ने ही से होती है। जो प्राकृतिक पदार्थ—जो सृष्टिवैचित्र्य—हमें, अपने हर तरफ़, देख पड़ते हैं उनको अच्छी तरह न देखने और उनके विषय में अच्छी तरह विचार न करने ही से धर्म्म का नाश हो रहा है। एक सीधा सादा उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि किसी ग्रन्थकार की प्रति दिन प्रशंसा हो रही है, उसकी स्तुति मे आकाश-पाताल एक किया जा रहा है। कल्पना कीजिए कि जो स्तुतिपाठ उसका हो रहा है उसमे सिर्फ़ उसकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और रचना-सौरस्य ही का वर्णन है। कल्पना कीजिए कि उसकी किताबों की तारीफ़ों का पुल बाँधनेवालो ने सिर्फ़ उनके बाहरी रूप-रङ्ग को देख कर ही यह आडम्बर रचा है, उन किताबों मे लिखी हुई बातों को समझने की कोशिश तो दूर रही, कभी उनको खोल कर देखा भी नहीं। इस दशा में, आपही कहिए, ऐसे आदमियों की की हुई स्तुति का मोल कितना होगा? उनकी सचाई के विषय मे हमारा कैसा ख़याल होगा? तथापि यदि छोटी छोटी चीज़ों का मुक़ाबला बड़ी बड़ी चीज़ों से किया जाय तो मालूम होगा कि इस विस्तृत विश्व और उसके आदि-कारण (परमेश्वर) के विषय में, आदमियों की प्रवृत्ति, आम तौर पर, ठीक इसी तरह की है। इसी तरह की नहीं, किन्तु इससे भी बदतर है। यही नहीं कि आदमी, बिना देखे भाले, उन चीज़ो के पास से होकर निकल जाते हैं जिनको वे प्रति दिन अद्भुत अद्भुत चमत्कारों से भरी हुई बतलाते हैं, किन्तु जो लोग उन चीज़ों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनका लोग उपहास करते हैं और यह तक कहने से नहीं चूकते कि उनके अवलोकन में इन लोगों का जो समय ख़र्च होता है वह व्यर्थ जाता है। और तो क्या, सृष्टि-सम्बन्धी चमत्कारिक बातो का दिल लगा कर अभ्यास करनेवालों का आदमी धिक्कार तक करते हैं—उनको भला बुरा तक कहते नहीं सकुचते। अतएव हम इस बात को दुबारा कहते हैं कि विज्ञान के अभ्यास से नहीं, किन्तु अनभ्यास से, धर्म्म-हानि होती है। विज्ञान-विद्या का आदर करना—शास्त्र का अभ्यास करना—मानों इस जगन्नायक परमेश्वर की चुपचाप पूजा करना है। सृष्ट पदार्थों के महत्त्व का ज्ञान होने से उन पदार्थों के आदि-कारण (जगदीश्वर) के

विषय मे विज्ञान-वेत्ताओं के मन में पूज्यभाव उत्पन्न हुए विना नहीं रहता। इस तरह की पूजा सिर्फ़ मुख-पाठ नहीं—सिर्फ मुँह से किया गया स्तुति-घोष नहीं—किन्तु प्रत्यक्ष कार्यों के रूप मे परमेश्वर की उपासना है। यह सिर्फ़ मुँह से स्वीकार की गई दाम्भिक भक्ति नहीं, किन्तु वह सच्ची भक्ति-रूपी यज्ञ है जिसमे आदमी को समय, श्रम और विचारों की आहुति देनी पड़ती है। अर्थात् विश्वरूप परमात्मा को प्रसन्न करने का यह वह महायाग है जिसमे बहुमूल्य समय, श्रम और विचार की दक्षिणा लगती है।

७५—विज्ञान-विद्या से विश्वजात वस्तुओं की कार्य्य-कारण-सम्बन्धिनी एकरूपता में पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है और उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले प्राकृतिक नियम समझ में आने लगते हैं।

सिर्फ़ इसी कारण से हम सच्चे विज्ञान को धर्मप्रवर्तक नहीं मानते। वह इस कारण से भी धार्म्मिक प्रवृत्ति को बढ़ाता है कि संसार के सारे पदार्थों की स्थिति और कार्य्य-कारण-शक्ति मे जो एक प्रकार की एकरूपता देख पड़ती है उसके विषय मे वह पूज्य बुद्धि पैदा करता है, और उस पर आदमी के विश्वास को बढाता है। विज्ञान के अभ्यास से प्राप्त हुए तजरिबों की बदौलत सृष्टि की अपरिवर्तनीय बातों पर—सृष्टि के शाश्वत विषयों पर—आदमी का विश्वास दृढ़ हो जाता है; कार्य्य-कारण का नित्य-सम्बन्ध समझ मे आने लगता है, और शुभाशुभ कर्म्मों के फल-भोग की आवश्यकता का ज्ञान भी हो जाता है। इस लोक मे किये गये कर्म्मों के शुभाशुभ फलो के विषय में, परम्परा से प्राप्त हुई कल्पना के अनुसार, लोगों के ख़याल बहुत ही वेढंगे हैं। लोग इस बात की व्यर्थ आशा रखते हैं कि प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके भी वे दण्ड से बच जायँगे। वे समझते हैं कि जिस बात का परिणाम दुःख होना चाहिए उसे करके भी वे दुःख न पावेंगे। अर्थात् दुःख का किसी न किसी तरह निवारण करके वे सुख ही सुख भोगते रहेंगे। यह उनका भ्रम है। विज्ञान-वेत्ता इस तरह के भ्रम में नहीं

पड़ते। वे जानते हैं कि संसार मे जो कुछ है उसकी स्थिति ही ऐसी है कि उसके शुभाशुभ फलों से आदमी नहीं बच सकता। वस्तु-स्थिति के अनुसार जो जैसा कर्म्म करता है उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। इन बातों को शास्त्रज्ञ मनुष्य ब्रह्मवाक्य समझता है। उसे इस बात पर पूरा विश्वास होता है कि सांसारिक नियम भंग करने से होनेवाले अशुभ फलों से आदमी हरगिज़ नहीं बच सकता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह समझता है कि जिन प्राकृतिक नियमों का पालन करना मनुष्य का धर्म्म है वे कठोर भी हैं और सुखद भी हैं। उसको विश्वास है कि उन नियमो का पालन करने से—उनको प्रमाण मान कर तदनुसार व्यवहार करने से—सब बातें सुधरती चली जाती हैं और प्रतिदिन अधिकाधिक सुख का कारण होती हैं। प्राकृतिक नियमों के परिपालन से हर वस्तु की स्थिति सुधर जाती है और सुख की वृद्धि होती है। इस मर्म्म को जितना विज्ञान-वेत्ता समझ सकता है उतना और कोई नहीं। इसी से वह इन नियमों का दृढ़ता के साथ पालन करता है। और यदि उनके पालन में बेपरवाही देख पड़ती है तो उसे क्रोध आता है। वह हमेशा इस बात का प्रतिपादन करता है कि संसार मे प्रत्येक वस्तु के नियामक ऐसे शाश्वत और अनुल्लंघनीय नियम हैं जिनका पालन बहुत जरूरी है। इस प्रकार वह अपने को सच्चा धार्म्मिक सिद्ध करता है।

७९—विज्ञान इस बात को साबित करता है कि जगत् के आदि-कारण (परमेश्वर) का ज्ञान होना मानवी बुद्धि के लिए असम्भव है।

विज्ञान में एक और भी धर्म्म-तत्त्व है। उसे भी हम, यहाँ पर, दिखलाते हैं। इस अन्तिम तत्त्व का जिक्र करके हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। विज्ञान ही की बदौलत हमको अपने आपका ज्ञान हो सकता है। अर्थात् आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिए विज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जीवन के अतर्क्य अस्तित्व से हम लोगों का जो सम्बन्ध है उसकी कल्पना भी हमें विज्ञान ही की बदौलत हो सकती है। जगत् मे जो कुछ ज्ञेय है, उसमें जितनी बातें जानने योग्य हैं, उनका ज्ञान होना विज्ञान ही की सहायता से सम्भव है।

विज्ञान ही की कृपा से आदमी यह जान सकता है कि उसके ज्ञान की मर्य्यादा कितनी है—उसके ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है। विज्ञान सिर्फ़ अपने ही अधिकार के बल पर यह नहीं कहता कि जगत् के आदि-कारण का ज्ञान अप्राप्य है—वह समझ में नहीं आ सकता। नहीं, वह अनेक युक्तियों से हमे, अपने चारों तरफ़, उन सीमाओ तक पहुँचा देता है जिनके आगे मानवी ज्ञान का जाना असम्भव है। वह मानवी ज्ञान की मर्य्यादा तक पहुँचा कर इस बात को हमारे चित्त-पटल पर बड़ी सफ़ाई से लिख देता है कि हम अब इसके आगे नहीं जा सकते। वह उस मर्य्यादा के आगे जाने की असम्भवनीयता को खद हमसे ही खुल्लमखुल्ला क़बूल करा लेता है। इसमें वह ज़बरदस्ती नहीं करता, अपने अधिकार के बल पर वह हमे उस मर्य्यादा के आगे जाने को नहीं रोकता, जो ज्ञान, जो विषय, जो तत्त्व मानवी बुद्धि से नहीं ग्रहण किया जा सकता उसकी हद तक पहुँचा कर, मानवी बुद्धि की क्षुद्रता को विज्ञान-शास्त्र जितनी योग्यता से साबित कर देता है उतनी योग्यता से और कोई नहीं कर सकता। शास्त्राभ्यास में अज्ञेय, अपरिमेय और अपरिच्छेद्य तत्त्वों का सामना पड़ने के कारण, अपनी बुद्धि की तुच्छता आदमी को सहज ही मे मालूम हो जाती है। परम्परा से प्राप्त हुई साम्प्रदायिक बातों और पण्डितंमन्य लौकिक जनों के प्रमाण-भूत वाक्यों की दृष्टि में विज्ञान-वेत्ताओं का बर्ताव उद्धत और अभिमान-पूर्ण हो सकता है, पर उस अभेद्य परदे की दृष्टि में नहीं जिसने कि परमात्मा की अनादि शक्ति को छिपा रक्खा है। उस परदे के सामने—उस आवरण के सामने—उनका बर्ताव बहुत ही नम्र और विनय-सम्पन्न होता है। यह सच्चा अभिमान है। यह सच्ची नम्रता है। अतएव इसमें कोई दोष नहीं; यह सर्वथा निर्दोष है। दूरी का हिसाब लगानेवाले, मिश्र पदार्थों का पृथक्करण करनेवाले, या चीजों को अपने अपने वर्ग के अनुसार बाँटनेवाले को हम विज्ञानवेत्ता या शास्त्रज्ञ नहीं समझते। वह सिर्फ़ नाम के लिए विज्ञानवेत्ता या शास्त्रज्ञ है। हम सच्चा विज्ञानवेत्ता उसे कहते हैं जो क्षुद्र सत्य से आरम्भ करके महान् सत्य तक पहुँचने का यत्न करता है—जो तत्त्व-सोपान की सबसे नीचे की सीढ़ी पर पैर रख कर क्रम क्रम से सबसे ऊँची सीढ़ी तक पहुँचने की

कोशिश करता है। उसी को हम सच्चा विज्ञान-भक्त समझते हैं। वही इस बात को पूरे तौर पर जान सकता है कि परमात्मा की विश्वव्यापिनी शक्ति, जो इस विस्तृत विश्व मे प्रकृति, प्राण और ज्ञान के रूप में विद्यमान है, मनुष्य की समझ से ही दूर नहीं, किन्तु उसकी कल्पना से भी दूर है। न तो मनुष्य उसे समझ ही सकता है और न उसकी कल्पना ही कर सकता है।

७७—हर तरह की शिक्षा के लिए विज्ञान से बढ़कर और कोई विषय नहीं।

इससे यह नतीजा निकलता है कि व्यवहार-ज्ञान और सब तरह की शिक्षाओं के लिए विज्ञान की क़ीमत सबसे अधिक है। उससे आदमी व्यवहार में भी प्रवीण हो जाता है और उसकी मानसिक शक्तियाँ भी सुधर जाती हैं। विज्ञान ही आदमी को सन्मार्ग मे प्रवृत्त कर सकता है। शब्दों का अर्थ समझने की अपेक्षा चीजों का अर्थ समझना, सब तरह से, अच्छा है। मानसिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा के लिए व्याकरण और कोश रटते बैठने की अपेक्षा जिन चीज़ों को हम अपने चारों तरफ़ देखते हैं उन्हें देखना और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातों का मन लगा कर अभ्यास करना बहुत अधिक लाभदायक और कल्याणकारी है।

७८—इस प्रकरण के शुरू में पूछे गये प्रश्न का उत्तर यह है कि—"संसार में सबसे अधिक उपयोगी शिक्षा विज्ञान है।"

"संसार मे कौनसी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है"? इस प्रश्न का उत्थान करके हमने यह प्रकरण शुरू किया था। हर तरह से विचार करने पर इसका यही उत्तर मिलता है कि—"विज्ञान-शिक्षा"। सब बातों की विवेचना से जो सिद्धान्त निकलता है वह यही है। विज्ञान ही से सब बातों में यथेच्छ कामयाबी हो सकती है। प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा के लिए सबसे अधिक उपयोगी विद्या विज्ञान ही है; और शरीर और प्राण-रक्षा के लिए भी वही

सबसे अधिक उपयोगी है। परोक्ष प्राण-रक्षा अर्थात् उदर-निर्वाह के लिए भी सबसे अधिक क़ीमती विद्या विज्ञान ही है। माता-पिता के कर्तव्यों का उचित रीति से पालन करने के लिए भी विज्ञान-शिक्षा की सबसे अधिक ज़रूरत है। जिस भूत और वर्तमान काल के जातीय-जीवन-ज्ञान के बिना कोई नागरिक अपना काम अच्छी तरह नहीं कर सकता—अर्थात् जिसके बिना अपने देश और देशवासियों की प्राचीन और नवीन स्थिति की देख-भाल करके राजकीय और सार्वजनिक कामों की व्यवस्था कोई नगर-निवासी मुनासिब तौर पर नहीं कर सकता—उस जातीय-जीवन-ज्ञान की कुंजी भी विज्ञान ही है। यों ही, सब तरह की कारीगरी की उत्तमोत्तम चीज़ें पैदा करने और उनसे तथा ललित कलाओं से पूरा पूरा मनोरंजन होने की योग्यता भी विज्ञान-शिक्षा ही की बदौलत प्राप्त होती है, उसकी तैयारी के लिए भी विज्ञान ही की ज़रूरत पड़ती है। बुद्धि को बढ़ाने, नीति को सुधारने और धर्म्म की ओर झुकाने का सबसे बड़ा साधन भी विज्ञान ही है, यहाँ पर भी विज्ञान ही के अभ्यास की सबसे अधिक ज़रूरत है। जो बात पहले इतनी पेचीदा मालूम हुई थी वह, विचार की ख़राद पर चढ़ाने से, अब सहल हो गई। विवेचना से साबित हो गया कि वह उतनी पेचीदा नहीं जितनी कि मालूम हुई थी। इस बात का अन्दाज़ लगाने की कोई ज़रूरत नहीं कि आदमी को जुदा जुदा जितने व्यवसाय करने पड़ते हैं उनका महत्त्व कितना है और उन व्यवसायों को अच्छी तरह कर सकने के लिए किन किन विषयों का कितना अभ्यास दरकार है; क्योंकि यह बात साबित हो चुकी है कि जिसे हम विशेष व्यापक अर्थ में विज्ञान या शास्त्र कहते हैं उसकी शिक्षा से सब व्यवसायों को करने के लिए आदमी अच्छी तरह तैयार हो जाता है। हमें अब इस बात का विचार करते बैठने की ज़रूरत नहीं कि किस प्रकार की शिक्षा का—किस प्रकार के ज्ञान का—कितना मोल है। कोई कोई ज्ञान बहुत सच्चा है, पर उसका मोल कम है; और कोई कोई ज्ञान सिर्फ़ लौकिक है, अर्थात् वह सच्चा नहीं है; पर उसका मोल बहुत है। परन्तु इस कमी-बेशी के विचार की ज़रूरत नहीं; क्योंकि यह बात साबित हो चुकी है कि और सब बातों के ख़याल से जिस ज्ञान

का मोल सबसे अधिक है उसी का असली मोल भी सबसे अधिक है। जो ज्ञान वास्तव मे अधिक महत्त्व का है उसी का मोल भी सबसे अधिक है। ज्ञान का मोल लोगों की राय से घट-बढ़ नहीं सकता, उसका महत्त्व—उसका मोल—लोकमत पर अवलम्बित नहीं रहता है। उसे उसी तरह निश्चित समझना चाहिए जिस तरह मनुष्यमात्र का सम्बन्ध संसार से निश्चित है। विज्ञान के सारे सिद्धान्त सत्य, नित्य और अपरिहार्य्य हैं। अतएव विज्ञान की जितनी शाखायें हैं उन सबका सम्बन्ध, सब समय में, सब लोगो से, बराबर होना ही चाहिए। उनका सम्बन्ध सारी मनुष्य-जाति से है और हमेशा के लिए है, सिर्फ़ कुछ समय के लिए नहीं। मनुष्य के व्यवहारों की व्यवस्था के लिए विज्ञान की जैसे आज अत्यन्त जरूरत है, अनन्त काल बीत जाने पर, भविष्य में भी उसकी उसी तरह ज़रूरत बनी रहेगी। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बातों को सुव्यवस्थित रखने के लिए जीवन-शास्त्र की शिक्षा की, और इस बात के जानने की कि और सब शास्त्रों की शिक्षा जीवन-शास्त्र की शिक्षा की सिर्फ़ कुंजी है, आज जिस तरह ज़रूरत है उसी तरह आगे भी उसकी जरूरत पूर्ववत् बनी रहेगी। इसे सिद्ध समझिए। इसमे सन्देह नहीं।

७८—विज्ञान की शिक्षा सबसे अधिक लाभदायक है; तिस पर भी लोगों का ध्यान उस तरफ़ बहुत ही कम है।

यद्यपि विज्ञान-विद्या की शिक्षा का महत्त्व और सब तरह की शिक्षाओं के महत्त्व से अत्यन्त अधिक है तथापि, आज कल, जब लोगो को अपनी वर्तमान शिक्षा-पद्धति पर इतना घमण्ड है, वैज्ञानिक शिक्षा की बहुत ही कम परवा की जाती है। यह बडे आश्चर्य्य की बात है। यदि विज्ञान न होता—यदि शास्त्रीय ज्ञान न होता—तो जिसे हम सभ्यता या सुधार कहते हैं उसका चिह्न भी कहीं देखने को न मिलता। तथापि जिसे हम सभ्य शिक्षा-पद्धति कहते हैं उसमें विज्ञान-शिक्षा का अंश इतना कम है कि उसका होना न होने के बराबर है। जहाँ सिर्फ़ हज़ारों आदमियों का पेट पलता था वहाँ अब विज्ञान-शिक्षा ही के प्रचार की बदौलत लाखों आदमियों का

पेट पलता है। परन्तु बड़े अफ़सोस की बात है कि जिस शिक्षा के प्रसाद से लाखों की प्राण-रक्षा होती है उसका आदर सिर्फ़ दस ही पाँच हज़ार आदमी करते हैं। सांसारिक पदार्थों के गुण-धर्म्म और अन्योन्य-सम्बन्ध के बढ़ते हुए ज्ञान से सिर्फ़ इतना ही लाभ नहीं हुआ कि जहाँ पहले घर-द्वार-हीन जंगली जातियाँ इधर उधर भटका करती थीं वहाँ अब बड़ी बड़ी बस्तियाँ हो गई हैं—बड़े बड़े देश बन गये हैं। नहीं, इस ज्ञान की बदौलत इन बस्तियों, नगरों और देशों मे रहनेवालों मे से असंख्य आदमियों को वे सुख और वे आराम भी प्राप्त हो गये हैं जिनकी कल्पना तक उनके वस्त्रहीन अल्पसंख्यक पूर्वजों को न थी—जिनको उन्होंने न कभी देखा था, न कभी सुना था और जिन्हें पाने का न कभी उनको ख़याल ही था। तथापि ऐसी उपयोगी शिक्षा को, हमारे बड़े से भी बड़े विद्यालयों में, अब कहीं थोड़ा बहुत स्थान दिया जाने लगा है—सो भी ख़ुशी से नहीं, बड़ी ही बेदिली और मारामारी से! जितने पदार्थ हम इस दुनिया में देखते हैं उनकी एकरूपता और उनके अपरिवर्तनीय पारस्परिक सम्बन्ध से परिचित होकर, और सृष्टि-विषयक अखण्डनीय नियमो का ज्ञान प्राप्त करके, अब हम धीरे धीरे धर्म्म के मिथ्या विश्वासों से छुटकारा पा रहे हैं। यदि विज्ञान का प्रचार न होता तो हम अब तक जड़ पदार्थों की पूजा में लगे रहते, या सैकड़ों जीवो का बलिदान देकर राक्षसी देवताओं की आराधना किया करते। तिस पर भी, जिस विज्ञान ने सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने-वाले अत्यन्त नीच और हेय ख़यालों को दूर करके सृष्टि के भव्य सौन्दर्य्य को हमारी आँखो के सामने खोल दिया है उसीका अपमान हमारी धर्म्म-पुस्तकों मे किया जाता है और, उपदेश देने के चबूतरे पर खड़े होकर, हमारे धर्म्मो-पदेशक उसी पर कटाक्षों की बौछार करते हैं।

८०—एक कहानी के द्वारा विज्ञान-विद्या की यथेष्टता और उसकी अवहेलना का वर्णन।

यहाँ पर, इस विषय में, हम पूर्व-देशों में प्रचलित एक कहानी का अनु-वाद देते हैं:—

विद्या के कुटुम्ब में विज्ञान की अवस्था एक दासी की सी है। यद्यपि वह हमेशा काम काज में लगी रहती है, तथापि उसे घर के किसी कोने काने ही में जगह मिलती है और उसकी ख़ूबियाँ किसी को नज़र में नहीं आतीं। सारा काम उसी पर लाद दिया गया है। यद्यपि उसी की निपुणता, बुद्धिमानी और एक-निष्ठ प्रीति की बदौलत संसार के सारे सुख और आराम प्राप्त हुए हैं, और यद्यपि वह लगातार सबकी सेवा करती है, तथापि उसका कोई नाम तक नहीं लेता। उधर घमण्ड से भरी हुई उसकी बहनें सारे संसार को अपने पुराने धुराने कपड़े—अपनी टुच्ची पोशाक—दिखलाती फिरती हैं। जिसमें सब लोगों को यह घृणित तमाशा देखने को मिले, इसी लिए वह बेचारी गुमनामी के परदे मे छिपा रक्खी गई है।

पर, इस कहानी मे जो बात दिखलाई गई है वह, विज्ञान-शिक्षा के विषय में, कुछ दिनों में विपरीत रूप धारण करनेवाली है। क्योंकि अब सभी बातों के उलट जाने का समय निकट आ पहुँचा है। कुछ ही दिनों में वर्तमान स्थिति के बिलकुल बदल जाने के चिह्न देख पड़ते हैं। वह समय अब शीघ्र आनेवाला है जब विज्ञान-विद्या की अभिमानिनी बहनें, अर्थात् और और विद्यायें, कहीं अँधेरे मे जा छिपेंगी। उनको लोग भूल जायँगे, और, वे विस्मृति के गर्भ मे लोप हो जाने ही लायक़ हैं। विज्ञान-विद्या के मोल और सौन्दर्य्य को अब शीघ्र ही सबसे ऊँचा आसन मिलेगा और सब कहीं उसका जयजयकार होगा।

दूसरा प्रकरण

—:o.—

मानसिक शिक्षा।

शिक्षा-प्रणाली का सामाजिक, धार्म्मिक और राजनैतिक बातों से मिलान।
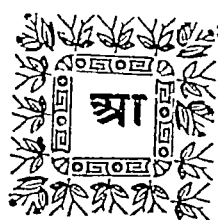
आज तक शिक्षा देने के जुदा जुदा जितने ढँग जारी हो चुके हैं सबका सम्बन्ध अपने अपने समय की सामाजिक व्यवस्था से ज़रूर रहा है। जिस समय की जो बात होती है—चाहे वह राजकीय हो, चाहे सामाजिक, चाहे धार्म्मिक—वह उस समय के जन-समुदाय के मन से ज़रूर सम्बन्ध रखती है। सब लोगों के मन की जैसी स्थिति होती है—सब लोगों के ख़यालात की जैसी हालत होती है—उसी के अनुसार सब बातें होती हैं। उन सबका बीज एकही होता है। इसलिए उसमें परस्पर कुछ ऐसी समता पाई जाती है जैसी एक कुटुम्ब के आदमियों मे पाई जाती है। जिस समय धर्म्म की यह दशा थी कि धर्म्माध्यक्ष जो कह दें वही धर्म्म, पुरोहित महाराज जो व्यवस्था दे दें वही कर्म्म, शास्त्रीजी जो अर्थ स्मृतियों का करदे वही वेद-वाक्य—फिर उसमे किसी को दखल देने या कुछ कहने सुनने का अधिकार नहीं—उस समय बच्चों को ठीक इसी तरह की शिक्षा का दिया जाना स्वाभाविक भी था। शिक्षाधिकारी जिस तरह की शिक्षा का हुक्म देते थे वही क़ानून माना जाता था। उनके आदेश में हूँ या चूँ करने का किसी को अधिकार न था। जिस समय धर्म्म का यह सिद्धान्त था कि "विश्वास करो, 'क्यों' और 'कैसे' न पूछो"—उस समय स्कूल की शिक्षा-पद्धति का भी यही सिद्धान्त था। और इस तरह के सिद्धान्त का होना स्वाभाविक भी था।

पर अब वह समय नहीं है। अब तो जरमनी के प्रसिद्ध धर्म्मप्रवर्तक लूथर के चलाये हुए प्राटेस्टेंट पन्थ के उन सब अनुयायियों को, जो बालिग़ हैं, धार्म्मिक बातों में अपनी निज की राय क़ायम करने—अपने निज के सिद्धान्त स्थिर करने—का अधिकार दे दिया गया है। अब उनको धार्म्मिक विषयों मे सारासार विचार करके अपनी बुद्धि से काम लेने की अनुमति मिल गई है। ऐसी दशा में शिक्षा की आदेशात्मक पुरानी रीति बन्द करके हर बात को समझा देने, और भले बुरे का विचार करके उपयोगी शिक्षा को जारी करने, की पद्धति का शुरू होना सर्वथा स्वाभाविक है। अब समय के अनुसार शिक्षा-प्रणाली ने भी पलटा खाया है, उसमे भी समयानुसार फेरफार हुआ है। जिस समय राजा लोग प्रजापीड़क थे—जिस समय की राज्य-प्रणाली मे स्वेच्छाचारिता का ज़ोर अधिक था—उस समय के क़ायदे-क़ानून सख़्त थे, डर दिखा कर प्रजा पर हुकूमत की जाती थी, छोटे छोटे अपराधों के लिए भी लोग फाँसी पर लटका दिये जाते थे; और राजा के प्रतिकूल सिर उठानेवालों से बहुत ही बेरहमी के साथ बदला लिया जाता था। ऐसे समय में मदरसों मे भी सख़्ती का बर्ताव होना बिलकुल स्वाभाविक था। वह ज़माना ही ऐसा था। यह ज़माने ही के रँग ढँग का फल था जो विद्यार्थियों के लिए हज़ारों नियम बनाये गये थे और उन नियमों के तोड़े जाने पर हर दफ़े विद्यार्थियों की लात घूँसे से ख़बर ली जाती थी। यह उस उद्दण्ड राजसत्ता का ज़माना था जिसकी बेरोक टोक शक्ति की कोई हद ही न थी। बेत, कमचियो और अँधेरी कोठरियों में बन्द किये जाने की सज़ा, जो उस ज़माने में मिलती थी, इसी शक्ति की कृपा से मिलती थी। पर, अब वे दिन नहीं रहे, अब राजनैतिक विषयों में प्रजा को अधिक स्वतन्त्रता मिल गई है। निज के काम-काज से सम्बन्ध रखनेवाली स्वतंत्रता के अवरोधक क़ायदे क़ानून अब रद हो गये हैं और फ़ौजदारी के क़ानून में सुधार हो जाने के कारण अब शिक्षा-पद्धति भी सौम्य हो गई है—विद्यार्थियों पर जो सख्ती होती थी वह बहुत कम हो गई है। जो लड़के मदरसों में पढते हैं उनकी अब बहुत कम रोक टोक होती है। उनकी शिक्षा का अब उतना प्रतिबन्ध नहीं होता और न अब उनको पहले की तरह सज़ा दी

दी जाती है। उनका आचरण सुधारने के लिए सज़ा की जगह अब और तरकीबें काम मे लाई जाती हैं। पुराना ज़माना तपस्वियों का ज़माना था। तब लोग यह समझते थे कि अपने शरीर और आत्मा को ख़ूब पीड़ा पहुँचाना ही हमारा परम कर्तव्य है। उनका ख़याल था कि हम जितना ही अधिक दुःख और क्लेश सहेंगे उतनाही अधिक हम पुण्यात्मा समझे जायँगे। इस दशा में लड़कों के लिए वे सबसे अच्छी शिक्षा वही समझते थे जिसमें उनकी इच्छाओं का सबसे अधिक विघात होता था। जहाँ तक हो सके लड़कों को अपनी इच्छा पूरी न करने देनेही को वे सर्वोत्तम शिक्षा जानते थे। "ख़बरदार, जो तुमने यह काम किया!" यह उस ज़माने की रामबाण ओषधि थी। इसी ओषधि को देकर लोग लड़कों के सारे हौसले—उनकी सारी स्वाभाविक चपलता—जड़ से उखाड़ फेंकते थे। पर अब वह ज़माना नहीं है। अब उन बातों का विपर्य्यय हो गया है। आज कल का सिद्धान्त यह है कि अपने सुख के लिए यत्न करना कोई अनुचित बात नहीं। अपने सुखैश्वर्य्य के लिए प्रयत्न करना हर आदमी का कर्त्तव्य है। अब लोगों को कम काम करना पड़ता है। इससे उन्हें अधिक समय मिलता है। और इस बचे हुए समय को बिताने के लिए अनेक प्रकार के मनोरञ्जक खेल-कूदों की सृष्टि हुई है। अब माँ-बाप और शिक्षक लोगों की समझ में यह बात आ गई है कि बच्चों की छोटी से भी छोटी इच्छाओं को पूरा करना मुनासिब है; उन्हे खेलने-कूदने मे उत्साहित करने ही मे उनकी भलाई है; और बच्चों की उन्नतिशील मन की प्रवृत्तियों और अभिलाषों को पुराने आदमियों की तरह निद्य समझना भूल है। पहले ज़माने में लोगों को यह विश्वास था कि बाहर से आनेवाले व्यापार की चीज़ों पर कड़ा महसूल लगाना और अपने देश में बनी हुई चीज़ों पर दयादृष्टि रखना सरकार का कर्तव्य है; कला-कौशल की उन्नति के लिए कारीगरी को चीज़ों के नमूने, गुण-धर्म्म और मोल आदि निश्चित कर देना ज़रूरी बात है; और रुपये का मोल भी क़ानून से नियत कर देना मुनासिब है। यह वह ज़माना था जब लोग समझते थे कि लडकों को मानसिक शिक्षा भी कल में कस कर किसी विशेष नमूने के ढँग की बनाई जा सकती है, अर्थात् लड़कों की तबी-

यत, माँ-बाप की इच्छा के अनुसार, ढाली जा सकती है; लड़कों की मानसिक शक्तियों को पैदा करना—उनकी बुद्धि को बढ़ाना—सर्वथा शिक्षक ही के हाथ में है; और लड़को का मन ज्ञान-सञ्चय करने की एक जगह है, जिसमें शिक्षक, जैसा ज्ञान-मन्दिर चाहे, तैयार कर सकता है। इन बातों को सुनकर आश्चर्य्य न करना चाहिए। वह ज़माना ही ऐसा था। लोगों की समझ ही ऐसी थी। पर अब व्यापार-स्वातन्त्र्य का ज़माना है। यह वह युग है जिसमे अप्रतिबन्ध-व्यापार की अधिक महिमा है। अब लोग यह समझने लगे हैं कि स्वाभाविक रीति पर सब बातें होने से कोई विघ्न नहीं आता। हर चीज़ में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह अपना उचित प्रबन्ध आपही कर लेती है। अब इस बात को लोग पहले से अधिक समझने लगे हैं कि सब बातों को उन्हीं के भरोसे छोड़ देने से वे अधिक सुयन्त्रित रीति से होती हैं। श्रम-विभाग, व्यापार, खेती और जहाज़ चलाने आदि के जितने काम हैं उनका प्रबन्ध करने की अपेक्षा न करने से वे अधिक अच्छी तरह चलते हैं। जितनी राज-सत्तायें हैं आपही आप बढ़नी चाहिएँ। अपनी भीतरी शक्ति से उनकी उन्नति होनी चाहिए, बाहरी शक्ति से नहीं। राज-सत्ता के पौधे में बाहर से कलम लाकर लगाने से काम नहीं चल सकता। जब वह अपनी उन्नति आपही करने के लिए छोड़ दी जायगी तभी वह सबल, सशक्त और लाभदायक होगी। यह बात अब लोगों के ध्यान में आने लगी है। इसके साथ ही वे इस बात को भी अब समझने लगे हैं कि मन में भी एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है जिसकी उत्तेजना से वह हमेशा अपना विकास आपही करने की फ़िक्र मे रहता है। इस स्वाभाविक शक्ति में—इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में—विघ्न डालने से लाभ तो होता नहीं, उलटा हानि होती है। जिस समय स्वाभाविक तौर पर मन की शक्ति उन्नत हो रही है उस समय उसे किसी कृत्रिम रीति से ज़बरदस्ती दूसरी तरफ़ लेजाने से उसका ह्रास हुए बिना नहीं रहता। सम्पत्ति-शास्त्र की तरह मनोविज्ञान का भी यही नियम है कि जितना खप हो उतनी ही आमदनी भी होनी चाहिए। यदि हमारी यह इच्छा हो कि हमारी हानि न हो, तो हमे चाहिए कि हम इस नियम का अच्छी तरह पालन करें। जैसा समय होता है

वैसी ही शिक्षा लोग पसन्द करते हैं। चाहे जिस काल को देखिए, उसमें और तत्कालीन सामाजिक, धार्म्मिक और राजनैतिक स्थिति और शिक्षा-पद्धति मे ज़रूर मेल होगा—ज़रूर सादृश्य होगा। चाहे जो देश हो—चाहे जो काल हो—तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली का, उसके दृढ़ दुराग्रह मे, उसके कठोर क़ायदे-क़ानून मे, उसकी हज़ारो रोक-टोक मे, उसकी पीडाजनक तापस वृत्ति मे, और लोगो की "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं" शक्ति-विषयक उसकी श्रद्धा में, ज़रूर सादृश्य देख पड़ेगा। जहाॅ इन बातों की प्रबलता होती है वहाॅ इनका प्रतिबिंब शिक्षा-पद्धति पर भी ज़रूर पड़ता है। इसी तरह जहाँ इन बातों की प्रतिकूलता होती है—जहाॅ लोगो की स्थिति इसकी उलटी होती है—वहाॅ शिक्षा भी और तरह की होती है। जिस तरह की भिन्नता लोक-स्थिति मे होती है उसी तरह की भिन्नता शिक्षा मे भी होती है। जैसी लोक-स्थिति वैसी ही शिक्षा। इस समय हमारे धार्म्मिक और राजनैतिक विचार विशेष उदार हैं—आज कल हम लोगों के ख़यालात अधिक आज़ादाना हैं—इसीसे हमारी शिक्षा-पद्धति भी वैसी ही हो गई है। शिक्षा-सम्बन्धी नियमों मे अब पहले की अपेक्षा अधिक उदारता देख पड़ती है।

२—वर्तमान समय में अनेक प्रकार की शिक्षा-पद्धतियों के पैदा होने का कारण।

लोक-स्थिति और शिक्षा-पद्धति में हमने जो सादृश्य ऊपर दिखलाये उनके सिवा और भी सादृश्य दिखलाये जा सकते हैं। इन दोनों मे, समय समय पर, जो फेर-फार होते हैं वे जिस रीति से होते हैं उस रीति में भी सादृश्य है। यही नहीं, किन्तु इस तरह के फेर-फार के कारण जो स्थिति-भेद हो जाता है—लोगों की रायो में जो अन्तर आ जाता है—उसमे भी सादृश्य है। कई शतक पहले सब लोगों के धार्म्मिक, राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धो विश्वास एकसे थे; इन विषयों में सबके मत सदृश थे। सब लोग रोमन कैथलिक थे और धर्म्म की बातों मे प्रधान धर्म्माधिकारी पोप की आज्ञा मानते थे, राजकीय बातों मे राजा ही को सब लोग सर्व-श्रेष्ठ समझते थे और उसके हुक्म के सामने चुपचाप सिर झुकाते थे। विद्या-विषयक

बातों मे ग्रीस के विख्यात तत्त्ववेत्ता अरिस्टाटल को गुरु समझते थे और उसके अनुयायी होना अपना कर्तव्य जानते थे। पर "व्याकरण के मदरसे" की जिस शिक्षा-पद्धति के अनुसार सब लोगों ने शिक्षा पाई थी उस पद्धति के एक नियम की भी समालोचना करने का खयाल किसी को न था। जिन लोगों की बदौलत पूर्वोक्त तीनों विषयों में इतना सादृश्य था उन्हीं ने, हर एक विषय मे, वह विभिन्नता पैदा कर दी है जो बढ़ती ही जाती है। इन विषयों में आगे जो इतना विलक्षण फरक़ पड़ता गया उसका एक ही कारण है, और वह कारण वही लोग हैं जिन्होने पहले जमाने में सदृशता स्थापित की थी। योरप मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो उदय हुआ वह प्रति दिन बढता ही गया। हर आदमी के दिल में जो यह ख़याल पैदा हुआ कि मुझे अपनी इच्छा के अनुसार अपना काम करने की स्वाधीनता होनी चाहिए उसका विकास बराबर होता ही चला गया। इसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे प्राटेस्टेंट मत की स्थापना हो गई। यह बात यहाँ तक ही होकर नहीं रह गई, किन्तु जिस प्रवृत्ति ने इस नये मत की स्थापना की थी उसी के कारण, आज तक, धर्म्म-सम्बन्धी अनेक पन्थ निकलते चले आये हैं। मन की जिस प्रवृत्ति ने—स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जिस इच्छा ने—राजनैतिक विषयों मे वाद-विवाद शुरू करके राजकीय पुरुषों के, लिबरल और कासरवेटिव, ये दो दल कर दिये, वही प्रवृत्ति—वही इच्छा—बढ़ते बढ़ते इतनी प्रबल हो गई कि उसने, इस समय, मूल के उन दो दलों मे और भी अनेक भेद पैदा कर दिये हैं और हर साल नये नये भेद पैदा करती जाती है। जिस प्रवृत्ति ने बेकन नाम के विख्यात तत्त्वज्ञानी को उत्तेजित करके उससे अरिस्टाटल के अनुयायी विद्वानो के प्रतिकूल शस्त्र-धारण कराया और जिसके कारण इँगलेंड ही मे नहीं, और और देशो मे भी, न्याय और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी नई नई बातें पैदा हो गईं—नये नये विचार-स्वातन्त्र्य उत्पन्न हो गये—उसी ने शिक्षा-सम्बन्धी बातो मे भी अनेक शाखायें और अनेक पद्धतियाँ पैदा करदीं। शिक्षा के इन भिन्न भिन्न तरीकों का कारण सिर्फ वही प्रवृत्ति है। मनुष्य की स्वातन्त्र्येच्छा ही इन सबका बीज है। ये सब बातें एक ही आन्तरिक कारण के कार्य्य हैं। मन में पैदा हुई प्रवृत्ति आन्तरिक है—भीतरी

है—और जिन बातों का यहाँ पर वर्णन हुआ वे उसके बाहरी नतीजे हैं, वे उसके दृश्यमान फल हैं। अतएव भीतरी झुकावों और उनके बाहरी नतीजों को बहुत करके समकालीन समझना चाहिए। वे प्रायः एक ही साथ पैदा हुए हैं। पोप, अरिस्टाटल, राजा या पाठशालाध्यक्ष के अधिकार या महत्व का ह्रास एकही कारण का कार्य्य है, एकही प्रवृत्ति का प्रभाव है, एकही प्राकृतिक नियम का विकास है। ये भेद किस तरह होते गये—ये फेर-फार क्योंकर पैदा हुए और उनके कारण कौन कौन नये मत, कौन कौन नये पन्थ, और कौन कौन नये सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये—इन बातों का विचार करने से यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि यह सब सिर्फ़ अधिक स्वतन्त्रता पाने के लिए लोगों की स्वाभाविक इच्छा का फल है। सारांश यह कि आदमी के मन की प्रवृत्ति मे जैसे जैसे फ़रक़ पड़ता जाता है। वैसे ही वैसे धर्म, समाज, राजनीति और शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भी फ़रक़ पड़ता जाता है। यह सब मनोवृत्ति का खेल है। मनुष्य के मन की प्रवृत्ति जैसी हो जाती है उसके काम भी वैसे ही हो जाते हैं। मनोवृत्ति मे फेर-फार होने से मन से ही प्रेरित होकर किये जानेवाले कामों में भी फेरफार हुए बिना नहीं रहता।

३—शिक्षा-पद्धति के विषय में जुदा जुदा रायों का होना बुरा नहीं। उन्हीं की मदद से सच्ची शिक्षा-प्रणाली मालूम होगी।

लड़कों को शिक्षा देने की ये जो अनेक जुदा जुदा रीतियाँ निकल रही हैं उन्हे देख कर बहुत से लोगों को बुरा लगेगा। उन्हे इस बात पर अफ़-सोस होगा। परन्तु विचारशील लोगों को यह बात कभी बुरी न लगेगी। क्योकि शिक्षा-सम्बन्धी इन अनेक प्रकार की रीतियों को वे एक सच्ची और सर्वोपयोगी शिक्षा-प्रणाली ढूँढ़ निकालने का साधन समझेंगे। इन्हीं शिक्षा-प्रणालियों से एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली के निकलने की उन्हें आशा होगी जो सब प्रकार निर्दोष और सबसे अधिक उपयोगी है। धार्मिक बातों मे मत-भेद होना अच्छा हो या न हो, पर शिक्षा-सम्बन्धी

विषयों मे मत-भेद होने से इन विषयों पर विचार करनेवालों की मेहनत बँट जाती है। इससे क्या होता है कि सच्ची और सबसे अधिक उपयोगी शिक्षा-प्रणाली ढूँढ़ निकालने मे बहुत मदद मिलती है। यदि शिक्षा की सच्ची रीति हमे मालूम होती, और उसके अनुसार काम न करके हम इधर उधर भटकते फिरते, तो उससे ज़रूर हानि होती। परन्तु, शिक्षा का मुनासिब तरीक़ा हमे अभी तक मालूम नहीं। इससे उसे ढूँढ़ निकालने के लिए अनेक आदमियो के अनेक प्रकार के जुदा जुदा प्रयत्न होना बहुत लाभ-दायक है। किसी और तरह से सच्ची शिक्षा-पद्धति को ढूँढ़ने की अपेक्षा इस तरह से ढूँढ़ने मे उसे पाने की अधिक आशा है। किसी बात का पता लगाने के लिए जब अनेक आदमी जुदा जुदा तरकीबें काम मे लाते हैं तब हर आदमी को एक न एक नई बात ज़रूर सूझती है। इस तरह सूझी हुई बात का उस असली बात से थोड़ा बहुत सम्बन्ध होना सम्भव है। हर आदमी अपनी तरकीब को सही समझ कर तदनुसार बड़े उत्साह से काम करता है, अनेक प्रकार से उसकी सत्यता को सिद्ध करने की कोशिश करता है, और उसकी सत्यता को सब लोगो पर प्रकट करने में कोई बात उठा नहीं रखता। हर आदमी और लोगो के काम की बड़ी ही निर्दयता से आलोचना करता है—औरो के मत का खण्डन करने मे वह ज़रा भी दया नहीं करता, ख़ूब बाल की खाल खींचता है। इस तरह एक ही उद्देश को ध्यान में रख कर जुदा जुदा तरीक़े से काम करनेवालों मे, परस्पर एक दूसरे के काम की टीका-टिप्पणी और खण्डन-मण्डन होते होते धीरे धीरे, झूठ-सच का निर्णय होकर, किसी न किसी दिन. सत्य का पता लगे विना नहीं रहता। अन्त मे ज़रूर कामयाबी होती है और सच बात ज़रूर मालूम हो जाती है। सच्ची शिक्षा-प्रणाली के जितने अंश का कोई पता लगाता है, उसका लोगो को बार बार अनुभव होने से, लाचार होकर उसे उन्हे मानना ही पड़ता है। इसी तरह अपनी विवेचना में वह असत्य का जितना अंश शामिल कर देता है, अनुभव से उसके झूठ साबित होने पर. वह ज़रूर परित्यक्त हो जाता है और अन्त में ज़रूर उसकी दुर्दशा होती है। इस प्रकार सत्य का स्वीकार और असत्य का त्याग होते होते आख़ीर मे सब तरह

से सच्ची और सब तरह से परिपूर्ण सिद्धान्तमाला का ज़रूर प्रचार हो जाता है। अन्त मे सच्ची बात बाहर निकल आती है और सर्वथा सत्य और सर्वथा पूर्ण नियम बन जाते हैं। मनुष्यों की सम्मतियों के तीन रूप होते हैं। जितनी राये लोग देते हैं उनकी तीन सूरतें होती हैं। अथवा यों कहिए कि प्रत्येक सिद्धान्त को तीन स्थितियों से होकर निकलना पड़ता है:—(१) ज्ञानहीन आदमियों के कथन की एकवाक्यता अर्थात् उनकी सम्मतियों में ऐक्य (२) खोज करनेवालो का परस्पर मत-भेद (३) विद्वानो के कथन की एकवाक्यता। यह बिलकुल स्पष्ट है कि इन स्थितियों मे दूसरी स्थिति तीसरी की जड़ है; वह तीसरी स्थिति की जननी है। इन स्थितियों मे समय के अनुसार पूर्वापर-सम्बन्ध ही नहीं है, किन्तु कार्य्य-कारण-भाव भी है। अतएव इस समय शिक्षा-प्रणाली के विषय मे जो वाद-विवाद हो रहा है उसे देख कर हम चाहे जितने अधीर हो उठें, और उससे होनेवाली बुराइयाँ हमे चाहे जितनी नागवार मालूम हों, तथापि हमे समझना चाहिए कि यह इस परिवर्तनशील समय का धर्म है। अतएव इस अवस्थान्तर के भीतर से निकल जाना अनिवार्य्य और आवश्यक है, और अन्त मे इसका फल अच्छा ही होगा।

४—शिक्षा के नये और पुराने तरीक़ों में जो भेद है उसके विचार की ज़रूरत।

इस मौक़े पर क्या यह बात लाभदायक न होगी कि शिक्षा मे हम लोगों ने जो उन्नति की है उसका हिसाब कर डालें ? ज़रूर होगी। इसलिए इस बात के विचार करने की यहाँ पर बड़ी ज़रूरत है कि इस विषय मे जो उद्योग हो रहे हैं उनका फल क्या हुआ है। क्या कोई कह सकता है कि आज पचास वर्ष से इस विषय की जो चर्चा हो रही है और शिक्षा के जुदा जुदा तरीक़ों का परस्पर मिलान करने से जो अनुभव प्राप्त हो रहा है उससे कुछ भी लाभ नही हुआ ? क्या हम यह आशा नही कर सकते कि जिस फल-प्राप्ति के लिए ये कोशिशें हो रही हैं उनमे अब तक थोड़ी बहुत कामयाबी ज़रूर हो चुकी होगी ? शिक्षा के कुछ पुराने तरीक़े ज़रूर रद हो

गये होंगे, कुछ नये तरीके ज़रूर प्रचलित हो गये होंगे; और कितने ही दूसरे तरीके रद होने या प्रचार मे आने चाहते होंगे। ये जो अनेकों फेरफार हो रहे हैं उन्हे पास पास रखकर मिलाने और उनकी परीक्षा करने से, बहुत सम्भव है, हमें उनमें एक प्रकार का सादृश्य देख पड़े और यह मालूम हो जाय कि उन सबका झुकाव किसी एक ही दिशा की तरफ़ है। ऐसा करने से यह भी सम्भव है कि हम, अनुमान द्वारा, इस बात का पता लगाले कि हमारा तजरिबा हमे किस तरफ़ लिये जा रहा है। इससे यह भी हो सकता है कि हमें कुछ ऐसे इशारे मिल जायँ जिनसे मालूम हो जाय कि शिक्षा में किस तरह और अधिक उन्नति हो सकती है। तो अब हम इस बात का विचार करते हैं कि शिक्षा के नये और पुराने तरीक़ों में विशेष विशेष भेद कौन से हैं। इससे, आगे चलकर, इस विषय की अच्छी तरह विवेचना करने मे बहुत सुभीता होगा।

५—एक भूल के सुधारने में दूसरी भूल हो जाती है। शारीरिक और मानसिक शिक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात पाई जाती है।

हर एक भूल का सुधार होने पर बहुधा उसकी उलटी कोई और भूल, बहुत नहीं तो थोडी देर के लिए, ज़रूर ज़ोर पकड़ती है। और शिक्षा के सम्बन्ध मे ठीक ऐसा ही हुआ है। लोगों का सबसे अधिक ध्यान पहले सिर्फ़ शारीरिक सुधार की तरफ़ था। पर, उसके बाद एक ऐसा समय आया कि लोगों ने सिर्फ़ मानसिक सुधार ही को सब कुछ समझा—बुद्धि-विषयक शिक्षा के सुधार ही को उन्होंने अपना सबसे बड़ा कर्तव्य माना। वह ऐसा समय था कि बच्चे दो तीन वर्ष के भी न होने पाते थे और उनके हाथ मे किताबें दे दी जाती थीं। विद्योपार्जन ही को लोग, उस समय, सबसे अधिक जरूरी समझते थे। जैसा कि बहुधा देखा जाता है, इस तरह की उलटी भूल होने पर लोगों की आँखें खुलती हैं और उन्हें इस बात के जानने की इच्छा होती है कि देखें इन दोनों को इकट्ठा करके उनसे एक ही साथ

काम लेने से क्या फल होता है। ऐसा करने से उन्हें मालूम हो जाता है कि उन दोनों मे से एक बात सचाई के एक छोर पर है, दूसरी दूसरे छोर पर। तब कही उन्हे ज्ञान होता है कि सच बात इन दोनों प्रकारो के बीच मे पाई जायगी। यही कारण है जो हम लोगों को अब यह विश्वास हो रहा है कि शरीर और मन दोनों का सुधार एक ही साथ करना चाहिए—शिक्षा के द्वारा दोनों का विकास करने ही मे भलाई है। ज़बरदस्ती शिक्षा देने की रीति अब बहुत लोगों ने बन्द कर दी है। असमय मे ही लडकों को जबरदस्ती शिक्षा देना अब नही पसन्द किया जाता। लोगों की समझ मे अब यह बात आने लगी है कि सासारिक कामों में कामयाबी के लिए सबसे अधिक ज़रूरी बात मनुष्य के शरीर का सबल और नीरोग होना है। सब तरह के सांसारिक सुखों की प्राप्ति का मुख्य साधन यही है। यदि शरीर मे काफ़ी शक्ति और सजीवता नही है तो उत्तम से उत्तम बुद्धिमत्ता किस काम की? शरीर निर्बल हो जाने से अच्छा से अच्छा दिमाग़ व्यर्थ है। वह बहुत कम काम दे सकता है। इससे शारीरिक शक्ति की अवहेलना करके—उसका बलिदान करके—बुद्धि तीव्र करते बैठना आज कल पागलपन समझा जाता है। इस पागलपन के उदाहरण प्रायः प्रति दिन उन बच्चों में पाये जाते हैं जो बाल्यावस्था मे होनहार होते हैं, पर दिमाग़ से बेहद काम लेने के कारण, बड़े होने पर, किसी काम के नही रह जाते। अतएव "समय को किस तरह बुद्धिमानी से ख़र्च करना चाहिए"—यह जो शिक्षा का एक भेद है उसकी यथार्थता धीरे धीरे हमारी समझ में आने लगी है।

६—तोतों की तरह रटने से हानियाँ और इस रीति का धीरे धीरे परित्यक्त होना।

किताबों को तोते की तरह रट लेने की रीति, जो किसी समय प्रचलित थी, अब उठती जाती है। उस पर लोगों का विश्वास कम होता जाता है। शिक्षा-सम्बन्धी विषयों मे आज कल जिन लोगों की बात का प्रमाण है वे वर्णमाला सिखलाने के पुराने तरीके को सदोष समझते हैं। अब लडकों

को पहाड़े कण्ठ नहीं कराये जाते। सिर्फ़ एक बार उनकी रीति अच्छा तरह समझा दी जाती है । फिर लड़के बहुधा अपने ही तजरिबे से उन्हे याद कर लेते हैं। भाषाओं के सिखलाने मे पुरानी व्याकरण-पाठशालाओं का तरीक़ा भी, जो अब तक काम मे आता था, बन्द हो रहा है। उसकी जगह अब वह स्वाभाविक तरीक़ा जारी किया गया है जिसके अनुसार लडके अपनी मातृभाषा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। लन्दन के पास एक जगह वैटरसी है। वहाँ एक ट्रेनिङ्ग स्कूल है। जिन तरीक़ो से वहाँ शिक्षा दी जाती है उनका वर्णन करते समय उस स्कूल की वार्षिक रिपोर्ट के लिखने-वाले ने एक जगह लिखा है—"यहाँ प्राय: सारी प्रारम्भिक शिक्षा मुँह से दी जाती है, किताबी मदद बिलकुल नहीं ली जाती; और जो विषय लडकों को सिखलाया जाता है उसे अच्छी तरह समझ मे आ जाने के लिए उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली सब चीजे यथासम्भव प्रत्यक्ष दिखला दी जाती हैं"। और, सब विषयों मे ऐसा ही होना भी चाहिए। रटने की जो चाल थी उसमें प्रत्यक्ष चीजो को दिखलाने की कम परवा की जाती थी, उनके नाम, शकल सूरत और लक्षण आदि सिखलाने की अधिक। उस समय की सभी बातों की यही दशा थी। शब्दों का अर्थ न समझ पड़े तो कुछ परवा नहीं, पर उनका उच्चारण शुद्ध होना चाहिए । उच्चारण ही का अधिक महत्त्व था, शब्दार्थ का कम । इस तरह शब्दार्थ की जान सिर्फ़ उच्चारण की शुद्धता के लिए मारी जाती थी। अन्त मे यह बात अब लोगों के ध्यान मे आई है कि, और रीति-रस्मो की तरह, यह रीति भी आकस्मिक नहीं है। अर्थ को कुछ न समझ कर उच्चारण ही को सब कुछ समझना काकतालीय-न्याय नहीं है। वस्तु-स्थिति के अनुसार इसे ऐसा होना ही चाहिए। यह अपने ही किये का ज़रूरी फल है। जैसा बीज बोया गया है वैसा ही फल भी हुआ है। वस्तुओ की संज्ञा की तरफ़ अधिक ध्यान जाने से प्रत्यक्ष वस्तुओं का ज़रूर ही अनादर होता है। फ़्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् मांटेन ने, बहुत दिन हुए, बहुत ठीक कहा था कि—"किसी बात को रट लेना उसका ज्ञान हो जाना नहीं कहलाता"।

७—नियमों को सामने रख कर शिक्षा देना हानिकारी है। उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्त बतलाना ही शिक्षा की सच्ची रीति है।

नियम निश्चित करके उनके अनुसार शिक्षा देना भी प्रायः वैसा ही हानिकर है जैसा कि तोते की तरह किसी बात को रट लेना है। इस तरह रटने की चाल अब जैसे बन्द होती जाती है वैसे ही नियम बना कर तदनुसार शिक्षा देने की चाल भी बन्द होती जाती है। नियमों की पाबन्दी करके शिक्षा देने की चाल अच्छी नहीं। इस बात को भी लोग अब समझने लगे हैं। इसी से अब शिक्षा की नई रीति निकाली गई है। इस रीति के अनुसार बच्चों को पहले विशेष विशेष बातें सिखलाई जाती हैं। जब वे उन बातों को समझ जाते हैं तब उन्हे सामान्य सिद्धान्त बतलाये जाते हैं। इस नई रीति के विषय मे पूर्वोक्त बैटरसी के पाठशाला की वार्षिक रिपोर्ट में यह लिखा हुआ है—"पुरानी रीति के अनुसार लड़कों को नियम पहले बतलाये जाते हैं और इसी रीति का अधिक प्रचार भी है। पर जो नई रीति यहाँ प्रचलित की गई है वह यद्यपि पुरानी रीति के बिलकुल विरुद्ध है तथापि तजरिबे से साबित हुआ है कि यह नई रीति ही सच्ची और उचित रीति है। नियमात्मक शिक्षा को अब कोई नहीं मानता। वह अशास्त्र है। उससे सिर्फ़ स्थूल ज्ञान होता है। उसे ज्ञान नहीं, किन्तु ज्ञानाभास कहना चाहिए। इस तरह की शिक्षा से वस्तुओं का सिर्फ़ ऊपरी ज्ञान हो जाता है, भीतरी सच्चा ज्ञान नहीं होता। उपपत्ति न बतला कर सिर्फ सिद्धान्त बतला देने से बुद्धि मन्द हो जाती है। इस तरह बतलाये गये सिद्धान्तों का असर भी कम होता है। किसी खोज का नतीजा बतलाने के पहले, जिस क्रम या रीति से वह नतीजा निकला हो उसे ज़रूर बतलाना चाहिए। साधारण सिद्धान्तों से पूरा पूरा और सदा एक सा लाभ उठाने के लिए यह बात बहुत ज़रूरी है कि उनका पता स्वयं ही परिश्रम-पूर्वक लगाया जाय। जो सिद्धान्त उपपत्तिपूर्वक परिश्रम से सीखे जाते हैं वे कभी नहीं भूलते और लाभ भी उन्हीं से होता है।

एक कहावत है कि—"जो चीज़ जल्दी आती है वह जल्दी जाती भी है"। यह बात जैसे रुपये-पैसे के लिए कही जा सकती है वैसे ही ज्ञानार्जन के लिए भी। जो धन बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाता है वह जल्दी निकल भी जाता है। यही हाल शिक्षा का भी है। नियमों को पहले रटा देने और जिन बातों से उन नियमों की उत्पत्ति हुई है उन्हे पीछे बतलाने से, वे नियम और वे बातें परस्पर असम्बद्ध सी होकर अलग अलग मन मे पड़ी रहती हैं। इस दशा में लड़के यह नहीं जानते कि उन बातों से किस तरह वे नियम निकले हैं। इसका फल यह होता है कि इस तरह सीखे हुए नियम बहुत जल्द भूल जाते हैं। पर जो सिद्धान्त, जो तत्त्व, या जो उसूल इन नियमों से निकलते हैं वे यदि एक दफ़े अच्छी तरह समझ मे आ गये तो फिर कभी नहीं भूलते। नियमो की रीति से शिक्षा पाया हुआ लड़का यदि कहीं नियमों की हद के बाहर चला गया तो वह ऐसा घबरा जाता है मानों वह अगाध समुद्र मे डूब रहा है। पर जिस लड़के ने सिद्धान्तो की शिक्षा पाई है—जिसे शिक्षित विषयों के तत्त्व बतला दिये गये हैं—वह नये प्रश्नों का उसी तरह सहज में उत्तर दे सकता है जिस तरह कि पुराने प्रश्नों का। नई और पुरानी बातों का उत्तर देने मे उसे कोई कठिनाई नहीं पड़ती। क्योंकि सिद्धान्त सबके एक हैं। मग़ज़ मे सिर्फ़ नियमों को भर रखना मानो सब तरह की किताबो का एक अस्त-व्यस्त ढेर लगा देना है। और सिद्धान्तों का संग्रह करना मानों उस ढेर की किताबों को अपने अपने विषय के अनुसार यथारीति अलमारियों मे रख देना है। इन दोनों प्रकारों मे पिछले प्रकार से सिर्फ़ इतना ही लाभ नहीं कि उसके सब भाग ठीक ठीक ध्यान में रहते हैं; किन्तु उससे किसी विषय की मीमांसा करने, नई नई बातें खोज निकालने और स्वतन्त्रतापूर्वक सब बातों का विचार करने में भी सुभीता होता है। वह बहुत बड़ा लाभ है। पहले प्रकार को क़बूल करने से आदमी इन सभी लाभो से वंचित रहता है। इसे मिसाल ही मिसाल न समझना चाहिए। इसे निरी उपमा समझना भूल है। यह बात अक्षरशः सच है। इसमें कोई बात बढा कर नहीं कही गई। व्यक्ति-विषयक ज्ञान को एकत्र करके—सब बातों को एक जगह रख के—उनसे व्यापक

सिद्धान्त निकालने ही का नाम ज्ञान-संस्था या ज्ञान का साङ्गोपाङ्ग विधान है। फिर, चाहे वह विधान अपने ही समझने के लिए किया गया हो चाहे दूसरों को समझने के लिए। इस तरह का यथाक्रम और साङ्गोपाङ्ग विधान जितना ही परिपूर्ण होगा—जितना ही अच्छा होगा—उसके कर्ता के मन की ग्रहणशक्ति उतनी ही अधिक समझनी चाहिए। किसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें जानने लायक़ हों उन सबको इकट्ठा करके उनसे जो जितने ही अधिक व्यापक सिद्धान्त निकालेगा उसकी बुद्धि उतनी ही अधिक तीव्र और ग्राहिका समझनी चाहिए।

८—बचपन में व्याकरण पढ़ाना हानिकारी है। इससे बच्चों के कुछ बड़े होने पर अब वह पढ़ाया जाता है।

सिद्धान्तो के बदले नियमों को बतला देने की रीति जैसे दूषित है वैसे ही एक और रीति भी दूषित है। वह रीति चीज़ों के गुण-दोष से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा है। किसी चीज़ का परिचय होने के पहले ही उसके गुण-दोषों पर पाठ पढ़ाते बैठना, और, सिद्धान्तो की अवज्ञा करके नियमों को रटाने का परिश्रम उठाना, ये दोनों रीतियाँ दूषित हैं। यह बात अब लोगों के ध्यान मे आने लगी है। इससे कुछ विषय जो लड़कों को बहुत ही बचपन में पढ़ाये जाते थे अब बड़े होने पर पढ़ाये जाते हैं। इसका एक उदाहरण यह है कि लड़कों को बचपन ही मे व्याकरण पढ़ाने की जो बहुत ही मूर्खतापूर्ण चाल थी वह अब बन्द हो गई है। फ़रासीसी विद्वान् मार्स्यल लिखता है "यह बात बिना सङ्कोच के विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि शिक्षा की पहली सीढ़ी व्याकरण नहीं है; वह उसकी पूर्णता का साधन-मात्र है। व्याकरण की बदौलत भाषा नहीं आती, किन्तु भाषा का ज्ञान हो चुकने पर उसे परिमार्ज्जित करने के लिए उसकी ज़रूरत होती है"। इस विषय मे प्रसिद्ध विद्वान् वाइज़ क्या कहता है सो भी सुनिए। वह लिखता है—"व्याकरण और वाक्य-रचना-विधान नियमों और सिद्धान्तों के समूह को कहते हैं। जैसी भाषा व्यवहार में बोली जाती है उसी के अनुसार नियम बनते हैं। अर्थात् यों कहना चाहिए कि बोल-चाल का ख़याल रख

कर नियम बनाये जाते हैं। लोगों की बोल-चाल की पर्य्यालोचना और उसका परस्पर मिलान करने से जो नतीजे निकलते हैं उन्हीं का नाम नियम है। यही भाषा-शास्त्र या भाषा-विज्ञान है। प्राकृतिक विषयों का अभ्यास करनेवाला चाहे एक आदमी हो, चाहे देश का देश हो, विज्ञान या शास्त्र की प्राप्ति उसे पहले ही नहीं हो जाती। विषय आरम्भ करते ही सिद्धान्तों का पता नहीं लग जाता। व्याकरण और छन्दःशास्त्र की कल्पना तक लोगों के मन में आने के सैकड़ों वर्ष पहले ही से वे भाषा बोलने और उसमे कविता करने लगते हैं। तर्कना करने के लिए लोग अरिस्टाटल (अरस्तू) की राह नहीं देखते बैठे, कि जब वह तर्क-शास्त्र पर पुस्तक लिखे तब वे तर्क करना सीखें। उसके पहले भी वे बहस करते थे और दलीलो से काम लेते थे"। सारांश यह कि भाषा के बाद व्याकरण पैदा हुआ है। इससे भाषा के बाद ही उसकी शिक्षा होनी चाहिए। जो लोग मनुष्य-जाति और व्यक्ति-विशेष के विकास या सुधार-विषयक पारस्परिक सम्बन्ध को मानते हैं उन्हे यह बात माननी ही पड़ेगी।

९—सब चीज़ों को ध्यान से देखने का महत्त्व, और आलोचना-शक्ति के बढ़ाने की ज़रूरत।

अब ऐसा समय आया है कि शिक्षा के पुराने तरीक़े तो धीरे धीरे बन्द होते जाते हैं और उनकी जगह पर नये नये तरीके जारी होते हैं। इन नये तरीक़ों मे से सर्वोत्तम तरीक़ा, चीज़ों को अच्छी तरह दिखला कर लड़कों को उनका यथारीति ज्ञान प्राप्त कराना है। सब चीजों की ध्यान-पूर्वक आलोचना करने की शक्ति को बढ़ाना शिक्षा का बहुत ही अच्छा तरीका है। अज्ञानान्धकार के कितने ही युग बीत जाने पर अब कहीं लोगों की समझ में यह बात आने लगी है कि बचपन मे लड़के जो कभी इस चीज़ को देखते हैं कभी उस चीज को, कभी कुछ पूछते हैं कभी कुछ, उसका भी कोई मतलब है। लड़को मे पूँछ-पाछ करने और देखने-भालने की जो आदत होती है उससे कुछ फ़ायदा भी होता है इस बात को लोग अब समझने लगे हैं। जिन बातों को लोग, किसी समय, अपने अपने मौक़े के

अनुसार, व्यर्थ दौड़-धूप, खेल-कूद या शरारत समझते थे उसी को वे अब भविष्यत् मे विद्योपार्जन का प्रधान साधन समझने लगे हैं। उनके ध्यान में अब यह बात आने लगी है कि लड़कपन मे ज्ञान प्राप्त करने का यही स्वाभाविक रीति है। इसी से अब बच्चो को प्रत्यक्ष चीज़ें दिखला कर उनके विषय में शिक्षा देने की रीति शुरू की गई है। यह रीति बहुत अच्छी है। यह कल्पना सचमुच ही उत्तम है। पर उसका जिस तरह उपयोग होना चाहिए नहीं होता। इँग्लेंड के प्रसिद्ध विद्वान् बेकन का मत है कि—"जितने विज्ञान-विषय हैं पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र उन सबका जनक है—उन सबका उत्पत्ति-स्थान है"। शिक्षा मे इस कथन का भी कोई अर्थ है, यह बात लोगों के ख़याल में अब कहीं आई है। सांसारिक चीज़ो के दृश्य और उनके गुण-धर्म्मों का सच्चा सच्चा ज्ञान हुए बिना हमारी कल्पनायें ज़रूर भ्रान्तिपूर्ण होंगी, हमारे अनुमान ज़रूर दोषयुक्त होंगे और हमारे प्रयोग थोड़े बहुत ज़रूर निष्फल होगे। चीज़ों को देखने और छूने से उनके विषय में जो बातें मालूम हो सकती हैं वे यदि न मालूम कर ली जायँगी तो शुद्ध कल्पना, निर्दोष अनुमान और फलदायक प्रयोग कभी न हो सकेंगे। "यदि ज्ञानेन्द्रियों को उचित शिक्षा नहीं मिलती तो सारी अगली शिक्षा शिथिल और अपूर्ण रह जाती है और एक भी बात साफ़ साफ़ समझ में नहीं आती। सब बातों पर एक तरह का अँधेरा सा छाया रहता है। आगे ये दोष दूर नहीं हो सकते। इनका इलाज फिर असम्भव हो जाता है"। यथार्थ बात यह है कि यदि हम अच्छी तरह सोचें तो हमें मालूम हो जायगा कि जितने बडे बड़े काम हैं उनमे कामयाबी होने के लिए उन पर पूरे तौर पर विचार करने और उनके हर अंश का दिल लगा कर अवलोकन करने की बड़ी ज़रूरत है। बिना इसके कभी कामयाबी नही हो सकती। अवलोकन और आलोचना करने का स्वभाव आदमी को ज़रूर ही डालना चाहिए। सिर्फ़ कारीगर, पदार्थ-वेत्ता और विज्ञानशास्त्री ही के लिए इन गुणों की ज़रूरत नहीं। रोगो का निदान जानने के लिए वैद्य या डाक्टर के लिए भी इनकी जरूरत है। यंजिनियर लोगों को तो इन गुणों की इतनी ज़रूरत पड़ती है कि उन्हे सीखने के लिए उनको कई वर्ष कारखानों मे ख़र्च करने पड़ते हैं।

इसी तरह, हमारी समझ मे, तत्त्ववेत्ता भी वही हो सकता है जो सांसारिक पदार्थों के उन पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जो और लोगों के ध्यान मे नहीं आते। कवि का भी यही हाल है। कवि भी वही हो सकता है जो जगत् मे ऐसी ऐसी बारीक़ बातें देखता है जो औरों को नहीं देख पड़तीं, पर कवि के द्वारा बतलाई जाने पर सब उन्हें स्वीकार करते हैं। अतएव इससे अधिक और किसी बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है कि हर वस्तु के गुण-धर्म्मों का चित्र ख़ूब सफ़ाई और पूर्णता के साथ हृदय-पटल के ऊपर खिँच जाना चाहिए। सड़े हुए कच्चे सूत से बुद्धिमानी का पायदार वस्त्र नहीं बन सकता। मिट्टी के कमज़ोर और कच्चे पायों के ऊपर कहीं पक्के ज्ञान-मन्दिर की इमारत खड़ी की जा सकती है?

१०—सब चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखला कर शिक्षा देने की नई रीति का प्रचार और उसके उदाहरण।

पदार्थों के गुण-धर्म्मों पर पाठ पढ़ा कर शिक्षा देने की पुरानी रीति अब उठती जाती है। उसकी जगह पर प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष दिखला कर शिक्षा देने की नई रीति अब प्रचार में आ रही है। जिस तरह कपड़ों की पोत, पदार्थों के स्वाद और सब तरह के रङ्ग प्रत्यक्ष देख कर अपने ही अन्तर्ज्ञान द्वारा सीखे जाते हैं उसी तरह अब निश्चित विज्ञान-विद्याओं के प्रारम्भिक तत्त्व—शुरू के मोटे मोटे सिद्धान्त—सब चीज़ों को प्रत्यक्ष देख कर सीखे जाते हैं। वाल-फ्रेम नाम का एक चौखटा होता है। उसमे तार और गोलियाँ लगी रहती हैं। उसकी सहायता से अब बच्चों को अङ्कगणित की प्रारम्भिक बातें, अर्थात् गिनती, जोड और बाक़ी इत्यादि, सिखलाई जाती हैं। नई रीति से शिक्षा देने का यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। दशमलव [illegible]खलाने की जो रीति प्रसिद्ध गणित-शास्त्री अध्यापक डी० मार्गन ने [illegible]ाली है उसमे भी इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। एम० मार्सेल साहब ने कोष्ठक कण्ठ करने की पुरानी रीति को बन्द करके, गज़, फ़ुट, पौंड, औंस, गैलन और कार्ट इत्यादि माप-तोल प्रत्यक्ष दिखा कर, उन-

रिबे से उनके पारस्परिक सम्बन्ध को खुद ही जान लेने की जो रीति विद्यार्थियों के लिए निकाली है वह बहुत अच्छी है। भूगोल और रेखागणित पढ़ाने मे जो गोले और लकड़ियों की आकृतियों का अब उपयोग होने लगा है वह भी पूर्वोक्त उद्देश सिद्ध होने ही के लिए है। इन सब तरीक़ों का मतलब सिर्फ़ यही है कि इनकी सहायता से शिक्षा देने में लड़कों के मन पर वही संस्कार हो जो मनुष्य-जाति के मन पर सहज ही होता गया है। जिन बातो को देखने, सुनने या जानने की इच्छा बच्चों में स्वभाव ही से होती है उनकी सहायता से शिक्षा देने मे बच्चों को कुछ भी कष्ट नही होता। वह उनके लिए खेल का खेल और शिक्षा की शिक्षा है। फिर, जो बातें जिस तरह जानी गई हैं उसी तरह बतलाने से जल्द आती भी हैं। संख्या, आकार और पारस्परिक भेद या अन्तर का सम्बन्ध लोगों ने पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर ही जाना है और प्रत्यक्ष देख कर ही तत्सम्बन्धी सिद्धान्त निकाले हैं। ये बातें बच्चो को प्रत्यक्ष पदार्थ दिखला कर सिखलाना मानों जिस तरह मनुष्य-जाति ने उन्हे सीखा था उसी तरह उनकी शिक्षा देना है। शायद धीरे धीरे कभी हम लोगों के ध्यान में यह आ जाय कि ये बातें और किसी तरह से बच्चो को सिखलाई ही नहीं जा सकती। क्योंकि, यदि ये बच्चो से कण्ठ कराई जाती हैं तो तब तक इनका मतलब ही उनकी समझ मे नही आता जब तक उन्हे यह नहीं मालूम हो जाता कि जो कुछ उनसे रटाया जा रहा है वह उसी का वर्णन है जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष अपनी ही आँखों से देखा है।

११—बच्चों को शिक्षा मनोरञ्जक मालूम होनी चाहिए; कष्टदायक नहीं। यही प्राकृतिक नियम है। इसका अनुसरण भी अब हो रहा है।

पुरानी शिक्षा-प्रणाली मे जितने फेरफार हो रहे हैं उनमे एक बात विशेष ध्यान मे रखने लायक़ है। वह यह है कि अब लोगों की यह इच्छा प्रति दिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है कि विद्योपार्जन मे बच्चों को आनन्द मिलना चाहिए, कष्ट नहीं। यदि शिक्षा प्राप्त करने में उनका मनोरञ्जन न

हुआ तो कुछ भी न हुआ। इसका वीज इस बात का ज्ञान है कि जिस उम्र मे जो काम बच्चा पसन्द करता है उसी की शिक्षा से उसे लाभ पहुँचता है। अर्थात् उम्र के अनुसार जिन विषयों के सीखने मे बच्चों का मन लगता है उन्ही को सिखाने से बच्चों को लाभ पहुँचता है और उन्हीं से उनकी बुद्धि बढती है। और, इसका उलटा बर्ताव करने से फल भी उलटा होता है। जो बातें बच्चों को नहीं अच्छी लगती उन्हे ज़बरदस्ती सिखलाने से कभी लाभ नही होता। अब यह राय लोगों मे फैलती जाती है कि किसी शिक्षा के पाने की अभिलाषा प्रकट करना इस बात का सबूत है कि बच्चे की बुद्धि उसे प्राप्त करने के योग्य हो गई है और बुद्धि की वृद्धि के लिए उस शिक्षा की उसे ज़रूरत है। इसके विपरीत यदि किसी शिक्षा-सम्पादन मे बच्चे का मन नहा लगता तो जानना चाहिए कि उसे प्राप्त करने की योग्यता उसमे नहीं आई, या जिस रीति से वह शिक्षा दी जाती है वह रीति ही ठीक नहीं है। इसी से लोग इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि जो शिक्षा बचपन मे दी जाय वह मनोरञ्जक होनी चाहिए, जिसमे खुशी खुशी बच्चे उसे सीख ले। यही नही, किन्तु जितनी शिक्षा है सब ऐसी होनी चाहिए कि उसमे मन लगे। यही कारण है जो खेल-कूद के लाभो पर व्यख्यान दिये जाते हैं। बचपन मे लड़को को जो तरह तरह के क़िस्से, कहानियाँ और पहेलियाँ इत्यादि सुनाई जाती हैं उनका भी मतलब यही है। इस तरह बच्चों की तबीयत का ख़याल रख कर प्रति दिन नई नई शिक्षा की रीतियाँ निकाली जा रही हैं। हम बराबर इस बात की पूछ पाछ किया करते हैं कि बच्चा इस विषय की शिक्षा पसन्द करता है या नहीं, उस विषय को पसन्द करता है या नहीं। अमुक विषय के सीखने मे उसका दिल लगता है या नहीं। एम० मार्सेल साहब की राय है कि—"बच्चो को जुदा जुदा तरह की चीजे अच्छी लगती हैं। उनकी इस आदत को रोकना न चाहिए। नाना प्रकार की बातें सीखने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चो मे होती है उसे बढ़ाना चाहिए। यह इस तरह करना चाहिए कि उनकी इच्छा भी तृप्त हो जाय और उनकी बुद्धि भी विकसित होती जाय। अर्थात खेल-कूद के साथ साथ उन्हे शिक्षा भी मिलती जाय"। उनकी यह भी राय

है कि—"पढ़ने से बच्चो का दिल उचटने के पहले ही पाठ याद कराना बन्द कर देना चाहिए"। बच्चों के बड़े होने पर इसी तरह शिक्षा देनी चाहिए। मदरसे मे शिक्षा के लिए जितने घण्टे नियत हों उनमे बीच बीच थोड़ी देर के लिए छुट्टी देना, बाहर गाँवों और खेतों इत्यादि मे घुमाने ले जाना, मनोरञ्जक व्याख्यान सुनाना, और सब बच्चों से एकही साथ कविता गवाना—ये और ऐसी ही और भी बहुत सी बातें हैं जिनमे नई रीति से शिक्षा देने के उदाहरण अच्छी तरह देख पड़ते हैं। अब तापसवृत्ति मदरसों से उसी तरह लोप हो रही है जिस तरह कि वह मनुष्यों के व्यवहारो से लोप रही है। क़ायदे-क़ानून बनाते समय अब सिर्फ़ यह बात देखी जाती है कि प्रजा को उससे सुख होगा या नहीं। नये क़ानून बनाने की ज़रूरत अब इसी कसौटी पर कस कर मालूम की जाती है। सरकार की यह प्रवृत्ति अब प्रति दिन बढ़ती जा रही है। इसी तरह अब घर मे और मदरसे मे भी बच्चों के सुख का ही ख़याल रख कर शिक्षा देने का क्रम निश्चित किया जाता है। किस बात को बच्चे पसन्द करेगे? किस बात से उनको आनन्द मिलेगा? इसका विचार करके अब उन्हे शिक्षा दी जाने लगी है। ये जो फेरफार हो रहे हैं उनमे विशेषता क्या है? उनका झुकाव किस तरफ़ है? विचार करने से क्या यह बात साफ़ नहीं मालूम होती कि सृष्टिक्रम के अनुसार बर्ताव करने ही की तरफ़ अब लोगों की प्रवृत्ति बढ़ रही है? बचपन ही मे बच्चों को जो ज़बरदस्ती शिक्षा देने की रीति थी वह सृष्टिक्रम के विरुद्ध थी। इसलिए लोग अब उस रीति को छोड़ रहे हैं। अब बचपन का समय अवयवों और ज्ञानेन्द्रियों से काम लेने के लिए छोड़ दिया जाता है। अब पाठ कण्ठ करने के लिए लड़के लाचार नहीं किये जाते। अब जो कुछ उन्हें सिखाना होता है वह मुँह से बतला कर और चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखला कर सिखलाया जाता है। खेती के कारोबार और खेल-कूद से सम्बन्ध रखनेवाले पाठ, इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नियमों के आधार पर शिक्षा देने का तरीक़ा उठ गया है। सब बातों के सिद्धान्त बतला कर उनकी शिक्षा दी जाती है। जिन बातों से जो नतीजे निकलते हैं वे तब तक नहीं सिखलाये जाते जब तक वे बाते नहीं बतला दी जातीं। चीज़ें पहले

दिखला कर फिर उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त वतलाये जाते हैं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों की आकृतियाँ दिखला कर जो शिक्षा दी जाती है वह इस बात का उदाहरण है। विज्ञान-शास्त्रों के मूल सिद्धान्त पहले ही शब्द द्वारा न बतला कर उनसे सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ें दिखला कर धीरे धीरे उन्हे बतलाने की जो रीति अब चल पड़ी है वह भी इस वात का उदाहरण है। और, इन सबसे बढ़कर उदाहरण मनुष्यो के मन की वह प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर वे जुदा जुदा तरीक़ों से सब विषयो को इस तरह सिखलाते हैं। जिसमें उनके सीखने में बच्चों का मन लगे और आराम से वे सब बातें सीख लें। इन सब बातों का विचार करने से हमारे निश्चित किये हुए सिद्धान्त की सत्यता के विषय मे किसी को भी सन्देह न होगा। प्रकृति का यह नियम है कि आवश्यक काम करने से प्राणियों को जो एक प्रकार का आनन्द होता है—एक प्रकार का समाधान मिलता है—उसीके ख़याल से सब प्राणी वह काम करने के लिए उत्साहित होते हैं। बच्चों का भी यही हाल है। उनके भी काम इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार होते हैं। वचपन में लड़के जब प्राकृतिक नियमों से उत्साहित होकर सब बातें आपही आप सीखने की कोशिश करते हैं तब मन को या मूँगों को दाँत से काटने और खिलौने को तोड़ कर टुकड़े टुकड़े करने मे उन्हे मज़ा आता है। इसी से वे ऐसा करते हैं और इसी से पदार्थों के गुण-धर्म्म का ज्ञान उन्हे सहज ही हो जाता है। प्रकृति उन्हे सिखलाती है कि खिलौनों और मनको को तोड़ फोड़ कर तुम पदार्थों के गुण-धर्म्म का ज्ञान प्राप्त करो। इससे यह साफ़ मालूम होता है कि इस समय सब लोग जो बच्चो के सीखने के विषय और उनके सिखलाने की रीति को यथा-सम्भव मनोरञ्जक बनाने का प्रयत्न करते हैं वह प्रकृति या परमेश्वर के उद्देश्य और जीवन-शास्त्र के नियमों का अनुसरण-मात्र है। और कुछ नहीं।

१२—शिक्षा का क्रम और तरीक़ा मानसिक शक्तियों की वृद्धि के अनुसार होना चाहिए।

अब हम उस राजमार्ग पर आ गये हैं जिस पर चल कर हम पेस्ट-

लोजी के निकाले हुए सिद्धान्त तक पहुँच सकते हैं। स्विट्ज़रलैंड में इस नाम का एक विद्वान् हो गया है। उसने शिक्षा का जो एक नया तरीक़ा निकाला है उसे निकले बहुत दिन हुए। उसका मत है कि शिक्षा का क्रम और तरीक़ा, दोनों बातें, उसी हिसाब से होनी चाहिए जिस हिसाब से मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। मन से सम्बन्ध रखनेवाली शक्तियों की बढ़ती प्राकृतिक विषयों के अनुसार होती है। जो कुछ सुधार उनमे होता है सब नियमानुसार होता है। जिस समय उनकी बाढ़ के दिन होते हैं उस समय प्रत्येक शक्ति के लिए एक विशेष प्रकार के ज्ञान की—एक विशेष प्रकार की शिक्षा की—ज़रूरत होती है। अतएव जिन नियमों के अनुसार मानसिक शक्तियाँ सुधरती हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हे दरकार होती है उसका पता लगाना हमारा काम है। इसी सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देने की तरफ़ आज-कल लोगों के मन का झुकाव हो रहा है। शिक्षा-सम्बन्धी जिन सुधारो का वर्णन ऊपर किया गया वे इस व्यापक सिद्धान्त के कुछ अंश के अनुसार व्यवहार किये जाने ही का फल है। अध्यापको को अब इस सिद्धान्त का ज्ञान हो चला है; और शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों मे इस पर प्रतिदिन अधिक ज़ोर भी दिया जाने लगा है। एम० मार्सेल साहब का मत है कि—"सृष्टि का क्रम शिक्षा के क्रमों का बीज है। जितने तरीक़े हैं सबका असली नमूना सृष्टि, अर्थात् प्रकृति, का तरीक़ा है"। वाइज़ साहब कहते हैं—"बच्चो को आपही आप ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बना देना ही शिक्षा का सबसे अच्छा तरीक़ा है। सर्वोत्तम रीति वही है जिससे बच्चे इस लायक़ हो जायँ कि वे ख़ुद ही अपने आपको ठीक ठीक शिक्षा दे सकें"। वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से जैसे जैसे हमें पदार्थों के गुण-धर्म्म और उनकी घटना और स्थिति आदि का ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उनकी स्वायत्तता, प्राकृतिक सत्ता, अथवा ख़िलक़ी कमाल, आपही आप हमे दिखाई देता जाता है। वैज्ञानिक विषयो का विशेष अभ्यास करने से अब हम इस बात को समझने लगे हैं कि प्राणियों का जीवन-क्रम जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। उसका प्रतिबन्ध करना, या उसमे किसी तरह का विघ्न डालना, अच्छा नहीं।

आज कल जिस तरह बीमारों की चिकित्सा होती है उसी को देखिए। अब पहले की तरह आसुरी उपचार नहीं किये जाते। अब उनके बदले सौम्य रीति की चिकित्सा की जाती है। दवा-पानी मे कठोरता का बर्ताव अब नही होता। यहाँ तक कि बहुधा दवा-पानी की ज़रूरत ही नही समझी जाती। बीमार को पथ्यपूर्वक रखना ही लोग बस समझते हैं और खाने-पीने का विचार रखने से बहुधा दवा देने की ज़रूरत पड़ती भी नही। यह जीवन-क्रम मे विघ्न न डालने ही का फल है। अब हम लोगों को यह बात मालूम हो गई है कि जिस तरह उत्तरी अमेरिका के दुधपिये बच्चों के अंग पट्टियाँ बाँध बाँध कर सुडौल किये जाते हैं उस तरह हमे अपने बच्चों को एक विशेष प्रकार के आकार का बनाने के लिए उनके बदन पर पट्टियाँ बाँधने या और किसी तरह साँचे मे ढालने की ज़रूरत नहीं है। अब हमे यह बात भी मालूम हो गई है कि जेलखानों मे क़ैदियो का सुधार करने के लिए बुद्धिमानी से भरी हुई चाहे जितनी तरकीबें निकाली जायँ, पर वे उतनी कारगर नही होतीं जितनी कि अपनी उदर-पूर्ति के लिए ख़ुद अपने हाथ से मेहनत करने की स्वाभाविक तरकीब कारगर होती है। शिक्षा का भी यही हाल है। उसके सम्बन्ध मे भी अब हमे इस बात का तजरिबा हो रहा है कि बुद्धि के विकास के साथ ही साथ यदि उसके अनुरूप शिक्षा दी जायगी तभी वह फलदायक होगी। मनुष्य-मात्र की बुद्धि, उम्र के हिसाब से विकास पाया करती है—उसकी वृद्धि हुआ करती है। अतएव इस बुद्धि-विकास को ध्यान में रख कर जिस तरह की शिक्षा समयानुकूल हो उसी तरह की शिक्षा यदि दी जायगी तभी उससे यथेष्ट लाभ होगा। अन्यथा नही।

१३—इस सिद्धान्त के अनुसार मदरसों में थोड़ी बहुत शिक्षा दी भी जाती है। यह सिद्धान्त बिलकुल ही त्याज्य नहीं माना गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त निर्विवाद है। इस सिद्धान्त का साराश यह है कि जैसे जैसे बच्चो की बुद्धि बढ़ती जाय और शिक्षा-

ग्रहण करने मे उनकी मानसिक शक्तियों का सामर्थ्य जैसे जैसे अधिक होता जाय वैसे ही वैसे उनकी ग्रहण-शक्ति और बुद्धिविकास के अनुसार उन्हे यथाक्रम शिक्षणीय विषय सिखलाये जायँ । बच्चो की शिक्षा मे विषयों की योजना और उनके सिखाने की तरकीब, इन दोनों बातो का विचार रखना मुनासिब है । यह सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि इसके विषय मे और कुछ कहने की ज़रूरत ही नही । एक बार बतला देने ही से यह स्वय सिद्ध सा मालूम होता है । हम यह नहीं कह सकते कि इस सिद्धान्त की आज तक लोगों ने बराबर अवहेलना ही की है । नहीं, इसका समूल तिरस्कार कभी नही हुआ । इसके अनुसार शिक्षा दी भी जाती है । अध्यापक लोग तो विवश होकर इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़ी बहुत शिक्षा मदरसों में देते ही आये हैं । क्योकि बिना ऐसा किये उनका काम ही न चल सकता। यदि वे इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा न देते तो उन्हे शायद शिक्षा ही बन्द कर देनी पडती । ऐसा कभी नहीं हुआ कि जोड़ सीखे बिना लड़के को त्रैराशिक सिखलाया गया हो । ऐसा भी कभी नही हुआ कि कापियो पर बडे अक्षर लिखने की मश्क़ हुए बिना बच्चो से छोटे अक्षर लिखने का अभ्यास कराया गया हो । शङ्कुच्छेदविद्या सिखलाने से पहले हमेशा रेखा-गणित का शिक्षा दी गई है । परन्तु पुरानी शिक्षा-पद्धति में एक दोष यह था कि जिन तत्त्वो को लोग सामान्य रीति पर मानते थे उन को वे छोटे मोटे सब विषयो मे न मानते थे । अर्थात् वे उन्हें सामान्य रीति पर तो मानते थे, पर विशेष विशेष बातों मे न मानते थे । परन्तु यथार्थ बात यह है कि शिक्षा के ये पूर्वोक्त तत्त्व सब कहीं बराबर नियामक हैं । सब कही उनकी एक सी सत्ता है । जब से बच्चा दो चीज़ों के स्थिति-विषयक परस्पर सम्बन्ध को जानने लगता है, अर्थात् उनके पास या दूर होने आदि के सम्बन्ध का ज्ञान उसे हो जाता है, तब से यदि इस बात को अच्छी तरह समझने में कि पृथ्वी जल और थल के मेल से बना हुआ एक गोला है, उस पर अनेक पहाड़, जगल, नदियाँ और शहर हैं, और वह अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य्य की भी प्रदक्षिणा करती है, कई वर्ष लग जाते हैं, यदि वह एक कल्पना के बाद दूसरी कल्पना तक क्रम क्रम से धीरे धीरे पहुँचता है;

और यदि बीच की कल्पनायें, जिनका ज्ञान वह प्राप्त करता है, उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और अधिक पेचीदा होती हैं, तो क्या इससे यह बात साफ़ ज़ाहिर नहीं होती कि बच्चे को जो विषय सीखने हैं उन्हें उसे यथाक्रम सीखना चाहिए? अर्थात् जिस विषय को जिस क्रम से उसे सीखना मुनासिब हो उसी क्रम से उसे सीखना चाहिए। हर एक बड़ी बात—हर एक व्यापक बात—बहुत ही छोटी छोटी बातों के मेल से बनती है। अतएव क्या किसी को इसके बतलाने की ज़रूरत है कि इन बहुत सी विशेष विशेष बातों को समझे बिना कोई भी व्यापक बात समझ में नहीं आ सकती? व्यापक बातों के अन्तर्गत जो विशेष विशेष बातें होती हैं उनका ज्ञान हुए बिना बच्चे को बड़ी बड़ी बातें सिखलाना क्या एक बहुत ही बेहूदा रीति नहीं है? इस रीति के अनुसार बच्चों को शिक्षा देना मानो ज़ीने की पहली सीढ़ी पर पैर न रख कर एक-दम उन्हें ऊपर की सीढी पर चढा देने की कोशिश करना है, अथवा विचारशृङ्खला के पहले विचार को न सिखला कर एक-दम अन्त के विचार को सिखलाना है। हर विषय का अभ्यास करने में यथाक्रम अधिक अधिक पेचीदा बातों का सामना करना पड़ता है। जैसे जैसे किसी विषय में प्रवेश होता जाता है वैसे ही वैसे उसकी कठिनता भी बढ़ती जाती है। अर्थात् उसके सरल अंश से पहले काम पड़ता है और कठिन से पीछे। यह कठिनता क्रम क्रम से विशेष होती जाती है। इन सब अंशो के सीखने के लिए जिन मानसिक शक्तियों की जरूरत होती है उनकी तरक्की तभी हो सकती है जब ये सब अंश अच्छी तरह समझ में आ जायँ—जब ये सब बातें पूरे तौर पर ध्यान में चढ जायँ। इस बात का होना तभी सम्भव है जब ये बातें अपने मूल-क्रम में सिखलाई जायँगी। प्राकृतिक रीति से जो बात जिस नियम से और जिस क्रम से होती है शिक्षा में उसी का अनुसरण करने में कामयाबी होगी, अन्यथा नहीं। यदि इस क्रम की परवा न की जायगी तो फल यह होगा कि शिक्षणीय विषय के सीखने में मन न लगेगा और उससे घृणा हो जायगी। इस तरह की क्रमहीन शिक्षा से जो हानि होती है उसे भविष्यत् में दूर ही पूरा करने के लिए यदि विद्यार्थी में यथेष्ट बुद्धि और सामर्थ्य

नहीं है तो बेमन सीखी हुई बातें निर्जीव की तरह उसके दिमाग़ मे भरी रह जायँगी और उनका शायद ही कभी कोई उपयोग होगा। अर्थात् इस तरह शिक्षा प्राप्त करना न करने के बराबर है।

१४—जिन नियमों के अनुसार वनस्पतियों और प्राणियों का शरीर-पोषण होता है उन्हीं के अनुसार मनुष्यों का मानसिक पोषण भी होना चाहिए।

परन्तु यहाँ पर यह बात पूछी जा सकती है कि—"किसी विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति निश्चित करने के लिए इतना कष्ट उठाने की ज़रूरत ही क्या है? यदि यह बात सच है कि शरीर की तरह मन की भी उन्नति ऐसे नियमो के अनुसार होती है जो पहले ही से निश्चित हो चुके हैं; यदि वह आपही आप परिपक्क अवस्था को पहुँच जाता है, जिन विशेष विशेष बातों के सीखने से मन का पोषण होता है उन्हे यथासमय सीखने के लिए यदि उसे आपही आप इच्छा होती है; और यदि मन मे ही एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो आपही आप यह बतला देती है कि किस समय कौन सी शिक्षा दरकार है—तो फिर लड़कों की शिक्षा मे हस्तक्षेप करने की ज़रूरत ही क्या है? बच्चों को शिक्षा देने के विषय मे दस्तन्दाज़ी करने की आवश्यकता ही क्या है? क्यों न बच्चे बिलकुल ही प्रकृति के भरोसे छोड़ दिये जायँ? क्यों न उनका विद्याभ्यास सृष्टिक्रम ही के अनुसार हो? क्यों न हम लोग इस विषय मे चुपचाप रहे और जिस तरह शिक्षा प्राप्त करना लड़कों को अच्छा लगे उसी तरह ख़ुद ही उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें अनुमति दे दें? क्यों न सब बातों मे हम एक सा बर्ताव करें"? यह प्रश्न बहुत ही बेढंगा है। इसमें सत्य की अपेक्षा सत्याभास ही की मात्रा अधिक है। हमने यहाँ तक इस विषय का जो प्रतिपादन किया उसका मतलब प्रश्नकर्ता ने, जान पड़ता है, यही समझ रक्खा है कि बच्चों की शिक्षा का क्रम बिलकुल ही खुला हुआ छोड़ दिया जाय, उसमे किसी तरह का प्रतिबन्ध ही न रहे। यदि यह बात ऐसी ही हो तो मानों यह सिद्ध हो गया कि हमने स्वयं अपनी ही तर्कना-प्रणाली से हार खाई। परन्तु सच

तो यह है जो कुछ हमने लिखा है वह यदि अच्छी तरह समझ लिया जाय तो ऐसी निर्मूल शङ्काओं का उत्थान करने की जगह ही न रह जाय। हमारे प्रतिपादन से इस तरह की गड़बड़ होने की जरा भी सम्भावना नहीं। प्राकृतिक पदार्थों पर एक दृष्टि डालने ही से हमारे कहने की सचाई साफ़ मालूम हो जायगी। प्राणियों और वनस्पतियों से सम्बन्ध रखनेवाला साधारण नियम यह है कि उनकी भीतरी शारीरिक रचना जितनी ही अधिक पेचीदा होती है उतनी ही अधिक अवधि तक उन्हें अपने पोषण और रक्षण के लिए अपने जन्मस्थान, अर्थात् माँ-बाप, पर अवलम्बित रहना पड़ता है। जिन वनस्पतियों मे फूल नहीं होते उनमे एक प्रकार के छोटे छोटे दाने होते हैं। वे स्पोर कहलाते हैं। महीन रेशेदार ऐसे वनस्पतियों के छोटे छोटे दाने बीज का काम देते हैं। ये बीज बहुत जल्द तैयार होते हैं और आप ही आप नीचे गिर कर अपनी जाति के दूसरे वनस्पतियों को पैदा करते हैं। इनको आप ही आप गति प्राप्त हो जाती है। अब जिन पेड़ो में फूल होते हैं उनको देखिए और इस बात का विचार कीजिए कि उनके फूलों से पैदा होनेवाले बीजो की क्या दशा होती है। उनके बीज धीरे धीरे बढते हैं। वे फूलो के अनेक आच्छादनो के भीतर बंद रहते हैं। अङ्कुर निकलने के बाद उनकी वर्त्तमान अवस्था मे उनके पोषण के लिए अनेक प्रकार की सामग्री दरकार होती है। इन दोनो प्रकार के बीजों में जो अन्तर होता है उसका विचार करने से यह बात साबित होती है कि हमारे बतलाये हुए नियम का उदाहरण वनस्पतियों मे बहुत ही अच्छी तरह से पाया जाता है। प्राणियों में तो इस बात के न्यूनाधिक उदाहरण अत्यन्त सूक्ष्म जीव-जन्तुओं से लगाकर मनुष्यों तक मे पाये जाते हैं। मोनर नाम के अत्यन्त सूक्ष्म कीड़ों को देखिए। उनके आप ही आप दो टुकड़े हो जाते हैं। पर अलग हो जाने पर भी उनके प्रत्येक टुकड़े मे वही सब बातें होती हैं जो पूरे कीड़े में होती हैं। पूरे और आधे कीड़े के सामर्थ्य में कुछ भी अन्तर नहीं होता। प्राणियो में जो सामर्थ्य होना चाहिए वही उन कीड़ो के अकेले एक टुकड़े मे भी होता है। अब मनुष्य को देखिए। उसके शिशु को ९ महीने तक गर्भवास करना पड़ता है और पैदा होने पर पोषण के लिए बहुत दिन

तक माँ के दूध पर निर्वाह करना पड़ता है। इसके बाद उसे धीरे धीरे अन्न खिला कर उसकी जीवन-रक्षा की जाती है। जब वह कुछ बड़ा होता है और ख़ुद खाने-पीने लगता है तब भी उसके लिए भोजन, वस्त्र और रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है। पैदा होने के बाद पन्द्रह बीस वर्ष तक पूरे तौर पर अपना निर्वाह आप कर लेने का सामर्थ्य उसमे नहीं आता। तब तक उसके वस्त्राच्छादन आदि का प्रबन्ध औरो को करना पडता है! यह नियम मन के लिए भी वैसा ही कारगर होना चाहिए जैसा कि शरीर के लिए है। जितने ऊँचे दरजे के प्राणी हैं—विशेष करके मनुष्य—उनको, मानसिक पोषण के लिए, लड़कपन मे अपने से बड़ों की मदद ज़रूर दरकार होती है। शुरू शुरू मे उन्हे अपनी मदद के लिए दूसरों ही का मुँह ताकना पड़ता है। बच्चे के शरीर मे इधर उधर घूमने फिरने की शक्ति न होने के कारण, अपना पेट पालने के लिए, भोजन की सामग्री प्राप्त करने की शक्ति जिस तरह उसमे नहीं होती प्रायः उसी तरह अपनी मानसिक शक्तियो की सञ्चालना के लिए उचित साधन प्राप्त करने को शक्ति भी उसमे नहीं होती। जिस तरह वह अपनी जीवन-रक्षा के लिए भोजन नहीं तैयार कर सकता ठीक उसी तरह जानने लायक़ बहुत से विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हे वह उचित आकार मे नही ला सकता। अर्थात् सैकड़ों तरह की जुदा जुदा बातो के जानने की रीति नहीं मालूम कर सकता। जिस भाषा की सहायता से सारी बड़ी बड़ी बातो का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसका सर्वांश वह अपने पास के आदमियों से सीखता है। माँ-बाप और दाई इत्यादि से मदद न मिलने से बच्चों की बुद्धि ज़रूर कुण्ठित होती है—जरूर उसकी बाढ़ मारी जाती है। फ्रांस के आवेरन प्रान्त के जंगली लड़कों मे इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद है। (हिन्दुस्तान में कोल, भील, गोंड और सौंताल आदि जगली आदमियों के लड़कों की बुद्धि का भी यही हाल है) अतएव जो बातें प्रति दिन बच्चो को सिखलाई जायँ वे उनके योग्य होनी चाहिए और योग्य रीति से ही सिखलाई जानी चाहिए। और यह भी ज़रूरी है कि बहुत सी बातें एकदम ही न सिखला कर थोड़ी थोड़ी सिखलाई जायँ। जो समय जैसी

बातो के सिखलाने के लिए मुनासिब हो उसी समय उनकी शिक्षा हो और योग्य समय, योग्य रीति और योग्य अवकाश का हमेशा खयाल रहे। उचित उपायो की योजना से जिस तरह बच्चों के शरीर का सुधार किया जाता है उसी तरह यथेष्ट उद्योग करने से उनके मन का भी सुधार हो सकता है। शरीर और मन दोनो के सम्बन्ध मे यह देखना माँ-बाप का कर्त्तव्य है कि उनकी बाढ़ के लिए जो बाते दरकार हैं वे हैं या नहीं। जिस तरह भोजन, वस्त्र और रहने के लिए घर देने मे माँ-बाप अपने कर्त्तव्य को इस तरह पूरा कर सकते हैं कि शरीर के अवयवो और अँतड़ियो की यथाक्रम और यथारीति आपही आप बाढ़ होने मे कोई विघ्न न आवे, उसी तरह नक़ल के लिए ध्वनि, देख-भाल के लिए पदार्थ, पढने के लिए किताबे, और हल करने के लिए प्रश्न या हिसाब भी देकर वे अपना कर्तव्य-पालन कर सकते हैं। मन की शक्तियों का जिस स्वाभाविक रीति से उत्कर्ष होता है उसमे इस तरह के व्यवहार से कोई भी बाधा नहीं आ सकती, उलटा उससे यह काम और अधिक सुलभ हो जाता है। हाँ, एक बात यह जरूर है कि इस विषय मे माँ-बाप को बच्चों पर किसी तरह की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सख्ती न करना चाहिए। किसी किसी का खयाल है कि हमारे मत के अनुसार काम करना मानों बच्चो को शिक्षा देने से हाथ धो बैठना है। परन्तु यह उनकी भूल है। जो कुछ यहाँ तक लिखा गया है उससे सिद्ध है कि हमारे मत के अनुसार शिक्षा-पद्धति जारी करने से विशेष विस्तृत और उपयोगी शिक्षा के लिए काफी जगह बाकी रहेगी।

१५—पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति में सफलता न होने का कारण योग्य शिक्षकों का अभाव है।

यहाँ तक हमने केवल व्यापक बातों ही का विचार किया। अब हम थोड़ी सी विशेष विशेष बातों का भी विचार करना चाहते हैं। पेस्टलोज़ी की निकाली हुई शिक्षा-पद्धति से जितना लाभ सोचा गया था उतना नहीं

हुआ। उसके ख़याली मनसूबे के हिसाब से बहुत कुछ लाभ होना चाहिए था। पर व्यवहार-दृष्टि से उसका होना हम नहीं स्वीकार कर सकते। हम सुनते हैं कि उसकी शिक्षा-पद्धति के अनुसार लड़कों को पढ़ाने से पाठ याद करने में उनका मन बिलकुल ही नहीं लगता; उलटा उससे उनकी तबीयत हट जाती है। अथवा यों कहिए कि पढ़ने से उन्हे घृणा हो जाती है। और, जहाँ तक पता लगा है हम कह सकते हैं कि पेस्टलोजी की पद्धति के अनुसार जिन मदरसों मे शिक्षा दी जाती है उनमे तैयार हुए नामी विद्वानों की संख्या और मदरसों मे तैयार हुए विद्वानों की संख्या से कुछ अधिक भी नही है। हमें तो संदेह है कि इस बात मे ये मदरसे दूसरे मदरसों की बराबरी भी शायद न कर सके हों। पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। हर एक युक्ति की कामयाबी, उसे सुविचार-पूर्वक बुद्धिमानी से प्रयोग करने ही पर बहुत करके अवलम्बित रहती है। एक पुरानी कहावत है कि अनाड़ी कारीगर अच्छे से अच्छे औज़ारो से भी काम ख़राब कर डालता है। इसी तरह अनाड़ी अध्यापक उत्तम से भी उत्तम शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देकर कामयाब नहीं होता। उसकी दी हुई शिक्षा मे दोष रह ही जाते हैं। सच बात तो यह है कि ऐसी दशा मे शिक्षा-पद्धति का उत्तम होना ही अध्यापकों की नाकाम-याबी का कारण होता है। जिस तरह पूर्वोक्त दृष्टान्त मे औज़ारों की उत्त-मता ही काम बिगड़ने का कारण होती है, उसी तरह शिक्षा-पद्धति की उत्तमता भी, अनाड़ी अध्यापकों के योग से, शिक्षा के बिगड़ने का कारण होती है। शिक्षा-पद्धति सीधी सादी, अपरिवर्तनीय और प्राय. कल की तरह बराबर एकसी चलनेवाली होने से बहुत ही साधारण विद्या-बुद्धि का आदमी भी उसका उपयोग कर सकेगा और उससे थोड़ा-बहुत लाभ जो हो सकता होगा वह भी होगा। परन्तु जो शिक्षा-पद्धति सब तरह से परि-पूर्ण है; जिसमे कोई कमी नही है, जिसमें जुदा जुदा तरह की मानसिक शक्तियों के ख़याल से जुदा जुदा तरह के शिक्षण की योजना की गई है, और जिसमें हर एक उद्देश की सिद्धि के लिए नई नई तरकीबे निकाली गई हैं—उसका उचित रीति से उपयोग करने के लिए जैसी योग्यता

दरकार होती है वैसी बहुत कम अध्यापकों में पाई जाती है। लड़कियों के मदरसों की अध्यापिका हिज्जों के पाठ (या शब्दों के शुद्ध उच्चारण) सुन सकती हैं और कोई भी देहाती मुदर्रिस या मानीटर पहाड़े पढ़ाने की क़वायद लड़कों से करा सकता है। परन्तु अक्षरों के नाम न बतला कर उनके उच्चारण से उन्हें शुद्ध शुद्ध लिखना सिखलाना और अंकों का जोड़ इत्यादि तख़्ती पर न लिखा कर उनके योग-वियोग आदि का फल प्रत्यक्ष तजरिबे से बतलाना बुद्धिमानी का काम है। यह काम सब अध्यापकों से नहीं हो सकता। अतएव सब विषयों को, आदि से लेकर अन्त तक, इसी तरकीब से सिखलाने के लिए अध्यापक में सारासार-विचार-शक्ति, नई नई बातों की कल्पना-शक्ति, विद्यार्थियों के मनोभाव जानने की शक्ति, उनके मानसिक विचारों के साथ सहानुभूति और सब बातों को अच्छी तरह हृदयङ्गम करा देने की योग्यता का होना बहुत ज़रूरी है। परन्तु जब तक अध्यापकी काम का आदर न होगा—जब तक मुदर्रिसी पेशे की, आज कल की अपेक्षा, अधिक क़दर न होगी—तब तक अध्यापकों में इन गुणों के आने की आशा रखना व्यर्थ है। सच्ची शिक्षा का मिलना सच्चे विद्वान् ही से सम्भव है। जो सच्चा शास्त्रवेत्ता है—जो सच्चा विज्ञान-विशारद है—वही सच्ची शिक्षा दे सकेगा। अब आप ही इसका फ़ैसला कीजिए कि कार्य्य-कारण-भाव को ध्यान में रख कर निकाली गई इस नई शास्त्र-सम्मत शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देने में इस समय कहाँ तक कामयाबी हो सकती है। मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान का इस समय तक लोगों को बहुत कम ज्ञान है और अध्यापक लोग तो उस बहुत कम ज्ञान से भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनको तो इस शास्त्र का गन्ध तक नहीं है। फिर भला जिस शिक्षा-पद्धति का आधार यह शास्त्र है उसके अनुसार शिक्षा देने में कामयाबी की कैसे उम्मीद हो सकती है।

१६—पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों में भूल नहीं; भूल है उन सिद्धान्तों के व्यवहार की रीति में।

इस शिक्षा-पद्धति के प्रचार में जो प्रतिबन्धकता और निराशा हुई है

उसका एक कारण यह भी है कि लोगो ने पेस्टलोज़ी के असल सिद्धान्तो को उसके नाम से बिकनेवाली सारी शिक्षा-पद्धतियों के साथ गड्डमड्ड कर दिया है। उन्होने यह समझ लिया है कि जो शिक्षा-पद्धतियाँ पेस्टलोज़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे ठीक उसी के सिद्धान्तों के अनुसार हैं। इस नये तरीके से शिक्षा देने की जो दो चार कोशिशें हुई हैं—जो दो चार विशेष विशेष तदबीरें की गई हैं—उनसे आशानुरूप फल न हुआ देख लोगों ने यह समझ लिया कि जिस शिक्षा-पद्धति के नाम से यह तरीक़ा प्रचलित किया गया था वह पद्धति ही दोषपूर्ण है। किसी ने इस बात की खोज न की कि मूल शिक्षा-पद्धति से यह तरीक़ा मिलता भी है या नहीं। लोगों की आदत ही प्राय: ऐसी होती है कि वे मूल सिद्धान्त का विचार न करके उसकी एक आध शाखा ही को देख कर राय क़ायम कर डालते हैं। यही उन्होंने यहाँ भी किया। बाहरी व्यावहारिक बातों मे दोप देखते ही उन्होंने मूल सिद्धान्तो ही को दोषी ठहरा डाला। भाफ़ से चलनेवाला यञ्जिन बनाने मे प्रयत्न निष्फल होने पर यदि यह अनुमान किया जाता कि भाफ़ के ज़ोर से यञ्जिन चलेहीगा नहीं या यान्त्रिक कामों मे भाफ़ की शक्ति का उपयोग होवेहीगा नही, तो यह अनुमान कहाँ तक सयौक्तिक माना जाता? इस नवीन शिक्षा-पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाला लोगों का अनुमान भी ठीक ऐसा ही है। यह बात हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिए कि पेस्टलोजी के मूल सिद्धान्त निर्भ्रान्त हैं, उनमे कोई भूल नहीं है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उनकी योजना भी निर्भ्रान्त है। सिद्धान्तों का सही होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उन सबके व्यावहारिक प्रयोग का तरीक़ा भी सही है। पेस्टलोज़ी के चाटुकार और प्रशंसक मित्रो ने भी यह बात स्वीकार की है कि वह एकपक्षीय विद्वान् था—कभी कभी प्रसंगविशेष उपस्थित होने पर उसे आन्तरिक स्फूर्ति होती थी और उस स्फूर्ति से उत्तेजित होने पर उसे वैज्ञानिक कल्पनाये सूझती थीं। उसकी विचार-परम्परा नियमानुसारिणी न होती थी। सब बातो का अच्छी तरह मनन करके वह अपने विचार यथा-नियम न प्रकट कर सकता था। स्तानज़ नामक नगर मे उसे पहले पहल

नाम लेने योग्य कामयाबी हुई। यही उसकी पहली बडी कामयाबी है। उस समय उसके पास न तो कोई किताबे थी और न साधारण रीति से शिक्षा देने का और ही कोई सामान था। कहते हैं कि—"उस समय उसका ध्यान सिर्फ़ इस बात के जानने की ओर था कि बच्चो को हर घडी किस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए, और जिस शिक्षा को बच्चो ने पहले ही प्राप्त कर लिया है उसका नई शिक्षा से मेल मिलाने की सबसे अच्छी तरकीब कौन सी है"। बच्चो से वह बहुत अधिक सहानुभूति रखता था। उनके साथ उसकी बहुत गहरी हमदर्दी थी। उनके कल्याण की उसे इतनी चिन्ता रहती थी कि, किस बात की उन्हे ज़रूरत है और किस बात की कठिनता उन्हे खलती है, यह उसे तत्कालही मालूम हो जाता था। शिक्षा-पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाली उसकी शक्ति विशेष करके इसी सहानुभूति से उत्पन्न हुई थी। शान्ति-पूर्वक विचार करके शिक्षा देने की कोई नई रीति उसने नही निकाली। समय समय पर तजरिबे से जो बाते उसे मालूम हो जाती थी उनका उचित रीति से मेल मिला कर उनकी उन्नति करने की योग्यता उसमे न थी। इससे यह काम उसे अपने सहायक क्रुयेज़ी, टाब्लर, बस, नीडरर और स्मिड को सौंपना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी और उसके शिष्यो की निकाली हुई युक्तियों का ठीक ठीक मेल न मिलने से उनमे बहुत तरह की कमी रह गई। यही नहीं, किन्तु परस्पर बहुत कुछ असङ्गति भी रह गई। उसने "मदर्स मैन्युग्रल" नाम की एक किताब बनाई है। मां के द्वारा छोटे छोटे बच्चों को शिक्षा देने की विधि उसमे है। उसके आरम्भ मे शरीर के जुदा जुदा अङ्गो के नाम हैं। उसके बाद यह बतलाया गया है कि कौन अवयव किसके पास है। फिर उनके परस्पर सम्बन्ध का वर्णन है। यह क्रम उस क्रम के अनुसार नहीं है जिसके अनुसार बचपन मे लड़कों की मानसिक शक्तियां वृद्धि पाती हैं। यह बात अच्छी तरह साबित की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं। वाक्यो में आये हुए शब्दो का अर्थ यथा-नियम याद कराकर मातृभाषा सिखलाने का जो तरीका उसने निकाला है उसकी कोई ज़रूरत न थी। ऐसा करने से विद्यार्थियों का समय और श्रम

व्यर्थ जाते हैं और उनका उत्साह भी भङ्ग हो जाता है। इस तरह मातृ-भाषा सीखने मे उन्हें कुछ भी मज़ा नहीं आता। भूगोल-विद्या से सम्बन्ध रखनेवाले जिस तरह के पाठ पढ़ाने की वह सिफ़ारिश करता है वे उसके सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। दोनों मे ज़रा भी मेल नहीं! और, बहुधा यह बात भी देखी जाती है कि जहाँ कहीं उसके मनसूबे ठीक भी हैं—उसकी युक्तियाँ निर्भ्रान्त भी हैं—वहाँ या तो उनमे किसी न किसी तरह की कमी है या वे इसलिए सदोष हैं कि उनमे पुरानी शिक्षा-पद्धति का थोड़ा बहुत अंश मिल गया है। अतएव पेस्टलोज़ी के द्वारा निश्चित किये गये शिक्षा के मूल सिद्धान्तो को यद्यपि हम निर्दोष समझते हैं, और यद्यपि हम सर्वथा उनके पक्ष मे हैं, तथापि हम यह भी कहते हैं कि विशेष विशेष बातों के सम्बन्ध में उसके विशेष विशेष तरीक़ो के अनुसार, बिना उन पर अच्छी तरह विचार किये, शिक्षा देने में बहुत बडे अनर्थ की सम्भावना है। मनुष्यो की स्वाभाविक प्रवृत्ति कुछ ऐसी है कि यदि बहुत बडे महत्त्व की कोई बात परम्परा से उन्हे प्राप्त होती है तो उससे सम्बन्ध रखनेवाली सारी रीति-रस्मे वे बहुत करके शिरसावंद्य समझते हैं। वे बहुधा अपनी समझ-बूझ और विद्या-बुद्धि को एक आध सिद्ध, साधु या महात्मा के चरणों पर फूल की तरह चढ़ा देते हैं और जो कुछ उसके मुँह से निकलता है उसके एक एक शब्द को वेदवाक्य समझ लेते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि तत्त्व बात की तो वे परवा नहीं करते, पर उसके बाहरी आडम्बर ही को सब कुछ समझ कर उसी के पीछे पागल हो जाते हैं। इस कारण इस बात पर ज़ोर देकर बार बार कहने की ज़रूरत है कि पेस्टलोजी के शिक्षा-सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों और व्यवहार मे—उनका प्रयोग करने के लिए निकाली गई तरकीबों में—बहुत बड़ा अन्तर है। उसके सिद्धान्तों को हम अपने मन में निर्भ्रान्त और निश्चित समझ सकते हैं। परन्तु साथ ही उसके हमे यह भी समझना चाहिए कि उनको काम में लाने की तरकीबों मे उन सिद्धान्तों की थोड़ी सी झलक के सिवा बहुत करके और कुछ भी नहीं है। अपने ज्ञान, अपनी शिक्षा, अपनी विद्या की वर्तमान दशा को देखने से हमें इस बात का पक्का विश्वास हो जायगा कि हमारी शिक्षा की

दशा सचमुच ही ऐसी है। यदि हमारी यह इच्छा हो कि जिस क्रम और जिस रीति से मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं उसी क्रम और उसी रीति के अनुसार शिक्षा-प्रणाली का रूप और उसकी व्यवस्था हो तो इस बात के अच्छी तरह जानने की सबसे पहले ज़रूरत है कि मानसिक शक्तियाँ किस तरह बढती हैं, अर्थात् उनका विकास किस तरह होता है—उनकी उन्नति किस तरह होती है। इस समय तक हम इस विषय मे, साधारण तौर पर, केवल कुछ ही बातें जान सके हैं। अभी तक हम केवल थोड़ी सी अटकल भर लगा सके हैं। परन्तु इतने से कुछ भी नहीं हो सकता। अटकल से जानी गई इन साधारण बातो से—इन मामूली ख़यालो से—सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विशेष विशेष बाते हैं उन सबका खोज करके उनकी उन्नति करना चाहिए। इनसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी कच्ची बातें हैं उन्हे जान कर तत्सम्बन्धी ज्ञान खूब बढ़ाना चाहिए। इतना ही नहीं, किन्तु प्रसग पड़ने पर सब विषयों मे उपयोगी होने के लिए इन साधारण सिद्धान्तों को अनेक प्रकार के जुदा जुदा सिद्धान्तो मे विशेष रूप से बाँटना चाहिए। ऐसा करने ही से यह कहा जा सकेगा कि हम उस विज्ञान को जानते हैं—हम उस शास्त्र का ज्ञान रखते हैं—जिसके आधार पर शिक्षा-मन्दिर की इमारत खड़ी की जानी चाहिए। जब यह बात अच्छी तरह हमारी समझ मे आ जायगी कि किस तरह और किस क्रम से हमारी मानसिक शक्तियाँ विकसित होकर अपना काम ख़ूब उत्साह से करती हैं, तब प्रत्येक शक्ति को काम में लाने की जितनी रीतें मालूम होगी उनमें से जिस रीति की तरफ़ मन का स्वाभाविक झुकाव सबसे अधिक होगा, उसी के अनुसार शिक्षा मे प्रवृत्त होना भर बाक़ी रह जायगा। इससे यह बात स्पष्ट है कि शिक्षा देने की तरकीबो में से जिनको हम सबसे अधिक उन्नत और अच्छी समझते हैं वे भी निर्दोष या प्राय निर्दोष नहीं हैं।

१७—पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों और उनको आधार मान कर प्रचलित की गई शिक्षा-प्रणाली में अन्तर है।

पेस्टलोजी के सिद्धान्तो और उनको आधार मान कर प्रचार में लाई

गई शिक्षा की तरकीबो मे जो अन्तर है उसे याद रखने, और ऊपर दिये गये कारणो से उन तरकीबों को सर्वथा दोष-पूर्ण मान लेने, से पाठको के ध्यान मे यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति के विषय मे लोगों ने जो अप्रसन्नता प्रकट की है उसकी क़ीमत कितनी है। इससे यह बात भी उनकी समझ मे आ जायगी कि शिक्षा के सम्बन्ध में पेस्टलोज़ी के जो सिद्धान्त हैं उनकी यथार्थ रीति के अनुसार शिक्षा देने का कही प्रयत्न नही हुआ। जो कुछ हमने इस विषय मे कहा उस पर शायद कोई यह दलील करे कि पेस्टलोज़ी की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार इस समय शिक्षा देना प्राय: असम्भव सा है। इसलिए इस शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध की सारी कोशिशें शुरू से ही करनी चाहिए। अर्थात् नये सिरे से फिर इन बातों का विचार होना चाहिए। इस पर हमारा यह उत्तर है कि जब तक मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र एक नया शास्त्र नही बन जाता तब तक किसी ऐसी शिक्षा-प्रणाली को पूर्णता को पहुँचाना यद्यपि असम्भव है—चाहे उसके सिद्धान्तों की पूर्णता के ख़याल से कहिए, चाहे उनकी व्यावहारिक योजना के ख़याल से—तथापि बहुत सम्भव है कि थोडे से पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों की मदद से, या यों कहिए कि अटकल से जाने गये कुछ नियमों को आधार मानने से, तजरिबे के बल पर हम किसी पूर्णता-प्राप्त शिक्षा-पद्धति के पास तक पहुँच जायँ। ऐसा करने से सम्भव है कि हमे कोई ऐसी निर्दोष शिक्षा-पद्धति मालूम हो जाय जिसके सिद्धान्त भी प्राय· निर्दोष हों और काम मे लाने के तरीक़े भी। भविष्यत् मे खोज का रास्ता साफ़ रखने के इरादे से हम इस विषय के कुछ नियम यहॉ पर देते हैं। उनमे से कुछ नियमों का थोडा बहुत दिग्दर्शन, इस किताब मे, हम पहले ही कर चुके हैं। तथापि यहॉ पर न्यायशास्त्र के अनुसार उनका यथा-क्रम उल्लेख अच्छा होगा।

१८—(१) सरल बातें पहले सिखला कर तब कठिन बातें सिखलाना चाहिए।

शिक्षा के इस नियम के अनुसार कि "सरल विषयो को पहले सिखला

कर तब कठिन विषयों को सिखलाना चाहिए," लोग थोड़ा बहुत हमेशा व्यवहार करते आये हैं—इस नियम का थोड़ा बहुत अनुसरण लोग हमेशा से करते आये हैं। हाँ हम यह नहीं कहते कि उन्होंने जान बूझ कर इसका अनुसरण किया है। और न हम यही कहते हैं कि जान बूझ कर वे इस नियम के बाहर ही गये हैं। मन का विकास होता रहता है, उसे पक्वता प्राप्त होती जाती है। इसमे सन्देह नहीं। अतएव जिन वस्तुओ को जगत् में धीरे धीरे परिपक्वता प्राप्त होती है—जिनकी यथाक्रम वृद्धि होती है—उन्हीं की तरह मन भी अपनी एकरूपता छोड़ कर वढते बढते भिन्नरूपता को प्राप्त होता है। प्रकृत सच्ची शिक्षा-पद्धति यथाक्रम होनेवाली इस मानसिक उन्नति की बाहरी प्रतिमा है। इससे उसमे उन्नति का स्वाभाविक क्रम होना ही चाहिए। सच्ची और स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली के सिद्धान्तो का जो तात्पर्य हमने बताया उसे वैसा मान लेने से यह बात भी ध्यान मे आ जाती है कि पूर्वोक्त नियम बहुत अधिक व्यापक है। उस नियम का आशय यह है कि सरल बाते पहले सिखलाई जायँ, कठिन पीछे। शिक्षा की प्रत्येक शाखा के विषय मे ही इस क्रम के अनुसार कारवाई न होनी चाहिए, किन्तु जितना शिक्षा-समूह है—जितना ज्ञान-भाण्डार है—सबके विषय मे यही क्रम रखना चाहिए। जितनी शिक्षा दी जाय सब इसी क्रम से दी जाय। जितना विद्योपार्जन किया जाय इसी क्रम से किया जाय। पहले पहल मन की बहुत ही कम शक्तियाँ काम में आती हैं। जैसे जैसे वे बढती जाती हैं वैसे ही वैसे उनका काम भी बढ़ता जाता है। अर्थात् मानसिक शक्तियाँ, एक के बाद एक, जैसे जैसे उन्नत होकर काम के लायक होती हैं वैसे ही वैसे मानसिक व्यापार भी बढ़ता जाता है। अन्त मे सारी शक्तिया उन्नत होकर एक ही साथ सब अपना अपना काम करने लगती हैं। इससे यह नतीजा निकलता है कि बच्चों को पहले पहल एक ही दो विषयों की शिक्षा देनी चाहिए। उनकी संख्या धीरे धीरे बढा कर अन्त में सब विषयों की शिक्षा का एक ही साथ प्रबन्ध करना चाहिए। सिर्फ़ जुदा जुदा विषयों की शिक्षा देने ही मे सहल से शुरू करके कठिन तक न पहुँचना चाहिए, किन्तु समग्र शिक्षा-पद्धति में इसी क्रम से काम लेना चाहिए।

१९—(२) बच्चों को पहले मोटी मोटी अनिश्चित बातें सिखला कर तब निश्चित और बारीक़ बातें सिखलानी चाहिए ।

दूसरे सांसारिक पदार्थों की तरह मानसिक शक्तियाँ भी अव्यक्त से व्यक्त की तरफ़ बढ़ती हैं । अर्थात् अनिश्चित बातों के बाद मनुष्य को निश्चित बातों का ज्ञान होता है । शरीर के दूसरे अवयवों की तरह, वयस्क, अर्थात् बालिग़, होने पर ही मस्तिष्क को परिपक्वता प्राप्त होती है। मस्तिष्क की रचना जितनी ही अपूर्ण होगी— दिमाग़ की बनावट जितनी ही अधूरी होगी—उसके व्यापारों में भी उतनी ही अपूर्णता रहेगी । उसी परिमाण मे वे अनिश्चित, अव्यक्त या अधूरे रहेगे । यही कारण है कि बोलने के लिए किया गया बच्चों का पहला यत्न और चलना फिरना जैसे अनिश्चित होता है वैसे ही उनके पहले पहल के विचार और ज्ञानाङ्कुर अनिश्चित और अस्पष्ट होते हैं । अनाड़ी आदमी की नज़र से पहले पहल सिर्फ़ अँधेरे और प्रकाश का भेद मालूम होता है । पर अभ्यास करते करते वही नज़र ऐसी हो जाती है कि वह जुदा जुदा रङ्ग, उसकी कमी बेशी और सब चीज़ों के आकार भी वह बहुत ठीक ठीक बतला सकता है । बुद्धि का, और उसकी भिन्न भिन्न जितनी शाखाये हैं उनका भी, यही हाल है । पहले पहल उन्हे पदार्थो और क्रियाओं के बहुत ही मोटे मोटे भेद समझ पड़ते हैं। धीरे धीरे उनकी यहाँ तक उन्नति हो जाती है कि बहुत बारीक़ भेद तक उन्हें पूरे तौर पर और साफ़ साफ़ समझ पड़ने लगते हैं । हमारी शिक्षा-पद्धति और उसे व्यवहार मे लाने के तरीक़े इसी साधारण नियम के अनुसार ज़रूर होने चाहिए । अपरिपक्व मन में पक्व या तुले हुए विचारों का प्रवेश होना सम्भव नहीं, और यदि कदाचित् सम्भव भी हो तो भी उसका प्रवेश होना मुनासिब नहीं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुले हुए परिपक्व विचार, शब्दो के भीतर रख कर, बचपन में लड़कों को सिखलाये जा सकते हैं, और जिन अध्यापकों की आदत इस तरह सिखलाने की पड़ गई है वे समझते हैं कि शब्द ठीक ठीक याद हो जाने ही से उनमें भरा हुआ ज्ञान

याद करनेवाले को हो जाता है । परन्तु विद्यार्थी से दो चार उलटे पलटे प्रश्न करते ही सच्ची बात बाहर निकल आती है और यह मालूम हो जाता है कि यथार्थ बात बिलकुल ही उलटी है । इस तरह के प्रश्नों से या तो यह साबित होता है कि अर्थ का बहुत ही थोड़ा ज्ञान अथवा कुछ भी न प्राप्त करके केवल शब्द कण्ठ कर लिये गये हैं, या यदि अर्थ का ज्ञान प्राप्त भी किया गया है तो वह बहुत ही कच्चा है । सिर्फ़ उस समय जब अनेक तजरिबों से प्राप्त हुई सामग्री की सहायता से मनुष्य के विचार नियत, निश्चित, तुले हुए हो जाते हैं—सिर्फ़ उस समय जब वर्ष प्रति वर्ष देख-भाल करते रहने से उन चीज़ों और उन क्रियाओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेद मालूम होने लगते हैं । जो पहले एक दूसरे से मिले हुए मालूम होते थे—सिर्फ़ उस समय जब हर तरह के उदाहरण बार बार देखने से यह मालूम हो जाता है कि कौन कौन बाते एक ही साथ होती हैं, कौन बात होने से कौन बात होती है, और वे सब किस किस दरजे की हैं—सिर्फ़ उस समय जब सब बातों के जुदा जुदा सम्बन्ध की परस्पर मर्यादा या हद को ध्यान मे रख कर उनके ठीक ठीक भेद ध्यान मे आ जाते हैं—तभी समझना चाहिए कि हमें ऊँचे दरजे के ज्ञान की यथार्थ कल्पना हो गई । इससे हमे उचित है कि प्रारम्भ की शिक्षा मे हम अपूर्ण बातों मे ही सन्तोष करें । प्राथमिक शिक्षा में जिन बातो से काम पड़ता है वे अपूर्ण ही होती हैं । हाँ, हमे इस बात पर ज़रूर ध्यान रखना चाहिए कि हम ऐसा प्रबन्ध करें जिसमे भविष्यत् मे अनुभव द्वारा वे अपूर्ण बातें पूर्णता को पहुँच जायँ । शिक्षा की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें बड़ी बडी भूलों का सशोधन पहले होकर पीछे से छोटी छोटी भूलों का भी सशोधन धीरे धीरे हो जाय । इस तरह लडकों के विचार परिपक्व और परिपूर्ण होते ही, लगे हाथ, वैज्ञानिक नियमों की शिक्षा शुरू करनी चाहिए ।

२—(३) प्राथमिक शिक्षा में विशेष बातें सीख चुकने पर साधारण बातें विद्यार्थियों को सिखलाई जायँ ।

यह कहना कि हमारी शिक्षा-प्रणाली में मूर्त या दृश्य बातों की शिक्षा

पहले और अमूर्त या अदृश्य बातों की शिक्षा पीछे होनी चाहिए, पूर्वोक्त नियमो मे से पहले नियम की थोड़ी बहुत पुनरुक्ति करना है। यदि कोई चाहे तो वह इस तरह का आक्षेप कर सकता है। तथापि यह ऐसा नियम है कि इसे बतलाना ही चाहिए। यदि इसका और कोई उद्देश न होकर सिर्फ़ इतना ही उद्देश हो कि कुछ विषयों मे यह मालूम हो जाय कि कौनसी बात सचमुच ही सरल और कौनसी सचमुच ही कठिन है, तो भी चिन्ता नहीं। क्योंकि अभाग्यवश इस विषय मे लोगों को बहुत कुछ भ्रम हो रहा है। विशेष विशेष बातों के समुदायों को प्रकट करने के लिए लोगों ने कुछ साधारण नियम निकाले हैं। उनमे से प्रत्येक नियम ऐसा है कि उसके कारण बहुत सी बातें एक ही बात के अन्तर्गत आ जाने से उन बातों को समझने और उन्हे ध्यान मे रखने मे सुभीता होता है। अतएव लोग समझते हैं कि वही नियम यदि लड़कों के ध्यान मे आजायँगे तो उनको भी उन सब बातों के समझने में सुभीता होगा। वे इस बात को भूलते हैं कि साधारण नियम सिर्फ़ उन विशेष विशेष बातों के मुक़ाबिले मे सीधा और सहज मे समझने योग्य हुआ करता है जो उसमे शामिल होती हैं। विशेष रूप में जितनी बातें किसी साधारण नियम में शामिल रहती हैं उनमे से अलग अलग हर बात के मुक़ाबिले मे वह नियम सहल नहीं, किन्तु कठिन हुआ करता है। सारी विशेष बातों में से बहुत सी बातों का ज्ञान हो जाने ही पर साधारण नियम के योग से स्मरण-शक्ति का बोझ कम होकर विचार-शक्ति को सहायता मिलती है। अर्थात् प्रत्येक साधारण नियम के द्वारा विशेष प्रकार की अनेक बातों का नियमन होता है। इससे यदि सब न सही तो उन विशेष बातों मे से जब तक बहुत सी बातें समझ मे नहीं आ जाती तब तक उस साधारण नियम से कुछ भी फ़ायदा नहीं होता। बिना ऐसा हुए, साधारण रीति से निश्चित हुए व्यापक नियम ठीक ठीक समझ ही में नहीं आते। जिनकी समझ में ये विशेष बातें नहीं आ जाती हैं उनके लिए इस तरह के व्यापक नियम एक पेचीदा पहेली से मालूम होते हैं। उनका आशय समझने मे उनकी बुद्धि काम ही नहीं करती। विषयों को सुलभ करनेवाले

इन दोनों तरीक़ों को एक ही में गड़मड़ कर देने के कारण, शिक्षा के प्राथमिक सिद्धान्तों में हस्तक्षेप करके, अध्यापकों से हमेशा भूल होती आई है। इस तरह की कारखाई का, ऊपर से देखने मे, यद्यपि मूल नियमों से विरोध न भी मालूम हो, तथापि वास्तव में उसका विरोध मूल नियमो से ज़रूर ही होता है। मूल नियमो का यह मतलब है कि मुख्य सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष उदाहरण देकर उन उदाहरणो के द्वारा मुख्य सिद्धान्तों मे मन का प्रवेश कराया जाय। अर्थात् विशेष बातो से पहचान करा कर तब साधारण बातें बतलाई जायँ—मूर्त बातें सीख चुकने पर अमूर्त बातें सीखी जायँ।

२१—(४) जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और उसी रीति से बच्चों को शिक्षा मिलनी चाहिए।

इतिहास पर विचार करके यह देखना चाहिए कि किस क्रम और किस रीति से ससार में मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है—किस क्रम और किस रीति से मनुष्य-जाति मे ज्ञान का प्रसार हुआ है। यह जान कर उसी क्रम और उसी रीति के अनुसार बच्चो को शिक्षा देनी चाहिए। अथवा यों कहिए कि जिस तरीक़े से मनुष्य-जाति में ज्ञान की उत्पत्ति हुई है उसी तरीक़े से जुदा जुदा हर आदमी मे उसकी उत्पत्ति होनी चाहिए। व्यक्ति और जाति मे ज्ञान-प्राप्ति की एकही रीति का होना मुनासिब है। सच पूछिए तो इस नियम का गर्भित भावार्थ पहले ही बतलाया जा चुका है। परिणतिवाद के तत्त्व इन दोनो तरीक़ों मे एक से पाये जाते हैं। अतएव परिणतिवाद के जिन साधारण सिद्धान्तों का प्रतिपादन इतनी दृढ़ता के साथ ऊपर किया गया है वे इन दोनों विषयों मे बराबर घटित होते हैं। इसी कारण से इन दोनों को ज़रूर एक दूसरे के अनुकूल होना चाहिए। तथापि परस्पर की यह समता इसलिए भी आदर-योग्य है कि इसकी

मदद से हमे इस बात के जानने मे सुभीता होता है कि हमारा मार्ग कौन सा है—किस मार्ग से हमे जाना चाहिए। यह हमारे लिए पथदर्शक का काम करती है। इस सिद्धान्त का प्रवर्तक फ्रांस का प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एम० कोण्ट है। उसी की कृपा से हमे इसका लाभ हुआ है। उसके दार्शनिक सिद्धान्तो मे से इस सिद्धान्त को हम स्वीकार कर सकते हैं। इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके बाक़ी के सिद्धान्त भी हम स्वीकार करलें। बिना कोई स्वतन्त्र कोटि लड़ाये—बिना कोई स्वतन्त्र दलील पेश किये—इस सिद्धान्त की सचाई के समर्थक दो कारण बतलाये जा सकते हैं। उन कारणों मे से प्रत्येक कारण स्वतन्त्रतापूर्वक इस सिद्धान्त की सचाई को साबित कर सकता है। वंशपरम्परा से जो सादृश्य हम लोगो मे नियमानुसार देखा जाता है उसका कुछ दूर तक विचार करने से एक कारण तो सहज ही ध्यान मे आ जाता है। हम हमेशा देखते हैं कि रूप-रङ्ग और स्वभाव दोनों मे हम लोग अपने पूर्वजों की समता रखते हैं। यह भी हम हमेशा देखते हैं कि कोई कोई मानसिक विकार, जैसे पागलपन, एक ही कुटुम्ब के आदमियों मे क्रम से एक ही उम्र मे होते हैं। इन व्यक्ति-विषयक उदाहरणों मे एक बात यह होती है कि मृत पूर्वजों के लक्षण, वर्तमान समय मे, उनके जीवित वंशजों के लक्षणों से मिल जाने के कारण पूर्वोक्त समता जैसी चाहिए नहीं देख पड़ती। इससे ऐसे उदाहरणों को छोड़ कर यदि हम जुदा जुदा देशों के आदमियों मे देख पड़नेवाली विशेष विशेष बातो का ध्यान से विचार करते हैं तो हमे यह साफ़ मालूम हो जाता है कि उनके रूप-रङ्ग और स्वभाव आदि मे परस्पर जो अन्तर है वह पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर एक सा चला जाता है। ये जो जुदा जुदा तरह के रूप-रङ्ग और आकार देख पड़ते हैं सबकी उत्पत्ति एक ही स्थान से है। सबका मूल जन्म-स्थान एक ही है। विशेष विशेष कारणों से उनकी स्थिति मे जो फेरफार होते गये हैं उनका परिणाम उनके वंशजों मे परम्परा से धीरे धीरे दिखाई दिया है। ये भेद उसी के फल हैं। जुदा जुदा देशों के आदमियों में जो भेद देख पड़ता है वह अब उनके हाड़ चाम मे यहाँ तक बिंध गया है कि यदि फ्रांस का कोई बच्चा किसी अपरिचित देश मे पहुँचा दिया जाय और वहीं, उसी देश

की प्रथा के अनुसार, उसका पालन-पोषण हो तो भी उसमें वे गुण आये बिना न रहेंगे जो फ्रांस के रहनेवालों में होते हैं। यदि यह सच है कि जिस साधारण नियम का हमने यहाँ पर प्रतिपादन किया वह स्वभाव और बुद्धि दोनों के सम्बन्ध में घटित होता है, और यदि यह भी सच है कि मनुष्य-जाति ने जुदा जुदा विषयों को किसी विशेष क्रम से ही सीखा है, तो यह निर्विवाद है कि प्रत्येक बच्चे में उन विषयों के अभ्यास की योग्यता भी उसी क्रम से पैदा होगी। यदि यह भी मान लिया जाय कि वास्तव में इस विशेष प्रकार के क्रम से कोई लाभ नहीं, तो भी जिस मार्ग से समग्र मनुष्य-जाति ने गमन किया है उसी से बच्चों को भी ले जाने में विद्या-दान के काम में सुभीता ज़रूर होगा। परन्तु वास्तव में यह विशेष प्रकार का क्रम व्यर्थ नहीं। यह समझना ठीक नहीं है कि उससे कोई लाभ नहीं। अतएव यह इस सिद्धान्त का सबल कारण है कि सारी मनुष्य-जाति और अलग अलग हर आदमी की शिक्षा का एकही क्रम होना चाहिए। प्रत्येक आदमी को उसी मार्ग से जाना चाहिए जिससे कि समग्र मनुष्य-जाति ने गमन किया है। ये दोनों बातें साबित की जा सकती हैं कि इतिहास की मुख्य मुख्य घटनायें जिस क्रम से हुई हैं उन्हें उसी क्रम से होना चाहिए था, और उस क्रम के जो कारण हैं वही मनुष्य-जाति और अलग अलग हर बच्चे के सम्बन्ध में भी एक से घटित होते हैं। इन कारणों के विस्तार-पूर्वक वर्णन की आवश्यकता नहीं— कोई ज़रूरत नहीं कि वे तफ़सीलवार बयान किये जायँ। यहाँ पर इस विषय में इतना ही कहना बस होगा कि मनुष्य-जाति के मन में हर विषय की जितनी शिक्षा आज तक प्राप्त की है सब, प्रकृति के सृष्टिरूपी खेतों के बीच में रह कर और उनको समझने की कोशिश करके, अनन्त वस्तुओं के निदान, मनन, अनुभव और कल्पना के द्वारा, एक निश्चित रीति से प्राप्त की है। एक नियमित मार्ग से गमन करके उसे उसकी प्राप्ति हुई है। तो क्या इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि मन और सृष्टि में ऐसा सम्बन्ध है कि सृष्टि-विषयक ज्ञान मन को और किसी तरह हो ही नहीं सकता? इस दशा में, अर्थात् जब सब के मन और सृष्टि में एक सा सम्बन्ध है तब, उसे

भी उस ज्ञान की प्राप्ति उसी तरह क्यों न होनी चाहिए— उसी मार्ग से उसे क्यों न जाना चाहिए ? ज़रूर उसी मार्ग से जाना चाहिए । क्योंकि सृष्टि-सम्बन्धी बातें जानने के लिए उससे अच्छा और कोई मार्ग ही नहीं । इसी से हमारी राय है कि शिक्षा के सबसे अच्छे तरीक़े का निश्चय करने में इस बात के विचार की बड़ी ज़रूरत है कि मनुष्य-जाति को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति किस तरह होती गई । इससे हमे अपने इष्ट-साधन में बहुत मदद मिलेगी । सबसे अच्छी शिक्षा-पद्धति ढूँढ़ निकालने मे इससे बहुत सुभीता होगा ।

२२-(५) प्रत्येक विषय की शिक्षा में मोटी व्यावहारिक बातें पहले सिखलाई जायँ, बारीक़ शास्त्रीय बातें पीछे ।

इस तरह की खोज से हमे जिन सिद्धान्तों का पता लगता है उनमें से एक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय में—विद्या की प्रत्येक शाखा मे—हमे स्थूल बातों के ज्ञान से प्रारम्भ करके सूक्ष्म बातों के ज्ञान की तरफ़ जाना चाहिए । व्यावहारिक बातों का ज्ञान प्राप्त करके धीरे धीरे शास्त्रीय बातो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् पहले अमली बातें सीखनी चाहिए, फिर अक़ली । मनुष्य-जाति की उन्नति जिस तरह हुई है उसका विचार करने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक शास्त्र—प्रत्येक ज्ञान—अपनी अपनी कला से पैदा हुआ है । जो शास्त्र जिस कला से सम्बन्ध रखता है उस शास्त्र की उत्पत्ति उसी कला से हुई है । चाहे एक आदमी हो, चाहे सारी मनुष्य-जाति हो, किसी भी विषय का गूढ तत्त्व समझने के लिए सबको प्रत्यक्ष उस विषय के अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है । विना उस विषय का प्रत्यक्ष अभ्यास किये उसकी गूढ बातें समझ मे नहीं आती । यही कारण है जो किसी विशेष प्रकार के विज्ञान की उत्पत्ति के पहले उसके व्यवहार और तजरिबे की ज़रूरत होती है । किसी विज्ञान की उत्पत्ति के पहले उसके सम्बन्ध की बहुत सी बातें प्रचार में आनी चाहिए, उनका अनुभव होना चाहिए, और थोड़े बहुत

मोटे मोटे नियमों की कल्पना भी होनी चाहिए। विना इन बातों के किसी विज्ञान को एकदम उत्पत्ति नहीं हो जाती। शास्त्रीय ज्ञान का नाम विज्ञान है। शास्त्र और विज्ञान प्रायः एकार्थवाची हैं। व्यवस्थित ज्ञान, शास्त्र कहलाता है। अतएव ज्ञान की व्यवस्था होने के पहले—उसे सुव्यवस्थित बनाने के पहले—उसका कुछ अंश जरूर ही हमारे पास होना चाहिए। यदि थोड़ा बहुत ज्ञान पहले से हो होगा नहीं तो उसकी व्यवस्था ही कैसे होगी? अतएव प्रत्येक विषय का आरम्भ अनुभव से होना चाहिए। तजरिबे से मोटी मोटी बातें सीख कर हर एक विषय की शिक्षा शुरू होनी चाहिए। अपेक्षित चीजों की देख-भाल के द्वारा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातों की बहुत सी पूँजी पास हो जाने पर तर्क-वितर्क करना और बुद्धि से काम लेना चाहिए। दृष्टान्त के तौर पर हम इस नियम का एक उदाहरण देते हैं। देखिए, इस समय व्याकरण की शिक्षा जो भाषा-शिक्षा के पहले नहीं, किन्तु पीछे दी जाती है, या चित्र बनाना सिखलाने के पीछे पदार्थों की दूरी के अनुसार चित्र के दृश्य में होनेवाले फेरफार की बातें सिखलाने की जो रीति है, वह इसी नियम का फल है। आगे चल कर, क्रम क्रम से, हम इसके और भी उदाहरण देंगे और यह दिखलावेंगे कि कहाँ कहाँ इस नियम के अनुसार काम होता है।

२३—(६) जहाँ तक सम्भव हो बच्चों को अपनी बुद्धि की उन्नति आप ही करने के लिए उत्साहित करना चाहिए।

जिस प्रधान सिद्धान्त का वर्णन ऊपर हुआ उससे जो एक और भी बात ध्यान में आती है वह इतने महत्त्व की है कि उसकी आवश्यकता चाहे जितनी दृढ़ता से दिखलाई जाय, कम है। यदि कोई यह आग्रह करे कि वह बात अवश्य करना ही चाहिए तो भी अनुचित नहीं। वह बात यह है कि विद्याभ्यास करते समय, जहाँ तक हो सके, अपनी बुद्धि को ख़ुद ही बढ़ाने के लिए बच्चे उत्साहित किये जायँ। बच्चों से ख़ुद ही अनुसन्धान कराया जाय—ख़ुद ही खोज कराई जाय—और तर्क-वितर्क-द्वारा ख़ुद ही नतीजे

निकलवाये जायँ। जहाँ तक सम्भव हो उनको बहुत कम बातें बताई जायँ। जहाँ तक हो सके उनकी आदत सब बातें आप ही आप जानने की डाली जाय। मनुष्य-जाति का सुधार सिर्फ़ अपनी ही शिक्षा से हुआ है। मनुष्यों ने अपनी शिक्षा की आप ही उन्नति की है। अपनी ही बुद्धि के बल से प्रसिद्धि पानेवाले—अपने ही प्रयत्न से नामवर होनेवाले—आदमियों के जो उदाहरण हम प्रति दिन देखते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि यदि किसी की इच्छा सबसे उत्तम फल-प्राप्ति की हो तो उसे इन्हीं लोगों की तरह अपने मन को शिक्षित करना चाहिए। जिन लोगो ने मदरसे की मामूली क़वायद के अनुसार शिक्षा पाई है, और जो मदरसे हीं से यह ख़याल अपने साथ लेते गये हैं कि यदि किसी को शिक्षा मिल सकती है तो उसी पुराने ढर्रे पर चलने से मिल सकती है, उन्हे बच्चों को अपना अध्यापक आप ही बनने मे ज़रूर निराशा देख पड़ेगी। परन्तु यदि वे इस बात का विचार करेंगे कि बचपन में अपने आस पास की सारी चीजों का जो सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण ज्ञान बच्चे प्राप्त करते हैं उसे वे आप ही आप, बिना किसी की मदद के, प्राप्त करते हैं, यदि वे इस बात का स्मरण रक्खेंगे कि बच्चे अपनी मातृ-भाषा आप हो आप सीख लेते हैं; यदि वे इस बात को सोचेंगे कि व्यावहारिक बातों के जिस ज्ञान और जिस तजरिबे का मदरसे से कुछ भी सम्बन्ध नही है उसे हर एक बच्चा अपने ही आप कितना प्राप्त करता है, जिसकी पूछ पाँछ करनेवाला कोई नहीं है ऐसे लंदन के किसी आवारह लड़के के विषय मे यदि वे यह विचार करेंगे कि जिस बात पर वह उतारू हो जाता है उसमें उसकी बुद्धि कितनी उत्तमता से काम देती है, और यदि वे, इसी तरह, इस बात पर भी विचार करेंगे कि कितने आदमियों ने हम लोगों की इस बुरी शिक्षा-पद्धति के बखेड़ों ही से नहीं, किन्तु और भी सैकड़ों विघ्न-बाधाओं से बिना किसी की मदद के, सिर्फ़ अपने बाहु-बल से, छुटकारा पाया है; तो वे समझ जायँगे कि किसी साधारण बुद्धि के विद्यार्थी को भी एक दफ़े यह बतला देने से कि अमुक विषय अमुक क्रम और अमुक रीति से सीखना चाहिए, वह उसे बहुत ही थोड़ी मदद से, सारी कठिनाइयों को पार करके, सीख लेगा। ऐसा करने से उनके ध्यान में यह बात ज़रूर आ

जायगी कि इस तरह की आशा रखना—इस तरह का अनुमान करना—कोई ऐसी बात नहीं जिसे बुद्धि न स्वीकार करे। भला ऐसा कौन आदमी होगा जो बच्चों को अनेक बातों की देखभाल, खोज, अनुसन्धान और अनुमान करते अच्छी तरह देखे, या जो बातें उनके समझने लायक हैं उनके विषय में उन्हें बड़ी चतुरता से वार्तालाप करते अच्छी तरह सुने, और उसे इस बात का विश्वास न हो जाय कि बच्चों की इन शक्तियों का उपयोग यदि उनसे उनके समझने लायक विषय सिखलाने मे अच्छी तरह कराया जाय तो विना किसी की मदद के वही विषय बच्चे जल्द सीख लेंगे? बच्चे को हर एक बात बतलाने की प्रति दिन जो बार बार जरूरत पड़ती है उसका कारण बच्चे की मूर्खता नहीं, किन्तु हमारी मूर्खता है—हमारी नादानी है। जिन बातों में बच्चे का दिल लगता है और जिनको वह ख़ुद ही उत्साह-पूर्वक सीखता है उनसे हम उसे हटा देते हैं—उन्हे हम उसे नहीं सीखने देते। हम उसे ऐसी बाते सिखलाते हैं जिन्हे, कठिन होने के कारण, वह सीख ही नही सकता। इसी से वे बातें उसे अच्छी नहीं लगतीं। वे उसे नीरस, अतएव बुरी, जान पडती हैं। जब हम देखते हैं कि इस तरह की कठिन और नीरस बातें बच्चा ख़ुशी से नहीं सीखता तब हम धमकी और मार-पीट के जोर से उन्हें ज़बरदस्ती उसके मग्ज़ मे ठूँसने लगते हैं। इस तरह जो बातें बच्चे को अच्छी लगती हैं उनसे उसे वञ्चित रख कर और जिनको वह हज़म नहीं कर सकता—जिनको वह सीख नहीं सकता—उन्हें जबरदस्ती उसके मग्ज़ में भर कर हम उसकी मानसिक शक्ति को क्षीण कर देते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि बच्चे के मन में विद्याभ्यास से घृणा हो जाती है। कुछ तो हमारी ही मूर्खता से पैदा हुई जड़ता और आलसीपन के कारण, और कुछ विद्याभ्यास में अपनी अयोग्यता के कारण, बच्चे की मानसिक शक्तियाँ ऐसी बिगड़ जाती हैं कि बिना समझाये वह कोई बात समझ ही नहीं सकता। उस समय वह एक महा आलसी की तरह चुपचाप शिक्षक की बातें सुना करता है। उसका काम सुनना और शिक्षक का सुनाना हो जाता है। तब इससे हम यह नतीजा निकालते हैं कि बच्चों को इसी तरह शिक्षा देनी

चाहिए। तब हम यह समझते हैं कि उनकी शिक्षा का यही एक मुनासिब तरीक़ा है। अपनी ही अनुचित शिक्षा-पद्धति से, इस तरह, बच्चों को कुन्दज़ेहन और विवश बना कर उनकी कुन्दज़ेहनी और लाचारी को हम अपनी शिक्षा-पद्धति का कारण मानते हैं। "हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी क्यों है"? इसलिए कि हमारे बच्चे आलसी, कुन्दज़ेहन और क्षीण-बुद्धि हैं। तब हम इस तरह का कार्य्य-कारण-भाव बतलाते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि जिस शिक्षा-प्रणाली के प्रचार की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके प्रतिकूल अनाडी अध्यापकों के तजरिबे सामने रखना मुनासिब नहीं। जो यह बात समझता है वह यह भी समझ लेगा कि आदि से लेकर अन्त तक हम अपनी शिक्षा-पद्धति सृष्टि के क्रमानुसार बेखटके निश्चित कर सकते हैं, जिस तरह बचपन में मानसिक शक्तियाँ आप ही आप अपनी उन्नति कर लेती हैं उसी तरह, यदि समझ बूझ कर प्रबन्ध किया जाय तो, आगे भी वे अपने आपही अपनी उन्नति कर सकती हैं; और यही एक तरीक़ा ऐसा है जिसे स्वीकार करने से बच्चों की बुद्धि सबसे अधिक बाढ़ होकर उनमें सर्वोत्तम कार्य्यशक्ति और प्रवीणता आ सकती है।

२४—(७) अच्छी शिक्षा-पद्धति की कसौटी यह है कि उससे बच्चों को आनन्द और मनोरञ्जन हो।

यदि किसी शिक्षा-पद्धति की परीक्षा दरकार हो तो इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि—"क्या वह बच्चों के मन में आनन्दवर्धक उत्साह पैदा करती है"? बस, इस प्रश्न के विचार ही को परीक्षा की अन्तिम कसौटी समझना चाहिए। यदि किसी को यह सन्देह हो कि अमुक रीति या अमुक क्रम, अमुक रीति या अमुक क्रम की अपेक्षा, ऊपर बतलाये गये नियमों के अधिक अनुकूल है या नहीं, तो इस कसौटी से हम बेखटके काम ले सकते हैं। व्यवहार में लाने के लिए चुनी गई कोई शिक्षा-पद्धति यदि शास्त्र-दृष्टि से उत्तम भी हो, तथापि यदि उसके प्रयोग से विद्यार्थियों का मनोरञ्जन न होता हो, या किसी दूसरी पद्धति की अपेक्षा कम होता हो, तो भी हमें मुनासिब है कि हम उसे छोड़ दें, क्योंकि उसके स्वीकार से

सम्बन्ध रखनेवाले कारणों की अपेक्षा—उसे ग्राह्य समझने के विषय की हमारी दलीलों की अपेक्षा—बच्चे की मानसिक प्रवृत्ति अधिक विश्वसनीय है। दलीलों की अपेक्षा विद्यार्थियो के स्वाभाविक झुकाव पर भरोसा करना अधिक युक्तिसङ्गत है। यह एक साधारण नियम है कि, स्वाभाविक स्थिति मे, जो काम अपनी शरीर-प्रकृति के अनुकूल होता है उसे करने से सुख मिलता है, पर जो काम शरीर-सम्पत्ति के लिए अच्छा नहीं होता उसे करने से कष्ट मिलता है। यही नियम ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भी घटित होता है। अतएव विश्वासपूर्वक हम उस पर भरोसा रख सकते हैं। हमारी सारी मनोवृत्तियों के विषय में यद्यपि यह नियम बहुत कम घटित होता है तथापि इसमें सदेह नहीं कि बुद्धि के या बुद्धि के उन अंशों के विषय मे जो बच्चो मे देखे जाते हैं यह प्रायः पूरे तौर पर घटित होता है। बहुधा बच्चे साधारण अध्यापको को यह कह कर दिक् किया करते हैं कि अमुक अमुक विषय की शिक्षा से हमारा जी घबराता है, या अमुक अमुक विषय की शिक्षा से हमे घृणा है; परन्तु इस घबराहट को—इस घृणा को—स्वाभाविक न समझना चाहिए। यह अध्यापको की मूर्खतापूर्ण शिक्षा-पद्धति का फल है। जिन विषयों से बच्चो को घृणा हो जाती है उनको अध्यापक अच्छी तरह सिखला ही नहीं सकते। इसी से बच्चे घबरा जाते हैं और उन विषयों से उनको घृणा हो जाती है। फेलनबर्ग नामक विद्वान् कहता है—"तजरिबे से मैंने जाना है कि बच्चे स्वभाव ही से चञ्चल होते हैं। उनसे और आलस से स्वाभाविक वैर होता है; क्योकि ये दोनो बातें परस्पर विरोधी हैं। अतएव बच्चे यदि आलसी हो जायँ तो समझना चाहिए कि उनके आलस का कारण बुरी शिक्षा है। अथवा, यदि बुरी शिक्षा नहीं है तो उनके शरीर ही में कोई ऐसा व्यङ्ग है जिसके कारण वे आलसी हो गये हैं"। मानसिक शक्तियो का उचित उपयोग करने से हमेशा सुख होता है। उसी सुख को प्राप्त करने के लिए स्वभाव ही से बच्चे चञ्चलता दिखाते हैं। उनके चञ्चल होने का यही कारण है, और कोई नहीं। मानसिक शक्तियां उन्हें चञ्चल होने के लिए आप ही आप प्रेरणा करती हैं। इसी प्रेरणा से उत्साहित होकर वे चपलता करते हैं, और उस चपलता से उन्हें सुख मिलता है।

क्योंकि जितनी स्वाभाविक बाते हैं कोई ऐसी नहीं जिससे सुख न मिले। यह सच है कि ऊँचे दरजे की कुछ ऐसी मानसिक शक्तियाँ हैं जिनका आज तक मनुष्य-जाति मे बहुत कम विकास हुआ है। ये शक्तियाँ केवल चुने हुए बड़े बडे विद्वानों मे जन्म के साथ ही कुछ अधिकता से पैदा हुई देखी जाती हैं। ये ज़रूर ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका उतना उपयोग नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। परन्तु ये शक्तियाँ अनेक शक्तियो के मेल से पैदा होने के कारण बहुत पेचीदा होती हैं। इसीसे प्रतिदिन की नियमित शिक्षा में इनका उपयोग सबसे पीछे होता है—इनके अमल की ज़रूरत सबके बाद होती है। जब तक विद्यार्थी की उमर इतनी नहीं हो जाती कि दूर तक दृष्टि रख कर भावी सुख-प्राप्ति के ख़याल से तात्कालिक दुख सहने की योग्यता उसमे आ जाय, तब तक इन शक्तियों का उपयोग करने की उसे ज़रूरत ही नही पड़ती। परन्तु जो शक्तियाँ इन शक्तियो की अपेक्षा कम योग्यता की हैं उनकी बात दूसरी है। उनका उपयोग शुरू करते ही—उनको काम मे लाते ही—जो आनन्द होता है वही उनको उत्तेजित कर देता है। सुख की प्राप्ति होने से विद्यार्थी स्वभाव ही से, बिना और किसी उत्ते-जना के, उन मानसिक शक्तियो का उपयोग करने लगते हैं। यदि प्रबन्ध अच्छा हो—यदि सब बातें सुव्यवस्थित हों—तो उनके लिए इतनी ही उत्ते-जना काफ़ी होती है। यदि इन शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए किसी और उत्तेजना या साधन की ज़रूरत पडे तो यह निर्भ्रान्त समझना चाहिए कि कहीं भूल हो गई है—जिस मार्ग से जाना चाहिए था उससे ज़रूर हम भटक गये हैं। तजरिबा प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्टता से इस बात को साबित कर रहा है कि शिक्षा की हमेशा कोई ऐसी रीति निकालनी चाहिए जिससे बच्चों को मनोरञ्जन ही नहीं, किन्तु आनन्द भी प्राप्त हो सके। दूसरे प्रमाणों से भी यह बात साबित है कि शिक्षा की यही रीति सर्वोत्तम है।

२५—शिक्षा-सम्बन्धी नियमों का व्यावहारिक विचार।

ये शिक्षा-सम्बन्धी नियम यदि इसी तत्त्व-रूप मे छोड़ दिये जायँ तो बहुत आदमियों के मन में उनका यथार्थ महत्त्व न प्रतिबिम्बित होगा।

ऐसा करने से उनका बहुत ही कम वज़न उन पर पड़ेगा। अतएव कुछ तो उदाहरण द्वारा उनके उपयोग को समझाने और कुछ उनके सम्बन्ध में और भी थोड़ी सी विशेष विशेष सूचनायें करने के लिए हम इस विषय का तात्त्विक दृष्टि से विचार करना छोड़ इसके व्यावहारिक विचार में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् ख़याली मनसूबे की बातें न कह कर अब हम उन नियमों के अमल की बातें कहते हैं।

२६—बच्चों की शिक्षा गोद से ही शुरू होनी चाहिए।

पेस्टलोज़ी का मत यह था कि किसी न किसी तरह की शिक्षा गोद ही से आरम्भ होनी चाहिए। जबसे उसने यह मत प्रकाशित किया तब से आज तक इसकी सत्यता के विषय में लोगों की श्रद्धा अधिकाधिक बढ़ती जाती है। जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि छोटे छोटे दुधपिये बच्चे अपने आप पास की चीज़ों को किस तरह टकटकी लगा कर देखा करते हैं वह अच्छी तरह जानता है कि शिक्षा का आरम्भ ज़रूर इतनी छोटी उमर में होता है। फिर चाहे उसे हम जान-बूझ कर आरम्भ करावें या नहीं। जो चीज़ हाथ लग जाती है उसे हिलाना, झुलाना, पटकना और मुँह में रखना और हर तरह की आवाज़ को मुँह खोल कर सुनना उस शिक्षा का आरम्भ है जिसकी बदौलत किसी दिन आदमी अज्ञात तारों का पता लगाता है, हिसाब लगानेवाला यन्त्र और यञ्जिन बना डालता है उत्तमोत्तम चित्र खींचता है, परम मनोहर गीत, पद और नाटक आदि की रचना करके उनके अभिनय से दर्शकों को प्रसन्न करता है, और तरह तरह के वाद्य-यन्त्र—सितार, सारङ्गी और वीणा आदि का आविष्कार करता है। मानसिक शक्तियों का व्यापार, इस तरह, पहले ही से आप ही आप शुरू होता है और ऐसा होना ही चाहिए। अतएव यहां पर इस बात के विचार की ज़रूरत है कि मानसिक शक्तियों का यथेष्ट व्यापार शुरू करने के लिए बच्चों को जुदा जुदा तरह की जो सामग्री दरकार होती है उसे हमें पूरी पूरी पहुँचानी चाहिए या नहीं। इस प्रश्न का "हाँ" के सिवा और कोई उत्तर ही नहीं हो सकता। बच्चों को सब तरह की सामग्री पाने का सुभीता हमें ज़रूर ही कर

देना चाहिए। परन्तु जैसा पहले बतलाया जा चुका है, पेस्टलोज़ो के सिद्धान्तो और प्रयोग-विधि मे मेल नहीं है। उसके सिद्धान्त हमें मंज़ूर हैं, पर उन सिद्धान्तों की योजना हमे मंज़ूर नही। क्योकि वह योजना उसके सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं। इस बात का एक उदाहरण लीजिए। "स्पेलिङ्ग" अर्थात् हिज्जे करने की शिक्षा के सम्बन्ध में पेस्टलोज़ो कहता है.—"इसलिए हिज्जों की किताब मे अपनी भाषा की सब प्रकार की ध्वनियाँ होनी चाहिए और हर एक कुटुम्ब मे बच्चों को उन ध्वनियो की शिक्षा बहुत ही थोड़ी उम्र में देना चाहिए। जो बच्चा हिज्जों की किताब सीख ले उससे उनका उच्चारण पालने मे पड़े हुए दुधपिये बच्चे के सामने कराना चाहिए। इसकी परवा न करना चाहिए कि पालने में पडा हुआ गोद का बच्चा उन ध्वनियों मे से एक ध्वनि का भी उच्चारण कर सकता है या नहीं। ध्वनियों को बार बार बच्चे के सामने दोहराने से वे उसके मन पर बहुत अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हो जाती हैं"। उसने अपनी "मदर्स मैन्युअल" (माँ की किताब) नामक पुस्तक में इस विषय की सूचनायें की हैं कि बहुत छोटी उम्र में बच्चों को किस तरह की शिक्षा देनी चाहिए। वहाँ पर, इस विषय में लिखते समय, एक जगह वह कहता है कि बच्चो को पहले शरीर के अवयवों के नाम, उनकी संख्या, उनके गुण-धर्म्म, उनके सम्बन्ध, उनके स्थान और उनके काम सिखलाने चाहिए। इस बात को ऊपर कही गई बात से मिला कर देखने से साफ़ सूचित होता है कि बचपन मे बच्चो के मन की उन्नति किस तरह होती है, इसे वह अच्छी तरह न जानता था। इस विषय में उसका ज्ञान बहुत ही अपरिपक्व था। इसीसे वह शिक्षा-सम्बन्धी उचित उपायों की योजना नहीं कर सकता था। आइए, अब देखें कि मनोविज्ञान किन उपायो की योजना करने की सिफ़ारिश करता है।

२७—मिश्रित बातों का ज्ञान अमिश्रित बातों के ज्ञान के पीछे होता है।

जो बातें बहुत छोटी उम्र में बच्चों के चित्त पर अङ्कित होती हैं वे रुकावट, प्रकाश और ध्वनि आदि के कारण मालूम होनेवाले अविभाज्य

इन्द्रिय-ज्ञान से पैदा होती हैं। यह स्पष्ट है कि मिश्र-मनोवृत्तियाँ जिन मनोवृत्तियों से पैदा होती हैं उनके पहले वे नहीं हो सकतीं। ज्ञान की जिन स्थितियों से मिश्र-मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं उन स्थितियों का मिश्र मनोवृत्तियों से पहले पैदा होना ज़रूरी है—जन्य से पहले ही जनक की उत्पत्ति होती है। प्रकाश के गुण-धर्म्मों का और पदार्थों की कठिनता या कोमलता आदि का जब तक थोड़ा बहुत ज्ञान न होगा तब तक पदार्थों की आकृति की—उनके डील-डौल की—कल्पना कभी न होगी। क्योंकि, प्रकाश के भेदों के अनुसार ही हमें दृश्य पदार्थों का आकार मालूम होता है और पदार्थों की कोमलता या कठिनता का ज्ञान होने ही पर हमें उनके आकार का ज्ञान होता है। इसी तरह मिश्र ध्वनि को हम तब तक अच्छी तरह नहीं समझ सकते जब तक कि हम अलग अलग उन ध्वनियों को न समझ लें जिनसे कि वह बनी है। अर्थात् जुदा जुदा तरह की ध्वनियों को समझे बिना, उनकी सन्धि या उनके मेल से उत्पन्न होनेवाले स्पष्ट वर्णोच्चारण का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। ये बातें ऐसी नहीं कि आज ही इनको लोगों ने जाना हो। इनकी प्रसिद्धि हुए बहुत दिन हुए। चिरकाल से लोग इन पर विश्वास करते आते हैं। और ये बातें हैं भी ऐसी ही। यही उदाहरण और सब बातों में भी घटित होता है। ज्ञानोन्नति का यह नियम है—मनोवृत्तियों की वृद्धि का यह क़ायदा है—कि सादी चीज़ों से आरम्भ होकर पेचीदा चीज़ों तक पहुँच होती है। अर्थात् शुद्ध ज्ञान से मिश्र ज्ञान होता है। अतएव, इस नियम के अनुसार, हमारा काम है कि हम छोटे छोटे बच्चों को ऐसी चीज़ें हमेशा सुलभ करते रहें जिनकी सहायता से वे पदार्थों की सब तरह की कोमलता और कठिनता, ध्वनियों का सब तरह का उतार-चढ़ाव, और प्रकाश की न्यूनाधिकता और उसके भेद सहज ही में जान सकें। इस बात को अनुमान न समझिए। अनुमान होकर भी यह सिद्धान्त की कोटि के भीतर है। इस सिद्धान्त की सचाई गोद के बच्चों के व्यापारों से साबित है। देखिए, छोटे बच्चे को अपने खिलौने मुँह में रख कर काटने से, अपने भाई के कोट या वास्कट के चमकीले बटनों पर हाथ लगाने से, अथवा अपने बाप के मूँछों को पकड़ कर खींचने में कितनी खुशी होती है। किसी

क्रम प्राकृतिक है—स्वाभाविक है। यह होना भी ऐसा ही चाहिए। परन्तु इस विषय में मेरी राय यह है कि जिस तरीके से यह शिक्षा दी जाती है वह तरीक़ा ठीक नहीं है। वह प्रकृति के बिलकुल ही प्रतिकूल है। स्वाभाविक रीति पर उसे जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। गोद के बच्चों और जवान आदमियों ही को नहीं, किन्तु सारी मनुष्य-जाति को ज्ञान प्राप्त होने में सृष्टि का जो क्रम देख पड़ता है वह क्रम इस तरीके का विरोधी है। अर्थात् जिस क्रम के अनुसार प्रकृति, मनुष्य-जाति मे ज्ञान का प्रसार करती है उस क्रम और इस तरीके मे मेल नहीं। दोनो एक दूसरे के विरोधी हैं। एम० मार्सेल साहब कहते हैं कि "बच्चों को यह प्रत्यक्ष दिखला देना चाहिए कि हर चीज़ के जुदा जुदा हिस्से किस प्रकार परस्पर मिले हुए हैं, इत्यादि"। "पदार्थ-पाठ" की जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें पढ़ाई जानेवाली बातों की सिर्फ़ एक ऐसी सूची है जो बच्चों के सामने देखने के लिए रक्खी जानेवाली प्रत्येक चीज़ से सम्बन्ध रखती है। इस तरह की सभी पुस्तकों का यह हाल है। जिन चीज़ों का ज्ञान बच्चों को कराना होता है उन चीज़ों के विषय मे जो जो बातें उनको बतलानी चाहिए उन्हीं की सूची इन पुस्तकों मे रहती है। बोलना आने के पहले चीज़—वस्तु के विषय में जो कुछ ज्ञान बच्चों को होता है वह .खुद उन्हीं का प्राप्त किया होता है। इस बात को समझने के लिए, गोद के बच्चे की दिन-चर्य्या पर हमे सिर्फ़ एक नज़र डालने की ज़रूरत है। अमुक आकार की चीज कठोर है, अमुक आकार की नरम है, अमुक चीज वज़नी है, अमुक हलकी है, अमुक आदमी का रंग और आकार अमुक तरह का है, अमुक तरह के जानवर अमुक तरह के शब्द करते हैं—ये बातें ऐसी हैं जिन्हें बच्चे आप ही आप सीख जाते हैं। बड़े होने पर भी, जब अध्यापक पास नहीं होते, हर एक बात का फ़ैसिला आदमी को .खुद ही करना पड़ता है, सब बातों की देख-भाल करके विचार द्वारा हर घड़ी उसे .खुद ही अनुमान निकालने पड़ते हैं, और किस तरह का व्यवहार करना चाहिए, किस तरह का नहीं—इस विषय मे उसे .खुद ही, बिना किसी की मदद के, सिद्धान्त स्थिर करने पड़ते हैं। इन बातों को वह जितनी ही अधिक पूर्णता और विशुद्धता से कर

सकता है सांसारिक कामों में उसे उतनी ही अधिक सफलता भी होती है। अतएव जिस क्रम से—जिस तरीके से—मनुष्य-जाति की उन्नति होती हुई संसार में देख पड़ती है उसी क्रम—उसी तरीके—का अनुसरण यदि बच्चे और जवान आदमी, दोनों मे भी, पाया जाता है तो क्या यह कहीं हो सकता है कि बचपन और जवानी के बीच की उम्र मे उसके किसी विरोधी क्रम या तरीके से उन्नति की जाय ? कभी नही। इस तरह के उलटे क्रम को बुद्धि स्वीकार ही नहीं कर सकती। और, यदि, कोई उलटा क्रम स्वीकार ही किया जाय तो क्या पदार्थों के गुण-धर्म्म आदि सीखने मे ? ऐसे सीधे सादे काम मे प्राकृतिक क्रम का उलटा क्रम क्यों ? इसके विरुद्ध क्या यह बात साफ़ जाहिर नही है कि प्रत्येक अवस्था मे एक ही क्रम से शिक्षा देना मुनासिब है ? यदि हममे प्राकृतिक नियमों के समझने की काफ़ी बुद्धि और उनके अनुसार काम करने की काफ़ी नम्रता हो तो क्या हम यह न जान लें कि इसी क्रम को स्वीकार करने के लिए प्रकृति हमे बार बार बल-पूर्वक आज्ञा देती है ? इसके लिए बुद्धि और नम्रभाव का होना बहुत ज़रूरी है। इससे अधिक स्पष्ट और कौन बात होगी कि बच्चे हमेशा बुद्धि-विषयक हमदर्दी चाहते हैं—हमेशा मानसिक सहानुभूति की इच्छा रखते हैं ? उनकी हमेशा यह इच्छा रहती है कि जिस बात मे उनका मन लगता है उसी मे और आदमियो का भी मन लगे। अर्थात जिस चीज को बच्चे चाहें उसी को और लोग भी चाहे। गोदी में बैठे हुए बच्चे की तरफ ध्यान से देखने पर तुम्हें मालूम होगा कि अपने हाथ में लिये हुए खिलौने को वह किस तरह तुम्हारे मुँह में घुसाये देता है। यह वह इसलिए करता है जिसमे तुम भी उसकी तरह उस खिलौने को देखो। जब वह अपनी गीली उँगली को मेज़ पर रगड़ कर एक विशेष प्रकार की आवाज पैदा करता है तब वह किस तरह मुँह मोड़ कर तुम्हारी तरफ़ देखता है। बार बार वह तुम्हारी तरफ मुड़ मुड़ कर देखता हुआ मानो तुमसे यथासम्भव साफ़ साफ़ यह कहता है कि—"ज़रा इस नई आवाज को तो सुनो"। इसके बाद तुम कुछ बड़े लड़को को देखो। किस तरह दौड़ कर वे कमरे में आते हैं और कहते हैं—"अम्मा, देख यह कैसी पकड़ा

चीज़ है" । "अम्मा, इसे देख" । "अम्मा, उसे देख" । और यदि मूर्ख अम्मा उनसे यह न कह दे कि मुझे तंग न करो तो वे बराबर ऐसा ही किया करें। यह बच्चो की आदत होती है । यदि वे रोके न जायँ तो इस आदत को वे छोड़ना नहीं चाहते । देखिए, छोटे छोटे बच्चे जब दाई के साथ बाहर घूमने जाते हैं तब प्रत्येक बच्चा, यदि कोई उसे नया फूल मिल जाता है, तो उसे लेकर वह दाई के पास दौड़ता है और उससे कहता है, देखो यह कैसा अच्छा फूल है । इतना ही करके वह चुप नहीं रहता, किन्तु वह दाई से भी कहला लेता है कि वह अच्छा है । देखिए, जब कोई लड़का कोई नई चीज़ देखता है तब कितने प्रेम और कितने उत्साह से वह उसका हाल बयान करता है । उसके बयान को सुनने के लिए दिल लगा कर सुनने-वाला भर कोई मिलना चाहिए । इन बातों से जो नतीजा निकलता है क्या वह बिलकुल ही साफ़ नहीं है ? क्या उसे ढूँढ़ने की भी कोई ज़रूरत है ? क्या इससे यह साफ़ नहीं मालूम होता कि मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार ही शिक्षा-पद्धति होनी चाहिए । अर्थात् बुद्धि का स्वाभाविक झुकाव जिस तरह जैसी शिक्षा माँगे उसी तरह वैसी शिक्षा देना चाहिए। सृष्टि-क्रम की रक्षा करके जो व्यवस्था ज़रूरी हो कर देनी चाहिए । प्राकृतिक क्रम मे किसी प्रकार का उलट फेर न करना चाहिए । हाँ, उसकी सुव्यवस्था मात्र कर देना चाहिए । हर एक चीज़ के विषय में जो कुछ बच्चे कहें हमें सुनना चाहिए, किसी चीज़ के विषय मे जो कुछ बच्चे कह सकते हों उसे कहने के लिए हमे उनको प्रेरणा करना चाहिए, कभी कभी उनका ध्यान ऐसी बातों की तरफ़ खींचना चाहिए जो तब तक उनकी समझ में न आई हों, जिसमें यदि फिर कभी उन्हें उन बातों से साबिक़ा पड़े तो वे आपही आप उन पर ध्यान दें; और, इसी तरह, धीरे धीरे, नये नये विषय उनके सामने रख कर और नई नई बाते बतला कर उन्हें इस लायक़ कर देना चाहिए जिसमे वे ख़ुद ही इस तरह की जाँच-पडताल पूरे तौर पर कर सके। यदि माँ समझदार होती है तो वह, इस तरीक़े के अनुसार, देखिए, किस तरह अपने लड़के को पाठ देती है—किस तरह वह उसे पाठ पढ़ाती है । वह धीरे धीरे बच्चे को चीज़ों की सख़्ती, नरमी, रङ्ग, रुचि (स्वाद या

जायका) और आकार आदि सीधे सीधे गुण-धर्मों का ज्ञान करा देती है। इस काम में उसे बच्चे से भी मदद मिलती है, क्योंकि जहाँ उसने एक दफ़े बच्चे को बतला दिया कि यह चीज़ लाल है, या यह चीज़ सख़्त है, वहाँ वह उसके पास वही चीज़े ला लाकर कहता है—"देखो यह लाल है, देखो यह सख़्त है"। जितना जल्द माँ इन गुणों के सूचक शब्द बच्चे को बताती है उतना ही जल्द वह इन गुणोवाली चीजे उसके सामने ला ला कर रखता है। जो जो नई चीजें वह उसके पास लाता है उनमे यदि कोई नये गुण-धर्म उसे बताने हुए तो जो बाते बच्चे को पहले ही से मालूम हैं उनसे नये गुण-धर्म्मो का मेल मिला कर वह बताती है। ऐसा करने से बच्चे की स्वाभाविक अनुकरण-शक्ति की वृद्धि होती है और वह सारे गुण-धर्म्मों को यथाक्रम, एक के बाद एक, याद करता चला जाता है। जो गुण-धर्म्म बच्चे को मालूम हो जाते हैं उन्हे दोहराते समय यदि बच्चा एक आध बात भूलने लगता है तो माँ उससे पूछती है कि जो चीज तुम्हारे हाथ में है उसके विषय मे तुम्हे और कोई बात मालूम है या नहीं। इस पूँछ पाँछ की रीति को वह बराबर जारी रखती है। इस तरह के प्रश्न बहुत करके बच्चा पहले नहीं समझता। ऐसा होने पर थोडी देर तक उसे उलझन मे डाल कर और उसके न बतला सकने पर थोडी सी उसकी हँसी उडाकर वह भूली हुई बाते उसे बतला देती है। दो चार दफ़े ऐसा होने पर बच्चे को ख़ुद ही मालूम हो जाता है कि क्या करना चाहिए। जब दूसरी दफ़े माँ लड़के से यह कहती है कि इस चीज के विषय में जो कुछ तुमने कहा उससे मैं अधिक जानती हूँ तब बच्चा घमण्ड मे आ जाता है। उस समय वह उस चीज की तरफ़ बड़े ध्यान से देखता है, जो कुछ उसने माँ से सुना होता है उसका मन ही मन विचार करने लगता है, और प्रश्न सीधा होने के कारण उसे तुरन्त बता देता है। ऐसा होने से अपनी कामयाबी पर बच्चे को बड़ी ख़ुशी होती है और उसकी माँ भी उसकी ख़ुशी में शामिल हो जाती है। वह भी बच्चे के साथ सहानुभूति (हमदर्दी) दिखलाती है। जैसा कि हर एक बच्चा करता है वह भी यह जान कर कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ ख़ुशी के मारे फूले अङ्ग नहीं

समाता। तब उसे यह इच्छा होती है कि इसी तरह के और भी प्रश्नों का उत्तर देकर मैं विजय की बड़ाई लूटूँ। इससे नई नई चीज़ों के गुण-धर्म्म जानने की परीक्षा माँ के सामने देने के लिए वह उन चीज़ों की खोज करता है। जैसे जैसे बच्चे की मानसिक शक्तियाँ विकसित होती जाती हैं तैसे तैसे वह उसे एक के बाद एक नये नये गुण-धर्म्म बतलाती है और बच्चे की ज्ञान-सीमा की वृद्धि करती जाती है। सख़्ती और नरमी का भेद बच्चे की समझ मे आ जाने पर वह उसे खुरखुरे और चिकने का भेद बताती है। रंग समझ जाने पर वह जिला का ज्ञान कराती है और सीधी सादी बातो से शुरू करके कठिन बातो के ज्ञान तक वह उसे ले जाती है। इस तरह जैसे जैसे बच्चे की बुद्धि बढ़ती जाती है तैसे तैसे वह अपने प्रश्न हमेशा कठिन करती जाती है; उसके ध्यान और स्मरण-शक्ति के तार को हमेशा अधिकाधिक तानती जाती है, उसकी मनोरञ्जकता मे बाधा न आने देने के लिए वह उसके समझने लायक़ हमेशा नई बाते बतलाती है; और ऐसे प्रश्न पूछ कर जिनका उत्तर बच्चा सहज में ही दे सके वह उसे हमेशा उत्तेजन दिया करती है। अर्थात् छोटी छोटी कठिनाइयों को हल करने के कारण मिली हुई जीत की बड़ाई करके वह उसे खुश किया करती है। ऐसा करने मे वह सिर्फ़ उस प्राकृतिक क्रम के अनुसार काम करती है जो क्रम इसके पहले बच्चों मे आप ही आप विद्यमान था। सीखना शुरू करने के पहले ही जो शक्ति बच्चे मे आप ही आप विद्यमान थी, और जिसकी प्रेरणा से बच्चा नई नई बाते आप ही आप सीखा करता था, उसी शक्ति के क्रम का माँ सिर्फ़ अनुकरण भर करती है। अथवा यों कहिए कि बच्चे की बुद्धि जो आप ही आप बढ़ रही थी उसकी बाढ की वह सिर्फ़ मदद करती है। या यह कहिए कि आप ही आप सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में बच्चे के मानसिक झुकाव के अनुसार वह उसकी मदद करती है। अर्थात् जो बर्ताव माँ के साथ बच्चा करता है उसके ढँग को देख कर उसी ढँग से वह भी बच्चे की मदद करती है। पूरे तौर पर सब चीज़ों की देख-भाल और परीक्षा की आदत डालने के लिए बच्चे के साथ माँ का इस तरह व्यवहार करना सचमुच ही बहुत उत्तम बात है। इस मतलब की

सिद्धि के लिए यह तरीक़ा सचमुच ही सबसे अच्छा है। इस तरह की शिक्षा का अभिप्राय ही यही है। पदार्थ-पाठ का उद्देश ही यही है। बच्चे को बतलाना एक चीज़ और दिखाना दूसरी चीज, उसे जाँच-पड़ताल और देखभाल करने की आदत डालना नहीं कहलाता। इस तरह की शिक्षा देना—अर्थात् बतलाना एक चीज, पर दिखाना दूसरी चीज़—मानों दूसरों के तजरिबों को बच्चे के दिमाग़ मे ठूसना है। ऐसा करने से आप ही आप शिक्षा प्राप्त करने की बच्चे की शक्ति प्रबल न होकर उलटा निर्बल हो जाती है। अपने आप किये गये उद्योग मे कामयाबी होने से जो ख़ुशी होती है उससे वह बच्चे को वञ्चित रखती है। वह इस अत्यन्त रमणीय और हृदयहारी ज्ञान को एक नियमानुसारिणी निर्जीव रूढि के रूप मे लाकर बच्चे के सामने खड़ा कर देती है। अतएव उसे देख कर बच्चों की बहुधा यह समझ हो जाती है कि सब चीज़ो को प्रत्यक्ष देखने से कोई लाभ नहीं। इसका फल यह होता है कि बच्चे बहुधा पदार्थ-परिचय की शिक्षा से उदासीन ही नहीं हो जाते, किन्तु उससे घृणा तक करने लगते हैं। इसके विपरीत, जिस रीति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके अनुसार शिक्षा देना मानों बुद्धि का खाद्य बुद्धि के पास तक पहुँचाना है; ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाली बुद्धि के लिए ज्ञान-मार्ग को सुलभ करके उसे एक सहानुभूतिकर्त्ता साथी या सहाध्यायी देना है इन सब बातो के मेल से, हर एक चीज़ को ख़ूब ध्यान-पूर्वक देखने-भालने की आदत डाल कर, यथार्थ और परिपूर्ण ज्ञान-प्राप्ति के प्रबन्ध को दृढ करना है और जिस स्वत साहाय्य पर (अपनी मदद आपही करने पर) मन को भविष्यत् में अवलम्बन करना पड़ता है उस पर पहले ही से अवलम्बन करने का स्वभाव डालना है।

२९—पदार्थ-पाठ में और अधिक चीज़ें शामिल कर लेना चाहिए और अधिक समय तक उन्हें प्रत्यक्ष दिखा कर शिक्षा जारी रखना चाहिए।

पदार्थ-पाठ, अर्थात् चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखा कर उनके विषय में पाठ देने की चाल, जो इस समय साधारण तौर पर जारी है, सिर्फ़ बिलकुल पढ़न्त

ही न डालना चाहिए, किन्तु उसमे और अधिक चीज़े भी शामिल कर लेना चाहिए और उसे और भी कुछ अधिक समय तक जारी रखना चाहिए। सिर्फ़ घर ही की चीज़ लड़कों को दिखला कर और उनके ही विषय में पाठ देकर सन्तोष न करना चाहिए। उन्हे खेतों की, बाग़ों की, झाड़ियों की, खानो की और नदी या समुद्र के किनारे की भी चीज़ें दिखला कर उनके विषय की बाते बतलानी चाहिए। पदार्थ-पाठ की शिक्षा बचपन के आरम्भ ही मे न बन्द कर देना चाहिए। उसे युवावस्था तक इस तरह जारी रखना चाहिए जिसमे प्राकृतिक-इतिहास-वेत्ता और विज्ञान-विशारद विद्वानों की तरह, विद्यार्थी धीरे धीरे, पदार्थों की खोज और जाँच-पड़ताल कर सकें, पर उन्हें यह न मालूम हो कि वे इतना बड़ा काम कर रहे हैं। इस काम मे भी हमे प्राकृतिक क्रम का ही अवलम्बन करना चाहिए। नये नये फूलो को इकट्ठा करने से, नये नये कीड़ों को देखने से और नये नये कंकड़ों और सीपियों को जमा करने से जो ख़ुशी लड़कों को होती है उससे अधिक ख़ुशी और कहाँ हो सकती है ? इन बातों मे मन लगा कर यदि हम लड़कों के साथ सहानुभूति प्रकट करें और उन्हे उत्तेजन दें तो इन चीज़ों के गुण-धर्म्म और बनावट आदि की परीक्षा जहाँ तक हम चाहें उनसे करा सकते हैं। यह एक ऐसी बात है जिसे सभी समझ सकते हैं। एक भी आदमी ऐसा न होगा जिसे इसमें कोई शङ्का हो। हर एक वनस्पति-शास्त्रवेत्ता ने, जङ्गलो और बाग़ो मे घूमते समय, यदि उसके साथ लड़के रहे होंगे, देखा होगा कि किस उत्साह से वे उसके काम में मदद देते हैं, किस प्रेम से नये नये पौधों को वे उसके लिए ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते हैं, जब वह उन पौधों की जाँच करता है तब किस तरह ध्यान से वे देखते हैं, और प्रश्न पर प्रश्न पूछ कर किस तरह वे उसे तंग करते हैं। प्रकृति के दास और उसका सच्चा मर्म्म समझनेवाले बेकन के पन्थ का जो पक्का अनुयायी होगा वह जान लेगा कि प्रकृति के बतलाये हुए शिक्षा-पथ पर हमे नम्रता-पूर्वक गमन करना चाहिए। इस तरह इन्द्रियहीन पदार्थों के सीधे सादे गुण-धर्म्मों का ज्ञान हो चुकने पर, लड़कों से, इसी क्रम और इसी रीति से, उन सब पदार्थों की पूरे तौर पर परीक्षा करनी चाहिए जिन्हें वे

घूमते फिरते प्रति दिन इकट्ठा करते हैं। उनमे जो बातें कम पेचीदा हों पहले उन्ही पर विचार होना चाहिए। पौधो में पहले पँखुड़ियों के रग, संख्या और आकार पर, और डडियो और पत्तियो की बनावट पर ध्यान देना चाहिए। कीड़े मकोड़ों के विषय में पाठ देते समय पहले उनके पंखो, टाँगो और स्पर्शज्ञान करानेवाले मूँछों की सख्या और उनके रग का ज्ञान करा देना चाहिए। ये सब बाते जब अच्छी तरह उनकी समझ मे आ जायँ और ऐसा मालूम हो कि वे अब उन्हे कभी न भूलेंगे—हमेशा उनको ध्यान में रक्खेंगे—तब धीरे धीरे उन्हे आगे की बाते बतानी चाहिए। फूलों की परीक्षा करते समय उनके केसर और गर्भतन्तुओं की संख्या, उनके आकार गोल हैं या दो भागो में बँटे हुए हैं, पत्तियों का क्रम और उनकी रचना—वे आमने सामने हैं या एक के बाद एक, डंडी से निकली हैं या तने से, चिकनी हैं या बालदार, उनके किनारे आरे की तरह हैं या उनमे सादे दाँत हैं या वे लहरियादार हैं—इत्यादि बातें बतलानी चाहिएँ। कीड़ो की देखभाल करते समय शरीर के भाग, पेट के परदे, पंखों के चिह्न, टाँगों के जोड़ों की संख्या, और छोटे छोटे अवयवों के आकार आदि का परिचय लडकों को करा देना चाहिए। साराश यह कि हमे बच्चों को हमेशा इस तरह शिक्षा देनी चाहिए जिसमे प्रत्येक बात को देख कर उसके विषय मे ज्ञान-सम्पादन करने की इच्छा उनके मन मे जागृत हो जाय। अर्थात् उनके मन में कुछ ऐसा उत्साह आ जाय कि प्रत्येक वस्तु को देख कर उन्हें यह इच्छा हो कि उसके विषय में जो कुछ कहा जा सकता हो वह सब हम कह सकें। लडकों के बडे होने पर, जिन पौधों के विषय मे उन्होंने इतना ज्ञान प्राप्त किया है और इसलिए जो उनके इतने प्यारे और मनोरञ्जनकर्ता हो गये हैं, उनकी रक्षा के उपाय यदि उन्हें सिखलाये जायँ तो मानो उन पर बहुत बड़ी कृपा हो। इसी तरह रूपान्तर होने की अवस्था में तितलियों और कीडों आदि के बच्चों को रखने के लिए जो यंत्र या सामान जरूरी होते हैं वे यदि लड़कों को दिये जायँ तो मानो उन पर और भी अधिक कृपा हो। ऐसा करने से तो लडके कृतज्ञता के पाश में बद्ध होकर और भी अधिक हमारे उपकार मानेगे। इस पिछली बात से लड़कों को बहुत ही अधिक

ख़ुशी होती है। इसके हम ख़ुद प्रमाण हैं। हम ख़ुद इस बात की सरटी-फ़िकेट देते हैं। इस ख़ुशी में—इस आनन्दानुभव मे—लड़के वर्षों चूर रहते हैं। वर्षों तक कीड़ों के रूपान्तर आदि को उत्साहपूर्वक देख कर वे ख़ुश हुआ करते हैं। और यदि कहीं कीट-पतङ्गों के वर्णन का संग्रह भी वे करते गये तो शनिवार को तीसरे पहर बाहर सैर करने मे जो आनन्द मिलता है वह बहुत ही अधिक बढ़ जाता है। इस तरह का क्रम जारी रखने से प्राणि-शास्त्र का अभ्यास करने मे बहुत सुभीता होता है। यह क्रम इस शास्त्र की मानों एक उत्तम भूमिका है।

३०—चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखा कर शिक्षा देने की रीति के विषय में लोगों के भ्रमात्मक विचार और उनका खण्डन।

बहुत आमदमी यह कहेंगे कि इस क्रम से शिक्षा देना समय और श्रम को व्यर्थ नष्ट करना है। इसकी अपेक्षा तो लड़कों से कापियाँ लिखाना या आना-पाई, पहाड़े इत्यादि याद कराना अच्छा है। ऐसा करने से वे सांसारिक काम-काज करने के लायक़ तो हो जायँगे। इस तरह की तर्कनाओं को—इस तरह के एतराज़ों को—सुनने के लिए हम ख़ूब अच्छी तरह तैयार हैं। विद्या या शिक्षा में कौन कौन सी बातें शामिल हैं, इस विषय मे लोगो के ख़याल अब तक इतने अपक और उपयोगिता के विषय मे उनकी समझ अब तक इतनी परिमित बनी हुई है, कि इस बात का विचार करके बहुत अफ़सोस होता है। बड़े दुःख की बात है कि विद्या और उपयोगिता के विषय मे लोगों की समझ अब तक इतनी कच्ची है। ज्ञानेन्द्रियों को उचित शिक्षा मिलने की ज़रूरत पर यदि कुछ भी न कहा जाय, और उस ज़रूरत को पूरा करने के लिए ऊपर जिन उपायों का वर्णन हुआ है उनकी योग्यता का विचार भी यदि एक तरफ़ रक्खा जाय, तो भी हम उन उपायों के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा का पक्ष सिर्फ़ इसलिए लेने को तैयार हैं कि उससे ज्ञान-प्राप्ति होती है। अतएव यदि इस तरह की शिक्षा से और कोई लाभ

न हो तो भी सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति ही के लिए उसका दिया जाना इष्ट है। यदि लोगों को सिर्फ़ नागरिक अर्थात् शहरवासी बनना हो; या चुपचाप बैठे हुए अपने वही-खाते के पन्ने उलटना हो, या अपने निज के उद्योग-धन्धे को छोड़ कर और कोई काम न करना हो—यदि लोगों को लन्दन के किसी किसी नागरिक की तरह यही मान लेना मुनासिब हो कि किसी बाग़ में हुक्का या शराब पीते बैठने से बढ़ कर देहातियों के लिए और कोई आनन्द-दायक बात ही नहीं—यदि लोगों को किसी किसी तअल्लुकेदार या नव्वाब की तरह यही कल्पना करना हो कि जङ्गल हमारी मृगया-भूमि (शिकारगाह) है, आपही आप उत्पन्न हुई वनस्पति उखाड़ फेकने के लिए हमारी घास-फूस है और जितने जानवर हैं उनके सिर्फ़ तीन भेद हैं—शिकार के जानवर, खेती मे काम देनेवाले जानवर, और कीड़े मकोड़े—तो किसी ऐसी चीज का सीखना ज़रूर व्यर्थ है जिससे रुपये-पैसे रखने की गोलक या थैली भरने या मांस इत्यादि खाने की चीजें रखने का गोदाम परिपूर्ण करने मे प्रत्यक्ष मदद न मिलती हो। परन्तु पेट भरने के लिए कुलियों की तरह दिन रात काम करने की अपेक्षा यदि दुनिया में कोई और भी अधिक अच्छा कर्तव्य हमारे लिए हो—यदि रुपया पैदा कराने की शक्ति के सिवा हमारे आस पास की चीज़ों का और भी कोई उपयोग हो सकता हो—यदि विषय-वासना तृप्त करने में अपनी शक्तियो की योजना करने के सिवा उनसे बढ़ कर अच्छे कामो मे उनकी योजना करना सम्भव हो—यदि कविता, कला-कौशल, विज्ञान और दर्शनशास्त्र से प्राप्त होनेवाला आनन्द भी कोई आनन्द हो—तो आप ही कहिए, कि सृष्टि-सौन्दर्य्य और संसार के अद्भुत अद्भुत पदार्थों को देख कर उनके विषय मे ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता जो बच्चों में स्वाभाविक होती है उसे उत्तेजना देना उचित है या नहीं? उप-योगिता तत्त्व का आज कल बड़ा ज़ोर है। प्रत्येक चीज़ की योग्यता या अयोग्यता का परिमाण लोग उसके उपयोगीपन के हिसाब से करते हैं—उपयोगिता की कसौटी पर कस कर करते हैं। परन्तु जो लोग इस संसार में आकर सिर्फ़ स्वार्थ-सेवा करके उसे छोड़ जाते हैं पर ज़रा भर के लिए भी विचार नहीं करते कि यह संसार किस तरह का है, इसकी रचना कैसी है,

इसमे क्या क्या पदार्थ हैं, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। इस बात को हम उन्हीं प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं जिन प्रमाणों से ऐसे स्वार्थ-सेवी लोग अपने उपयोगिता-तत्त्व को सिद्ध करते हैं। यह बात धीरे धीरे मालूम हो जायगी कि जीवन के नियमों का ज्ञान और सब तरह के ज्ञानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। जीवन के नियम सिर्फ़ शरीर और मन से सम्बन्ध रखनेवाले काम-काजों ही के आधार नहीं हैं; किन्तु घर, द्वार, बाज़ार, व्यापार, राजनीति और सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाले जितने व्यवहार हैं उन सबमें भी व्याप्त हैं। उन सबमे भी, किसी न किसी तरह, गर्भित रीति से उनकी व्यापकता ज़रूर है। अतएव इन जीवन-सम्बन्धी नियमों को बिना अच्छी तरह समझे न तो ख़ुद अपने और न सामाजिक कामो ही मे कोई आदमी अपना बर्ताव ठीक ठीक रख सकता है। अन्त मे यह भी मालूम हो जायगा कि जितने सांसारिक पदार्थ इन्द्रिय-विशिष्ट हैं उन सबके लिए भी, यथार्थ में, जीवन-सम्बन्धी वही नियम है। उनके लिए कोई अलग नियम नहीं। सबके लिए एक ही नियम है। परन्तु सीधी सादी बातो मे उन नियमों के सम्बन्ध का ज्ञान पहले प्राप्त किये बिना कठिन और अटपटा बातो में उनके सम्बन्ध का ज्ञान अच्छी तरह नहीं हो सकता। जब यह बात समझ मे आ जायगी तब वह भी समझ मे आ जायगी कि बाहर की चीज़ों से सम्बन्ध रखनेवाली जिन बातों के जानने के लिए बच्चा इतनी उत्सुकता दिखाता है उन्हे जानने में उसकी मदद करके, और लड़कपन मे इस तरह ज्ञान-प्राप्त करने की आदत डालने मे उसे उत्तेजना देकर, मानों हम भविष्यत् मे बच्चो के विद्याभ्यास को उचित रीति पर होने के लिए ज़रूरी सामग्री पहले ही से दे रहे हैं। अथवा यों कहिए कि इस प्रकार बच्चे को कच्ची सामग्री इकट्ठी करने की उत्तेजना देकर मानों हम भविष्यत् मे उससे उस सामग्री का साङ्गोपाङ्ग विधि-विधान कराने का पहले ही से प्रबन्ध कर रहे हैं। अथवा यह कहिए कि हम उसे ऐसी बातें सिखला रहे हैं जिनकी बदौलत, किसी न किसी दिन, वह सांसारिक व्यवहारों और बर्तावों को उचित मार्ग पर ले जानेवाले विज्ञान-शास्त्र के बड़े बड़े और व्यापक नियमों को पूरे तौर पर सहज ही में समझ लेगा।

३१—मानसिक शिक्षा के लिए चित्र बनाना सीखने की ज़रूरत।

लोगों को धीरे धीरे अब मालूम होने लगा कि मन को किस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए। अर्थात् मानसिक शिक्षा कैसी होनी चाहिए, यह बात लोगों के ध्यान में आने लगी है। जिन अनेक चिह्नों को देख कर हम ऐसा कह रहे हैं उनमें से एक चिह्न यह है कि चित्र-कला का सिखलाना अब अधिकाधिक शिक्षा का एक अंश माना जाने लगा है। यह बात यहाँ पर एक बार फिर कह देनी चाहिए कि जिस रीति के अनुसार शिक्षा देने के लिए प्रकृति, अध्यापकों से दृढ़ता के साथ लगातार कहती आ रही है उसके अनुसार अन्त में वे अब शिक्षा देने लगे हैं। सब जानते हैं कि अपने आस पास के आदमी, मकान, पेड़ और प्राणि आदि के चित्र बनाने का प्रयत्न बच्चे आप ही आप बिना सिखलाये किया करते हैं। इस काम के लिए यदि उन्हें और कोई चीज़ नहीं मिलती तो स्लेट ही पर वे चित्र खींचने लगते हैं, या यदि काग़ज़ किसी से माँगे मिल गया तो फिर क्या पूछना है। फिर उसी पर वे पेंसिल से चित्र खींचते हैं, जिन चीज़ों को देखने से बच्चों को सबसे अधिक ख़ुशी होती है उनमें से चित्रों की पुस्तक भी एक चीज है। सचित्र पुस्तक खोल कर, आदि से लेकर अन्त तक, सब चित्र दिखाने में उन्हें जो ख़ुशी होती है उसका वर्णन नहीं हो सकता। और, दूसरे की नक़ल उतारने—दूसरे का अनुकरण करने—की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों में होती है, और बहुत अधिक होती है, इससे उनके मन में तत्काल यह उत्साह पैदा हो जाता है कि वे ख़ुद भी चित्र बनाना सीखें। इस तरह, अद्भुत अद्भुत चीज़ें देख पड़ने पर उन सबके चित्र बनाने का यत्न करते रहने से बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों को, अधिकाधिक शिक्षा मिलती जाती है—उनको अपने अपने काम की मश्क़ होती रहती है। इस अभ्यास की बदौलत हर एक चीज़ को और भी अधिक यथार्थ और पूर्णरीति पर देख-भाल करने की शक्ति उनमें आ जाती है। इस तरह करते करते जाँच, परीक्षा और आलोचना आदि करना ख़ूब

अच्छी तरह आ जाता है और फिर भूलें नहीं होती। इन्द्रियों के द्वारा जानने लायक़ पदार्थों के गुण-धर्म्मों से सम्बन्ध रखनेवाले अपने आविष्कारों की तरफ़ बच्चे प्रयत्न-पूर्वक हमारा ध्यान खींचते हैं और ख़ुद भी चित्र बनाते हैं। इस तरह, दोनों प्रकार से, जैसी शिक्षा की उन्हे सबसे अधिक ज़रूरत है वही मानों वे हमसे माँगते हैं।

३२—बच्चों को चित्र खींचना सिखलाने की रीति।

सृष्टि की सूचनाओं के अनुसार जैसे अध्यापक लोग इस समय चित्र-कला को शिक्षा का एक अंश समझ उसे लड़कों को सिखलाने लगे हैं उसी तरह यदि वे चित्रविद्या सिखलाने की रीति निश्चित करने में भी सृष्टि की सूचनाओं का ख़याल रखते तो जितना लाभ उन्होंने लड़कों को पहुँचाया है उससे अधिक पहुँचता। पहले पहल किन चीज़ों का चित्र उतारने की बच्चे कोशिश करते हैं? बड़ी बड़ी चीज़ो के, चित्र-विचित्र रङ्गीन चीज़ों के, ऐसी चीज़ो के जिनसे उन्हे विशेष आनन्द मिलता है—अर्थात् मनुष्यों के, क्योकि उन्हीं से बच्चे अपने सारे मनोविकार सीखते हैं, गायों और कुत्तो के, क्योंकि उनमे बहुत सी मनोरञ्जक और उपयोगी बातें देख कर बच्चे उनको बहुत पसन्द करते हैं; घरो के, क्योंकि बच्चे हमेशा उनको देखते हैं और उनके आकार और जुदा जुदा भाग देख कर आश्चर्य करते हैं। इन्हीं चीज़ो के चित्र बनाने की बच्चे पहले पहल कोशिश करते हैं। अच्छा, चित्र बनाने में जो जो काम करने पड़ते हैं उनमे कौन काम ऐसा है जिसे करने मे बच्चों को सबसे अधिक आनन्द होता है? रंग भरने में। यदि काग़ज़ और पेंसिल से अच्छी और कोई चीज़ नहीं मिलती तो इन्हीं दो चीज़ों से वें काम चला लेते हैं। पर यदि उनको कहीं रंगों का बकस और ब्रश, अर्थात् रंग देने का क़लम, मिल गये तो मानो उनको ख़ज़ाना मिल गया। चित्र बनाने के लिए इन चीज़ों को वे अनमोल समझते हैं। चित्र की आकृति की रेखायें बनाने, अर्थात् ख़ाका खींचने, की अपेक्षा रंग भरने की तरफ़ वे अधिक ध्यान देते हैं। रग भरना वे पहले दरजे का काम समझते हैं और रेखा खीचना दूसरे दरजे का, सिर्फ़ रंग भरने ही के लिए वे रेखा

खींचने की ज़रूरत समझते हैं। और, यदि, किसी किताब के चित्रों में रंग भरने की उन्हें आज्ञा मिल जाय तो उनके आनन्द का कहीं ठौर ठिकाना ही न रहे। पर चित्र-कला के अध्यापक लड़कों से पहले रेखायें खिँचवा कर आकृतियाँ बनवाते हैं और फिर उनमें रंग भरवाते हैं। इससे उनको ये बातें सुन कर ज़रूर आश्चर्य होगा। उन्हें हमारी बातें उपहासास्पद मालूम होंगी। वे ऐसी बातें सुन कर हँसेंगे। क्योंकि आकृति बनाना सिख-लाने के पहले वे लकीरें खींचना सिखलाते हैं, तब कहीं रंग भरवाते हैं। पर हमें विश्वास है कि चित्र-कला सिखलाने की जो रीति हमने यहाँ पर वर्णन की वही सच्ची और उचित रीति है। जैसा पहले ही इशारे के तौर पर बतलाया जा चुका है, बच्चों को रंग का ज्ञान पहले होता है आकार का पीछे। यह बात मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार है। इसे शुरू से ही समझ लेना चाहिए और बच्चों को आकार बनाना सिखलाने के पहले रंग भरना सिखलाना चाहिए। इस बात को भी शुरू ही से ध्यान में रखना चाहिए कि जिन चीज़ों की नक़ल की जाय (अर्थात् जिनके चित्र बनाये जायँ) वह असल से मिलती हुई हो। रंगों को देख कर बच्चों ही को नहीं, किन्तु बहुत आदमियों को भी, उम्र भर, विशेष आनन्द मिलता है। बच्चे ही नहीं, जवान और बुड्ढे तक बहुधा रंगीन चीज़ों को अधिक पसन्द करते हैं। अतएव जो चित्र खींचने में कठिन हों और देखने में भी अच्छे न लगें उन्हें खींचना सिखलाते समय, प्राकृतिक उत्तेजना के तौर पर, बच्चों से कह देना चाहिए कि आगे तुम्हें इन्हीं चित्रों में रंग भरना होगा। लकीरें खींचने और आकृति बनाने में, दिल न लगने के कारण, जो अधिक मेहनत पड़ती है उसका परिहार रंग भरने की ख़ुशी से होना चाहिए। रंग भरने को उस मेहनत का इनाम समझना चाहिए। जो चीज़ें देखने में अच्छी मालूम होती हैं उनका चित्र बनाने की कोशिश बच्चे ख़ुद ही करते हैं। इससे उन्हें उत्ते-जना देते रहना चाहिए। ऐसा करने से यह लाभ होगा कि जैसे जैसे बच्चों का तजरिबा बढ़ता जायगा वैसे वैसे सीधी सादी और हमेशा देख पड़ने-वाली चीज़ें भी उन्हें अच्छी मालूम होने लगेंगी। अतएव वे उनके भी चित्र बनाने का उद्योग करेंगे। इस तरह अच्छे अच्छे चित्र बनाने में उनका

हाथ बैठ जायगा और असल चीज़ों का साम्य उनके बनाये हुए चित्रों में अधिकाधिक आने लगेगा। आरम्भ मे बच्चे जो चित्र अपने हाथ से बनाते हैं उनमे बहुत कम असलियत होती है। वे बहुत ही अस्पष्ट और वे भद्दे होते हैं। परन्तु यह अस्पष्टता—यह भद्दापन—परिणतिवाद के नियमों के अनुसार ही होता है। अतएव ऐसे चित्रों को बेपरवाही की दृष्टि से न देखना चाहिए, उनकी तरफ़ दुर्लक्ष्य न करना चाहिए। चित्रो के आकार चाहे जैसे बेढंगे हों, कुछ परवा नहीं। रङ्ग भरने मे चाहे जितना भद्दापन आ गया हो—उसे देख कर चाहे चक्षुशूल ही क्यों न पैदा होता हो—तो भी कुछ परवा नही। क्योकि इस समय यह नही देखा जाता कि बच्चा अच्छे चित्र बनाता है या नहीं। देखा यह जाता है कि वह अपनी मानसिक शक्तियों की उन्नति करता है या नही—उसका हाथ बैठता जाता है या नहीं—पहले पहल बच्चे को अपनी उँगलियाँ अपने क़ाबू में रखनी पड़ती हैं और आकार का भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है—अर्थात् आकार-साम्य की कल्पना का भी थोड़ा बहुत अन्दाज़ करना पड़ता है। आरम्भ में बस यही बाते काफ़ी समझी जाती हैं। इस उद्देश की सिद्धि के लिए इस तरह का अभ्यास ही सबसे उत्तम है। क्योकि इस अभ्यास में बच्चे स्वभावही से आप ही आप प्रवृत्त हो जाते हैं। बिना सिखलाये ही वे इस तरह का अभ्यास करने लगते हैं और इसमें उनका मन भी लगता है। यह सच है कि बचपन मे यथानियम चित्र खींचना सिखलाना मुमकिन नहीं। पर इससे क्या यह अर्थ निकलता है कि यदि बच्चे आप ही आप चित्र बनाने की कोशिश करें तो हम उन्हें वैसा करने से रोकें या उनको अपेक्षित मदद देने से इनकार कर दें? नहीं, ऐसा करना मुनासिब नहीं। हमे मुनासिब है कि इस तरह बच्चों को अपनी ज्ञानेन्द्रियों और हाथों का उचित उपयोग करते देख हम उनको उत्साहित करें और उन्हे उस मार्ग पर ले जायँ जिस पर चलने से उन्हे इस काम में सफलता होगी। इस विषय मे उनके मार्गदर्शक बनना—उन्हें सुमार्ग दिखलाना—ही हमारा कर्तव्य है। यदि हम बच्चों को विशेष प्रकार की लकड़ियों के सस्ते आकारों पर रङ्ग भरने और सीधे सादे नक़शों पर देशों की मर्यादा-सूचक रंगीन रेखायें खींचने दें तो उससे वे

ख़ुशी ख़ुशी रङ्ग का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। यही नहीं, किन्तु इससे उनको पदार्थों और देशों के आकार का भी अनायास ही थोड़ा बहुत ज्ञान हो जायगा और रङ्ग भरने में क़लम या ब्रश को धीरे धीरे बराबर एक सा चलाना भी थोड़ा बहुत आ जायगा। बच्चों को भले बुरे चित्र बनाने का जो स्वाभाविक चाव होता है वह यदि, चित्र बनाने के लिए मनोरञ्जक और चित्तवेधक चीज़े देकर, वैसा ही बना रक्खा जाय तो, आगे, यथानियम चित्र-कला सीखने का समय आने पर, वे उसके लिए ज़रूर पहले ही से तैयार रहेंगे। पर यदि ऐसा न किया जायगा तो चित्र-कला सीखने के इस सुभीते का और किसी तरह होना तब तक सम्भव नहीं। इससे समय की भी बचत होगी और अध्यापक और विद्यार्थी दोनों को तकलीफ़ भी न उठानी पड़ेगी।

२३—चित्र-विद्या की वर्तमान प्रणाली और उसके दोष।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह तत्काल ही मालूम हो जायगा कि चित्रों की नकल उतारना हमें पसन्द नहीं। प्रत्यक्ष पदार्थ को न देख कर उसके चित्र की कापी करते बैठना हम अच्छा नहीं समझते। और, सरल, वक्र और मिश्र रेखाओं के बनाने की उस नियमानुकूल शिक्षा को तो हम और भी नहीं पसन्द करते जिससे कोई कोई अध्यापक चित्र-कला का आरम्भ करते हैं। कोई कोई अध्यापक इन रेखाओं की व्याख्या बतला कर पहले ही से बच्चों को यथानियम चित्र बनाना सिखलाते हैं। यह तरीक़ा अच्छा नहीं। यह बहुत बुरा है। सोसायटी आफ़ आर्ट्स (कला-विज्ञान-समाज) ने अभी हाल में कला-शिक्षा-सम्बन्धिनी एक पुस्तक-मालिका निकाली है। उसमें एक पुस्तक ऐसी है जिसमें चित्र-विद्या की प्रारम्भिक शिक्षा का वर्णन है। खेद की बात है कि सोसायटी ने इस पुस्तक में शुरू शुरू में पढ़ाई जानेवाली चित्र-विद्या की एक पुस्तक की प्रशंसा की है। इस विषय की जितनी पुस्तकें हमने देखी हैं उन सबमें, जहां तक सिद्धान्तों से सम्बन्ध है, यह पुस्तक बहुत ही बुरी है। इसे जान [illegible] नामक एक सज्-

तराश या मूर्ति गढ़नेवाले ने बनाया है। इसका नाम है—"आउट लाइन फ्राम आउट लाइन ऑर फ्राम दि फ्लैट" अर्थात् "समतल से या ढाँचे से ढाँचा"। इस पुस्तक की भूमिका मे लिखा हुआ है कि इसके बनाने का उद्देश "विद्यार्थियों को सीधी सादी, पर तर्क-शास्त्रानुसारिणी शिक्षा की रीति सुलभ कर देना है"। इस उद्देश की सिद्धि के लिए उसमें कुछ परिभाषायें इस तरह दी हुई हैं:—

"चित्र-विद्या में सादी लकीर उस पतले चिह्न को कहते हैं जो एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक खींचा जाता है"।

"चित्र-विद्या में, अपने आकारों के अनुसार, लकीरों या रेखाओ के दो वर्ग हैं"।

"१—सीधी लकीर या सरल रेखा उस चिह्न को कहते हैं जो दो बिन्दुओं (उदाहरणार्थ अ और ब) के बीच थोड़ी से थोड़ी दूरी में व्याप्त हो"।

"२—टेढ़ी लकीर या वक्र रेखा उस चिह्न को कहते हैं जो दो बिन्दुओ (उदाहरणार्थ स और द) के बीच थोड़ी से थोड़ी दूरी में न व्याप्त हो"।

इसी तरह यह भूमिका जैसे जैसे बढ़ती गई है तैसे तैसे दिगन्तसम्पात रेखा, समकोणगामी रेखा, वक्र रेखा, अनेक प्रकार के कोने, और कोनों और रेखाओं के मेल से बननेवाली अनेक प्रकार की आकृतियों की परिभाषायें दी गई हैं। सारांश यह कि यह पुस्तक चित्र-कला सिखलाने की पुस्तक नहीं, किन्तु आकृतियों का एक व्याकरण-शास्त्र है—ऐसा व्याकरण-शास्त्र जिसमे अभ्यास के लिए पाठ भी दिये हुए हैं। इस तरह मूलतत्त्वों के पृथक्करण से भरे हुए इस खुश्क तरीक़े से—इस सूखी साखी नीरस रीति से—शिक्षा का आरम्भ करना मानों जो रीति भाषा सिखलाने मे निरुपयोगी समझी गई है उसी का चित्र-कला सिखलाने में फिर उपयोग करना है। इस तरीक़े को काम में लाना मानों यह कहना है कि हमे पहले अनिश्चित बातें न सीख कर निश्चित बाते ही सीखनी चाहिए। क्या ख़ूब तरीक़ा है। अथवा यों कहिए कि धर्म्मी का ज्ञान होने के पहले ही धर्म्म का ज्ञान

होना चाहिए, या तजरिबे से अपने ज्ञान की पहले वृद्धि न करके वैज्ञानिक रीति से ही ज्ञानार्जन प्रारम्भ करना चाहिए। वाह ! यह तरीक़ा शिक्षा प्राप्त करने के स्वाभाविक और सच्चे तरीक़े का बिलकुल ही उलटा है। यह उलटापन इतना स्पष्ट है कि यहाँ पर उसके दोहराने की कोई ऐसी जरूरत ही नहीं। किसी भाषा मे बातचीत करना सीखने के पहले उसके शब्दों के वर्ग और लक्षण आदि लड़कों से याद कराने की जो चाल पड गई है उसके विषय में किसी ने क्या ही अच्छा कहा है। वह कहता है कि यह चाल वैसी ही अयौक्तिक है जैसी कि चलना फिरना सीखने के पहले टाँगों की हड्डियों, पट्ठो और रगों के विषय मे पाठ पढ़ाते बैठने की चाल अयौक्तिक है। चित्रकला सिखलाने के पहले जिन रेखाओं से अनेक प्रकार के आकार बनते हैं उनके नाम और परिभाषायें सिखलाना भी इसी तरह की चाल है। इसमे कोई और विशेष युक्ति या लाभ नहीं। इन बखेड़ो से बच्चे घबरा जाते हैं—उनका जी ऊब उठता है। और इनके सिखलाये जाने की ज़रूरत भी नहीं। ऐसी बातों का फल यह होता है कि आरम्भ ही मे चित्र-कला की शिक्षा अरोचक हो जाती है। फिर यह सब बखेडा उन सब बातों के सिखलाने के लिए किया जाता है जो अभ्यास करते करते आप ही आप बच्चे सीख जाते हैं और उन्हें मालूम भी नही पडता कि वे उन्हें सीख रहे हैं। अपने आस पास के आदमियो का बोलना सुन कर जैसे बच्चा साधारण बोल चाल के शब्दों का अर्थ सहज ही समझ लेता है, कोषों मे उनका अर्थ ढूँढने की उसे जरूरत नहीं पड़ती, वैसे ही अनेक प्रकार की चीजों, तसवीरों और ख़ुद अपने बनाये हुए चित्रों के विषय मे वार्तालाप सुन कर कितने ही वैज्ञानिक शब्दों को वह बिना किसी प्रकार का यत्न किये सीख लेगा, और ख़ुशी से सीख लेगा। यह नहीं कि उनका सीखना उसे नागवार मालूम हो। यही शब्द यदि उसे चित्रकला की शिक्षा के शुरू ही में रटाये जाते हैं तो वे बहुत गूढ़ मालूम होते हैं और उन्हें याद करने में बच्चे का जी भी नहीं लगता।

३४—चित्रकला सिखलाने के प्रारम्भिक नियम।

जैसी शिक्षा होनी चाहिए उसके विषय में साधारण नियम पहले ही

दिये जा चुके हैं। यदि उन नियमो के अनुसार शिक्षा देना मुनासिब हो तो बचपन मे जब बच्चे आप ही आप चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं तभी से उनको चित्र-विद्या सिखलाने का प्रारम्भ होना चाहिए, और यह शिक्षा बराबर जारी रखनी चाहिए। बचपन मे लड़के चित्र बनाने का जो आपही आप उद्योग करते हैं उसे उत्तेजना देनी चाहिए। बच्चो का यह उद्योग सर्वथा उत्साह देने के लायक़ है। इस तरह आपही आप चित्र खींचने का उद्योग करते करते जब उनका हाथ कुछ जम जायगा और आकार-शुद्धि का यथेष्ट ज्ञान हो जायगा तब मोटे तौर पर यह बात उनकी समझ में आ जायगी कि प्रकाश में मूर्त्तिमान् पदार्थों के तीन विस्तार या परिमाण दिखाई देते हैं। इसके बाद, चीनवालो की तरह, काग़ज़ पर चित्र बनाने के प्रयत्न कई दफ़े निष्फल होने पर, यह बात साधारण रीति पर उनकी समझ में साफ़ साफ़ आने लगेगी कि हमे किस तरह काम करना चाहिए—हमें किस तरह और कैसा चित्र बनाना चाहिए। इसके साथ ही साथ यथानियम चित्र बनाना सीखने की इच्छा भी उनके मन में जागृत हो उठेगी। उस समय उन यंत्रों की सहायता से उन्हे चित्रकला-सम्बन्धी प्रारम्भिक शिक्षा शुरू करनी चाहिए जिनका काम, पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर वैज्ञानिक रीति से चित्र बनाना सिखलाने मे, कभी कभी पड़ता है। यह सुन कर बहुत लोगों को आश्चर्य होगा, पर तजरिबे से मालूम हो जायगा कि यह रीति साधारण बुद्धि के किसी भी लड़के या लड़की की समझ में आजाने लायक़ है। यही नहीं, किन्तु यह बात भी ध्यान में आजायगी कि इस रीति से चित्र-कला सीखने मे बच्चो का मन भी लगता है। काँच के एक चिपटे टुकड़े को चौखटे मे इस तरह लगाइए कि वह मेज़ पर लम्बी रेखा के रूप मे खड़ा हो सके। फिर उसे विद्यार्थी के सामने कीजिए और उसके दूसरी तरफ़ कोई पुस्तक या वैसीही और कोई साधारण चीज़ रखिए। तब विद्यार्थी से कहिए कि वह अपनी दृष्टि को स्थिर रख कर काँच पर ऐसी जगह स्याही से बिन्दु बनावे जिनसे या तो उस चीज के कोने छिप जायँ या वे बिन्दु उसके कोनों के ठीक आमने सामने हों। तब उससे कहिए कि लकीरे खींच कर वह उन बिन्दुओं को मिला दे। ऐसा करने से उसे मालूम

होगा कि उसकी खींची हुई लकीरों से या तो वह चीज़ बिलकुल ढक गई है या वे लकीरें ही उस चीज़ की आकृति-रेखा या ढाँचा हो गई हैं। इसके बाद उस काँच के दूसरी तरफ़ कागज़ रख कर उसे देखने को कहिए। इस तरह उसे समझा दीजिए कि जो लकीरें उसने खींची हैं उनसे वह चीज़ ठीक उसी तरह दिखलाई गई है जिस तरह कि उसने उसे देखा था। इससे यह बात भी उसके ध्यान में आ जायगी कि वे लकीरें ठीक उस चीज़ के आकार सी ही नहीं जान पड़ती, किन्तु उन्हें उस चीज़ के आकार का ज़रूर होना ही चाहिए, क्योंकि उसने उस चीज़ की आकृति या ढाँचे को देख कर ही उन लकीरों को खींचा है। इसके बाद काँच पर से कागज़ को हटा कर वह अपने इस विश्वास को और भी दृढ़ कर सकता है कि वे लकीरें सचमुच ही उस चीज़ की आकृति से पूरे तौर पर मिलती हैं या नहीं। विद्यार्थी को यह बात बिलकुल ही नई और आश्चर्यजनक मालूम होगी। इससे उसे इस बात का प्रत्यक्ष तजरिबा हो जायगा कि किसी समतल जगह पर विशेष विशेष दिशाओं की तरफ़ खींची गई विशेष विशेष प्रकार की (अर्थात् न्यूनाधिक लम्बाई की) लम्बी लकीरों से ऐसी लकीरें बनाई जा सकती हैं जिनकी लम्बाई और जिनकी दिशायें, दूरी के हिसाब से, जुदा जुदा हैं। धीरे धीरे उस चीज़ की स्थिति में अन्तर करते रहने से यह बात भी विद्यार्थी को बतलाई जा सकती है कि किस तरह कोई कोई लकीरें कम होते होते बिलकुल ही लुप्त हो जाती हैं और किस तरह दूसरी लकीरें दृष्टिगोचर होकर बढ़ती जाती हैं। समान्तराल रेखाओं का एक-केन्द्राभिसारित्व ही नहीं; किन्तु पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर उनका चित्र बनाने की जो विद्या है उसकी प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातें, इसी तरह, समय समय पर, प्रत्यक्ष तजरिबे से सिद्ध करके विद्यार्थी को बतलाई जा सकती हैं। यदि सब काम, बिना दूसरे की मदद के, अपने ही आप करने का स्वभाव विद्यार्थी का पड़ गया है तो सूचना देने ही से किसी चीज़ को सिर्फ़ आँख से देख कर उसका ढाँचा खींचने की वह खुशी से कोशिश करेगा। और सम्भव है कि थोड़े ही समय में बिना किसी की मदद के, स्वयं उसमें ही चित्र बनाने का उत्साह उसमें जागृत हो जाय जैसे चित्र का

ढाँचा उसने काँच पर पहले बनाया था। सारांश यह कि दूसरों के बनाये हुए चित्रों की, निर्जीव कलों की तरह, बेसमझे बूझे नक़ल करने की जगह इस सीधी सादी और मनोरञ्जक रीति से (जो गूढ़ न होकर बुद्धि को बढ़ानेवाली है) विद्यार्थी को चीज़ों की आकृतियां, अर्थात् ढाँचों, के दृश्यों का ज्ञान हो जाता है और उन्हें कागज़ पर दिखलाने की योग्यता भी, क्रम क्रम से, उसमें आ जाती है। इनके सिवा इस रीति से शिक्षा देने में और भी फ़ायदे हैं। एक फ़ायदा तो यह है कि इतनी छोटी उम्र में विद्यार्थी को चित्र का सच्चा ज्ञान थोड़ी ही मेहनत से हो जाता है और उसे मालूम भी नहीं पड़ता कि वह चित्र-कला का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। जब कोई पदार्थ एक ही धरातल मे आँख के सामने लाये जाते हैं तब वे जैसे मालूम पड़ते हैं उस दशा के ढाँचे या ख़ाके का नाम चित्र है। इस बात को, पूर्वोक्त रीति से, विद्यार्थी बहुत अच्छी तरह सीख जाता है। और उसे जान नहीं पड़ता कि इसके सीखने मे उसने कुछ भी परिश्रम किया है। दूसरा फ़ायदा यह है कि जब विद्यार्थी कुछ बड़ा होने पर वैज्ञानिक रीति से चित्र-कला सीखने के योग्य हो जाता है तब उसे पहले ही से तर्क-शास्त्र के आधार पर बने हुए चित्र-विद्या के मूल-तत्त्व, पूरे तौर पर, मालूम रहते हैं।

३५—ज्यामिति-शास्त्र की प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए वाइज़ साहब की बतलाई हुई रीति।

वाइज़ साहब ने एक पुस्तक लिखी है। उसमे उन्होंने यह बात बहुत ही अच्छी तरह से बतलाई है कि ज्यामिति-शास्त्र के मूल-सिद्धान्तों का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने की कौन सी रीति सबसे उत्तम है। इससे उस पुस्तक से नीचे का अवतरण दिये बिना हम नहीं रह सकते। वाइज साहब कहते हैं.—

"अङ्कगणित सीखते समय लड़कों को घन पदार्थों से काम लेने की आदत रहती ही है। ज्यामिति-शास्त्र, अर्थात् रेखागणित, के मूल-तत्त्व सीखने मे भी उनसे घन पदार्थों का उपयोग कराइए। मैं तो इस शास्त्र की प्रारम्भिक शिक्षा को घन पदार्थों से ही शुरू करना अच्छा समझता हूँ। यह

रीति सर्व-साधारण रीति की उलटी है । पर इससे कोई हानि नहीं, उलटा लाभ है । इस रीति के अनुसार शिक्षा देने से असङ्गत परिभाषायें याद कराने और कल्पित विन्दु, रेखा और धरातल आदि के बेहूदा लक्षण सिखलाने की सारी तकलीफ़ें बच जाती हैं । × × × × घन आकृतियों मे—घन पदार्थों मे—रेखागणित के मुख्य मुख्य अनेक मूल सिद्धान्त पाये जाते हैं । उनमें विन्दु, सरल रेखायें, समान्तराल रेखाये, कोण, समचतुर्भुज आदि सब चीज़ें एक ही साथ साफ़ साफ़ देख पड़ती हैं । इन घन पदार्थों के बहुत से टुकड़े करके भी दिखलाये जा सकते हैं । अङ्क-गणित सीखने मे लड़कों को इन टुकड़ो से पहले ही से पहचान हो चुकी होती है । इससे रेखागणित सीखने मे वे उनके जुदा जुदा भागों की तुलना करके उनमें से प्रत्येक के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । × × इसके बाद वे गोलों की तरफ़ ध्यान देते हैं जिससे उन्हे वृत्तों और साधारण रीति पर वक्र रेखाओं आदि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रारम्भ की बातों की थोड़ी बहुत कल्पना हो जाती है" ।

"इस प्रकार घन पदार्थों का मतलब भर के लिए ज्ञान हो चुकने पर वे समतल या धरातल-सम्बन्धिनी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं । यह बात सहज में हो सकती है । इस परिवर्तन मे—इस तब्दीली में—कोई कठिनता नहीं । हम इसका एक उदाहरण देते हैं । घन पदार्थों के पतले पतले टुकड़े काटिए । उनको एक कागज़ पर रख दीजिए । ऐसा करने से जितने टुकड़े किये गये होंगे उतनी ही समकोण आकृतियाँ लड़कों को देख पड़ेंगी । इसी तरह गोले इत्यादि और आकृतियों की भी व्यवस्था की जा सकती है । इस प्रकार लड़कों को मालूम हो जायगा कि सम-धरातलों की उत्पत्ति कैसे होती है और प्रत्येक घन पदार्थ से धरातल बनाना भी उन्हे सहज ही में आ जायगा" ।

"इतना ज्ञान प्राप्त कर लेने पर समझना चाहिए कि लड़कों को रेखा-गणित की वर्णमाला आ गई और उसे वे बाँच लेना भी सीख गये । इसके अनन्तर उन्हें इस वर्णमाला का लिखना सीखना चाहिए" ।

"सबसे सीधा, अतएव सबसे पहला, काम अब यह है कि समतलों को एक कागज़ पर रख कर उनके चारों तरफ़ पेन्सिल फेर दी जाय । इस

तरह जब बहुत दफ़े पेन्सिल फेरी जा चुके तब समतल उठा कर कुछ दूर पर रख दिये जायँ और उन्हें देख कर उनकी नक़ल करने के लिए लड़कों से कहा जाय। यह अभ्यास इसी तरह कुछ दिन तक जारी रक्खा जाय"।

३६—वाइज़ साहब की रीति से चित्र-कला सिखलाने की सिफ़ारिश और उससे होनेवाले फ़ायदे।

जिस रीति से शिक्षा देने की सिफ़ारिश वाइज़ साहब ने की है उसी तरह की किसी रीति से ज्यामिति-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान हो चुकने पर उसके आगे विद्यार्थी से इस बात की जाँच का अभ्यास आँख से देख कर कराया जाय कि जो चित्र, आकृतियाँ या शकलें उसने खींची हैं वे ठीक हैं या नहीं। अर्थात् निगाह से देख कर शकलों के ठीक होने या न होने की परीक्षा उससे कराई जाय। ऐसा करने से विद्यार्थी के मन में इस रीति से ठीक ठीक चित्र बनाना सीखने की इच्छा ज़रूर उत्पन्न हो जायगी और चित्र बनाने में जो जो कठिनाइयाँ पड़ती हैं वे भी अच्छी तरह उसके ध्यान में आ जायँगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कारीगर इत्यादिकों ने घरों की नीव और अहातों के क्षेत्रफल आदि की ठीक ठीक माप करने के लिए जो तरीक़े निकाले थे उन्हीं से ज्यामिति-शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। इस शास्त्र के नाम से भी यही बात झलकती है। उसका अर्थ ही (जी = पृथ्वी और मीटरो = माप) ऐसा है। और इस शास्त्र के सिद्धान्त सिर्फ़ इसलिए इकट्ठा किये गये थे कि उनका तत्काल उपयोग हो सके। अतएव इस विषय के जो सिद्धान्त विद्यार्थियों को सिखलाये जायँ वे उसी तरह की बातों का सम्बन्ध बतला कर सिखलाये जाने चाहिए। घर बनाने के लिए मोटे काग़ज़ के टुकड़े काटने में, रङ्ग भरने के लिए तरह तरह की मनोहर शकलें खींचने मे, और इसी तरह के और भी ऐसे अनेक उपयोगी कामों में, जिन्हें कल्पना-प्रवीण अध्यापक अपनी बुद्धि से निकाले, यदि विद्यार्थी का थोड़ा सा समय ख़र्च किया जाय तो उससे बहुत फ़ायदा हो। जिस तरह मकान बनाना सीखनेवाले कारीगरों को कुछ समय तक पहले आजमायशी काम करने पड़ते हैं उसी तरह आजमायश के तौर पर

पहले पहल विद्यार्थियों से भी काम लेना चाहिए। इस तरकीब से विद्यार्थियों को इस बात का तजरिबा हो जायगा कि सिर्फ़ अपनी इन्द्रियों की मदद से कामयाबी होना कठिन है। अर्थात् बिना और किसी प्रकार की मदद के सिर्फ़ अपनी ज्ञानेन्द्रियों के भरोसे काम करने में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनको वे तजरिबे से अच्छी तरह जान लेंगे। इस बीच में इन्द्रियों से काम लेने की महत्त्व-पूर्ण शिक्षा मिल चुकने पर जब विद्यार्थियों की उम्र कम्पास (परकार) से काम लेने लायक़ हो जाय तब उन्हें कम्पास दिया जाय। उससे विद्यार्थी यह जान सकेंगे कि आँख से देख कर उन्होंने जो अन्दाज किये थे—जो अनुमान बाँधे थे—वे कहाँ तक ठीक हैं। कम्पास का वे उचित आदर करेंगे, परन्तु उससे उन्हें सिर्फ़ इतना ही ज्ञान हो सकेगा कि उनके किये हुए अनुमान लगभग ठीक हैं। तब भी उन्हें इस बात की कठिनाई का सामना करना पड़ेगा कि किस तरकीब से वे अपने अनुमानों को बिलकुल निर्दोष करें—किस तरह वे काम करें जिसमें उनकी अन्दाज की हुई बातों में कुछ भी अन्तर न पड़े। इस सन्देहपूर्ण अवस्था में उनको कुछ और अधिक समय तक रखना चाहिए। इसका कारण एक तो यह है कि इस समय उनकी उम्र इतनी कम होती है कि वे आगे की अधिक महत्त्व-पूर्ण बातें समझ नहीं सकते। दूसरा कारण यह है कि उनके ध्यान में यह बात और भी अच्छी तरह आ जानी चाहिए कि सुव्यवस्थित रीति से काम करने के लिए कुछ और भी उचित साधनों की जरूरत है। यदि ज्ञान प्राप्ति के मार्ग को दिन पर दिन मनोरञ्जक और सुखदायक बनाना इष्ट हो और, यदि, मनुष्य-जाति की प्रारम्भिक ज्ञानोन्नति की तरह, बच्चों को बाल्यावस्था में विज्ञान की शिक्षा सिर्फ़ यह समझ कर दी जाती हो कि उनकी मदद से कला-कौशल की उन्नति होती है तो यह स्पष्ट है कि ज्यामिति शास्त्र सीखना शुरू करने के पहले बहुत दिन तक उन कामों का अभ्यास करना चाहिए जिनके करने में इस शास्त्र का उपयोग और उसका उद्देश्य सूझता होता है। इसलिए यहाँ भी हमारी मार्ग-दर्शक प्रकृति ही है। [illegible] [illegible] कर उनमें अनेक तरह की चीज़ें बनाने का स्वभाव लड़कों का लड़कपन ही से होता है। यह स्वभाव, ऐसा वैसा नहीं, बहुत प्रबल होता है।

यदि उनके इस स्वभाव को उत्तेजना दी जाय, और यदि उन्हें यह बतला दिया जाय कि इन कामों को किस तरह करना चाहिए, तो इससे वैज्ञानिक बातों के जानने का सिर्फ़ मार्ग ही न साफ़ हो जायगा, किन्तु हाथ से काम करने के उन गुणों की भी उन्नति होगी जो बहुत आदमियो मे प्रायः बिलकुल ही नहीं पाये जाते।

३१—ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा देने की रीति।

जब विद्यार्थियों मे कल्पना और देख-भाल की शक्ति यथेष्ट जागृत हो जाय तब उन्हे प्रयोगात्मक ज्यामिति-शास्त्र सिखलाया जा सकता है। उस समय इस शास्त्र के प्रश्नो को शास्त्रीय रीति से न सिद्ध कराना चाहिए—असली सबूत देकर प्रश्नों को हल कराने की शिक्षा न देना चाहिए—किन्तु सिर्फ़ विशेष विशेष प्रयोग करा कर विद्यार्थियो से प्रश्नो का उत्तर दिखवाना चाहिए। जिस तरह और सब शिक्षा-प्रणालियों मे फेरफार किये जाते हैं वैसे ही इसमें भी करने चाहिए। पर इस तरह के फेरफार या परिवर्त्तन निश्चयपूर्वक पहले ही से करना मुनासिब नहीं, उन्हें यों ही सहज स्वभाव आकस्मिक रीति से होने देना चाहिए। अर्थात् किसी नई बात के सम्बन्ध में शास्त्र के अनुसार नियम नियत करके उस बात को सिखलाने की अपेक्षा, मौक़ा आने पर यों ही उसे थोड़ी थोड़ी सिखलाना अच्छा होता है। ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा यहाँ तक पा चुकने पर भी विद्यार्थियो के हाथ से शकलें बनवाना बन्द न करना चाहिए। प्रयोगपूर्वक ज्यामिति की शिक्षा, विद्यार्थियों से काम कराकर—उनके हाथ की कारीगरी का सम्बन्ध दिखलाकर—देनी चाहिए। विद्यार्थियों को काग़ज़ का एक पुट्ठा और एक घन समभुजत्रिकोणाकृति देकर उस पुट्ठे को काट कर वैसी ही एक आकृति बनवाना उनके लिए एक विशेष मनोरञ्जक काम होगा। अतएव इस तरह की आकृतियाँ बनवा कर ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा शुरू करना बहुत अच्छा है। पूर्वोक्त समभुजत्रिकोणाकृति बनाने में विद्यार्थियों को यह बात सहज ही में मालूम हो जायगी कि विशेष विशेष दिशाओं में क्रमपूर्वक रख कर जुदा जुदा चार समभुजत्रिकोण बनाने की ज़रूरत है। इस काम को यथानियम

ठीक तौर पर करने की रीति न मालूम होने के कारण त्रिकोणों के अपने अपने स्थान पर रक्खे जाने पर विद्यार्थियों को झट मालूम हो जायगा कि उनकी भुजायें परस्पर ठीक नहीं बैठतीं और उनके कोने भी ऊपर की तरफ़ ठीक ठीक नहीं मिलते। इस समय दो वृत्त या घेरे खींच कर उनमे प्रत्येक से एक एक त्रिभुज बनाने की पूर्ण शुद्ध रीति उन्हे समझाई जानी चाहिए। ऐसा करने से अन्दाज़ लगाने या अनुमान करने की ज़रूरत न पड़ेगी, ठीक ठीक त्रिभुज बन जायँगे। तब विद्यार्थियों के ध्यान में यह बात आ जायगी कि हमे पहले शुद्ध रीति से त्रिभुज बनाना न आता था। अतएव उसके बनाने की इस यथानियम रीति को वे बड़े महत्त्व की समझ कर उसकी क़दर करेंगे। इस तरह उदाहरण द्वारा ज्यामिति-शास्त्र की रीति समझा देने के इरादे से सिर्फ़ पहले प्रश्न को हल करने में विद्यार्थियों की मदद करनी चाहिए। आगे के प्रश्न जिस तरह उनसे बनें उस तरह हल करने के लिए उन्हे छोड़ देना चाहिए। फिर मदद की ज़रूरत नहीं। सरल रेखा के दो भाग करना, लम्ब डालना, समचतुर्भुज बनाना, कोण काटना, एक दी हुई रेखा को देख कर समान्तराल रेखायें खींचना, और षट्कोण बनाना आदि ऐसे प्रश्न हैं जो थोड़ी ही मेहनत से वे हल कर सकेंगे। इसके बाद उन्हे धीरे धीरे विशेष कठिन प्रश्न हल करने के लिए देने चाहिए। और यदि उनको किसी अच्छे प्रबन्ध-कर्त्ता या पथ-दर्शक से काम पड़ा तो वे इस तरह के सारे प्रश्न, बिना किसी की मदद के थोड़ी देर में सोच समझ कर, आप ही आप हल कर लेंगे। जिन्होंने पुरानी पद्धति के अनुसार शिक्षा पाई है उनमें से कितने ही मनुष्यों को हमारी बात सच न मालूम होगी। उन्हे हमारा कथन सुन कर ज़रूर सन्देह होगा। परन्तु हमारा कहना बिलकुल सच है। हम अपनी बात के प्रमाण में उदाहरण दे सकते हैं। वे उदाहरण भी थोड़े नहीं, बहुत हैं। और यह भी नहीं कि वे किसी विशेष स्थिति से ही सम्बन्ध रखते हों। वे सर्व-साधारण हैं। इससे लड़कों के एक क्लास को उस तरह के प्रश्नों के हल करने में मग्न होते और इससे भी ज़्यादा ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा पाने के दिन के आने की प्रतीक्षा में उत्कण्ठित होते देखा है। इससे भी बढ़ कर वे इसी दिन की शिक्षा को सबसे अधिक

मनोरञ्जक समझते थे और ज्यामिति के प्रश्नों के सुलझाने मे दिलोजान से ग़र्क हो जाते थे । अभी पिछले ही महीने हमने लड़कियों के एक ऐसे मदरसे का हाल पढ़ा है जिसकी कुछ लड़कियाँ मदरसे की शिक्षा के बाद, घर आने पर, अपनी ख़ुशी से ज्यामिति-शास्त्र के प्रश्न हल करने में लगी रहती हैं । एक और मदरसे के विषय मे हमने सुना है कि वहाँ की लड़कियाँ इतने ही से सन्तोष नहीं करतीं, किन्तु उनमें से एक लड़की छुट्टी के दिनो मे भी हल करने के लिए इस तरह के प्रश्न प्रार्थना-पूर्वक माँगा करती है । ये दोनों बातें हमने इन लड़कियों के अध्यापको के मुँह से सुनी हैं। इस बात के ये बहुत ही मज़बूत प्रमाण हैं कि अपनी उन्नति आपही करना सम्भव है—अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करना सम्भव है—और उससे लाभ भी बेहद है । विद्या की यह शाखा, अर्थात् ज्यामिति, साधारण प्रचलित रीति से सिखलाने मे शुष्क नहीं, त्रासदायक भी मालूम होती है । पर वही, यदि सृष्टिक्रम के अनुसार सिखलाई जाय तो, अत्यन्त मनोरञ्जक और अत्यन्त लाभदायक हो जाती है । सृष्टिक्रम के अनुकूल इस शाखा की शिक्षा को हम "अत्यन्त लाभदायक" इसलिए कहते हैं कि इससे ज्यामिति-शास्त्र का जो ज्ञान होता है सो तो होता ही है, परन्तु इसके कारण कभी कभी मन की अवस्था ही बिलकुल बदल जाती है—मानसिक वृत्तियों मे बहुत बड़े बडे परिवर्त्तन हो जाते हैं । अनेक बार देखा गया है कि जो विद्यार्थी मदरसे की परम्परा-प्रचलित क़वायद के कारण, उसके गूढ और पेचीदा नियमों के कारण, रटने इत्यादि की तरह की थकान पैदा करनेवाली उसकी पद्धति के कारण और बहुत से विषयों को एक ही साथ दिमाग़ मे ठूँसने के कारण अत्यन्त मन्दबुद्धि हो गये थे वही, जब उन्हे निर्जीव कल की तरह चुपचाप बिठला कर पाठ सुनाना बन्द कर दिया गया और ख़ुद सोच समझ कर हर एक बात की परीक्षा और शोध करने की उनकी आदत डाली गई, सहसा तीव्र-बुद्धि हो गये । उत्साहहीनता बुरी शिक्षा से पैदा होती है । थोडी सी हमदर्दी—थोड़ी सी सहानुभूति—से ही वह कम हो जाती है और शिक्षा मे सफलता प्राप्त करने के लिए उत्साह-पूर्वक निरन्तर चेष्टा करने की आदत हो जाती है । अर्थात

जहाँ विद्यार्थियों को एक वार यह बात मालूम हो जाती है कि किस तरह वुद्धि काम करती है तहाँ उनकी मनोवृत्ति एक-दम ही वदल जाती है और वे बड़े उत्साह से उद्योग करने लगते हैं। तब वे समझ जाते हैं कि हम बिलकुल ही अयोग्य नहीं—हम बिलकुल ही नालायक़ नहीं—हम भी कुछ कर सकते हैं। इस तरह, धीरे धीरे, जैसे जैसे उन्हे कामयाबी के बाद कामयाबी होती जाती है तैसे तैसे उनकी निराशा का नाश होता जाता है और वे दूसरे विषयों की कठिनाइयों पर इस बहादुरी से टूट पड़ते हैं कि उनमें भी उन्हे ज़रूर कामयाबी होती है।

३८—ज्यामिति-शास्त्र की शिक्षा को मनोरञ्जक और सुख-पाठ्य बनाने के विषय में अध्यापक टिंडल की राय।

हमारे इस पूर्वोक्त लेख के पहले पहल प्रकाशित होने के कुछ हफ्ते बाद प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापक टिंडल ने "रायल इन्स्टिट्यूशन" नामक सभा में एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था—"विद्या की एक शाखा समझ कर पदार्थ-विज्ञान शास्त्र के अभ्यास का महत्त्व"। उसमें उन्होंने इसी बात के पुष्टीकरण में कुछ प्रमाण दिये। इस विषय में जो कुछ उन्होंने कहा है अपने निज के अनुभव से कहा है। अतएव उनका कथन इतने महत्त्व का है कि हम उसका अवतरण, यहाँ पर, दिये बिना नहीं रह सकते। वे कहते हैं:—

"जिस समय का मैंने जिक्र किया उस समय जो काम मेरे सिपुर्द थे उनमें से एक काम मेरा यह भी था कि उनको मुझे गणित सिखलाना पड़ता था। उनको शिक्षा देने में मैंने प्राय हमेशा यह देखा कि जब युक्लिड और प्राचीन ज्यामिति की शिक्षा लड़कों को खूब समझा कर दी जाती थी तब उसमें लड़कों का मन बहुत लगता था। इन विषयों की बातें लड़कों को बुद्धि के सहारे सीखने या प्रश्नों का उत्तर करने में मदद देने को वे बहुत पसन्द करते थे। इस तरह उनके काम करने में उनका खूब मनोरञ्जन होता था। मेरी आदत थी कि मैं लड़कों को किताबें सिखा न

देकर जो बाते उस शिक्षा से सम्बन्ध न रखती थीं उन्हें हल करने के लिए उनसे यह कहता था कि तुम अपनी बुद्धि से काम लो—खुद ही सोच समझ कर उनका उत्तर दो। पुरानी राह छोड़ कर नई पर आने के कारण पहले तो लड़कों को अकसर कुछ बुरा लगता था, उन्हे ऐसा मालूम होता था जैसा कि एक बच्चे को अपरिचित आदमियों के बीच मे छोड़ देने से मालूम होता है परन्तु मैंने एक भी ऐसा उदाहरण नहीं देखा जिसमें यह बात हमेशा एक सी बनी रही हो। विद्यार्थियों को इस नई राह पर लाने से उन्हे जो अप्रसन्नता होती है वह बहुत दिन तक नहीं रहती; शीघ्र ही जाती रहती है। जब कोई विद्यार्थी बिलकुल ही निराश हो जाता था तब मैं उसे न्यूटन की याद दिला कर उत्साहित करता था। न्यूटन कहा करता था कि मुझमे और दूसरे आदमियों में जो अन्तर देख पड़ता है उसका कारण मेरा दीर्घ उद्योग और विशेष धैर्य्य है। इन्हीं गुणों के कारण यह मालूम होता है कि और लोगों से मुझमे विशेषता है। यही बात मैं निराश हुए विद्यार्थी से कहता था। अथवा मैं उससे फ्रांस के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी मिराबो की कथा कहता था। एक दफ़े इस तत्त्ववेत्ता के नौकर ने कहीं यह कह दिया कि अमुक बात असम्भव है। इस पर उसने नौकर को बहुत फटकारा और हुक्म दिया कि इस वाहियात शब्द (असम्भव) को फिर कभी मुँह से न निकालना। इसी की याद दिला कर मैं विद्यार्थी को धीरज देता था। इस तरह ढाढ़स बँधाने से, ख़ुश होकर, मुसकराते हुए, वह फिर अपना काम करने लगता था। उसके मन मे कामयाबी होने का सन्देह शायद इतने पर भी बना रहता होगा, पर उसकी मुखचर्य्या से यह बात साफ़ मालूम होती थी कि फिर प्रयत्न करने का उसने दृढ़ सकल्प कर लिया है। कुछ देर मे मैंने इसी विद्यार्थी की आँख को चमकते हुए देखा और आनन्दातिरेक से यह भी कहते हुए सुना कि—"मास्टर साहब, मैं समझ गया"। इस समय उसे जो खुशी हुई वह बिलकुल उसी तरह की खुशी थी जिसके कारण अरशीमीडस* आत्म-विस्मृत होकर चिल्ला उठा था कि

---

* ईसा के कोई २०० वर्ष पहले ग्रीस में अरशीमीडस नाम का एक गणित-शास्त्री हो गया है। सिराक्यूज के बादशाह हीरो ने सोने का एक ताज मोल लिया था और चाहता

"मुझे वह तरकीब मालूम हो गई"। हाँ, भेद इतना ही था कि अरशीमीडस की ख़ुशी का विस्तार कुछ अधिक था। इस प्रकार लड़कों को यह ज्ञान हो जाने से कि हम भी कुछ बुद्धि रखते हैं—हममें भी कुछ शक्ति है—बहुत लाभ हुआ। इस बात के मालूम हो जाने से लड़कों का उत्साह इतना बढ़ गया कि थोड़े ही दिनों में उस क्लास की आश्चर्यजनक उन्नति हो गई। मेरा अकसर यह नियम था कि मैं क्लास के लड़कों को अधिकार दे देता था कि चाहे तो वे किताब में दी हुई शकलें हल करें और चाहे उन शकलों के हल करने में अपनी बुद्धि की परीक्षा करें जो किताब में नहीं दी हुई हैं। परन्तु मुझे एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मालूम जिसमें लड़कों ने किताबी शकलें पसन्द की हों। जब मैं समझता था कि लड़कों को मदद दरकार है तब हमेशा मदद देने को तैयार रहता था। पर मदद देने की बात सुनते ही लड़कों को यह कहने की आदत सी पड़ गई थी कि "नहीं, नहीं, हमें मदद दरकार नहीं"। वे मदद लेने से हमेशा इनकार कर देते थे। अपनी निज की बुद्धि के बल पर प्रश्नों के हल करने से प्राप्त हुई जीत के मिठास की उन्हें चाट लग गई थी। इससे वे हमेशा यही चाहते थे कि और भी विजयों का यश उन्हें लूटने को मिले। मैंने उन शकलों को—उन आकृतियों को—ख़ुद देखा है जिनको उन्होंने दीवारों पर खुरच कर या खेल की जगह गड़ी हुई लकड़ियों पर खोद कर बनाया है। मैंने और भी ऐसे ही स्वतन्त्र उदाहरण इस बात के सूचक देखे हैं कि उनको इस विषय का कितना चसका है। और वे इसमें कितना मनोयोग देते हैं। यदि आप मेरी बात पूछें तो मैं बिलकुल ही नवसिखिया था। शिक्षा के काम में मुझे कुछ भी तजरिबा न था। मेरी दशा उस चिड़िया की ऐसी थी जिसके पर और बाल

[illegible]

अभी निकले हों। जर्मनीवाले जिसे बालकाध्यापन कहते हैं उसके नियमों का मुझे कुछ भी ज्ञान न था। परन्तु इस लेख के आरम्भ में जिन तत्वों का ज़िक्र मैंने किया है उनको मैंने मज़बूती से पकड़ रक्खा था—उनके आशय को मैंने कभी अपने हृदय से दूर नहीं होने दिया। ज्यामिति, साधारण शिक्षा का एक साधन-मात्र है। शिक्षा का वह कोई स्वतन्त्र विषय नहीं। इस बात को ख़ूब समझ कर मैंने अपना शिक्षा-क्रम जारी रक्खा। इस काम में मुझे यश मिला—मैं ख़ूब कामयाब हुआ। और मेरे जीवन के सबसे अधिक आनन्ददायक घंटों मे कुछ घण्टे इस बात के देखने मे ख़र्च हुए कि पूर्वोक्त रीति से शिक्षा देने से बच्चो की मानसिक शक्तियाँ ख़ूब उत्साहित होकर विस्तार के साथ आनन्दपूर्वक वृद्धि पाती हैं"।

३८—ज्यामिति-शास्त्र की प्रयोगात्मक शिक्षा को बहुत वर्षों तक जारी रखना चाहिए और क्रम क्रम से कठिन आकृतियों का बनाना सिखलाना चाहिए।

ज्यामिति-शास्त्र की इस प्रयोगात्मक शिक्षा में प्रश्नों का इतना समूह भरा रहता है जिसकी सीमा नहीं है। और और विषयों के साथ इसकी शिक्षा वर्षों तक होनी चाहिए। शुरू शुरू मे शकले बनवा कर जैसे इस शास्त्र की शिक्षा दी जाती है वैसे ही यदि आगे भी किया जाय—यदि वही क्रम हमेशा जारी रक्खा जाय—तो बहुत अच्छा हो। जब घन, अष्ट-फलक और सूची तथा प्रिस्म (छेदित-घन-क्षेत्र) के भिन्न भिन्न अनेक आकारों का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय तब द्वादश-फलक और विंशति-फलक आदि अधिक कठिन आकृतियों की शिक्षा देनी चाहिए। ये आकृतियाँ ऐसी हैं कि मोटे काग़ज़ के एक ही टुकड़े को काट कर इनके बनाने के लिए विशेष हस्त-कौशल दरकार होता है। इन आकृतियों का बनाना आजाने के बाद स्वाभाविक तौर पर विद्यार्थियों को नाना प्रकार की ऐसी परिवर्तित आकृतियाँ सिखलानी चाहिए जो बिल्लौर मे देखी जाती हैं। उदाहरण के लिए

पहले एक ऐसी घन आकृति लेनी चाहिए जिसके कोने छाँट दिये गये हों। फिर एक ऐसी लेनी चाहिए जिसके किनारे के भी कोने छाँट दिये गये हों और घनीभूत कोने भी छाँट दिये गये हों। इसके बाद अष्ट-फलक और अनेक प्रकार के प्रिस्म, पूर्ववत् कोने इत्यादि छाँट कर, लेने चाहिए और उनका बनाना सिखलाना चाहिए। बनाने के समय धातुओं और नमकों (क्षारों) के जो अनेक आकार होते हैं उनकी नक़ल करने में—उन्हीं के सदृश कागज़ के टुकड़े काटने में—खनिज-विद्या की मुख्य मुख्य बातों का ज्ञान सहज ही में हो जाता है।

४०–ज्यामिति की प्रयोगात्मक शिक्षा के बाद शास्त्रीय शिक्षा होनी चाहिए।

इस तरह के अभ्यास में बहुत सा समय ख़र्च करने पर शास्त्रीय रीति से ज्यामिति सिखलाने में कोई कठिनता न पड़ेगी। यह एक ऐसी बात है कि इसके बतलाने की कोई जरूरत नहीं। इस बात को कौन न स्वीकार करेगा कि बच्चों का अभ्यास यहाँ तक हो चुकने पर सहज ही में वे वैज्ञानिक रीति से ज्यामिति-शास्त्र सीख सकेंगे? विद्यार्थियों को आकृति और परिमाण के सम्बन्ध में विचार करने की आदत होती है और अमुक अमुक प्रकार की कृति से अमुक अमुक परिणाम होता है, इसकी भी थोड़ी बहुत कल्पना उन्हें पहले ही से रहती है। इस कारण शास्त्रीय रीति से ज्यामिति सीखने से उन्हें यह मालूम होता है कि जिन शकलों को उन्होंने हाथ से बनाना सीखा है, यूक्लिड के सिद्धान्त उन्हीं शकलों को सही साबित करने के ऐसे साधन हैं जिनका तब तक उन्हें पता नहीं था। उनकी बुद्धि संस्कृत होने के कारण—उनकी बुद्धि को उचित शिक्षा मिलने के कारण—उनकी सहायता से वे उन सब सिद्धान्तों को, क्रम क्रम से, एक के बाद एक, बराबर सीखते चले जाते हैं। यही नहीं, किन्तु, उन सिद्धान्तों का उपयोग भी उनकी समझ में आता जाता है—वे उनकी क़दर व क़ीमत भी समझते जाते हैं। कभी कभी उनके निज के तरीक़ों के सही साबित होने पर उन्हें खुशी भी होती है। जब वे यह देखते हैं कि उनके

पूर्व-शिक्षित नियम यूक्लिड के सिद्धान्तो से सही हैं तब वे ख़ुशी से फूले नहीं समाते। अतएव जो लड़के इन सिद्धान्तो को सीखने के लिए पहले से तैयार नहीं रहते उनको यही सिद्धान्त शुष्क और नीरस मालूम होते हैं। पर जो पहले से तैयार रहते हैं उन्हे इन्हीं को सीखने मे आनन्द आता है। अब हमे सिर्फ़ इतना ही कहना बाक़ी है कि इस प्रकार शिक्षा पाते पाते कुछ दिनों मे विद्यार्थी की बुद्धि उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योग करने के लायक़ हो जायगी जिसमें विचार-शक्ति की सञ्चालना की ज़रूरत होती है और जिसकी बदौलत नये नये सिद्धान्तों का पता लगता है। तब चेम्बर की बनाई हुई यूक्लिड की पुस्तकों के अन्त मे जो प्रश्न दिये हुए हैं उन्हें हल करने की योग्यता बहुत जल्द उसमें आ जायगी और उन्हें हल करने मे उसकी बुद्धि की ही वृद्धि न होगी, किन्तु उसके नैतिक विचार भी सुधर जायँगे।

४१—पूर्वोक्त बातें साधारण नियमों के अनुसार निश्चित की गई शिक्षा-प्रणाली के उदाहरण-मात्र हैं।

इस विषय की बातो पर और दूर तक विचार करने से शिक्षा-सम्बन्धी एक बहुत बड़ा ग्रन्थ हमे लिखना पड़ेगा। पर हम यह नहीं करना चाहते। हमें एक विस्तृत ग्रन्थ लिखना अभीष्ट नहीं। बचपन के आरम्भ मे देखना, सुनना और विचार करना इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के धर्म्मों को विकसित करने, प्रत्यक्ष पदार्थ दिखला कर उनके गुण-धर्म्म सिखलाने और चित्र-कला और ज्यामिति-शास्त्र का स्थूल ज्ञान उत्पन्न करने के लिए जो तरीक़े ऊपर बयान किये गये हैं वे पहले बतलाये गये साधारण नियमों के अनुसार निश्चित की गई शिक्षा-प्रणाली के ठीक ठीक ध्यान में आने के लिए उदाहरण-मात्र हैं। हमे विश्वास है कि जो कुछ ऊपर लिखा गया है उसका यदि परीक्षा-पूर्वक अच्छी तरह विचार किया जायगा तो यह मालूम हो जायगा कि उसमे सीधी सादी और अव्यक्त बातों के ज्ञान से आरम्भ करके कठिन और व्यक्त बातों का ज्ञान, धर्मी के ज्ञान से आरम्भ करके धर्म्म का ज्ञान, और अनुभवजन्य ज्ञान से आरम्भ करके शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा देने ही का क्रम

नहीं रक्खा गया, किन्तु यह भी दिखलाया गया है कि जिस रीति से मनुष्य-समुदाय मे शिक्षा का प्रचार होता जाता है उसी रीति से अलग अलग हर आदमी मे भी होना चाहिए, जहाँ तक हो सके इस तरह शिक्षा दी जाय जिसमे बच्चे आपही आप अपनी उन्नति कर सकें, और शिक्षा से घृणा न होकर उलटा आनन्द प्राप्त हो। हमारी बतलाई हुई तरकीबों से एक ही प्रकार की शिक्षा-प्रणाली रखने से ये सब शर्तें पूरी हो सकती हैं। अतएव यह इस बात का सबूत है कि हमारी निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति ठीक है और जिन बातों की उससे पूर्ति होती है वे भी ठीक हैं। इस समय शिक्षा-पद्धति मे जो सुधार हो रहे हैं उनके झुकाव का विचार करने से यह बात भी ध्यान मे आ जायगी कि जिस पद्धति के प्रचार की हम सिफ़ारिश करते हैं वह उस झुकाव के अनुसार ही है। इस समय शिक्षा के सम्बन्ध मे लोगों की जैसी प्रकृति हो रही है, हमारी बतलाई हुई पद्धति ठीक उसी के अनुकूल है। आज कल की शिक्षा-पद्धति मे जो संशोधन हो रहे हैं वे थोड़े ही अंश मे सृष्टि-क्रम के अनुसार हैं। पर हमारी पद्धति सृष्टि-क्रम के सर्वथा अनुकूल है—वह सृष्टि के क्रम की पूरी पूरी नकल है। सृष्टि के क्रम का हमारी शिक्षा-पद्धति दो तरह से अनुसरण करती है। एक तो सर्वांश में वह सृष्टि-क्रम के अनुकूल है। दूसरे, बुद्धि के विकास के समय जिन बातों के करने को बच्चों का मन चाहता है उन्हीं को करने के लिए, उनकी प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर, हमारी पद्धति उन्हे उत्तेजित करती है। जो बातें मन आपही आप करना चाहता है उन्हीं के करने मे वह सहायता देती है। इससे उन्हें करने में बच्चों को बहुत सुभीता होता है और प्रकृति को अभीष्ट उन्नति को मदद भी मिलती है। अतएव इन सब बातों का विचार करने पर यह कहने के लिए कि हमारी शिक्षा-प्रणाली सच्ची शिक्षा-प्रणाली से बहुत कुछ मेल खाती है, हम अपने सामने अनेक कारण उपस्थित पाते हैं।

४२—शिक्षा के उन दो महत्त्व-पूर्ण नियमों पर विचार जिनकी सबसे अधिक अवहेलना होती है।

जिन साधारण व्यापक नियमों का जिक्र ऊपर किया गया है उनमें से

दो नियम ऐसे हैं जो सबसे अधिक महत्त्व के हैं, पर जिनकी सबसे कम परवा की जाती है। अतएव उनके महत्त्व का ठीक ठीक अन्दाज़, और उनकी योग्यता को हृत्पटल पर ठीक ठीक अङ्कित, होने के लिए उनके विषय में कुछ अधिक कहने की ज़रूरत है। उनमे से पहला नियम यह है कि बचपन मे, बचपन और जवानी के बीच मे, और जवानी में भी शिक्षा की वही पद्धति जारी रखना चाहिए जिससे अपनी उन्नति आप ही होती जाय। अर्थात् ऐसी प्रणाली से काम लिया जाय जिसमे आप ही आप, बिना दूसरे की मदद के, शिक्षा मिलती जाय। उसी की जोड़ी का दूसरा नियम यह है कि विद्याभ्यास मे मनोवृत्ति हमेशा आनन्दित बनी रहे। विद्यार्थी से मानसिक काम लेने मे बराबर उसका मनोरञ्जन होता जाय। विराग या घृणा न पैदा होने पावे। यदि यह बात मान ली जाय कि मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार विद्यार्थी को सीधी सादी बातो से कठिन बातों का, अव्यक्त बातों से व्यक्त बातों का, और धर्मी से धर्म का ज्ञान करा देना ही आवश्यक क्रम है तो जिन दो बातों से इस विषय की जाँच की जा सकती है वे यही हैं कि (१) ज्ञान आपही आप उपार्जन करना चाहिए और (२) उसके उपार्जन मे चित्त-वृत्ति प्रफुल्लित रहनी चाहिए। यही दो ऐसे साधन हैं जिनसे यह बात जानी जा सकती है कि मनोविज्ञान के नियमानुसार शिक्षा हो रही है या नहीं। यदि पहले साधन मे उन व्यापक नियमों का समावेश होता है जिनके अनुसार मानसिक शक्तियों की वृद्धि होती है तो दूसरे में उन बातों का समावेश होता है जिनसे मानसिक शक्तियों की बढ़ानेवाली कला को मदद मिलती है। इसका कारण यह है, और वह बिलकुल प्रकट है, कि यदि हमारी शिक्षा-पद्धति का क्रम इस तरह रक्खा जाय कि उसके सब विषय, बिना किसी की मदद के, विद्यार्थी आपही आप, एक के बाद एक, क्रम क्रम से, सीख सके, तो वह क्रम ज़रूर ही उस क्रम के अनुसार होगा जिसके अनुसार मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। और इन विषयों को, एक के बाद एक, सीखना यदि विद्यार्थी के लिए ख़ूब मनोरञ्जक है—सच्चे आनन्द का देनेवाला है—तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस क्रम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए और किसी बात की ज़रूरत नहीं। जरूरत है सिर्फ़ अपनी

मानसिक शक्तियों को स्वाभाविक रीति से काम में लाने की। अर्थात् इस तरह मानसिक शक्तियों पर बिना किसी प्रकार का बोझ डाले ही विद्यार्थी सब बातें सीख सकता है।

४३—आपही आप बुद्धि को बढ़ानेवाली शिक्षा से और और लाभ।

शिक्षा का ऐसा क्रम रखने से कि बुद्धि का विकास आप ही आप होता जाय, इतना ही फ़ायदा नहीं होता कि जो विषय हमें सीखने पड़ते हैं उनको हम यथाक्रम सीखते हैं। उससे और भी कई फ़ायदे हैं। एक फ़ायदा तो यह है कि इस तरह के शिक्षा-क्रम से मन पर जो संस्कार होते हैं वे बहुत स्पष्ट होते हैं और हमेशा बने रहते हैं। यह बात शिक्षा के साधारण तरीके से कभी नहीं हो सकती। जो ज्ञान विद्यार्थी आप ही आप, अपने ही परिश्रम से, प्राप्त करता है—उदाहरण के लिए कोई ऐसा प्रश्न लीजिए जिसे उसने ख़ुद हल किया है—वह, अपने ही पराक्रम से विजयी होकर, प्राप्त किये जाने के कारण, उसकी निज की सम्पत्ति सी हो जाती है। अतएव जैसा वह इस तरह उसके हृदय पर वज्रलेप सा हो जाता है वैसा और किसी तरह नहीं हो सकता। बिना किसी की मदद के किसी बात में कामयाबी होने के लिए मन को परिश्रम देने और बुद्धि को एकाग्र करने की ज़रूरत पड़ती है। और जब विजय प्राप्त हो जाता है तब आनन्द भी ख़ूब होता है। परिश्रम, एकाग्रता और आनन्द मिल कर उस बात को विद्यार्थी के स्मृति-पटल पर इस मज़बूती से अङ्कित कर देते हैं कि अध्यापक से सुन कर या किसी पुस्तक में पढ़ कर इस तरह उस बात का अङ्कित होना कभी सम्भव नहीं। यदि उसे कामयाबी न हो, तो भी उस बात को समझने के लिए उसने जो कोशिश की होती है और उसकी मानसिक शक्तियों ने जो ज़ोर लगाया होता है उसके कारण, जब उसे वह बात बतला दी जाती है तब वह उसे इतनी अच्छी तरह याद हो जाती है जितनी कि दस दफ़े रटने से भी याद न होती। फिर इस बात को भी न भूलना चाहिए कि इस तरकीब से शिक्षा देने से जो ज्ञान विद्यार्थी प्राप्त करता है, वह उसे लगातार [illegible]

प्राप्त होता है । अर्थात् जो शिक्षा मिलती है वह सुव्यवस्थित मिलती है, अस्त-व्यस्त नहीं मिलती । इस यथाविधि शिक्षा से जो बातें विद्यार्थी सीखते हैं या जो अनुमान निकालते हैं वे बाते या वे अनुमान ऐसे होते हैं कि उन्हीं के आधार पर आगे सब बातें उन्हें क्रम क्रम से सीखनी पड़ती हैं और सब अनुमान निकालने पड़ते हैं । अर्थात् आगे जो प्रश्न विद्यार्थियों को हल करना पड़ते हैं उनको हल करने में वही बाते और वही अनुमान साधनी-भूत होते हैं । जिस प्रश्न को विद्यार्थी ने कल हल किया है उसका उपयोग उसे आज के प्रश्न हल करने में ज़रूर होता है—उससे उसे ज़रूर मदद मिलती है । अतएव जो ज्ञान इस तरह ख़ुद ही प्राप्त किया जाता है वह प्राप्त किये जाने के साथ ही मानसिक शक्तियों का एक भाग हो जाता है और सोच विचार के साधारण कामों मे मदद देता है—विचार करने के कामों मे उसका तत्काल उपयोग होता है । वह अन्तःकरण-रूपी पुस्तकालय के पृष्ठों पर यों ही लिखा हुआ नहीं पड़ा रहता, जैसा कि रट रट कर याद कर लेने से होता है । एक बात यह भी ध्यान में रखने लायक़ है कि हमेशा अपनी मदद आप करने से—परिश्रम-पूर्वक ख़ुद ही ज्ञान-सम्पादन करने से—नैतिक उन्नति भी होती है । कोई कठिनता पड़ने पर धैर्य्य धारण करना, मन को एकाग्र रखना और प्रयत्न निष्फल होने पर निराश न होना आदि ऐसे गुण हैं जिनका बहुत करके आगे काम पड़ता है ।

जिस तरह की शिक्षा-पद्धति की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके अनुसार मन से अपना खाद्य आप ही प्राप्त कराने से ये गुण स्वयं पैदा हो जाते हैं । हम ख़ुद ही इस बात की गवाही दे सकते हैं कि इस तरीक़े से शिक्षा देना असम्भव नहीं । हम अपने निज के अनुभव से कह सकते हैं कि हमारी बतलाई हुई तरकीब से शिक्षा देने मे ऐसी एक भी कठिनाई नहीं जो दूर न हो सकती हो । हमने अपने बचपन मे चित्र-कला-सम्बन्धी कितने ही पेचीदा प्रश्नों को इसी तरह हल किया है । अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध अध्यापकों ने जो कुछ लिख रक्खा है उससे साबित है कि उनकी भी राय हमारी राय से मिलती है । फेलेनबर्ग का कथन है कि—"बिना किसी की मदद के स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने ही आप किये गये विद्यार्थियों के उद्योग की क़ीमत, अपने

की अध्यापक कहलानेवाले कितने ही लोगों की बरबराहट और अनधिकार-चर्चा की अपेक्षा बहुत अधिक है"। अमेरिका का विद्वान् होरेस मान कहता है कि—"दुर्दैव से, आज कल, विद्यार्थियों को शिक्षा देने—शिक्षा के मार्ग पर ले जाने—की अपेक्षा उन्हे, अमुक, चीज़ अमुक है, यह बतला देना ही शिक्षा कहलाती है"। अर्थात् हमारी शिक्षा में सिखलाने का भाग कम रहता है, बतलाने ही का अधिक। और एम० मार्सेल की राय है कि—"जो बातें विद्यार्थी अपनी बुद्धि से सीखता है वे उसे बतलाई गई बातों की अपेक्षा अधिक याद रहती हैं"।

४४—शिक्षा-पद्धति को मनोरञ्जक और आनन्द-दायक बनाने से लाभ।

इस बात के जोड़ की जो दूसरी बात है उसकी भी यही दशा है। वह यह है कि शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि शिक्षा के समय चित्त-वृत्ति हमेशा आनन्दित रहे। शिक्षा से आगे लाभ होगा, यह समझ कर आनन्द न मिलना चाहिए। आगे होनेवाले फलों पर दृष्टि रख कर विद्यार्थी यदि शिक्षा-सम्पादन के श्रम को आनन्द-पूर्वक उठावे तो हम उसे यथार्थ आनन्द न कहेंगे। नहीं, शिक्षा की रीति ही ऐसी होनी चाहिए जिसके कारण विद्याभ्यास करते समय आप ही आप आनन्द मिले। इस शर्त को ध्यान में रख कर शिक्षा देने से मानसिक शक्तियों की जो बाढ़ होती रहती है उसमें बाधा नहीं आती। इसके सिवा, साथ ही, और भी कितने ही बड़े बड़े लाभ होते हैं। यदि हमारी यह इच्छा हो कि हम तपस्वियों का ऐसा कठोर आचरण (अथवा यों कहिए कि दुराचरण) करें तो बात दूसरी है। पर यदि यह अभीष्ट न हो तो बालपन की आनन्द-वृत्ति को युवावस्था में बनाये रखने के लिए यत्न करना कोई अनुचित बात नहीं। वह खुद ही एक ऐसा गुण है कि उसका आदर होना चाहिए। अकेले इसी की प्राप्ति के लिए यदि परिश्रम किया जाय तो भी मुनासिब है। हम इस विषय का विशेष विस्तार नहीं करना चाहते। हम सिर्फ इतना ही कह देना बस समझते हैं कि मन की उचाट और उदासीन अवस्था में बुद्धि-विषयक काम करने की

प्राप्त होता है। अर्थात् जो शिक्षा मिलती है वह सुव्यवस्थित मिलती है, अस्त-व्यस्त नहीं मिलती। इस यथाविधि शिक्षा से जा बातें विद्यार्थी सीखते हैं या जो अनुमान निकालते हैं वे बातें या वे अनुमान ऐसे होते हैं कि उन्हीं के आधार पर आगे सब बातें उन्हें क्रम क्रम से सीखनी पड़ती हैं और सब अनुमान निकालने पड़ते हैं। अर्थात् आगे जो प्रश्न विद्यार्थियों को हल करना पड़ते हैं उनको हल करने मे वही बातें और वही अनुमान साधनी-भूत होते हैं। जिस प्रश्न को विद्यार्थी ने कल हल किया है उसका उपयोग उसे आज के प्रश्न हल करने मे ज़रूर होता है—उससे उसे ज़रूर मदद मिलती है। अतएव जो ज्ञान इस तरह ख़ुद ही प्राप्त किया जाता है वह प्राप्त किये जाने के साथ ही मानसिक शक्तियों का एक भाग हो जाता है और सोच विचार के साधारण कामों मे मदद देता है—विचार करने के कामों मे उसका तत्काल उपयोग होता है। वह अन्तःकरण-रूपी पुस्तकालय के पृष्ठों पर यों ही लिखा हुआ नहीं पड़ा रहता, जैसा कि रट रट कर याद कर लेने से होता है। एक बात यह भी ध्यान में रखने लायक़ है कि हमेशा अपनी मदद आप करने से—परिश्रम-पूर्वक खुद ही ज्ञान-सम्पादन करने से—नैतिक उन्नति भी होती है। कोई कठिनता पड़ने पर धैर्य्य धारण करना, मन को एकाग्र रखना और प्रयत्न निष्फल होने पर निराश न होना आदि ऐसे गुण हैं जिनका बहुत करके आगे काम पड़ता है।

जिस तरह की शिक्षा-पद्धति की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके अनुसार मन से अपना खाद्य आप ही प्राप्त कराने से ये गुण स्वयं पैदा हो जाते हैं। हम खुद ही इस बात की गवाही दे सकते हैं कि इस तरीक़े से शिक्षा देना असम्भव नहीं। हम अपने निज के अनुभव से कह सकते हैं कि हमारी बतलाई हुई तरकीब से शिक्षा देने मे ऐसी एक भी कठिनाई नहीं जो दूर न हो सकती हो। हमने अपने बचपन में चित्र-कला-सम्बन्धी कितने ही पेचीदा प्रश्नों को इसी तरह हल किया है। अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध अध्यापकों ने जो कुछ लिख रक्खा है उससे साबित है कि उनकी भी राय हमारी राय से मिलती है। फेलेनबर्ग का कथन है कि—"बिना किसी की मदद के स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने ही आप किये गये विद्यार्थियों के उद्योग की क़ीमत, अपने

बड़ा असर पड़ता है। उसके कारण स्वभाव बदल जाता है। दो लड़कों की कल्पना कीजिए। मनोरञ्जक विषयों की शिक्षा से एक की चित्त-वृत्ति खूब आनन्दित हो रही है। पर दूसरा इसलिए दुखी है कि पढ़ने में उसका मन नहीं लगता। इससे वह नालायक़ ठहराया जाता है, उसे अध्यापक की घुड़कियाँ सहनी पड़ती हैं, उसे मार खानी पड़ती है, वह हमेशा बुरी नज़र से देखा जाता है। इन दोनों लड़कों के चेहरों और चाल-ढाल को देख कर कौन ऐसा है जिसे यह न मालूम हो जाय कि पहले लड़के का स्वभाव अच्छा होता जाता है और दूसरे का बिगड़ता जाता है? जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि कामयाबी और नाकामयाबी के कारण मन पर क्या असर पड़ता है, और शरीर पर मन का कितना अधिकार है, उसे मालूम होगा कि पहली हालत में स्वभाव और शरीर-प्रकृति दोनों पर बहुत अच्छा असर पड़ता है—दोनों में सुधार होता है—परन्तु दूसरी हालत में हमेशा के लिए उदासीनता और कायरता के आ जाने ही का नहीं, किन्तु, शरीर-प्रकृति अर्थात् स्वास्थ्य, को भी चिरस्थायी हानि पहुँचने का डर है। अभी एक और बात का ज़िक्र करना बाक़ी है। उसका सम्बन्ध यद्यपि अप्रत्यक्ष है, तथापि है वह महत्व की बात। वह यह है कि अध्यापक की शिक्षा से जितना आनन्द या त्रास होता है उतना ही, और सब बातें यथास्थित होने से, अध्यापक और विद्यार्थी का परस्पर सम्बन्ध मित्रतागर्भित और प्रभाव-पूर्ण, या दुःख-जनक और प्रभाव-रहित होता है। आनन्द मिलने से परस्पर प्रेम-भाव और दुःख मिलने से वैर-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। आनन्द और त्रास के परिमाण ही के अनुसार अध्यापक का विद्यार्थी पर कम या अधिक वज़न पड़ता है। जिन विचारों से मनुष्य का सम्बन्ध रहता है उन्हीं के वश में वह हो जाता है। मानवी धर्म्म ही ऐसा है। जिनसे तकलीफ़ पहुँचती है उनके विषय में मनुष्य के मन में कभी प्रेम-भाव नहीं रह सकता। बल्कि मन उनसे घृणा ज़रूर हो जाती है। और यदि उनसे बराबर तकलीफ़ ही तकलीफ़ मिलती गई, कभी कुछ भी आराम न मिला, तो उनके विषय में चिरस्थायी द्वेष-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इसके प्रतिकूल जो सुख-साधन में हमेशा मदद देता है, चित्तानन्द में मग्न होने की सामग्री हमेशा

अपेक्षा आनन्द-वृत्ति की अवस्था मे काम करना विशेष अच्छा है। इस बात को हर आदमी जानता है कि जो कुछ हम आनन्द से पढ़ते, सुनते या देखते हैं वह उसकी अपेक्षा अधिक याद रहता है जिसको हम मन की उद्विग्न या उदास अवस्था मे पढ़ते, सुनते या देखते हैं। पहली अवस्था में जिन मानसिक शक्तियों से काम लिया जाता है वे शिक्षणीय विषयों मे खूब ग़र्क़ हो जाती हैं; परन्तु दूसरी अवस्था मे वे ग़र्क़ नहीं होतीं—उन विषयों के ऊपर ही ऊपर होकर वे निकल जाती हैं—क्योंकि जो विषय उनकी अपेक्षा अधिक मनोरञ्जक और आनन्दकारक होते हैं उनकी तरफ़ वे लगातार खिँचती रहती हैं। अतएव पहली अवस्था मे जो संस्कार मन पर होते हैं वे चिरस्थायी होते हैं और दूसरी अवस्था मे अचिरस्थायी। इसके सिवा, आनन्द न मिलने के कारण, किसी विषय के अभ्यास मे विद्यार्थी का मन न लगने से, जो बुद्धि-मान्द्य या उदासीनता पैदा हो जाती है उससे एक और भी हानि होती है। अध्ययन अच्छी तरह न होने के जो बुरे परिणाम होते हैं उनका ख़याल करके विद्यार्थी भयभीत हो जाता है। इससे उसे बड़ी हानि पहुँचती है, क्योकि उसकी मानसिक शक्तियाँ प्रायः बिलकुल ही बेकार हो जाती हैं। उसका जी घबरा जाता है, पढने मे वह बिलकुल नहीं लगता। इसका फल यह होता है कि जिन विषयों को वह पसन्द नहीं करता उन्हीं को सीखने के लिए विवश किये जाने पर उसकी कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इससे यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि, और सब बातें अनुकूल होने पर, शिक्षा की योग्यता या अयोग्यता की मात्रा सुख-प्राप्ति की मात्रा पर अवलम्बित है। अर्थात् शिक्षा मे जितना ही अधिक आनन्द मिलेगा उतनी ही अधिक वह अच्छी होगी और जितना ही कम आनन्द मिलेगा उतनी ही वह कम अच्छी होगी। अच्छी या बुरी शिक्षा का होना, शिक्षा प्राप्त करने के काम के आनन्द या त्रासदायक होने पर अवलम्बित रहता है।

४३—सुखकर शिक्षा से नैतिक लाभ।

इस बात का भी विचार बहुत ज़रूरी है कि प्रति दिन पाठ याद करने से जो स्वाभाविक आनन्द या त्रास मिलता है उसका नैतिक बातों पर भी

बड़ा असर पड़ता है। उसके कारण स्वभाव बदल जाता है। दो लड़कों की कल्पना कीजिए। मनोरञ्जक विषयों की शिक्षा से एक की चित्त-वृत्ति खूब आनन्दित हो रही है। पर दूसरा इसलिए दुखी है कि पढ़ने में उसका मन नहीं लगता। इससे वह नालायक़ ठहराया जाता है, उसे अध्यापक की घुड़कियाँ सहनी पड़ती हैं, उसे मार खानी पड़ती है, वह हमेशा बुरी नजर से देखा जाता है। इन दोनों लड़कों के चेहरों और चाल-ढाल को देख कर कौन ऐसा है जिसे यह न मालूम हो जाय कि पहले लड़के का स्वभाव अच्छा होता जाता है और दूसरे का बिगड़ता जाता है? जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि कामयाबी और नाकामयाबी के कारण मन पर क्या असर पड़ता है, और शरीर पर मन का कितना अधिकार है, उसे मालूम होगा कि पहली हालत में स्वभाव और शरीर-प्रकृति दोनो पर बहुत अच्छा असर पड़ता है—दोनों में सुधार होता है—परन्तु दूसरी हालत में हमेशा के लिए उदासीनता और कायरता के आ जाने ही का नहीं, किन्तु, शरीर-प्रकृति अर्थात स्वास्थ्य, को भी चिरस्थायी हानि पहुँचने का डर है। अभी एक और बात का ज़िक्र करना बाकी है। उसका सम्बन्ध यद्यपि परप्रत्यक्ष है, तथापि है वह महत्त्व की बात। वह यह है कि अध्यापक की शिक्षा से जितना आनन्द या त्रास होता है उतना ही, और सब बातें यथास्थित होने से, अध्यापक और विद्यार्थी का परस्पर सम्बन्ध मित्रतागर्भित और प्रभाव-पूर्ण, या द्वेष-जनक और प्रभाव-रहित होता है। आनन्द मिलने से परस्पर प्रेम-भाव और दुःख मिलने से वैर-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। आनन्द और त्रास के परिमाण ही के अनुसार अध्यापक का विद्यार्थी पर कम या अधिक वज़न पड़ता है। जिन विचारों से मनुष्य का सम्बन्ध रहता है उन्हीं के रंग में वह हो जाता है। मानवी धर्म्म ही ऐसा है। जिनसे तकलीफ़ पहुँचती है उनके विषय में मनुष्य के मन में कभी प्रेम-भाव नहीं रह सकता। उलटा मन उनसे घृणा ज़रूर हो जाती है। और यदि उनसे बराबर तकलीफ़ ही तकलीफ़ मिलती गई, कभी कुछ भी आराम न मिला, तो उनके विषय में चिरस्थायी द्वेष-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इसके प्रतिकूल जो सुख-आराम में हमेशा मदद देता है, चित्तानन्द के नष्ट होने की सम्भावना हमेशा

अपेक्षा आनन्द-वृत्ति की अवस्था मे काम करना विशेष अच्छा है। इस बात को हर आदमी जानता है कि जो कुछ हम आनन्द से पढ़ते, सुनते या देखते हैं वह उसकी अपेक्षा अधिक याद रहता है जिसको हम मन की उद्विग्न या उदास अवस्था मे पढते, सुनते या देखते हैं। पहली अवस्था में जिन मानसिक शक्तियों से काम लिया जाता है वे शिक्षणीय विषयों मे ख़ूब ग़र्क़ हो जाती हैं; परन्तु दूसरी अवस्था में वे ग़र्क़ नही होतीं—उन विषयों के ऊपर ही ऊपर होकर वे निकल जाती हैं—क्योंकि जो विषय उनकी अपेक्षा अधिक मनोरञ्जक और आनन्दकारक होते हैं उनकी तरफ़ वे लगातार खिँचती रहती हैं। अतएव पहली अवस्था मे जो संस्कार मन पर होते हैं वे चिरस्थायी होते हैं और दूसरी अवस्था मे अचिरस्थायी। इसके सिवा, आनन्द न मिलने के कारण, किसी विषय के अभ्यास मे विद्यार्थी का मन न लगने से, जो बुद्धि-मान्द्य या उदासीनता पैदा हो जाती है उससे एक और भी हानि होती है। अध्ययन अच्छी तरह न होने के जो बुरे परिणाम होते हैं उनका ख़याल करके विद्यार्थी भयभीत हो जाता है। इससे उसे बड़ी हानि पहुँचती है, क्योंकि उसकी मानसिक शक्तियाँ प्रायः बिलकुल ही बेकार हो जाती हैं। उसका जी घबरा जाता है, पढ़ने मे वह बिलकुल नहीं लगता। इसका फल यह होता है कि जिन विषयों को वह पसन्द नहीं करता उन्हीं को सीखने के लिए विवश किये जाने पर उसकी कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इससे यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि, और सब बातें अनुकूल होने पर, शिक्षा की योग्यता या अयोग्यता की मात्रा सुख-प्राप्ति की मात्रा पर अवलम्बित है। अर्थात् शिक्षा मे जितना ही अधिक आनन्द मिलेगा उतनी ही अधिक वह अच्छी होगी और जितना ही कम आनन्द मिलेगा उतनी ही वह कम अच्छी होगी। अच्छी या बुरी शिक्षा का होना, शिक्षा प्राप्त करने के काम के आनन्द या त्रासदायक होने पर अवलम्बित रहता है।

४३—सुखकर शिक्षा से नैतिक लाभ।

इस बात का भी विचार बहुत ज़रूरी है कि प्रति दिन पाठ याद करने से जो स्वाभाविक आनन्द या त्रास मिलता है उसका नैतिक बातों पर भी

बडा असर पड़ता है। उसके कारण स्वभाव बदल जाता है। दो लड़कों की कल्पना कीजिए। मनोरञ्जक विषयों की शिक्षा से एक की चित्त-वृत्ति खूब आनन्दित हो रही है। पर दूसरा इसलिए दुखी है कि पढने मे उसका मन नहीं लगता। इससे वह नालायक़ ठहराया जाता है, उसे अध्यापक की घुडकियाँ सहनी पड़ती हैं, उसे मार खानी पड़ती है, वह हमेशा बुरी नज़र से देखा जाता है। इन दोनों लड़कों के चेहरों और चाल-ढाल को देख कर कौन ऐसा है जिसे यह न मालूम हो जाय कि पहले लडके का स्वभाव अच्छा होता जाता है और दूसरे का बिगड़ता जाता है? जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि कामयाबी और नाकामयाबी के कारण मन पर क्या असर पड़ता है, और शरीर पर मन का कितना अधिकार है, उसे मालूम होगा कि पहली हालत में स्वभाव और शरीर-प्रकृति दोनों पर बहुत अच्छा असर पड़ता है—दोनों मे सुधार होता है—परन्तु दूसरी हालत में हमेशा के लिए उदासीनता और कायरता के आ जाने ही का नहीं, किन्तु, शरीर-प्रकृति अर्थात् स्वास्थ्य, को भी चिरस्थायी हानि पहुँचने का डर है। अभी एक और बात का ज़िक्र करना बाक़ी है। उसका सम्बन्ध यद्यपि अप्रत्यक्ष है, तथापि है वह महत्त्व की बात। वह यह है कि अध्यापक की शिक्षा से जितना आनन्द या त्रास होता है उतना ही, और सब बाते यथास्थित होने से, अध्यापक और विद्यार्थी का परस्पर सम्बन्ध मित्रतागर्भित और प्रभाव-पूर्ण, या द्वेष-जनक और प्रभाव-रहित होता है। आनन्द मिलने से परस्पर प्रेम-भाव और दुःख मिलने से वैर-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। आनन्द और त्रास के परिमाण ही के अनुसार अध्यापक का विद्यार्थी पर कम या अधिक वज़न पडता है। जिन विचारो से मनुष्य का सम्बन्ध रहता है उन्हीं के वश में वह हो जाता है। मानवी धर्म्म ही ऐसा है। जिससे तकलीफ़ पहुँचती है उसके विषय में मनुष्य के मन मे कभी प्रेम-भाव नहीं रह सकता। मनही मन उससे घृणा ज़रूर हो जाती है। और यदि उससे बराबर तकलीफ़ ही तकलीफ़ मिलती गई, कभी कुछ भी आराम न मिला, तो उसके विषय में चिरस्थायी द्वेष-भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इसके प्रतिकूल जो इष्ट-साधन मे हमेशा मदद देता है, विजयानन्द में मग्न होने की सामग्री हमेशा

इकट्ठी करता है, कठिनाइयों को पार करने मे हमेशा धीरज देता है, और कामयाबी होने पर बच्चों को ख़ुश देख जो ख़ुद भी ख़ुशी मनाता है—उसे बच्चे ज़रूर पसन्द करते हैं। यही नहीं, किन्तु यदि उसका बर्ताव बराबर ऐसा ही बना रहा तो उसे वे प्यार तक करते हैं—उसे प्राणों से भी अधिक समझते हैं। जो अध्यापक बच्चों को मित्रवत् मालूम होता है—जो उनके साथ मित्र की तरह बर्त्ताव करता है—उसका दबाव बच्चों पर उस अध्यापक के दबाव से बहुत अधिक पड़ता है जिसे वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं या जिसके विषय में वे प्रेमभाव नहीं रखते। पहले प्रकार का दबाव दूसरे प्रकार के दबाव की अपेक्षा विशेष हितकर और दयादर्शक है। इसका विचार करने से यह बात ज़रूर ध्यान मे आ जायगी कि शिक्षा देने की पद्धति सुखकर और मनोरञ्जक होने से जो अप्रत्यक्ष लाभ होते हैं वे उससे होनेवाले प्रत्यक्ष लाभों से कुछ कम नहीं हैं। जिस पद्धति के अनुसार शिक्षा देने की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके विषय मे यदि कोई यह शङ्का करे कि उसका प्रचार करना—उसे व्यवहार में लाना—असम्भव है तो उसे हम पूर्ववत् यही उत्तर देंगे कि सिर्फ़ ख़याली नियमों के अनुसार—सिर्फ़ तात्त्विक सिद्धान्तों के अनुसार—ही वह पद्धति सच्ची नहीं साबित होती, किन्तु तजरिबे से भी वह सच्ची साबित होती है। सिद्धान्त और तजरिबा, दोनों से, यह बात निर्भ्रान्त सिद्ध होती है कि यदि कोई पद्धति सच्ची और सृष्टि-क्रम के अनुकूल है तो यही है। पेस्टलोज़ी के समय से लेकर आज तक जितने प्रसिद्ध प्रसिद्ध अध्यापक हो गये हैं उन्होंने इस पद्धति के सही होने के विषय मे जो रायें दी हैं उनको हम पहले ही लिख आये हैं। उनमें, एडनबर्ग-विश्वविद्यालय के अध्यापक, पिलन्स, की राय भी शामिल कर लेना चाहिए। वे कहते हैं—"जिस रीति से बच्चों को शिक्षा दी जानी चाहिए उस रीति से यदि दी जाती है तो वे खेलने में जितना ख़ुश रहते हैं उतना ही मदरसे मे भी ख़ुश रहते हैं। मदरसे मे उससे कम ख़ुश तो शायद ही रहते हों; उलटा, वहाँ वे बहुधा अधिक ख़ुश रहते हैं। दौड़-धूप के खेलों मे शारीरिक शक्तियों की कसरत से उन्हें जितना आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा मानसिक शक्तियों की उचित कसरत, अर्थात् योग्य शिक्षा, से उन्हें अधिक आनन्द मिलता है"।

४६—उल्लिखित शिक्षा-पद्धति से एक और भी लाभ की सम्भावना।

अन्त मे हम इसका एक और कारण बतलाना चाहते हैं कि क्यों हमे ऐसे तरीक़े से शिक्षा देनी चाहिए जिससे बच्चों की शिक्षा आप ही आप होती जाय और उसके साथ ही उन्हे आनन्द भी मिलता जाय। वह कारण यह है कि मदरसे में विद्याभ्यास करने की रीति जितनी अधिक सुखकारक होगी, मदरसा छूटने पर उतने ही अधिक दिनों तक उसकी चाट बनी रहेगी। यह बहुत सम्भव है कि शिक्षा की रीति मनोरञ्जक होने से शिक्षा प्राप्त करने का चाव, मदरसा छोड़ने पर भी, बना रहे। इसी से हम इस बात पर ज़ोर देते हैं कि आप ही आप शिक्षा प्राप्त करने और उसके द्वारा शिक्षा-पद्धति को सुखकर बनाने की बड़ी ज़रूरत है। जब तक बच्चे शिक्षा-प्राप्ति से घृणा करते रहेंगे तब तक उनकी यही इच्छा रहेगी कि, अध्यापक और माँ-बाप का दबाव दूर होते ही, पढ़ना लिखना बन्द कर दे। परन्तु यदि शिक्षा की रीति ऐसी होगी कि उससे स्वाभाविक तौर पर आप ही आप मनोरञ्जन होगा और आनन्द भी मिलेगा तो दूसरों की देख-भाल बच्चो पर न रहने पर भी—माँ-बाप और अध्यापकों का दबाव दूर हो जाने पर भी—वे उसे जारी रक्खेंगे। शिक्षा मनोरञ्जक न होने से, बिना दूसरो की देख भाल के, वह कदापि जारी नहीं रह सकती। ये सिद्धान्त निर्विवाद हैं- ये नियम अटल हैं। यदि यह बात सच है कि जो विचार मन में पैदा होते हैं वे कुछ विशेष नियमो के अनुसार पैदा होते हैं, यदि यह बात सच है कि आदमी उन चीज़ों और उन जगहों को नहीं पसन्द करते जिनसे दुःखदायक बातें याद आती हैं, और उन चीज़ो और उन जगहों को पसन्द करते हैं जिनसे आनन्ददायक बातें याद आती हैं; तो यह भी सच है कि मदरसे में शिक्षा की रीति जिस परिमाण मे दुःखजनक या सुखकर होगी उसी परिमाण मे, मदरसा छोड़ने के बाद, ज्ञान प्राप्त करना दुःख या सुख का कारण होगा—उसी परिमाण में वह घृणाजनक या चित्ताकर्षक होगा। जिन लोगों ने लड़कपन मे अनेक प्रकार की, धमकी-

घुड़की के डर से, शुष्क पाठ रट रट कर, शिक्षा पाई है और आप ही आप सब बातों का स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की जिनकी आदत नहीं डाली गई वे, मदरसा छोड़ने पर, बहुत करके विद्याभ्यास जारी न रक्खेंगे। आगे उन्हे बहुधा विद्याभिरुचि न होगी। परन्तु जिन्होंने स्वाभाविक रीति से उचित समय मे शिक्षा पाई है, और जो सीखी हुई बाते सिर्फ़ इसी लिए नहीं याद रखते कि उनसे मनोरञ्जन होता है, किन्तु इसलिए भी याद रखते हैं कि वे अनेक आनन्ददायक कामयाबियों की—अनेक नई नई बातों को परिश्रमपूर्वक स्वयं ढूँढ़ निकालने के कारण मिली हुई विजयबड़ाइयों की स्मारक हैं, वे लड़कपन में आरम्भ किये गये स्वयं शिक्षा प्राप्त करने के क्रम को बहुत करके वैसे ही आगे भी जारी रक्खेंगे।

———

तीसरा प्रकरण।

नैतिक शिक्षा।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति के सबसे बड़े दोष की तरफ़ लोगों की दृष्टि का न जाना।

हमारी शिक्षा-पद्धति में जो सबसे बड़ा दोष है उसकी तरफ़ लोगों का बिलकुल ही ध्यान नहीं है। लड़कों को कौन कौन विषय सिखलाने चाहिए, और किस तरह सिखलाने चाहिए, इस सम्बन्ध मे तो शिक्षा-पद्धति की ज़रा ज़रा सी बातों का सुधार करने के लिए लोग बहुत कुछ प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु जो बात बहुत ही ज़रूरी है उसकी लोग अब तक कुछ भी परवा नहीं करते। वह बात ज़रूरी है या नहीं, यह भी अभी तक उनके ध्यान में नहीं आया। इस विषय को अब सब लोग चुपचाप क़बूल करते हैं कि लड़कों को सांसारिक कर्तव्य के लिए योग्य बना देना ही माँ-बाप और अध्यापकों का उद्देश होना चाहिए। जो चीज़ें सिखलाई जाती हैं उनकी योग्यता, और उनके सिखलाने मे जिस तरीक़े से काम लिया जाता है उसके अच्छेपन, का विचार करने मे वे सिर्फ़ इस बात को देखते हैं कि वे चीजे और वे तरीक़े पूर्वोक्त उद्देश को पूरा करने के लिए कहाँ तक उपयोगी हैं। यह बड़ी ख़ुशी की बात है। इस समय लोग जो यह कहते हैं कि पुरानी तरह की शिक्षा-प्रणाली के बदले, जिसमें लैटिन, ग्रीक और संस्कृत आदि भाषायें सीखनी पड़ती हैं शिक्षा का क्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें अर्वाचीन भाषाओं का भी अभ्यास करना पड़े, वह इसी उद्देश के आधार पर कहते हैं, इसी उद्देश को आदर्श मान कर वे उसे उचित बतलाते हैं। अधिक वैज्ञानिक शिक्षा देने की ज़रूरत जो बतलाई जाती है उसका भी

आधार यही उद्देश है—उसका भी बीज यही उद्देश है । परन्तु लड़के और लड़कियों को समाज और नागरिकता से सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यों को पालन के योग्य बनाने के लिए यद्यपि थोड़ा बहुत उद्योग किया जाता है—थोड़ी बहुत सावधानता रक्खी जाती है—तथापि माँ-बाप से सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यों को पालन करने की योग्यता उनमे पैदा करने के लिए कुछ भी उद्योग नहीं किया जाता—कुछ भी सावधानता नहीं रक्खी जाती। लोग इस बात को तो समझते हैं कि जीविका-निर्वाह के लिए पहले ही से ख़ूब जंगी तैयारी करने की ज़रूरत है; परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वे यह नहीं समझते हैं कि बाल-बच्चों का पालन-पोषण करने के योग्य होने के लिए भी पहले से तैयारी करने की कोई ज़रूरत है । लड़कों के कितने ही वर्ष उस शिक्षा की प्राप्ति मे ख़र्च कर दिये जाते हैं जिसका एक-मात्र उपयोग यह है कि उससे लोगों की गिनती सभ्य, सुशिक्षित और सम्भावित आदमियों में हो जाती है । अर्थात् सिर्फ़ "सभ्यजनोचित शिक्षा" समझ कर ही उसकी प्राप्ति के लिए कई वर्ष व्यर्थ ख़राब किये जाते हैं । इसी तरह सिर्फ़ सायङ्कालीन जलसों मे शामिल होने के योग्य बनाने के लिए लड़कियों के भी कितने ही वर्ष साज-सिंगार की शिक्षा प्राप्त करने मे ख़र्च कर दिये जाते हैं । परन्तु कुटुम्ब की व्यवस्था रखना—उसका प्रबन्ध करना—जो सबसे अधिक महत्त्व और ज़िम्मेदारी का काम है उसकी तैयारी के लिए लड़के लडकियों में से किसी का एक घण्टा भी ख़र्च नहीं किया जाता । कहिए यह कितने आश्चर्य्य की बात है ! क्या यह ज़िम्मेदारी ऐसी है कि इसके उठाने की आवश्यकता में भी कोई सन्देह है ? क्या यह समझ कर लोग इसकी परवा नहीं करते कि इस ज़िम्मेदारी के काम करने की बारी कभी, किसी समय, आवे आवे, न आवे न आवे ? बात ऐसी नही है । दस मे नौ आदमियों को यह ज़िम्मेदारी ज़रूर ही उठानी पड़ती है । अच्छा, क्या यह कोई सहल काम है ? क्या यह ज़िम्मेदारी ऐसी है कि इसका बोझ सहज ही मे उठाया जा सकता है ? कदापि नहीं—हरगिज़ नहीं । हर एक वयस्क मनुष्य को—हर एक जवान आदमी को—जो काम करने पड़ते हैं उनमे यही सबसे अधिक कठिन है । अच्छा, क्या लड़के लड़कियाँ, बिना सिखलाने के, माँ-बाप का

कर्तव्य पूरा करने की शिक्षा आप ही आप प्राप्त कर सकती हैं ? क्या इस इतने बड़े काम की योग्यता उनमें आप ही आप आ सकती है ? नहीं, कभी नहीं। यही नहीं कि इस तरह अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करने की कल्पना भी आज तक किसी के मन में नहीं आई, किन्तु यह विषय इतना अटपटा है कि इसमें स्वयं—शिक्षा के बहुत कम उपयोगी होने की सम्भावना है। इस तरह के और जितने पेचीदा विषय हैं उनमे यह ऐसा है कि अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करने की कोशिश से इसमे बहुत ही कम कामयाबी की आशा है। शिक्षा-पद्धति से शिक्षण-कला को निकाल डालने के विषय मे कोई उचित कारण नहीं बतलाया जा सकता। कोई यह नहीं कह सकता कि सिखलाने के जो विषय हैं उनसे शिक्षण-कला निकाल डाली जाय। चाहे माँ-बाप के सुख-सम्बन्ध में कहिए, चाहे उनके बाल-बच्चो और दूर के भावी वंशजों के स्वभाव और जीवन के सम्बन्ध में कहिए, यह बात हमे ज़रूर ही स्वीकार करनी होगी कि बच्चों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक शिक्षा के उचित तरीक़ों का ज्ञान हम लोगो के लिए बहुत बड़े महत्त्व का ज्ञान है। जो बातें प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री को सिखलाई जाती हैं उनमे यह विषय सबसे पीछे सिखलाना चाहिए। स्त्री-पुरुषों के विद्याभ्यास के क्रम मे इस विषय का ज्ञान अन्त में होना चाहिए—उसकी शिक्षा अख़ीर मे होनी चाहिए। बाल-बच्चे पैदा करने की योग्यता जिस तरह शरीर के परि-पक्व होने का चिह्न है उसी तरह उन बाल-बच्चो को पालने-पोसने और शिक्षित बनाने का सामर्थ्य मन और बुद्धि के परिपक्व होने का चिह्न है। *और सब विषय जिसके भीतर आ जाते हैं, अर्थात्—सब विषयों का जिसमें अन्तर्भाव हो जाता है, अतएव शिक्षा-क्रम में जिसे सबसे पीछे रखना चाहिए वह विषय शिक्षा की उपपत्ति और उसके देने की पद्धति है।*

२—बच्चों के पालन-पोषण और नैतिक शिक्षण की शोचनीय अवस्था।

इस प्रकार की शिक्षा के लिए तैयारी न रहने के कारण बच्चों के पालन-पोषण और विशेष करके उनके नीति-विषयक-शिक्षण की अवस्था बहुत ही

शोचनीय होती है। माँ-बाप या तो इस विषय का कभी विचार ही नहीं करते, या यदि करते भी हैं तो उनके निकाले हुए सिद्धान्त, अपूर्ण, अज्ञानमूलक और परस्पर विरोधी होते हैं। माँ-बाप के, विशेष करके माँ के, बर्ताव के विषय मे बहुधा देखा गया है कि जिस समय जो मनोविकार प्रबल होता है उसी के अनुसार बच्चो के साथ बर्ताव होता है। अर्थात् जब जैसा बर्ताव सूझ जाता है तब तैसा ही किया जाता है। किस तरह के बर्ताव से बच्चे को सबसे अधिक फ़ायदा पहुँचेगा, इसका अच्छी तरह विचार करके, और कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर करके, उसके अनुसार बर्ताव नहीं किया जाता; किन्तु उस समय माँ-बाप के मन में जो विकार ख़ूब बलवान् होते हैं, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, उन्हीं की प्रेरणा से बच्चे के साथ माँ-बाप बर्ताव करते हैं। इसी से जैसे जैसे उनके मनोविकार बदलते जाते हैं वैसे ही वैसे उनके बर्ताव भी हर घड़ी बदलते रहते हैं। अथवा, मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किये गये उनके बर्ताव मे यदि कोई निश्चित नियम और तरीक़े देख भी पड़ते हैं तो वे वही होते हैं जो परम्परा से, पिता-पितामह आदि से, प्राप्त होते हैं; अथवा लड़कपन में मन पर जो संस्कार हुए होते हैं उनकी याद से पैदा होते हैं, अथवा दाइयों और नौकर-चाकरों से सीखे हुए होते हैं। ये जितनी बातें हैं ज्ञान का परिणाम नहीं, अज्ञान का परिणाम हैं। ये ऐसे तरीक़े हैं जिनका कारण शिक्षा और ज्ञान-प्रकाश नहीं, किन्तु लोगों की तत्कालीन मूर्खता है। आत्मसंयम के विषय मे लोगों की राय और उनके बर्ताव मे जो अव्यवस्था और गड़बड़ है उसकी आलोचना करते समय जर्मनी का प्रसिद्ध ग्रन्थकार रिचर कहता है:—

३—रिचर साहब कृत नैतिक शिक्षा-सम्बन्धिनी दुरवस्था की आलोचना।

"बहुत से साधारण आदमियों के चित्तों में उत्पन्न होनेवाले परस्पर विरोधी विचार यदि मालूम हो जायँ और नैतिक शिक्षा देने के इरादे से लड़कों के पढ़ने और अध्ययन करने के लिए यदि वे एकत्र किये जायँ तो कुछ कुछ इस तरह के होंगे.—पहले घंटे मे वे कहेंगे कि या तो हम ख़ुद लड़के को विशुद्ध नीति पढ़ावें या अध्यापक से

पढ़वावें, दूसरे घंटे मे कहेंगे कि मिश्रित नीति, अर्थात् वह नीति जो निज के फ़ायदे की हो—जिससे स्वहित-साधन होता हो—लड़के को पढ़ानी चाहिए, तीसरे घंटे में कहेंगे—'क्या तुम नहीं देखते कि तुम्हारा बाप कौन कौन काम करता है'? अर्थात् जैसा मेरा आचरण है वैसा ही तुम्हारा भी होना चाहिए, चौथे घंटे में कहेंगे—'तुम अभी बच्चे हो और यह काम सिर्फ़ बड़े आदमियों के करने लायक़ है', पाँचवें घंटे में कहेंगे—'सबसे बड़ी बात यह है कि संसार में तुम्हारा नाम होना चाहिए और कोई अच्छा राजकीय पद तुम्हें मिलना चाहिए', छठे घंटे में कहेंगे—'आदमी की योग्यता क्षणभंगुर बातों पर नही अवलम्बित रहती, किन्तु चिरस्थायी और शाश्वत बातो पर अवलम्बित रहती है,' सातवे घंटे मे कहेंगे—'अतएव तुम पर चाहे जितना अन्याय हो तुम दया मत छोड़ो', आठवे घंटे मे कहेंगे—'परन्तु यदि कोई तुम पर आक्रमण करे तो वीरता से अपनी रक्षा करो', नवें घंटे में कहेंगे—'बेटा शोर मत करो'; दसवें घंटे में कहेंगे—'लड़के को इस तरह चुपचाप न बैठना चाहिए,' ग्यारहवें घंटे में कहेंगे—'माँ-बाप की तुम जितनी आज्ञा मानते हो उससे अधिक मानना चाहिए', बारहवे घंटे मे कहेंगे—'तुम्हे अपने आपको शिक्षित बनाना चाहिए'। लीजिए। बारहों घंटे के ये जुदा जुदा और परस्पर विरोधी उपदेश हो गये। इस तरह घड़ी घडी अपने सिद्धान्तों को बदल करके भी लोग उनके एकतरफ़ीपन और असारता को छिपाने की कोशिश करते है। यह पुरुषों की बात हुई। यह उनकी बात हुई जिनको बाप कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है। स्त्रियों की अवस्था और भी अधिक शोचनीय है। इन विषयो में न तो वे पुरुषो ही के सदृश है और न उस नक्क़ाल ही के सदृश जो कागज़ के एक बंडल को एक बग़ल के नीचे और दूसरे को दूसरी बग़ल के नीचे दबा कर स्टेज (Stage), अर्थात् रङ्ग-भूमि, में आया था। इस नक्क़ाल से जब पूँछा गया कि तुम्हारी दाहनी बगल के नीचे क्या है तब उसने जवाब दिया—"आज्ञायें", और जब पूँछा गया कि बाईं बगल के नीचे क्या है तब कहा—"प्रतिकूल आज्ञायें"। परन्तु स्त्रियों (यहाँ पर मतलब बच्चों की माताओं से है) की समता यदि यूनानी दानव ब्रायरिस से की जाय तो विशेष युक्तिसङ्गत हो, क्योंकि इस दानव के सौ हाथ थे और हर हाथ में कागज़ों का एक एक बंडल था"।

४—जितने सुधार हैं सब धीरे ही धीरे होते हैं।

यह व्यवस्था जल्द नहीं बदल सकती। कितनी ही पीढ़ियों के बाद

शायद इसमे नाम लेने लायक़ कोई फेर-फार हो सकें तो हो सकें। उसके पहले विशेष सुधार होने की कोई आशा नहीं। राजकीय नियमों की तरह शिक्षा-पद्धति-विषयक अच्छे नियम भी एक-दम बनाये नहीं बनते। क्रम क्रम से, धीरे धीरे, उनकी उन्नति होती है। थोड़े समय में उनकी जो उन्नति होती है वह इतनी कम होती है कि ध्यान में नही आती। सच तो यह है कि चाहे जो सुधार हो धीरे धीरे ही होता है; तथापि उसके लिए भी उपायों की योजना ज़रूर करनी पड़ती है। वाद-विवाद और विवेचना करना भी इस तरह के उपायों मे से एक उपाय है।

५—लार्ड पामर्स्टन और कवि श्यली आदि के मतों से प्रतिकूलता।

इँगलेंड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री लार्ड पामर्स्टन का सिद्धान्त था कि जितने बच्चे पैदा होते हैं सब नेक होते हैं। पर यह सिद्धान्त हमें स्वीकार नहीं। इस उसूल के हम ख़िलाफ़ हैं। सब बातों का विचार करके हमें तो इसका उलटा सिद्धान्त अधिक पसन्द है। वह यद्यपि विचार और विवेचना के सामने ठहर नहीं सकता, तथापि सचाई से वह बहुत दूर नही है। उसमें सचाई का अंश अधिक है। कुछ लोगों की राय है कि यदि होशियारी से बच्चों को शिक्षा दी जाय तो वे वैसे ही हो सकते हैं जैसे होने चाहिए। पर यह राय भी हमको क़बूल नही। हम इन लोगों के इस कथन से भी सहमत नहीं। हमारी समझ इसकी बिलकुल उलटी है। हमारा तो विश्वास यह है कि उत्तम शिक्षा से—अच्छे प्रबन्ध से—मनुष्य के स्वाभाविक दोष कम हो सकते हैं; पर पूरे तौर से दूर नहीं हो सकते। यह समझना कि सर्वोत्तम शिक्षा-पद्धति के द्वारा बिना विलम्ब के आदर्श आदमी बनाये जा सकते हैं, इँगलेड के प्रसिद्ध कवि श्यली की कल्पना से मेल खाता है। इस कवि ने मानवी स्थिति के विषय मे अपने काव्य में लिखा है कि यदि सब लोग अपने पुराने मतों और विवेकहीन आग्रहो को छोड़ दें तो संसार के सारे दुःख-क्लेश एक-दम ही दूर हो जायँ। परन्तु जिन लोगों ने मनुष्य-स्वभाव का—

मानवी व्यवहारों का—शान्तता से विचार किया है उनको इन दोनो मे से एक भी मत पसन्द नहीं आ सकता।

६—अपनी अपनी उद्योग-सिद्धि के विषय में निःसीम श्रद्धा का होना भी अच्छा है।

तथापि जो लोग इस तरह की अति-विश्वासपूर्ण आशायें रखते हैं उनकी बात का ज़रूर आदर करना चाहिए। उनके साथ सहानुभूति रखना—उनके साथ हमदर्दी ज़ाहिर करना—हमारा कर्तव्य है। किसी विषय मे उत्साह दिखलाना, फिर चाहे वह उत्साह पागलपन के दरजे तक क्यों न पहुँच गया हो, बहुत अच्छी बात है। वह एक प्रकार की उत्तेजनापूर्ण शक्ति है। उसी की प्रेरणा से सारे बड़े बड़े काम होते हैं। हमारी समझ में इस शक्ति का होना बहुत ही जरूरी है। इसके बिना कोई काम नहीं हो सकता। यदि किसी उत्साही राजनीतिज्ञ मनुष्य को यह विश्वास न होता कि जिस सुधार के लिए वह लड़ रहा है वह बहुत ही ज़रूरी है तो न तो वह उतना परिश्रम ही उठाता और न उतना स्वार्थत्याग ही करता। जो लोग शराब पीने को सारी सामाजिक आपदाओं की जड़ समझते हैं उनकी समझ यदि ऐसी न होती तो वे शराब पीना बन्द करने के लिए कभी इतने उत्साह से खटपट न करते। दूसरे कामों की तरह सार्वजनिक हित के कामो मे भी श्रम-विभाग से बड़े बड़े फ़ायदे होते हैं। और श्रम-विभाग तभी हो सकता है जब सार्वजनिक-हित-चिन्तना करनेवालों की प्रत्येक शाखा अपने अपने काम में तन्मय हो जाय। अर्थात् वह उसकी दास हो जाय—उसकी उपयोगिता के विषय मे अपनी विलक्षण श्रद्धा दिखलावे। अतएव जो लोग मानसिक और नैतिक शिक्षा को ही सब रोगों की दवा समझते हैं उनकी अनुचित आशाओं को भी हम अनुपयोगी नहीं कह सकते। उनकी भ्रान्तिमूलक कल्पनायें भी उपयोग से ख़ाली नही। अपनी अपनी उद्योग सिद्धि के विषय मे लोगों की श्रद्धा जो शिथिल नहीं होती उसे हम जगदीश्वर के उस उपकार का अंश समझते हैं जिसे उसने जगत् पर किया है।

७—बच्चों की नैतिक शिक्षा के विषय में माँ-बाप की असावधानता।

यदि यह बात सच भी हो कि नीति-विषयक किसी परमोत्तम शिक्षा-पद्धति की सहायता से हम बच्चों को अपने अभीष्ट साँचे मे ढाल सकें, और यदि यह पद्धति प्रत्येक माँ-बाप के मन में अच्छी तरह अङ्कित की जा सके, तो भी हम अपने मनोवाञ्छित फल के प्राप्त करने मे समर्थ न होगे। जिन लोगो के ख़याल ऐसे हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि इस तरह की कोई पद्धति व्यवहार मे लाना मानों पहले ही से यह क़बूल कर लेना है कि बुद्धिमानी, नेकी और आत्म-संयम आदि गुण, जो किसी मे भी नहीं पाये जाते सब माँ-बापों मे हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था के विषय मे जो लोग विचार करते हैं उनसे बड़ी भारी भूल जो होती है वह यह है कि सारे दोष और सारी कठिनाइयाँ वे सिर्फ़ बच्चो के सिर मँढ़ देते हैं, माँ-बाप को वे बिलकुल ही कोरा छोड़ देते हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था, और इसी तरह राजकीय व्यवस्था, दोनों के विषय में लोगो की समझ आज कल कुछ ऐसी हो गई है कि व्यवस्था करनेवाले गुणो की, और जिनकी व्यवस्था की जाती है वे अवगुणों की, खान हैं। अर्थात् शासकों में सब गुण ही गुण हैं और शासितों में सब दोष ही दोष। परन्तु शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विचार करने से यह सिद्ध होता है कि बात बिलकुल ही उलटी है। बच्चों से माँ-बाप का जैसा सम्बन्ध होना चाहिए वह बदल कर कुछ का कुछ हो गया है। जिन नगर-निवासियों के साथ हम व्यवहार करते हैं और जिन लोगों से हम दुनिया मे मिलते जुलते हैं उनमे हम अनेक दोष पाते हैं। हम जानते हैं कि उनमे कितनी ही बातों की कमी है। हम देखते हैं कि प्रतिदिन कितनी ही लज्जाजनक बातें होती हैं, मित्रों में परस्पर कितने ही झगड़े फ़िसाद होते हैं, लोगो के दिवाले निकलने पर कितने ही निन्द्य षड्यन्त्र खुलते हैं, और मुक़द्दमेबाज़ी और पुलिस की रिपोर्टों मे कितने ही अजीब अजीब भेद प्रकट होते हैं। इन सब बातो से हमारी आँखो के सामने लोगों की स्वार्थपरता, अप्रमाणिकता और निर्दयता का चित्र सा खड़ा हो जाता है। परन्तु जब हम बच्चों की

घरेलू शिक्षा की आलोचना करते हैं, और उनकी शरारत और बुरी आदतों के विषय मे विचार करने बैठते हैं, तब हम इस बात को मान सा लेते हैं कि लड़के और लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में यही बड़े बड़े दोषों के दोषी लोग बिलकुल ही निर्दोष हैं। इस तरह की कल्पना—इस तरह की समझ—इतनी भ्रमपूर्ण है कि जिस घरेलू झगड़े फ़िसाद के अधिक अंश का कारण बच्चों की कुटिलता बतलाई जाती है उसका कारण ख़ुद माँ-बाप ही का बुरा बर्ताव है। यह हम दृढतापूर्वक कहते हैं और ऐसा कहने मे हमें ज़रा भी सङ्कोच नहीं। जो लोग बच्चों से अधिक सहानुभूति रखते हैं और जिनमें आत्मनिग्रह की मात्रा भी कुछ अधिक होती है उनको हम दोषी नहीं ठहराते। हमारा यह कथन उनके विषय मे नहीं। और हमे आशा है कि हमारे वाचकों मे अनेक लोग ऐसे ही होंगे। हमारा मतलब यहाँ पर साधारण जन-समूह से है। बच्चे को दूध न पीते देख जो माँ क्रोध से लाल होकर हर घड़ी उसे झँझोरती रहती है उससे किस तरह की नैतिक शिक्षा मिलने की आशा की जा सकती है? इसे कल्पना न समझिए। हमने एक माँ को इस तरह करते अपनी आँखों देखा है। खिड़की और चौखट के बीच मे उँगली दब जाने पर बच्चे की चीख़ सुन कर जो बाप पहले उसकी उँगली नहीं छुड़ाता, किन्तु उसे पीटना शुरू करता है वह अपने बच्चे के मन मे न्याय-बुद्धि का कहाँ तक विकास कर सकेगा? यह न समझिए कि इस तरह के बाप का होना एक कल्पना-मात्र है। नहीं, ऐसे बाप एक आदमी ने अपनी आँखों देखे हैं और हमसे उनका हाल भी बयान किया है। संसार में इससे भी बुरे उदाहरण पाये जाते हैं और उनके भी गवाह मौजूद हैं। लोगो ने उन्हे भी खुद अपनी आँख से देखा है। खेलने कूदने में रान की हड्डी उतर जाने पर बच्चे को घर आया देख जो बाप लात-घूँसे से उसकी ख़बर लेता है उसकी शिक्षा से बच्चे को फ़ायदा पहुँचने की क्या ख़ाक आशा हो सकती है। यह ज़रूर है कि इस तरह के उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं। ये पराकाष्ठा के बुरे उदाहरण हैं। पशुओं में एक प्रकार की स्वाभाविक अन्ध-बुद्धि होती है जिसकी प्रेरणा से वे अपने ही कमज़ोर और पीड़ित बन्धु-बान्धवों का नाश करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। मनुष्यों मे जो ऐसे ही

नर-पशु होते हैं, अर्थात् जिनमे पशुओ ही की ऐसी हिंसक-वृत्ति वास करती है, उन्हीं के सम्बन्ध के ये उदाहरण हैं। यह सब सच है; पर ये उदाहरण उस बर्ताव, उस चाल-चलन और उस समझ-बूझ के नमूने हैं जो अनेक कुटुम्बों में प्रति दिन देखे जाते हैं। अनेक आदमियों के घरों में इस तरह की बातें अकसर रोज़ देखने मे आती हैं। बहुत करके किसी शारीरिक कष्ट के कारण बच्चे को चिड़चिड़ाते और दिक़ करते देख माँ-बाप या दाई को उसके मुँह पर चपत जमाते किसने अनेक बार नहीं देखा? ठोकर इत्यादि लगने से ज़मीन पर गिरे हुए बच्चे को झटका देकर उठाते और "मरो", या "नाक में दम कर ली है", इत्यादि क्रोधपूर्ण वाक्य कहते माँ को देख कर किसने इस तरह के बुरे बर्ताव को अकसर अनेक भावी झगड़े-फ़िसाद और वैमनस्य का बीज नहीं समझा? जिस कठोरता के साथ बाप अपने बच्चे को चुप रहने का हुक्म देता है, क्या उससे यह साबित नहीं होता कि वह बच्चे से बहुत कम हमदर्दी रखता है—उस पर उसका प्रेम बहुत ही कम है? अकसर बिना ज़रूरत के भी बच्चों की चितचाही बातों की बराबर रोंक-टोंक करने से क्या कम हानि होती है? बच्चे स्वभाव ही से चपल होते हैं। कुछ न कुछ किये बिना उनसे रहा ही नहीं जाता। इससे चुपचाप बैठने का हुक्म पाने पर, बिना विशेष मानसिक कष्ट उठाये, बच्चे उसकी तामील नहीं कर सकते। रेल से सफ़र करते समय खिड़की के बाहर न झाँकने के हुक्म को सुन कर थोड़ी समझ के बच्चे की भी जिज्ञासा-सम्बन्धिनी बहुत बड़ी हानि होती है। हम पूछते हैं कि इस तरह की रोंक-टोंक—इस तरह के प्रतिबन्ध—क्या इस बात के चिह्न नहीं हैं कि बच्चों के साथ बहुत ही कम हमदर्दी का बर्ताव किया जाता है? सच तो यह है कि नैतिक शिक्षा मे जिन कठिनाइयों से सामना पड़ता है उनके कारण उभयपक्षी हैं। अर्थात् ये कठिनाइयाँ माँ-बाप और बच्चे, दोनों, के दोषों से पैदा होती हैं। उनके कुछ अंशों की जड़ तो माँ-बाप के दोष हैं और कुछ की ख़ुद बच्चों के। यदि वंश-परम्परा-गत गुण-दोषों का संक्रमण होना—पिता, पितामह आदि के गुण-दोषों का पुत्र-पौत्र आदि मे आ जाना—प्राकृतिक नियम है, जैसा कि प्रत्येक पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता को मालूम

है, और यदि इस बात की सत्यता हम प्रति दिन अपनी बातचीत और कहावतों में क़बूल करते हैं, तो लड़कों मे जो दोष पाये जाते हैं उन्हें थोड़ा बहुत उनके माँ-बाप के दोषो का प्रतिबिम्ब ज़रूर समझना चाहिए। "थोड़ा बहुत" हम इसलिए कहते हैं कि दूर के पूर्वजो के गुण-दोषो का परिणाम बहुत सूक्ष्म होने के कारण उसमे भेद हो जाता है। इससे जो परम्परागत गुण-दोष सन्तति में आ जाते हैं उनका सादृश्य सिर्फ़ मोटी ही मोटी बातों में देख पड़ता है, बारीक बातों मे नहीं। यदि यह गुण-दोष-संक्रमण स्थूल रूप मे परम्परागत है तो यह सिद्ध है कि बच्चो की जिन बुरी आदतों का—बच्चों को जिन बुरे मनोविकारों का—प्रतिबन्ध माँ-बाप को करना पड़ता है वे ख़ुद माँ-बाप में भी मौजूद रहते हैं। क्योंकि यदि वे बाते माँ-बाप मे न मौजूद होतीं तो बच्चों को कहाँ से मिलतीं। वे चाहे सब लोगो को खुल्लम-खुल्ला न देख पड़ती हों, या चाहे दूसरे प्रबल मनोविकारों से दब गई हों, तथापि उन्हे माँ-बाप में होना ही चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि किसी आदर्श शिक्षा-पद्धति के साधारण तौर पर प्रचलित होने की आशा रखना व्यर्थ है; क्योंकि माँ-बापों को जितना साधु-स्वभाव—जितना नेक—होना चाहिए उतना वे नहीं हैं।

८—समाज की स्थिति के अनुसार ही नैतिक शिक्षा होती है।

इसके सिवा इस विषय मे एक और भी आपत्ति है—एक और भी एतराज़ है। वह यह है कि अपने इस हेतु की तत्काल सिद्धि के लिए यदि साधन होते भी और उनको उचित रीति से काम मे लाने के लिए माँ-बाप में अन्तर्ज्ञान, सहानुभूति और आत्मसंयम भी यदि यथेष्ट होते, तो भी यह कहा जा सकता कि जितने समय में और बातों में सुधार होता है उससे जल्द कुटुम्ब-व्यवस्था में सुधार करने से कोई लाभ नहो। हमारा उद्देश क्या है? क्या हमारा उद्देश यह नहीं कि शिक्षा चाहे जिस तरह की हो उसके योग से बच्चा सांसारिक काम-काज के लिए तैयार हो जाय—अथवा यों कहिए कि एक ऐसा नगर-निवासी पैदा किया जाय जिसका चाल-चलन

भी अच्छा हो और जो दुनिया मे अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई अच्छा रास्ता भी निकाल सके ? अर्थात् शिक्षा का मुख्य उद्देश यही है कि उसके कारण आदमी संसार मे अच्छी तरह से रह सके । यहाँ पर अच्छी तरह रह सकने से हमारा मतलब धन-सञ्चय करने से नही है—खूब रुपया कमाने से नही है । हमारा मतलब उन साधनों से है—उन उपायों से है—जो कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिए ज़रूरी हैं । और इस समय संसार की जैसी स्थिति है उसके ख़याल से कुटुम्ब-पालन के लिए जो साधन जरूरी हैं वे क्या एक विशेष प्रकार को योग्यता सम्पादन किये बिनाही प्राप्त हो सकते हैं ? क्या इससे यह मतलब नहीं कि इस समय जगत् जिस स्थिति में है उस स्थिति के योग्य मनुष्य तैयार होने चाहिए ? और यदि शिक्षा-पद्धति के किसी ढंग से सर्वोत्तम मनुष्य तैयार भी हो गया—आदर्श आदमी बन भी गया—तो भी क्या वह संसार की वर्तमान स्थिति के योग्य होगा ? उलटा इससे क्या हमे यह शङ्का न होगी कि उसमे जरूरत से अधिक सचाई और सदाचरण की मात्रा होने से वह उसके जीवन को कण्टकमय, अथवा यों कहिए कि असम्भव, कर देगी ? व्यक्ति-विशेष के लिए—अलग अलग हर आदमी के लिए—इस तरह की शिक्षा का नतीजा चाहे कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, परन्तु इस समय के जन-समाज और भावी सन्तान की मङ्गल-कामना के ख़याल से क्या यह सम्भव नहीं कि वह आपही अपनी नाकामयाबी का कारण हो जाय—क्या यह डर नहीं कि वह आपही अपनी हानि करले ? इस बात के बहुत से कारण बतलाये जा सकते हैं कि मनुष्य-जाति की तरह कुटुम्ब की भी व्यवस्था, सब बातों का विचार करके, उतनी ही अच्छी होती है जितनी अच्छी कि मनुष्य-स्वभाव की साधारण अवस्था होती है । अर्थात् मनुष्यो का स्वभाव जितना अच्छा होता है कुटुम्ब और देश की व्यवस्था भी उतनी ही अच्छी होती है । सब लोगों के साधारण स्वभाव के अनुसार ही कुटुम्ब और देश की व्यवस्था के भले या बुरे होने का अनुमान किया जा सकता है । मनुष्यों का स्वभाव जैसा होता है कुटुम्ब और देश के शासन और प्रभुत्व का ढँग भी वैसा ही होता है । लोगों का स्वभाव जैसा होता है हुकूमत भी वैसी ही होती है ।

इससे यह नतीजा निकलता है कि जन-समूह का साधारण स्वभाव सुधर जाने से कुटुम्ब और देश की शासन-व्यवस्था भी सुधर जाती है। परन्तु मनुष्य-स्वभाव को पहले सुधारे बिना यदि शासन-व्यवस्था का सुधार सम्भव होता तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती। इस समय माता-पिता और अध्यापकों की बदौलत जो सख़्ती बच्चों को झेलनी पड़ती है वह मानों उस बहुत सख़्ती सहन करने के लिए तैयारी है जिसका सामना उन्हे, बड़े होने पर, संसार मे धँसते ही करना पड़ेगा। यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि माँ-बाप और अध्यापकों का लड़कों के साथ पूरे पूरे न्याय और प्रेम से बर्ताव करना सम्भव होता तो प्रौढ़ वय मे स्वार्थी आदमियों से साबिक़ा पड़ने पर उन्हे उन लोगों के सम्पर्क से जो दुःख उठाने पडते हैं वे और भी अधिक दुःसह हो जाते। मदरसों मे पढ़नेवाले लड़कों के साथ जो सख़्ती का बर्ताव किया जाता है उसके समर्थन मे कोई कोई इसी तरह की बातें कहते हैं—इसी तरह के उज्र पेश करते हैं। वे कहते हैं कि मदरसा एक तरह की छोटी सी दुनिया है। उसमे भरती हो कर और उसकी सख़्तियाँ झेल कर लड़के असली दुनिया की सख़्तियाँ झेलने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह कारण—यह उज्र—यद्यपि बिलकुल ही निःसार नहीं है, तथापि इसमे कोई सन्देह नहीं कि यह बहुत ही अपूर्ण है। क्योंकि, प्रौढ़ वय मे जो शिक्षा मिलती है वह घर की और मदरसे की शिक्षा से यद्यपि बहुत अधिक उत्तम न होनी चाहिए, तथापि कुछ अधिक अच्छी जरूर होनी चाहिए। पर इटन, विंचेस्टर और हैरो इत्यादि की प्रसिद्ध प्रसिद्ध पाठशालाओं में जिस तरह की शिक्षा लड़कों को दी जाती है वह प्रौढ वय की शिक्षा से कहीं खराब है—अन्याय और निर्दयता से कहीं अधिक परिपूर्ण है। हर तरह की शिक्षा से मनुष्य का सुधार होना चाहिए। पर हम लोगों के स्कूलों की शिक्षा से यह उद्देश नही सिद्ध होता। मनुष्य की उन्नति में सहायक होने के बदले वह लड़कों को स्वेच्छाचारी शासन करने और मनुष्यों के साथ अज्ञान पशुओं की तरह बुरा व्यवहार करने का प्रेमी बना देती है। इस तरह वह उन्हें सुधारने के बदले, समाज की जो वर्तमान स्थिति है उससे भी निकृष्ट स्थिति के योग्य तैयार कर देती है। देश

के क़ानून बनानेवाले कौंसिल में जो लोग रहते हैं वे ऐसे ही स्कूलों में शिक्षा पाये हुए होते हैं। अतएव यह निष्ठुर प्रभाव हमारी जातीय उन्नति का बाधक हो जाता है। ऐसे लोग भला देश का सुधार करने में कितनी मदद देंगे, इसका अनुमान सहज ही मे हो सकता है।

६—प्रकृत विषय में की गई एक शङ्का का समाधान।

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि—"क्या यह बात कहीं की कहीं नही जा रही है? जिस बात के साबित करने की ज़रूरत थी उसके भी आगे क्या इस विषय का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है? पहले तो नैतिक शिक्षा की एक भी पद्धति ऐसी नही जिससे लड़के तुरन्त हो वैसे सदाचरणशील हो सकें जैसा कि उन्हे होना चाहिए। फिर यदि ऐसी पद्धति होती भी तो उसका उचित उपयोग करने योग्य इस समय माँ-बाप ही नहीं हैं—अर्थात् उनमें यह काम करने के लिए उचित योग्यता की अत्यन्त ही कमी है। और यदि ऐसी पद्धति का उचित उपयोग करने मे कामयाबी भी होती तो भी समाज की व्यवस्था इस समय ऐसी है कि उसके उपयोग का फल ज़रूर हानिकारक होता—उसका उपयोग समाज की स्थिति के अनुकूल ही न होता। अतएव क्या इससे यह बात नहीं साबित होती कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का सुधारना सम्भव नहीं और सम्भव भी हो तो उचित नहीं"? नहीं। इससे सिर्फ़ यही साबित होता है—इससे सिर्फ़ यही नतीजा निकलता है—कि कुटुम्ब-व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली और और बातों के सुधार के साथ साथ इस विषय का भी सुधार होना चाहिए। इससे सिर्फ़ इतना ही सिद्ध होता है कि शिक्षा-पद्धति थोड़ी थोड़ी सुधारी जा सकती है, एक दम नहीं; और एक दम सुधारना मुनासिब भी नहीं। इससे सिर्फ़ यही साबित होता है कि तात्त्विक दृष्टि से नियत किये गये नैतिक नियम, व्यवहार मे लाये जाने मे, मनुष्य-स्वभाव की वर्तमान स्थिति के अधीन होने चाहिए। अर्थात् जैसी स्थिति हो उसके अनुसार उन नियमों मे फेरफार होने चाहिए। लड़के, माँ-बाप और जन-समाज मे जिन बातों की कमी होगी—उनमें जो दोष होगे—उनके अनुसार उन नियमों में परिवर्तन

किये बिना काम न चल सकेगा। जैसे जैसे जन-समुदाय का स्वभाव सुधरता जायगा वैसे ही वैसे उन नियमों की पाबन्दी भी अधिकाधिक हो सकेगी। अन्यथा नहीं। एक दम से उनके अनुकूल व्यवहार करना असम्भव है।

१०—एक और शङ्का, और उसका समाधान।

इस पर हमारा समालोचक यह आक्षेप कर सकता है—कि "कुछ भी हो, पर यह स्पष्ट है कि कुटुम्ब की शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली आदर्श पद्धति स्थिर करना व्यर्थ है। जैसा समय है उससे अधिक उन्नत शिक्षा-पद्धति ढूँढ़ निकालने में परिश्रम करने, और तदनुसार शिक्षा देने की सिफ़ारिश लोगों से करते बैठने, से कोई लाभ नहीं"। हम इस आक्षेप का भी विरोध करते हैं। हम इस एतराज़ के भी खिलाफ़ हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था को हम राजकीय व्यवस्था ही के समान समझते हैं। राजकीय व्यवस्था के सम्बन्ध में यद्यपि इस समय सर्वोत्तम नीति-मार्ग का अवलम्बन करना असम्भव है—यद्यपि इस समय सत्य से सर्वथा परिपूर्ण नीति के अनुसार बर्ताव करना कठिन है—तथापि इस बात के जानने की बड़ी ज़रूरत है कि वह मार्ग कौन सा है—वह नीति कौन सी है। सत्पथ का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक बात है। उसका ज्ञान हो जाने से यह फ़ायदा होगा कि नैतिक शिक्षा मे फेर-फार करते समय हम उनको यथा-सम्भव सत्य से दूर न होने देगे। जहाँ तक हो सकेगा उन्हे हम सत्य की तरफ़ झुकाते रहेंगे। इसी तरह कुटुम्ब-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी हमें एक सर्वोत्तम आदर्श ढूँढ़ निकालना चाहिए, जिसमें धीरे धीरे हम उसके पास पहुँच सकें। इस तरह की आदर्श नीति का निश्चय हो जाने से हमे उससे हानि होने की सम्भावना नहीं। हमे इस बात से न डरना चाहिए कि सर्वोत्तम सत्पथ के मालूम हो जाने से कोई बुराई पैदा होगी। पुरानी रीतियों को मनुष्य सहज मे नहीं छोड़ते। परम्परा से प्राप्त हुई बातों को पूर्ववत् रखने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति कुछ ऐसी प्रबल है कि शीघ्र सुधार के मार्ग मे वह बहुत बाधा डालती है। उसके मारे शीघ्रता से कोई सुधार होने ही नहीं पाता। संसार

की स्थिति कुछ ऐसी हो गई है कि जब तक सब लोगों की बुद्धि और विश्वास का विकास अधिक ऊँचे दरजे तक नहीं पहुँचता तब तक मनुष्य किसी नई बात को क़बूल ही नही करते। अथवा यों कहिए कि कोई नई बात निकालने पर जब तक आदमियों के मन की स्थिति उस बात के अनुकूल नहीं हो जाती तब तक उसका महत्त्व उनके ध्यान मे नहीं आता। अतएव वे उसे स्वीकार भी नहीं करते। हाँ, नाम-मात्र के लिए वे भले ही चाहे उसे स्वीकार कर लें, पर मन से नहीं कर सकते। यहाँ तक कि जब किसी बात की सचाई का निश्चय भी हो जाता है तब भी उसके अनुसार बर्ताव करने मे इतने अटकाव पैदा होते हैं कि बडे बड़े परोपकार-पटु सज्जन ही नही, किन्तु तत्त्ववेत्ता भी, धैर्य से हाथ धो बैठते हैं। उनका भी धीरज छूट जाता है—उनकी भी शान्ति-वृत्ति भङ्ग हो जाती है। अतएव इस बात पर विश्वास रखिए कि बच्चों की शिक्षा की उचित पद्धति के मार्ग में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनके कारण उस पद्धति के अनुसार काररवाई करने की कोशिश मे ज़रूर ही रुकावट होती है और बहुत कुछ होती है।

११—नैतिक शिक्षा के सच्चे उद्देश और सच्चे तरीक़े का विचार।

यहाँ तक जो कुछ हमने लिखा उपोद्घात या भूमिका के तौर पर लिखा। अब इसके आगे हम नैतिक शिक्षा के सच्चे उद्देश और सच्चे तरीक़े का विचार करते हैं। पहले हम इस विषय के व्यापक नियमो का विचार करने मे कुछ पृष्ठ ख़र्च करेंगे। पाठकों से प्रार्थना है कि कृपापूर्वक उन्हे वे धीरज से पढ़ें, ऊब न उठें। इसके बाद हम उदाहरण-पूर्वक इस बात को स्पष्ट करके दिखलावेंगे कि कुटुम्ब-व्यवस्था मे हर घड़ी भाँति भाँति की कठिनाइयों का सामना पड़ने पर माँ-बाप को किस तरह का बर्ताव करना चाहिए।

१२—शारीरिक व्यवहारों को अपने क़ाबू में रखने की स्वाभाविक शिक्षा।

जब कोई लड़का गिर पड़ता है या मेज से उसका सिर टकरा जाता

है तब उसे चोट लगती है । इस चोट की याद उसे बनी रहती है । इसलिए आगे को वह अधिक होशियार हो जाता है । इस तरह बार बार अनुभव होने से उसे ऐसी शिक्षा मिल जाती है कि वह अपने शारीरिक व्यापार को अपने क़ाबू में रखने लगता है । वह समझ जाता है कि किस तरह चलने से आदमी नहीं गिरता या मेज़ से टक्कर नहीं खाता । यदि वह अँगेठी की गरम छड़ें या दस्तपनाह पकड़ ले, या जलते हुए चिराग़ की लौ मे अपनी उँगली लगा दे, या अपने बदन पर कही खौलता हुआ पानी डाल ले तो वह जले बिना न रहेगा । पर इससे उसे ऐसा सबक़ मिल जायगा कि जल्दी न भूलेगा । इस तरह की दो एक घटनाओं से उस पर ऐसा गहरा असर पड़ेगा कि चाहे उसे कितना ही प्रोत्साहन क्यो न मिले, फिर कभी वह अपनी शारीरिक व्यवस्था के नियमों का उल्लङ्घन न करेगा । अब देखिए, इन घटनाओं के द्वारा प्रकृति-देवी नैतिक शिक्षा के सच्चे सिद्धान्त और सच्चे व्यवहार को कितने सीधे तरीक़े से हमे सिखलाती है । जिस सिद्धान्त और जिस व्यवहार को सब लोगों ने बहुत मामूली समझ कर स्वीकार किया है उनसे यद्यपि यह सिद्धान्त और यह व्यवहार बहुत कुछ मिलते हुए मालूम होते हैं तथापि परीक्षा-पूर्वक विचार करने से यह ध्यान मे आजायगा कि ये उनसे बहुत कुछ भिन्न हैं ।

१३—शारीरिक काम भी सत् असत् कहे जाने चाहिए ।

विचार करने से पहली बात जो ध्यान मे आती है वह यह है कि शरीर में चोट आदि लगने और उससे दु.ख पहुँचने का मूल कारण क्या है ? कारण है सिर्फ़ शरीर का दुरुपयोग और उस दुरुपयोग का परिणाम । अर्थात् शरीर का दुरुपयोग करने ही से उसमे चोट लगती है या वह जल जाता है और दुःख का कारण होता है । यह दुरुपयोग ही एक प्रकार का अपराध है और अपराध करने से दण्ड ज़रूर ही भोग करना पडता है । सत् और असत्, अथवा उचित और अनुचित, यद्यपि ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार बहुधा ऐसी बातों के सम्बन्ध मे नहीं किया जाता

जिनके परिणाम शरीर को प्रत्यक्ष भोगने पड़ते हैं, तथापि जो इस विषय का अच्छी तरह विचार करेगा उसे साफ़ मालूम हो जायगा कि इन शब्दों का व्यवहार और बातों की तरह ऐसी बातों के विषय मे भी ज़रूर करना चाहिए। जैसे और बातें उचित और अनुचित, या सत् और असत् नाम की मदों मे रक्खी जाती हैं वैसे ही ये भी ज़रूर रक्खी जानी चाहिए। नैतिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले जितने सिद्धान्त हैं, चाहे जिस तत्त्व के आधार पर उनका विचार किया जाय, सब इस बात पर एक मत हैं कि जिस आचरण के—जिस चाल चलन के—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणामों का समुदाय हितकर है वही सत् या उचित है, और जिसके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणामों का समुदाय अहितकर है वही असत् या अनुचित है। मतलब यह कि आचरण के भले या बुरे होने का बीज उससे होनेवाला सुख या दुःख है। जिस आचरण से सुख मिलता है वह भला है और जिससे दुःख मिलता है वह बुरा है। आचरण-सम्बन्धिनी यही अन्तिम परीक्षा है। उसके अच्छे या बुरे होने की यही सर्वोत्तम कसौटी है। मद्यपान को हम इसलिए असत् अर्थात् बुरा समझते हैं, क्योंकि मद्यप की सन्तति और उसके आश्रित जनों का शरीर क्षीण हो जाता है, और, और भी कितनेही नैतिक अनिष्ट उन्हे भोगने पडते हैं। यदि चोरी करना चोर के, और जिसका माल चोरी जाता है उसके भी, सुख का कारण होता तो चौर-कर्म्म की गिनती कभी पातकों में न होती। यदि हम जानते कि दया के कामों से आदमियों को विशेष कष्ट सहने पड़ते हैं तो हम उनको ज़रूर निंद्य समझते—तो हम उनको कभी दयादर्शक न कहते। किसी अख़बार को उठा कर उसका पहला ही लेख पढिए, या यदि कहीं सामाजिक विषयों पर बातचीत हो रही हो तो उसे सुनिए, या पारलियामेंट के मंज़ूर किये हुए क़ायदे-क़ानून देखिए, या राजकीय विषयों की चर्चा का विचार कीजिए या सार्वजनिक हित की बातो पर ध्यान दीजिए, या किसी व्यक्ति-विशेष के काम-काज को देखिए—सब कहीं आप यही पावेंगे कि किसी बात को भली या बुरी ठहराने में लोग सुख-दुःख ही का विचार करते हैं। जिस बात से सुख की सम्भावना होती है उसे वे भली और जिससे दुःख की सम्भावना होती है उसे बुरी ठहराते

हैं। और यदि सारी आनुषङ्गिक बातों की—सारी दूसरे दरजे की बातों की—छान बीन करने से सत् या असत्, भले या बुरे, की कसौटी हम सुख या दुःख ही को पाते हैं तो भला यह कौन कह सकेगा कि सिर्फ़ शारीरिक व्यापारों के ही सम्बन्ध मे उनसे उत्पन्न होनेवाले सुख या दुःख के आधार पर सत् या असत् शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए ? अर्थात् शारीरिक कामों मे भी इन शब्दों का प्रयोग होना चाहिए और जिस काम से सुख हो उसे भला और ज़िससे दुःख हो उसे बुरा कहना चाहिए।

१४—शारीरिक अपराध करने से आदमी को स्वाभाविक दण्ड भोगने पड़ते हैं।

अब इस बात का विचार कीजिए कि वे कौन से दण्ड हैं जो इन शारी-रिक प्रमादों को—शरीर से होनेवाली इन भूलों को—रोकते हैं। जिन दण्डों के डर से आदमी इस तरह की भूले नहीं करते उनके स्वरूप का विचार कीजिए। हमे और अधिक अच्छा शब्द नही मिलता, इसी लिए हम "दण्ड" शब्द का प्रयोग यहाँ पर करते हैं। पर "दण्ड" शब्द अन्वर्थक नही है। सच पूछिए तो शारीरिक अपराधों के कारण मनुष्य को जो निष्कृति-भोग करना पड़ता है उसे दण्ड नहीं कह सकते। ऐसे अपराध करने से आदमी को जो क्लेश उठाना पड़ता है वह कृत्रिम और अनावश्यक क्लेश नही है। कृत्रिम रीति से उसे वह क्लेश नही पहुँचाया जाता। किन्तु जो बाते शरीर के सुख और कल्याण की बाधक हैं उनको रोकने का वह साधन है। और साधन भी कैसा ? सुखकर ! यदि इस तरह के सुखकर साधन आदमी को न प्राप्त होते तो शारीरिक व्यथायें उसके जीवन को बहुत जल्द नष्ट कर डालतीं। इस तरह के दण्डों मे—यदि उनको दण्ड कहना ही चाहिए—यह विशेषता है कि उन्हें किसी कृत्रिम रीति से देना नहीं पड़ता। वे सिर्फ़ उन कामों के अनिवार्य्य परिणाम हैं जिनके बाद ही उन्हें भोग करना पड़ता है। वे बच्चे के कृत-कर्म्म के अवश्यम्भावी विप्रतिकार हैं, और कुछ नहीं।

१५—जैसा अपराध वैसा दण्ड—थोड़े के लिए थोड़ा, बड़े के लिए बहुत।

इसके सिवा यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि ये पीड़ा-जनक दण्ड या विप्रतिकार कृतापराधों के गौरव-लाघव के अनुसार थोड़े या बहुत होते हैं। छोटी दुर्घटना से थोड़ी पीड़ा होती है, बड़ी दुर्घटना से बहुत। प्रकृति का यह नियम नहीं कि जो लड़का दरवाज़े की सीढ़ियों से गिर पड़े उसे सिर्फ़ इसलिए ज़रूरत से ज़ियादा तकलीफ़ उठानी पड़े जिसमें जितनी सावधानता से उसे चलना चाहिए भविष्यत् मे वह उससे अधिक सावधानता से काम ले। नहीं, जैसा अपराध वैसी ही सज़ा। उसमे तिल भर भी इधर उधर नहीं हो सकता। प्रकृति बच्चे को अपने प्रति दिन के तजरिबे से इस बात को जानने के लिए छोड़ देती है कि कौनसी भूल छोटी है और कौनसी बड़ी, और उनकी छुटाई बड़ाई के ख़याल से किस तरह का बर्ताव करना उचित है।

१६—स्वाभाविक दण्ड अचल, निश्चित और प्रत्यक्ष होते हैं।

अन्त मे इस बात को भी याद रखना चाहिए कि जो स्वाभाविक दण्ड बच्चों को उसके बुरे कामो के कारण मिलते हैं, वे अचल, निश्चित और प्रत्यक्ष होते हैं। उनसे किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता। जिस अपराध के लिए जो दण्ड एक दफ़े मिलता है वही दण्ड उस अपराध के लिए हमेशा मिलता है। इसमें कभी भूल नहीं होती। यहाँ धमकी को कोई नहीं पूछता। चुपचाप सख़्ती से काम लिया जाता है। यदि बच्चा अपनी उँगली में आलपीन चुभो ले तो चुभने के साथ ही पीड़ा के रूप मे दण्ड मिल जाता है। यदि वह फिर वैसा ही करे तो फिर वही दण्ड मिलता है। इसी तरह इस अपराध के लिए उसे हमेशा यही दण्ड मिला करता है। जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में बच्चे के जितने व्यापार होते हैं सबमे उसे एक विलक्षण प्रकार का निर्बन्ध और आग्रह देख पड़ता है। उनमें वह दया माया का

नाम तक नहीं पाता। वे उसका एक भी उज़् नहीं सुनते। उनके फ़ैसले की अपील नहीं। उनके कामों की न दाद है न फ़रियाद। उनके हाथ से बच्चे को जब इस तरह की अत्यन्त कठिन, पर परिणाम मे कल्याणकारक, सज़ा मिलती है तब वह उस विषय मे फिर कभी भूल न होने देने के लिए अत्यन्त सावधान हो जाता है।

१७—प्राकृतिक शिक्षा का प्रकार छोटे बड़े सबके लिए एकसा है।

जब हम इस बात को याद करते हैं कि ये साधारण नियम जैसे बचपन में वैसे ही प्रौढ़ वय मे भी बराबर एक से फलदायक होते हैं तब इनका महत्त्व और भी अधिक हमारे ध्यान मे चढ़ जाता है। तजरिबे से जाने गये प्राकृतिक परिणामो के ज्ञान की बदौलत ही स्त्री और पुरुष, दोनों, कुमार्ग से सन्मार्ग में आते हैं। ऐसे ही परिणामो का ज्ञान लोगों को बुरे मार्ग से बचाता है। जब घर की शिक्षा समाप्त हो चुकती है और जब, "ऐसा काम न करो", "वैसा काम न करो", इत्यादि उपदेश देने के लिए न माँ-बाप ही पास होते हैं और न अध्यापक ही, तब उसी शिक्षा से काम पड़ता है जिसका ज्ञान बचपन मे लड़कों को अपनी भलाई का रास्ता आप ही ढूँढ निकालने के लिए कराया जाता है। सांसारिक काम-काज शुरू करने पर यदि कोई नव-युवक अपना समय बे फ़ायदा खोता है अथवा जो काम उसे दिया गया है उसको सुस्ती से या अनाड़ियों की तरह करता है तो उसे धीरे धीरे स्वाभाविक दण्ड ज़रूर मिल जाता है। उसे कुदरती सज़ा मिले बिना नहीं रहती। वह अपने काम से हटा दिया जाता है। अतएव कुछ समय तक उसे थोड़े बहुत दारिद्र के दुःख ज़रूर भोगने पड़ते हैं। जो मनुष्य अनियमित है—जो समय का पाबन्द नहीं है—अतएव जो काम-काज, मनोरञ्जन और भेंट-मुलाक़ात आदि के लिए नियत किये गये समय को गँवा देता है उसे असुविधा, हानि और निराशा के रूप में अपने अनियमितपन का परिणाम ज़रूर भोगना पड़ता है। जो व्यापारी बहुत अधिक मुनाफ़े से अपना माल बेचता है उसके ग्राहक कम हो जाते हैं।

अतएव उसे अपना लोभ कम करके थोड़े मुनाफ़े से माल बेचना पड़ता है। जिस डाक्टर की चाह कम होने लगती है वह अधिक तकलीफ़ उठा कर आप ही आप रोगियों के इलाज की तरफ़ अधिक ध्यान देने लगता है—उनके दवा-पानी का वह पहले से अधिक ख़याल रखने लगता है। जो लेन-देन करनेवाला महाजन दूसरों पर बहुत अधिक विश्वास करने लगता है और जो व्यापारी व्यापार में बहुत अधिक रुपया फैला देता है वे दोनों, बिना अच्छी तरह समझे-बूझे जल्दी में काम करने के कारण पैदा हुए विघ्नों से यह सीख जाते हैं कि लेन-देन और बनिज-व्यापार में अधिक ख़बरदारी से काम करने की ज़रूरत है। हर एक नगर-निवासी के जीवन में हमेशा ऐसी ही बातें हुआ करती हैं। कहावत है कि—"जल जाने से बच्चा आग से डरता है", या "दूध का जला छाँछ फूँक फूँक कर पीता है"। ये कहावतें लोगों के मुँह से अकसर सुनने में आती हैं और जिन बातों का ज़िक्र यहाँ पर हम कर रहे हैं उनमें अच्छी तरह चिपकती हैं। इनसे सिर्फ़ यही बात नहीं सूचित होती कि बचपन में बच्चों को प्रकृति (ईश्वर) जो शिक्षा देती है उसमें, और सांसारिक काम-काज करने पर प्रौढ़ वय के आदमियों को जो शिक्षा मिलती है उसमें, समानता है। इस बात को तो सब लोग पूरे तौर पर क़बूल करते ही हैं। किन्तु इनसे यह बात भी सूचित होती है कि उनको यह विश्वास भी है कि यही शिक्षा पद्धति सबसे उत्तम और सबसे अधिक प्रभाव-पूर्ण है। यह न समझिए कि इस विश्वास की सूचना लोगों की उक्तियों में हमेशा ध्वनि से ही निकलती है। नहीं, बहुधा वे इस बात को साफ़ साफ़ भी कहते हैं। हर आदमी ने लोगों को यह कहते सुना होगा कि अमुक अमुक दुर्व्यसन या बुरी आदत, जिसमें हम पहले लिप्त थे, बहुत कुछ हानि उठाने के बाद. हम छोड़ सके। किसी ख़र्चीले और आकाश-पाताल-भेदी कल्पनायें करनेवाले की बातों की आलोचना करते समय लोगों के मुँह से हर आदमी ने यह सुना होगा कि उसे रास्ते पर लाने के लिए उपदेश देने और सिखलाने का कुछ भी फल नहीं हुआ। जब तक उसने एक अच्छी ठोकर खाकर अनुभव नहीं प्राप्त किया तब तक वह होश में नहीं आया—तब तक उस पर समझाने बुझाने का कुछ भी असर

नहीं हुआ। अपने किये का फल भोगने ही से उसकी आँखे खुलीं। कृत-कर्म्म के परिणाम ही ने दुर्व्यसनों से उसकी रक्षा की। यही नहीं कि स्वाभाविक विप्रतिकार—कृत-कर्म्मों का आपही आप हुआ फल—सबसे अधिक प्रभाव-जनक दण्ड हो। नहीं, मनुष्यो के द्वारा निश्चित किया गया कोई भी दण्ड उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यदि इस बात के और भी सबूत दरकार हों तो हम फ़ौजदारी के उन अनेक क़ायदे-क़ानूनों की याद दिलाते हैं जिनका जारी किया जाना प्रायः निष्फल साबित हुआ है—जिनका इष्ट हेतु सिद्ध ही नही हुआ। अनेक प्रकार के दण्ड देने के इरादे से आज तक कितने ही पेनल कोड बन चुके हैं—कितने ही फ़ौजदारी क़ानून ज़बरदस्ती जारी हो चुके हैं—पर एक भी क़ानून ऐसा नहीं जिसने उसके पक्षपातियों की आशाओं को पूर्ण किया हो। कृत्रिम दण्डों के योग से कभी सुधार नहीं हुआ; सुधार करने की उनमे शक्ति ही नहीं। उनके कारण कहीं कहीं अपराधों की संख्या बढ़ ज़रूर गई है। निज के तौर पर खोले गये जिन आचरण-शोधक जेलों में प्राकृतिक दण्ड-प्रणाली के अनुसार दण्ड देकर शिक्षा होती है उन्हीं को इसमे कामयाबी होती है औरो को नहीं। इन जेलख़ानो मे जो क़ैदी रहते हैं उन्हें अपने अपराधो के लिए सिर्फ़ स्वाभाविक दण्ड किया जाता है। इससे अधिक और कुछ नहीं किया जाता। अपराध करने पर अपराधी की सिर्फ़ इतनी ही स्वतन्त्रता यहाँ छीनी जाती है जितनी से समाज को कष्ट पहुँचने का डर होता है। इस तरह अपराधी की सिर्फ़ आवश्यक स्वतन्त्रता को छीन कर—उसकी स्वतन्त्रता का सिर्फ़ मतलब भर के लिए प्रतिबन्ध करके—जब तक वह क़ैद रहता है तब तक अपनी ही कमाई से अपना पेट पालने के लिए उससे काम लिया जाता है। इससे दो बाते हमें मालूम हुईं। एक तो यह कि जिस शिक्षा के अनुसार छोटे छोटे बच्चों को बाल्यावस्था मे उचित बर्ताव करना सिखलाया जाता है उसी के अनुसार प्रौढ़ वय मे वयस्क आदमियों का एक बहुत बडा समूह क़ाबू में रक्खा जा सकता है और उसकी थोड़ी बहुत उन्नति भी की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि बड़ी उमर के बुरे से बुरे लोगों के बर्ताव को दुरुस्त करने के लिए आदमियों की

निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति से जितनी ही अधिक भिन्न होती है उतनी ही अधिक विफल होती है और जितनी ही अधिक उससे मिलती जुलती होती है उतनी ही अधिक उसमें सफलता होती है।

१८—जो शिक्षा-प्रणाली बचपन और प्रौढ़ वय में काम देती है वही इन दोनों अवस्थाओं के बीच की अवस्था में भी काम देगी।

इससे क्या हमें यह नहीं मालूम होता कि नैतिक शिक्षा का यही नमूना होना चाहिए? इससे क्या यह बात नहीं साबित होती कि नैतिक शिक्षा की प्रणाली निश्चित करने मे यही सिद्धान्त हमारा पथदर्शक है? बचपन और जवानी, दोनों, मे जिस प्रणाली का प्रभाव इतना कल्याणकारक है वही प्रणाली क्या बचपन और जवानी के बीच की उम्रवालों के लिए भी कल्याणकारक न होगी? क्या कोई इस बात पर विश्वास करेगा कि जो प्रणाली जीवन की पहली और आख़िरी स्थिति में अच्छी तरह काम देती है वह मँझली स्थिति मे काम न देगी? क्या इससे यह साफ़ ज़ाहिर नहीं है कि प्राकृतिक बातों के व्याख्याता और शिक्षक बन कर माँ-बाप को चाहिए कि वे अपने बच्चों को उनके कृत कामों का परिणाम भोगने के लिए विवश करे? अर्थात् उनके जिस काम का जो परिणाम हो उसे उन्हे सहन करने दें। प्राकृतिक नियम यह है कि जो जैसा काम करे वह वैसा ही फल भी भोगे। इस फल-भोग से बच्चो को बचाने की कोशिश न करना चाहिए। माँ-बाप को उचित है कि इस तरह के फल-भोग को न तो वे कम करें और न ज़ियादह। न तो उन्हें ऐसे भोग का हलका ही कर देना चाहिए और न अधिक कठोर ही, और न प्राकृतिक परिणामों की जगह बनावटी परिणामो ही का भोग कराना चाहिए। प्राकृतिक भोग जैसा हो वैसा ही रहने देना चाहिए। हम समझते हैं कि कोई भी पक्षपातहीन आदमी इस बात को क़बूल करने में सङ्कोच न करेगा।

१८—इस विषय में एक आक्षेप का उत्तर।

सम्भव है, बहुत आदमी शायद यह कहे कि अनेक माँ-बाप अब भी ऐसा ही करते हैं। जो दण्ड वे देते हैं उसे बहुधा लड़कों के बुरे चाल-चलन का फल ही समझ कर देते हैं। माँ-बाप को क्रोध आने पर वह क्रोध गाली या मारपीट के रूप मे प्रकट होता है। इसका कारण बच्चे का अपराध या बुरा चाल-चलन ही तो है। इस तरह गाली या मार से बच्चे के मन या शरीर को जो कष्ट पहुँचता है वह उसके दुराचार का स्वाभाविक परिणाम नहीं तो क्या है? यह आक्षेप यद्यपि भूलों से भरा हुआ है तथापि इसमे कुछ सत्यांश भी है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि माँ-बाप को क्रोध बच्चे के अपराध का सच्चा परिणाम है और उससे इस तरह के अपराध कम भी हो जाते हैं। बच्चों से दिक़ किये जाने पर क्रोधी माँ-बाप उन्हें घुड़कते हैं, धमकाते हैं और मारते भी हैं। यह सच है कि माँ-बाप अपराध करने ही के कारण बच्चों को इस तरह के दण्ड देते हैं। अतएव ऐसे दण्ड को बच्चो के कृतापराधों का एक प्रकार से स्वाभाविक परिणाम ही समझना चाहिए। हम इस बात को क़बूल करने के लिए तैयार भी नहीं हैं कि बर्ताव के ये तरीक़े अपेक्षाकृत ठीक नहीं हैं। जिस उद्देश्य से इस तरह के बर्ताव किये जाते हैं—इस तरह के दण्ड दिये जाते हैं—ज़रूर ठीक हैं। पर इस तरह की दण्ड-नीति व्यापक नहीं। सब कहीं उसका प्रयोग नहीं हो सकता। जिन लोगों के लड़के क़ाबू मे नही रह सकते और जो ख़ुद भी अपने आपको क़ाबू में नहीं रख सकते, अर्थात् जिनमे आत्मसंयम की कमी है, उन्ही के लिए इस तरह के तरीक़े से काम लेना उचित कहा जा सकता है। जिस समाज मे इसी तरह के आत्मसंयमहीन और उच्छृङ्खल बड़े बूढ़े आदमियों की अधिकता है उसी के लिए ऐसे तरीके उपयोगी हो सकते हैं। जैसा कि हम एक जगह पहले कह आये हैं, राजकीय तथा और ऐसी ही बातों की तरह, शिक्षा-प्रणाली भी, साधारण रीति पर, उतनी ही अच्छी होती है जितनी कि उस समय सब लोगो के स्वभाव की अवस्था के अनुसार वह अच्छी हो सकती है। अर्थात् जैसा सर्व-साधारण का स्वभाव, भला या बुरा, होता

है वैसी ही शिक्षा-प्रणाली भी भली या बुरी होती है। असभ्य आदमियों के असभ्य लड़को के बुरे चाल-चलन का प्रतिबन्ध सिर्फ़ असभ्य तरीक़ों से ही सम्भव होता है। इससे माँ-बाप बिना कहे आपही आप इस तरीक़े से अपने बच्चो की बुरी आदतें छुड़ाते हैं। एक बात और भी है। वह यह कि बड़े होने पर इन लड़कों को असभ्य समाज मे ही रहना पड़ता है। अतएव ऐसे असभ्य समाज की स्थिति के अनुसार बर्ताव करने के लिए उनको उसी तरह की तैयारी भी करनी पड़ती है। ऐसी तैयारी के लिए धमकी, घुड़की और मार-पीट की शिक्षा के सिवा और कौन शिक्षा उत्तम हो सकती है? परन्तु शिक्षित समाज के आदमियों की स्थिति बिलकुल इसकी उलटी होती है। उन्हें भी क्रोध आता है। पर अपने क्रोध को वे शान्त और सौम्य रीति से प्रकट करते हैं। असभ्य आदमियों की तरह वे सख़्ती का बर्ताव नहीं करते। मार-पीट कर अपने लड़कों को सुमार्ग में लगाना उन्हें अच्छा नहीं लगता। उनका मृदु और दयाशील बर्ताव ही उनके सुशील और सु-स्वभाव लड़कों को सुपथगामी बनाने के लिए काफ़ी होता है। तो यह सच है कि जहाँ तक माँ-बाप के मनोविकारों के प्रकट होने से सम्बन्ध है वहाँ तक हमेशा प्राकृतिक दण्ड के सिद्धान्तो ही से थोड़ा बहुत काम ज़रूर लिया जाता है। अर्थात् जब जब माँ-बाप अपने बच्चों पर क्रोध करते हैं तब तब प्राकृतिक परिणामों के तत्त्वानुसार ही वे उनसे बर्ताव करते हैं। मतलब यह कि गृह-शिक्षा की प्रणाली सच्ची स्वाभाविक स्थिति ही की तरफ़ झुकती जाती है।

२०—परिवर्तनशील समाज में शिक्षा-प्रणाली का समाज की स्थिति के अनुसार न होना।

परन्तु, इस विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातों का विचार करना ज़रूरी है। पहली बात यह है कि जिस समाज की स्थिति जल्दी जल्दी बदलती जाती है, जैसी कि हमारे समाज की दशा है, उसमे पुराने सिद्धान्तो और पुरानी चालो की नये सिद्धान्तों और नई चालो से बराबर मुठभेड़ जारी रहती है। ऐसे समाज मे तत्कालीन स्थिति के अनुसार वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का न

होना बहुत सम्भव है। कितने ही माँ-बाप अपने बच्चो को उन नियमों के अनुसार दण्ड देते हैं जो उस ज़माने की सामाजिक स्थिति के अनुसार उचित थे जिस ज़माने मे कि वे बनाये गये थे। अतएव इस तरह के दण्ड देने से माँ-बाप को ख़ुद भी कष्ट होता है। इस दशा मे उनका दिया हुआ दण्ड स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ऐसे दण्ड को बच्चे के अपराध का स्वाभाविक परिणाम मानना भूल है। पर कोई कोई माँ-बाप इस आशा से कि हमारे लड़के फ़ौरन ही सुधर जायँ, इसकी उलटो रीति की हद के भी पार निकल जाते हैं। दूसरी बात यह है कि माँ-बाप की प्रसन्नता या अप्रसन्नता के तजरिबे का ही नाम सर्वोत्तम शिक्षा नहीं है। किस काम से माँ-बाप प्रसन्न होते हैं और किससे अप्रसन्न, इस बात के जानने ही का नाम अच्छी शिक्षा नहीं है। परमोत्तम और योग्य शिक्षा उसे कहते हैं जो, अपनी प्रसन्नता या अप्रसन्नता प्रकट करने और लड़कों के बर्ताव के सम्बन्ध में रोक टोक करने के लिए माँ-बाप के पास न होने पर भी, अपने काम-काज के परिणामों के तजरिबे से प्राप्त होती है। सच्चे कल्याणकारी और उपयोगी परिणाम वे नहीं कहलाते जिन्हें माँ-बाप, प्रकृति या परमेश्वर के मुख़्तारे-आम या एजंट बन कर पैदा करते हैं, किन्तु वे कहलाते हैं जिन्हें प्रकृति आपही आप पैदा करती है। अर्थात् जो सज़ा या जो शिक्षा माँ-बाप बच्चों को देते हैं उससे उतना फ़ायदा नहीं होता जितना कि ख़ुद प्रकृति की दी हुई सज़ा या शिक्षा से होता है। इन दोनों प्रकार के परिणामों का भेद साफ साफ़ ध्यान में आने के लिए हम कुछ उदाहरण देने की कोशिश करेंगे। इन उदाहरणों से यह बात समझ में आ जायगी कि प्राकृतिक और बनावटी परिणामों से हमारा क्या मतलब है। इसके सिवा इन उदाहरणो से कुछ व्यावहारिक बातों का भी ज्ञान हो जायगा।

२१—प्राकृतिक शिक्षा का एक उदाहरण।

छोटे छोटे बच्चोंवाले हर कुटुम्ब मे प्रति दिन कुछ ऐसे खेल कूद हुआ करते हैं जिन्हें बच्चों की माँ और नौकर-चाकर कूडा-करकट करना कहते हैं। बच्चा सन्दूक़ से अपने खिलौने निकाल कर उन्हें इधर उधर डाल

देता है। अथवा सवेरे हवा खाने के लिए बाहर जाकर वहाँ से बच्चा जो फूल लाता है उन्हे मेज़ और कुरसियों पर बखेर देता है। अथवा छोटी लड़की अपनी गुड़िया के कपड़े तैयार करने में कपड़ों के टुकड़े इधर उधर फेंक कर कमरे को मैला कर देती है। इस दशा मे सब तरफ़ अस्त-व्यस्त पड़ी हुई चीज़ों को इकट्ठा करने का श्रम जिस पर पड़ना चाहिए उस पर न पड़ कर बहुधा और ही किसी पर पड़ता है। यदि यह अस्त-व्यस्तता बच्चों के खेलने-कूदने के घर में होती है तो दाई या मज़दूरनी हो को बिखरी हुई चीज़ें उठानी पड़ती हैं। वह चीज़ो को उठाती भी जाती है और बच्चो को बुरा भला कहती हुई बरबराती भी जाती है। यदि यह अस्तव्यस्तता घर के नीचे के हिस्से, अर्थात् दीवानख़ाने वग़ैरह, मे होती है तो यह काम बहुत करके या तो किसी बड़े भाई या बहन के सिर पड़ता है या किसी दासी के। पर अपराधी बच्चे को बहुधा कोई सज़ा नही मिलती और यदि मिलती भी है तो सिर्फ़ थोड़ी सी धमकी घुड़की मिल जाती है। पर कितने ही समझदार और बुद्धिमान् माँ-बाप, बच्चों के इस तरह के सीधे सादे अपराध को देख कर, थोड़ा बहुत उचित बर्ताव करते हैं—अर्थात् प्राकृतिक नियमों के अनुसार बच्चे को सज़ा देते हैं। वे ख़ुद बच्चों ही से उन बिखरे हुए खिलौनों या धज्जियों को उठवाते हैं। जो बच्चा अपनी चीज़ों को इधर उधर फेंक देता है उसकी स्वाभाविक सज़ा यही है कि उसी से वे चीज़ें इकट्ठी करवा कर फिर अपनी जगह पर रखाई जायँ। हर एक दुकानदार को अपनी दुकान मे, और हर एक स्त्री को अपने घर से, प्रति दिन इस तरह का तजरिबा होता रहता है। यदि शिक्षा का मतलब, वयस्क होने पर सांसारिक काम-काज करने की तैयारी है, तो हर एक बच्चे को इस बात का तजरिबा शुरू से ही होना चाहिए। हठी स्वभाव के कारण प्राकृतिक दण्ड भोगने में यदि बच्चा आनाकानी करे (यह बात बहुत करके वहीं होती है जहाँ नैतिक शिक्षा का तरीक़ा पहले ही से ख़राब होता है) तो उसे अपने हठीले स्वभाव का प्राकृतिक परिणाम भोग करने के लिए लाचार करना ही सबसे अच्छी दवा है। आज्ञा-भङ्ग करने का फल भोगने पर उसकी अक्ल ज़रूर ठिकाने आ जायगी। अपनी चीज़ो को इधर उधर फेंक कर उन्हे

उठाने और यथास्थान रखने से यदि बच्चा इनकार या बेपरवाही करे, और, इस कारण उस काम के करने की तकलीफ़ किसी और को उठानी पड़े, तो आगे इस तरह की तकलीफ़ देने का उसे कभी मौक़ा भी न देना चाहिए। जब फिर बच्चा अपने खिलौने माँगे तब माँ को साफ़ कह देना चाहिए कि—"पिछली दफ़े जब तुम्हें खिलौने दिये गये तब तुमने उनको फ़र्श पर इधर उधर फेंक दिया। इससे जेन को उन्हें उठाना पड़ा। तुम्हारी तितर बितर की हुई चीज़ों को रोज़ उठाने के लिए जेन को फ़ुरसत नहीं। उसे इतना ही काम नहीं, और भी है। और ख़ुद मैं भी यह काम नहीं कर सकती। खेल चुकने के बाद तुम खिलौनों को उठा कर रखते नहीं, इससे अब तुम्हें खिलौने दिये ही न जायँगे"। बच्चे के कृतापराध का यह स्वाभाविक परिणाम है—न कम है न ज़ियादह। और बच्चा भी इसको ऐसा ही समझेगा। इस परिणाम का सच्चा स्वरूप ज़रूर उसकी समझ में आ जायगा। यह सज़ा ऐसे वक़्त पर दी जायगी जब बच्चे के दिल पर उसका बहुत जियादा असर होगा। बच्चे की इच्छा खेलने की है। खेल से होनेवाले आनन्द की कल्पना उसके मन मे आ रही है। ऐसे वक़्त में उस आनन्द-प्राप्ति से निराश होने के कारण बच्चे को बहुत बुरा लगेगा और जिस बात से यह आनन्द-विघात हुआ वह उसे न भूलेगा। उसके दिल पर भविष्यत् में इसका असर हुए बिना न रहेगा। यदि इसी तरह दो चार दफ़े किया जायगा तो बच्चे की हठ बहुत करके ज़रूर छूट जायगी। इस तरीक़े से बचपन ही में लड़के को एक और भी शिक्षा मिल जाती है। वह यह है कि संसार में जो सुख मिलता है परिश्रम ही से मिलता है। यह शिक्षा जितना ही जल्द प्राप्त की जाय उतना ही अच्छा है।

२२—प्राकृतिक शिक्षा का दूसरा उदाहरण।

एक और उदाहरण लीजिए। अभी बहुत दिन नहीं हुए, हम एक छोटी सी लड़की पर इस लिए डाट डपट होते सुनते थे कि वह रोज़ सवेरे हवा खाने के लिए शायद ही कभी वक़्त पर तैयार होती। इस लड़की का नाम कान्स्टन्स था। उसके स्वभाव मे व्यग्रता बहुत थी। स्वभाव की वह बहुत

तेज़ थी। जिस समय जो काम होता था उसमे वह जी जान से मग्न हो जाती थी। इस कारण जब तक और सब लोग बाहर जाने के लिए तैयार न हो जाते थे तब तक उसे अपनी चीज़ों को उठा कर रखने का ख़याल ही न आता था। देख भाल करनेवाली स्त्री और दूसरे बच्चों को प्राय: हमेशा उसके लिए ठहरना पड़ता था और उसकी माँ को भी प्राय: हमेशा उसे बुरा भला कहना पड़ता था। इस तरह धमकी घुड़की देकर कान्स्टन्स की आदत छुड़ाने मे ज़रा भी कामयाबी नही हुई। पर उसकी माँ को कभी यह ख़याल नही हुआ कि उसे वह प्राकृतिक दण्ड भोग करने के लिए लाचार करे। यहाँ तक कि जब लोगों ने उसे इस तरह का दण्ड देने के लिए सलाह दी तब भी उसने वैसा दण्ड देकर परीक्षा करने की कोशिश नही की। संसार मे हर काम के लिए समय पर तैयार न रहने से कोई न कोई ऐसी हानि ज़रूर उठानी पड़ती है जो तैयार रहने से न उठानी पड़ती। उदाहरण के लिए—रेल छूट गई, लंगर उठा कर जहाज़ चल दिया; बाज़ार में सबसे अच्छी चीज़ें बिक गईं, या मजलिस में बैठने की अच्छी अच्छी जगहे भर गईं। ऐसी ऐसी बातें हमेशा ही हुआ करती हैं। विचार करने से हर आदमी को मालूम हो सकता है कि इन सब बातों में होने-वाली निराशा ही के डर से लोग देरी नहीं करते। भावी निराशा ही देर करने की आदत को छुड़ाती है। इससे जो नतीजा निकलता है वह बिल-कुल साफ़ है—उसका मतलब साफ़ साफ़ ध्यान मे आ जाता है। अतएव भावी निराशा का डर क्या बच्चे के भी बुरे बर्ताव की आदत को नहीं दुरुस्त कर सकता? यदि कान्स्टन्स समय पर नहीं तैयार होती तो इसका स्वाभाविक फल यही होना चाहिए कि वह घर मे छोड़ दी जाय और हवा खाने के आनन्द से वञ्चित रक्खी जाय। जब दो एक दफ़े वह घर पर अकेली रह जायगी और दूसरे लड़के बाहर खेतों मे आनन्द से घूम फिर कर हवा खायँगे, औ जब उसे यह मालूम होगा कि इस इतने बड़े आनन्द से वञ्चित रहने का कारण सिर्फ़ मेरी सुस्ती है, तो, बहुत सम्भव है, कि उसकी देर करने की बुरी आदत दुरुस्त हो जायगी। इस तरकीब से यदि और कुछ न होगा तो इतना तो ज़रूर होगा कि प्रति दिन की धमकी

घुड़की से यह अधिक कारगर होगी और बच्चों को बे-परवाह होने से बचावेगी।

२३—प्राकृतिक शिक्षा का तीसरा उदाहरण।

यदि बच्चे बहुत अधिक बेपरवाह हो जायँ और जो चीज़े उन्हे दी जायँ उनको तोड़ डाले या खो दें तो इसके लिए भी वही स्वाभाविक दण्ड देना चाहिए जो उन चीज़ों के न होने से तकलीफ़ या असुविधा के रूप में होता है। जिस चीज़ के न होने से जो असुख, असुविधा या तकलीफ़ होती है वही, ऐसे विषयों मे, स्वाभाविक दण्ड है। अतएव वही दण्ड लड़कों को देना मुनासिब है। इसी दण्ड के डर से वयस्क आदमी अपनी चीज़-वस्तु होशियारी से रखते हैं। जो चीज़ टूट जाती है या खो जाती है उसके कारण जो तकलीफ़ उठानी पड़ती है और उसकी जगह पर नई चीज़ मोल लेने में जो ख़र्च पड़ता है उसी से प्रौढ़ वय के स्त्री-पुरुषों को यह शिक्षा मिलती है कि अपनी चीज़ को सँभाल कर रखना चाहिए। इन्हीं बातों से उनको अपनी वस्तु अच्छी तरह रखने की आदत पड़ती है। अतएव जहाँ तक हो सके, इन बातों के सम्बन्ध में, बच्चों को भी ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिए। उनको भी इसी तरह का तजरिबा कराकर आगे के लिए सावधान करना चाहिए। यहाँ पर हमारा मतलब उस समय से नहीं है जिस समय बहुत छोटी उम्र में बच्चे पदार्थों के गुण-धर्म आदि सीखने में खिलौनो को तोड़ कर टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। उस समय तो बेपरवाही के नतीजों का ज्ञान ही नहीं होता—उस समय तो बच्चों को यह समझ ही नहीं होती कि खिलौनो के तोड़ मरोड़ से वे कितना नुक़सान कर रहे हैं। हमारा मतलब उस समय से है जब बच्चे अपना पराया समझने लगते हैं और उनको यह ज्ञान हो जाता है कि अपनी चीज़ों को सँभाल कर रखने से क्या फ़ायदा है। कल्पना कीजिए कि कोई लड़का इतना बड़ा है कि चाकू अच्छी तरह रखने भर को उसे काफ़ी समझ है। यदि वह अपने चाकू से काम लेने में इतनी बेपरवाही करे कि उसका फल टूट जाय, या छड़ी काटने के बाद किसी झाड़ी के पास वह उसे घास पर छोड दे और वह खो जाय, तो उसका अविवेकी बाप या

विशेष लाड़-प्यार करनेवाला कोई रिश्तेदार बहुत करके उसके लिए दूसरा चाकू मोल ले देगा । उसके ध्यान मे यह बात न आवेगी कि ऐसा करने से एक उपयोगी बात सीखने से लडका वञ्चित रह जाता है। दूसरा चाकू ले देने से एक महत्त्वपूर्ण सबक़ सीखने का अवसर लड़के के हाथ से जाता रहता है। ऐसे अवसर पर बाप को चाहिए कि वह लड़के को समझा दे कि चाकू मोल लेने मे पैसे ख़र्च होते हैं। पैसा कमाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। जो इस तरह बेपरवाही से चाकू तोड़ डालता है या खो देता है उसके लिए मैं बार बार नये चाकू नही मोल ले सकता। अतएव जब तक मुझे इस बात का सबूत न मिलेगा कि तुम अपनी चीज़ो को पहले की अपेक्षा अधिक सँभाल कर रक्खोगे तब तक टूटे या खोये हुए चाकू के बदले मैं नया चाकू नहीं ले दूँगा। फ़िज़ूलख़र्ची रोकने के लिए भी यही तरकीब काम देगी।

२४—कृत्रिम दण्डों की अपेक्षा स्वाभाविक दण्डों से होनेवाले लाभों की स्पष्टता।

जो उदाहरण हमने यहाँ पर दिये, बहुत सीधे सादे हैं। कोई दिन ऐसा नही कि इस तरह के उदाहरण न देख पड़ते हों। इनसे हमारे कहने का मतलब साफ़ तौर पर समझ में आ जायगा, और, लोगों को मालूम हो जायगा कि बनावटी और स्वाभाविक दण्डों मे क्या अन्तर है। इनसे यह बात भी स्पष्ट मालूम हो जायगी कि स्वाभाविक दण्डो ही का काफ़ी असर आदमियों पर पड़ता है। यही दण्ड ऐसे हैं जिनसे बच्चो की बुरी आदते छूट सकती हैं। जिन तत्त्वों का यहाँ पर हमने उदाहरणपूर्वक निरूपण किया उनके सूक्ष्म और ऊँचे दरजे के प्रयोगों के विषय में अब हम कुछ लिखना चाहते हैं। पर पहले हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में बहुतेरे कुटुम्बों में जिस तत्त्व, या यों कहिए कि जिस प्रचलित रीति, से काम लिया जाता है उसकी अपेक्षा हमारे निश्चित किये गये तत्त्व के अनुसार शिक्षा देने से कितने अधिक और कितने महत्त्व के लाभ होने की सम्भावना है।

२५—प्राकृतिक रीति से दी गई शिक्षा से पहला लाभ।

हमारे सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देने से पहला लाभ यह है कि सब बातों का कार्य्य-कारण-भाव ठीक ठीक लड़कों की समझ आ जाता है। इस बात का दृढ़ता से बार बार और सुसङ्गत अभ्यास होते होते कार्य्य-कारण-भाव-विषयक कल्पनायें धीरे धीरे परिपूर्ण और निश्चित हो जाती हैं। सब बातो के बुरे भले परिणाम अच्छी तरह समझ में आ जाने से, संसार मे प्रवेश करने पर, मनुष्य के चाल-चलन के जितना अच्छे होने की सम्भावना है उतना सिर्फ़ दूसरों के कहने पर विश्वास कर लेने से नहीं। दूसरे के दिये हुए प्रमाण के अनुसार काम करने की अपेक्षा खुद अपने ही तजरिबे के अनुसार काम करने से मनुष्य के सदाचरणशील होने की अधिक सम्भावना होती है। जिस लड़के को यह बात मालूम हो जाती है कि चीज़ों को इधर उधर फेंकने से उन्हे उठा कर यथास्थान रखना पड़ता है,—या जो ढीलेपन के कारण किसी आनन्द-वर्द्धक बात से वञ्चित रहता है, या बेपरवाही के कारण जिसे किसी बहुत प्यारी वस्तु से हाथ धोना पड़ता है, उसे बहुत तीव्र दु:ख ही नहीं होता, किन्तु कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ मे आ जाता है। ये दोनों बातें बिलकुल वैसी ही हैं जैसी कि प्रौढ़ वय मे होती हैं—अर्थात् जैसे प्रौढ़ वय मे दु:ख आदि होने से उनका कार्य्य-कारण-भाव समझ मे आ जाता है वैसे ही बाल्यावस्था में भी आ जाता है। पर ऐसे मौक़ो पर यदि बच्चा सिर्फ़ धमका कर अथवा और कोई अस्वाभाविक दण्ड देकर छोड़ दिया जाता है तो ऐसा दण्ड प्राय: व्यर्थ जाता है। ये दण्ड ऐसे हैं कि बच्चा इनकी बहुधा बहुत ही कम परवा करता है। इससे यही हानि नही होती कि बच्चा स्वाभाविक परिणाम भोगने से बच जाता है, किन्तु भले बुरे कामों के स्वरूप के ज्ञान से भी, जो उसे स्वाभाविक दण्ड देने से हो जाता, वञ्चित रहता है। कृत्रिम पुरस्कार और कृत्रिम दण्ड देने का मामूली तरीक़ा दोष-पूर्ण है। समझदार आदमी इस बात को बहुत दिन से जानते हैं। किसी दुराचरण

के स्वाभाविक परिणाम भोगने के बदले कोई और काम कराना या कोई और दण्ड देना उचित नहीं। उससे बुरे नैतिक आदर्श की नीव पड़ती है। उससे बच्चो को इस बात का ज्ञान नही होता कि अच्छा बर्ताव किसे कहते हैं—सदाचरण क्या चीज़ है। इस दशा में बचपन से लेकर प्रौढ़ होने तक बच्चे हमेशा यही समझते रहते हैं कि जो काम करने के लिए वे मना किये जाते हैं वह काम करने से सबसे बड़ी बात सिर्फ़ यही होती है कि माँ-बाप या अध्यापक अप्रसन्न हो जाते हैं। इससे बच्चों के मन मे यह कल्पना और हो जाती है कि इस तरह के काम और अप्रसन्नता मे कार्य्य-कारण-भाव है। अतएव जब माँ-बाप और अध्यापकों का दबाव नही रहता और उनके अप्रसन्न होने का डर जाता रहता है तब अनुचित काम करने के विषय की प्रतिबन्धकता भी बहुत कुछ दूर हो जाती है। पर स्वाभाविक दण्डों के रूप मे सच्ची प्रतिबन्धकता का भोग भोगना फिर भी बाक़ी रहता है। यह बात दु:खदायक अनुभवो के द्वारा बच्चों को पीछे सीखनी पड़ती है। अदूरदर्शिता से भरी हुई इस नैतिक शिक्षा-प्रणाली का ख़ुद ज्ञान रखनेवाले एक मनुष्य ने, इस विषय मे, अपना अनुभव बयान किया है। वह कहता है—"जिन नवयुवकों को मदरसे से फ़ुरसत मिल जाती है—विशेष करके वे लोग जिनके माँ-बाप ने दुष्कृत्य करते देख उन पर दबाव नही डाला—वे हर तरह की फ़िज़ूल बातों मे सिर के बल डूब जाते हैं। उन्हे विधि-निषेध का ज्ञानही नही रहता। काम करने के नियमों को वे जानते ही नहीं। यह काम क्यों अच्छा है, और वह काम क्यों बुरा है, इसे वे समझते ही नहीं। किसी तत्त्व या सिद्धान्त को सामने रख कर काम करने की रीति से वे प्राय: सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। जब तक सांसारिक जञ्जाल मे फँस कर वे ख़ूब सख़्त धक्के नहीं खा लेते तब तक उनके साथ व्यवहार करना बहुत बड़े धोखे और डर का काम है। तब तक ऐसे लोगों को समाज का एक बहुत ही भयङ्कर अङ्ग समझना चाहिए"।

२६—प्राकृतिक शिक्षा से दूसरा लाभ।

इस स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली से एक और भी बड़ा लाभ यह है कि

भी—इस तरह का दण्ड कई दफ़े पाने पर भी—यदि कपड़ों के फाड़ने या मैला करने का क्रम पूर्ववत् जारी रहे तो इस शिक्षा-पद्धति का अवलम्बन करनेवाले बाप को चाहिए कि उस समय तक वह नये कपड़े बनवाने में रुपया खर्च न करे जब तक कि मामूली तौर पर उनके बनवाने का समय न आ जाय। ऐसा करने से बच्चे को फटे पुराने और मैले कपड़े पहनने पड़ेंगे। इस बीच मे यदि छुट्टियों के कारण बाहर घूमने घामने या किसी तिथि-त्यौहार के कारण अपने इष्ट-मित्रों से मिलने के मौक़े आवें, और अच्छे साफ़ सुथरे कपड़े न होने से बच्चा घर के और आदमियों के साथ यदि न जाने पावे, तो इस दण्ड का उसके दिल पर बहुत बड़ा असर होगा और सब बातो का कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ मे आये बिना न रहेगा। तब उसे यह भी अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि यह सारी आपदा मेरी ही बे-परवाही का कारण है। ऐसा होने से उसे कभी यह ख़याल न होगा कि मुझ पर अन्याय हुआ है। परन्तु यदि दिये गये दण्ड और उसके कारण का पारस्परिक सम्बन्ध उसके ध्यान मे न आता तो वह कभी न समझता कि मुझ पर अन्याय नही हुआ।

२७—प्राकृतिक शिक्षा से तीसरा लाभ।

एक बात यह भी है कि मामूली तरीक़े की अपेक्षा हमारे बतलाये हुए तरीक़े से नैतिक शिक्षा देने में माँ-बाप और सन्तान, दोनों, के चित्त फट जाने का बहुत कम डर रहता है। बुरे चाल-चलन के स्वाभाविक परिणाम हमेशा दुःखकारक होते हैं। पर उन्हे भोगने के बदले यदि माँ-बाप अपने लड़कों को दूसरे ही प्रकार के कृत्रिम दण्ड देते हैं तो उससे दुहरी हानि होती है। बच्चों के लिए वे एक नहीं, अनेक तरह के नियम बनाते हैं और उन नियमों का पालन कराना अपनी प्रभुता और अधिकार के लिए बहुत ज़रूरी समझते हैं। यदि बच्चे उन नियमों को भङ्ग करते हैं तो माँ-बाप समझते हैं कि हमारी मान-मर्य्यादा भङ्ग हो गई। अपने बनाये हुए नियमों का उल्लङ्घन होना मानों ख़ुद उन्हीं के प्रतिकूल कोई अपराध करना है। इस तरह की समझ के कारण नियमोल्लंघन होने पर उन्हे क्रोध आता है।

यह पहली हानि हुई। स्वाभाविक नियम यह है कि अपराधी ही को हानि उठानी चाहिए। परन्तु अपराध करते हैं बच्चे और उस अपराध के कारण जो अधिक श्रम और खर्च पड़ता है उसे उठाते हैं माँ-बाप। यह दूसरी हानि हुई। इस तरह की शिक्षा से माँ-बाप की तरह बच्चों को भी दिक़्क़त उठानी पड़ती है। बुरे कामों के जो स्वाभाविक परिणाम बच्चों को भुगतने पड़ते हैं उन परिणामों का पैदा करनेवाला—उन दुःखों का देनेवाला—देख नहीं पडता। वह अदृश्य रहता है। वह यह नहीं कहने आता कि तुमने यह बुरा काम किया, इससे तुमको यह दण्ड मिला। इससे उन्हे जो कष्ट मिलता है वह थोड़ा होता है और थोड़ी ही देर तक रहता है। परन्तु जो दण्ड माँ-बाप देते हैं वह कृत्रिम होता है। और दण्ड देने के बाद माँ-बाप हमेशा बच्चों की नज़र के सामने रहते हैं। बच्चे प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारे दण्डदाता यही हैं। इन्हीं ने जान-बूझ कर हमे दण्ड दिया है। इस बात को सोच कर उन्हें अधिक दुःख होता है और अधिक समय तक रहता है। इसी से बच्चे माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं। अब आप ही सोचिए कि दण्ड देने का यह तरीक़ा यदि बच्चो के लिए बहुत ही छोटी उम्र से काम में लाया जाय तो उसका परिणाम कितना भयङ्कर होगा। यदि यह सम्भव होता कि अज्ञान और अनाड़ीपन के कारण बच्चो के शारीरिक कष्ट खुद माँ-बाप किसी तरह अपने ऊपर ले लेते और उन कष्टों को सहन करके बच्चों को कोई और दण्ड इसलिए देते जिससे उनको यह मालूम हो जाता कि हमने जो बुरा काम किया है उसी का यह परिणाम है तो इस तरीक़े की भयङ्करता खूब अच्छी तरह समझ में आ जाती। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि एक लड़के से यह कहा गया कि आग पर चढ़ी हुई बटलोई को मत छूना। इस बात को न मान कर बच्चे ने बटलोई छुई और खौलता हुआ पानी उसके पैर पर गिर गया। इससे उसके पैर पर आवला पड़ गया। इस आवले को माँ ने किसी तरह अपने पैर पर लेलिया और उसके बदले बच्चे के मुँह पर एक चपत जमाया। अब आपही कहिए; यदि इसी तरह हमेशा दण्ड दिया जाय, तो क्या प्रति-दिन की नई नई आपदायें आज कल की अपेक्षा और भी अधिक क्रोध

और दुःख का कारण न होंगी? इस दशा मे क्या माँ-बाप और बच्चे दोनो के स्वभाव और भी अधिक ख़राब न हो जायँगे और क्या उनकी यह बुरी आदत और भी अधिक दिनों तक न बनी रहेगी? यह एक काल्पनिक उदाहरण है। यदि सचमुच ही इस तरह की घटनाये होने लगें तो माँ-बाप और सन्तति मे पारस्परिक द्वेष की मात्रा बहुत अधिक बढ जाय। इसमे कोई सन्देह नहीं। तथापि यह बात बहुधा दखी जाती है कि यदि नादानी के कारण बच्चे के शरीर मे चोट लग जाती है तो पहले तड़ाके मे माँ-बाप के हाथ से उलटा उसे ही मार खानी पड़ती है। बचपन ही में नहीं, बड़े होने पर भी बच्चो के साथ माँ-बाप बहुधा इसी तरह का बर्त्ताव करते हैं। अपनी बहन के खिलौने को बेपरवाही से या जान-बूझ कर तोड़ने के कारण जो बाप अपने लड़के को मारता-पीटता है और मार-पीट कर खुदही एक नया खिलौना मोल लेने मे पैसा खर्च करता है वह बिल-कुल उसी तरह का बर्त्ताव करता है जिस तरह के बर्त्ताव का हम ज़िक्र कर रहे हैं। खिलौना तोड़ने का अपराधी लडका है। उसको तो बाप मार-पीट के रूप मे बनावटी दण्ड देता है और नया खिलौना मोल लाना जो स्वाभा-विक दण्ड है उसे अपने ऊपर लेता है। इसका फल यह होता है कि अपराधी लड़का और निरपराधी बाप, दोनों, व्यर्थ तंग होते हैं—दोनों को व्यर्थ क्रोध आता है। यदि बाप सिर्फ़ लड़के से दूसरा खिलौना दिला देता तो इतनी द्वेष-बुद्धि—इतनी जी-जलन—कभी न पैदा होती। यदि बाप लडके से कह देता कि दूसरा खिलौना तुम्हीं को अपना पैसा ख़र्च करके लाना पड़ेगा, अतएव जो जेब-ख़र्च तुमको मिलता है उसमे से खिलौने के दाम काट लिये जायँगे, तो बाप-बेटे मे परस्पर द्वेष-बुद्धि की मात्रा बहुत कम हो जाती। इस दशा मे दोनों के दिल मे विशेष बल न पड़ता। इससे एक और फ़ायदा यह भी होता कि जेब-ख़र्च से खिलौने के दाम काटने के रूप मे जो दण्ड बच्चे को मिलता वह उसे विशेष खलता भी नहीं, क्योंकि उसे इस बात का ज़रूर ख़याल होता कि जो दण्ड मुझे मिला वह न्याय्य है। सारांश यह कि स्वाभाविक शिक्षा-पद्धति के द्वारा—स्वाभाविक रोक-टोक के द्वारा—माँ-बाप और बच्चों की आदत बिगड़ने का बहुत कम डर

रहता है । इसके दो कारण हैं । एक तो यह कि इस तरह की रोक-टोक सब प्रकार से न्याय-सङ्गत समझी जाती है । दूसरा यह कि यह रोक-टोक प्रत्यक्ष माँ-बाप के द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष प्रकृति के द्वारा होती है । अर्थात् इस तरह का स्वाभाविक दण्ड बहुत करके माँ-बाप के बदले प्रकृति की मुख़तारे आम वस्तु-स्थिति ही के द्वारा होता है ।

२८—प्राकृतिक शिक्षा से चौथा लाभ ।

इससे यह नतीजा निकलता है, और नतीजा भी कैसा कि साफ़ मालूम होता है, कि इस पद्धति के अनुसार व्यवहार करने से माँ-बाप और लड़कों में स्नेह-भाव की वृद्धि होती है । उनका पारस्परिक सम्बन्ध मित्रों का ऐसा हो जाता है । इसी से उसका असर भी अधिक होता है । क्रोध चाहे माँ-बाप को आवे चाहे बच्चे को, चाहे जिस कारण से पैदा हो, और चाहे जिस पर हो, हानि उससे ज़रूर होती है । परन्तु यदि माँ-बाप का क्रोध बच्चे पर या बच्चे का क्रोध माँ-बाप पर होता है तो उससे और भी अधिक हानि होती है, क्योंकि वह उस सहानुभूति को—उस हमदर्दी को—शिथिल कर देता है जो सन्तान को प्रेमपूर्वक अपने क़ाबू मे रखने के लिए बहुत ज़रूरी है । मतलब यह कि क्रोध के कारण अन्योन्य-प्रेमबन्धन शिथिल हो जाता है । जो जो चीज़े हम संसार मे देखते हैं उनसे हमारे मन पर कुछ न कुछ संस्कार ज़रूर होता है । आदमी चाहे बुड्ढा हो चाहे जवान, विचार-साहचर्य्य के सिद्धान्तों के अनुसार, उसे उन चीज़ों से ज़रूर घृणा होती है जिनको देख कर उसके दुःख, शोक आदि मनोविकार जागृत हो उठते हैं । अर्थात् जिन चीज़ों के संस्कार-साहचर्य्य से दुःखदायक मनोविकारों का स्वभाव ही से अनुभव होने लगता है वे ज़रूर अप्रिय हो जाती हैं । अथवा जहाँ पहले से प्रेम था वहाँ दुःखदायक मनोविकारो की न्यूनाधिकता के अनुसार वह प्रेम कम हो जाता है या उसकी जगह पर द्वेष पैदा हो जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रोध आने पर यदि माँ-बाप ने लड़कों को धमकाया घुड़काया या मारा पीटा और ऐसा ही कुछ दिन तक बराबर करते गये तो लड़कों का प्रेम माँ-बाप पर ज़रूर कम हो जाता है । इसी तरह

लड़कों को हमेशा उदासीन और क्रुद्ध देख कर माँ-बाप का भी प्रेम उन पर कम हो जाता है, किम्बहुना कभी कभी बिलकुल ही जाता रहता है। इसी कारण से कितने ही कुटुम्बों में लड़के माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं और यदि द्वेष न भी किया तो प्रेम उनसे ज़रूर ही नहीं करते। यह बात विशेष करके बाप और बेटों में देखी जाती है, क्योंकि दण्ड देने का काम बहुत करके बाप ही के हाथ मे रहता है। अनेक कुटुम्बों मे लड़के जो बहुधा दण्ड देने की चीज़ या साढ़साती शनैश्चर समझे जाते हैं उसका भी यही कारण है। इससे सब लोगों के ध्यान मे यह बात ज़रूर आ जायगी कि इस तरह का वैमनस्य अच्छी नैतिक शिक्षा का विनाशक है—उसके लिए बहुत अधिक हानिकारी है। अतएव सिद्ध है कि लड़कों से प्रत्यक्ष विरोध न करने का जितना ही अधिक ख़याल माँ-बाप रक्खें उतना ही अच्छा है। कुछ भी हो, उन्हे चाहिए कि लड़कों से विरोध करने का कभी प्रसङ्ग न आने दें। अतएव विरोध और वैमनस्य का प्रसङ्ग न आने देने के लिए स्वाभाविक परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति से वे जितना ही अधिक फ़ायदा उठावे, कम है, क्योंकि इस पद्धति का अवलम्ब करने से दण्ड देने का काम प्रत्यक्ष माँ-बाप को नहीं करना पड़ता। इससे माँ-बाप और लड़कों में परस्पर द्वेष-भाव और वैमनस्य भी नहीं उत्पन्न होता।

२८—पूर्वोक्त लाभ-चतुष्टय का सारांश।

यहाँ तक इस विषय में जो कुछ कहा गया उससे मालूम हुआ कि स्वाभाविक-परिणाम-भोग-विषयक शिक्षा-पद्धति ईश्वर के सङ्केतानुसार जैसे शैशव और प्रौढ़ अवस्था मे लाभदायक है वैसे ही लड़कपन और जवानी में भी लाभदायक है। शैशव और प्रौढ़ अवस्था में तो वह आप ही आप जारी रहती है। अतएव लड़कपन और जवानी में भी उसे जारी रखने में कोई हानि नहीं। इस पद्धति को जारी रखने से चार प्रकार के लाभ हैं। यथा:—

पहला—इससे भले या बुरे कामों का यथार्थ ज्ञान उन कामो के शुभ या अशुभ परिणामों के प्रत्यक्ष अनुभव से होता है।

दूसरा—बच्चे को अपने बुरे कामों के दुःखदायक परिणामों के सिवा और कुछ भी भोग नहीं करना पड़ता। इससे अपने ऊपर किये गये दण्ड का न्यायसङ्गत होना थोड़ा बहुत ज़रूर उसके ध्यान में आ जाता है।

तीसरा—दण्ड का न्यायसङ्गत होना बच्चे की समझ में आ जाने और यह मालूम हो जाने से कि यह दण्ड प्रत्यक्ष किसी आदमी ने नहीं दिया, किन्तु मेरे ही किये हुए कर्म्म का फल है, उसे बहुत कम क्रोध आता है। अतएव उसका स्वभाव भी नहीं बिगड़ता। इसी तरह अपने हाथ से बच्चे को दण्ड न देकर उसके लिए उसके कृतापराधों का परिणाम चुप-चाप भोगने की व्यवस्था कर देने से माँ-बाप के चित्त में भी क्षोभ नहीं उत्पन्न होता।

चौथा—वैमनस्य और क्रोध का कारण दूर हो जाने से माँ-बाप और सन्तान का परस्पर सम्बन्ध पहले से अधिक सुखकर और प्रभावपूर्ण हो जाता है—परस्पर विशेष प्रेमभाव और आदर-बुद्धि की वृद्धि होती है।

३०—बड़े बड़े अपराधों के विषय में कुछ प्रश्न।

कोई कोई शायद कहेंगे—"छोटे छोटे अपराधों का इलाज तो आपने बतलाया, पर लड़के यदि बड़े बड़े अपराध करें तो उसकी क्या दवा है? यदि वे कोई छोटी मोटी चीज़ चुरा लें, या झूठ बोलें, या छोटे भाई या छोटी बहन के साथ बुरी तरह पेश आवें—उनको मारें-पीटें—तो भला आपके बतलाये हुए तरीक़े से किस तरह काम चल सकता है"? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले इनसे सम्बन्ध रखनेवाली दो एक प्रत्यक्ष घटनाओं का, उदाहरण के तौर पर, हम विचार करना चाहते हैं।

३१—प्राकृतिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के उदाहरण।

हमारा एक मित्र अपने बहनोई के घर रहता था। उसकी बहन के एक लड़का था, एक लड़की। उनकी शिक्षा का भार उसने अपने ऊपर

लिया था। उसने उनकी शिक्षा का क्रम हमारे बतलाये हुए तरीक़े के अनुसार रक्खा था। इस तरीक़े के अच्छे होने के विषय में उसने विशेष सोच-विचार नहीं किया था। तर्क और विचार-पूर्वक इसकी उपयुक्तता सिद्ध होने पर उसने इसे पसन्द किया था। इसे पसन्द करने का कारण यह था कि इसके साथ उसकी स्वभाव ही से सहानुभूति थी। वह इसे स्वभाव ही से अच्छा समझता था। घर में तो वह इन दोनों बच्चों का शिक्षक बन जाता था और बाहर उनका साथी। जब तक वह घर मे रहता था तब तक उनको शिक्षक की तरह पढ़ाता-लिखाता था, पर उनके साथ बाहर निकलने पर वह उनसे मित्रवत् व्यवहार करता था। बच्चे रोज़ उसके साथ घूमने जाया करते थे। कभी कभी वह वनस्पति-शास्त्र-सम्बन्धी बातो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी बाहर जाता था। तब भी वे दोनों बच्चे उसके साथ रहते थे, उसके लिए पौधे ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते थे, और जब वह उन पौधो को देखता-भालता या उनके जाति-वर्ग आदि की परीक्षा करता था तब वे सब बातें ध्यान से देखा करते थे। इस तरह, और और भी कई कारणो से उसके साथ रह कर वे आनन्द भी उठाते थे और शिक्षा भी प्राप्त करते थे। बात को और अधिक न बढ़ा कर हम सिर्फ़ इतना ही कहना काफ़ी समझते हैं कि नीति की दृष्टि से वह उनके लिए बाप से भी बढ़ कर था और माँ से भी। अर्थात् जो काम माँ-बाप को करना चाहिए वह काम उनकी अपेक्षा वह अधिक योग्यता से करता था। जिस तरीक़े से वह उन दोनों बच्चों को शिक्षा देता और उनका मनोरञ्जन करता था उसका वर्णन एक बार उसने हमसे किया। उसके सारे नतीजे उसने बयान किये और कई एक दृष्टान्त भी दिये। उन दृष्टान्तों मे से एक यह था। एक दिन शाम को उसे कोई चीज़ दरकार हुई। वह चीज़ मकान के किसी दूसरे कमरे में रक्खी थी। इससे उसने अपने भानजे से कहा कि उसे मेरे पास ले आओ। उस समय लड़का किसी खेल मे मग्न था। इस कारण अपनी आदत के ख़िलाफ़ या तो उस चीज़ को ले आने से उसने इनकार किया या जाने मे अप्रसन्नता प्रकट की—ठीक ठीक याद नहीं, दो में से उसने कौन सी बात की। हमारे

मित्र को बच्चों पर सख़्ती करना पसन्द न था । इससे उसने वह चीज़ ज़बरदस्ती लड़के से नहीं मँगवाई । वह खुद उठा और जाकर उसे ले आया । लड़के के बुरे बर्ताव के कारण उसे जो तकलीफ़ पहुँची उसे प्रकट करने के लिए उसने और कोई बात न करके सिर्फ़ अपनी भौंहें टेढ़ी कीं । उसने सिर्फ़ अपनी मुखचर्य्या से अपनी अप्रसन्नता लड़के पर प्रकट की । जब शाम हुई, लड़का अपने मामा के पास गया और रोज़ की तरह खेल-कूद की बातें उसने शुरू की । पर मामा ने वैसी बातें करने से इनकार कर दिया । उसने बड़ी गम्भीरता से कह दिया कि हम तुम्हारे साथ बात-चीत नहीं करना चाहते । लड़के के बुरे बर्ताव के कारण उसके मन मे जितनी स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न हुई थी उतनी ही उसने लड़के पर प्रकट की, अधिक नहीं । इस तरह उसने अपने बुरे बर्ताव का स्वाभाविक परिणाम भोगने के लिए लड़के को लाचार किया । दूसरे दिन, सुबह, जब सोकर उठने का समय हुआ तब हमारे मित्र ने कमरे के दरवाज़े पर एक नई आवाज सुनी । उसे मालूम हुआ कि जो नौकर रोज़ सुबह कमरे में आता था वह नहीं, कोई और ही है । इतने मे उसने आँख खोली तो देखा कि मुँह धोने के लिए गरम पानी लिये हुए भानजे साहब कमरे के भीतर खड़े हैं । पानी रख कर आप कमरे में इधर उधर देखने लगे कि और कोई चीज़ तो दरकार नहीं और झट कह उठे—"हाँ, आप अपने बूट चाहते हैं" । यह कह कर आप फ़ौरन ज़ीने के नीचे उतरे और बूट लाकर सामने रख दिये । यह, और ऐसे ही और भी, काम करके लड़के ने यह बात प्रकट की कि अपने बुरे बर्ताव का मुझे सचमुच ही पश्चात्ताप हुआ है । जो काम करने से उसने इनकार किया था उससे अधिक काम करके उसने कृतापराध के प्रायश्चित्त की दिल से कोशिश की । जिन नीच विकारों के कारण उसने मामा की आज्ञा भङ्ग की थी उन पर उसके उच्च मनोविकारों की जीत हुई । बुरे मनोविकारों का अपकर्ष और अच्छों का उत्कर्ष हुआ । इन अच्छे विकारो के उत्कर्ष के कारण उसमें मानसिक बल की वृद्धि हो गई । अतएव उसे बहुत समाधान हुआ । मामा के अप्रसन्न होने से कितना दु ख होता है यह बात उसे अच्छी तरह मालूम हो गई । इस कारण मामा के जिस प्रेम या

सख्यभाव को खोकर उसने दुबारा प्राप्त किया था उसे वह पहले से अधिक महत्त्व की चीज़ समझने लगा।

३२—बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने से लाभ।

हमारे इस मित्र के भी अब लड़के-बाले हैं। वह अपने बच्चों को भी इसी तरीक़े से शिक्षा देता है। उसे यह बात तजरिबे से मालूम हो गई है कि इस तरीक़े से अच्छी तरह काम निकल सकता है। वह अपने बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करता है। उसके बच्चे सायङ्काल का रास्ता देखा करते हैं। उन्हें यही ख़याल रहता है कि कब शाम हो और कब हमारा बाप घर आवे। इतवार की तो कुछ पूछिए ही नहीं। उस दिन तो उन्हें बड़ा ही आनन्द आता है; क्योंकि इतवार को उनका बाप सारा दिन घर पर ही रहता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण बच्चों का उस पर पूरा पूरा विश्वास जम गया है। वे उसे बहुत प्यार करते हैं। बच्चों को क़ाबू में रखने के लिए उसे सिर्फ़ 'हाँ' या 'नहीं' कहने ही भर की ज़रूरत पड़ती है। बच्चों के किसी काम के विषय मे ख़ुशी या ना ख़ुशी ज़ाहिर करने ही भर से काम निकल जाता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण उसमें इतनी काफ़ी शक्ति आ गई है कि जो कुछ वह कहता है उसे बच्चे चुपचाप करते हैं। शाम को घर आने पर यदि उसे मालूम होता है कि किसी लड़के ने शरारत की तो वह उसके साथ उतनी ही उदासीनता से पेश आता है जितनी कि लड़के की शरारत के कारण स्वाभाविक तौर पर उसके मन में उत्पन्न होती है। अर्थात् लड़के की शरारत सुन कर जितनी स्वाभाविक अप्रीति या विरक्ति उसके मन मे उत्पन्न होती है उतनी ही वह प्रकट करता है। बस यही सज़ा लड़के के लिए काफ़ी होती है। तजरिबे से उसे यह मालूम हो गया है कि स्वाभाविक अप्रीति या उदासीनता दिखलाने ही से काम हो जाता है—उसी से लड़का शरारत छोड़ देता है। मामूली लाड़-प्यार बन्द कर देने से बच्चों को बहुत तकलीफ़ होती है। इससे उन्हें इतना रंज होता है कि मारने की अपेक्षा भी अधिक देर तक वे रोया करते हैं। हमारे मित्र का कथन है कि इस नैतिक दण्ड का डर उसकी अनुप-

स्थिति में भी बच्चों के दिल से दूर नहीं होता । बाप के घर पर मौजूद न रहने पर भी इस दण्ड का ख़याल बच्चों का बराबर बना रहता है—यहाँ तक कि दिन मे बहुधा वे अपनी माँ से पूछा करते हैं कि आज हमने कैसा बर्ताव किया और शाम को बाबा के घर आने पर हमारे बर्ताव के विषय मे कैसी रिपोर्ट होगी । हमसे कोई अपराध तो नहीं हुआ ? हमारे विषय मे कोई बुरी बात तो बाबा से नहीं कही जायगी ? हमारे इस मित्र का बड़ा लड़का पाँच वर्ष का है । वह स्वभाव ही से बहुत चपल और चंचल है । वह खूब नीरोग और सशक्त भी है । ऐसे लड़को में पशुवत् उद्दण्डता का व्यवहार करने की आदत होती है । इसी आदत के कारण, अभी हाल मे, माँ की अनुपस्थिति मे, इस लड़के ने कुछ नटखटपन किया । अर्थात् अपने बाप के सिंगारदान से छुरा निकाल कर छोटे भाई के बालों की एक लट उसने काट ली और अपने आपको भी घायल कर लिया । शाम को घर आने पर बाप ने यह सब हक़ीक़त सुनी । इससे न तो वह उस रात को लड़के से बोला और न दूसरे दिन सबेरे ही बोला । उसने लड़के से बिलकुल ही बात न की । बस इतनी ही सज़ा उसने काफ़ी समझी । इसने तत्काल अपना काम किया । इससे लड़के को यहाँ तक दुःख पहुँचा कि कुछ दिन बाद एक रोज़ जब उसकी माँ कहीं बाहर जाने लगी तब उसने बड़ी अधीनता से न जाने के लिए उससे विनती की । जब उससे पूछा गया कि क्यों तुमने ऐसा किया तब उसने कहा कि मुझे डर लगा कि माँ की अनुपस्थिति में उस दिन की तरह कहीं फिर न मैं कोई वैसा ही काम कर बैठूँ ।

३३—प्राकृतिक शिक्षा से माँ-बाप और सन्तति में सख्यभाव की स्थापना ।

"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो क्या करना चाहिए" ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही हमने ये बातें, भूमिका के तौर पर, इसलिए कहीं जिसमें यह मालूम हो जाय कि माँ-बाप और संतान में परस्पर किस तरह का सम्बन्ध हो सकता है और किस तरह का होना चाहिए । इस

सम्बन्ध के होने से बड़े बड़े अपराधों की भी चिकित्सा सफलतापूर्वक हो सकती है। इसी लिए पूर्वोक्त बातें पहले ही कह देने की हमने ज़रूरत समझी। दूसरी प्रस्तावना के तौर पर अब हमें सिर्फ़ इतना ही कहना बाक़ी है कि जिस सम्बन्ध का यहाँ पर हमने ज़िक्र किया वह, हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति के अनुसार बर्ताव करने ही से, उत्पन्न होकर यथावत् बना रह सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सिर्फ़ अपने दुष्कृत्यों के दुःखद परिणाम भोग करने के लिए यदि बच्चा छोड़ दिया जाय तो उससे और माँ-बाप से कभी विरोध न हो। अतएव माँ-बाप के विषय में बच्चे के मन मे द्वेष-बुद्धि भी न पैदा हो। माँ-बाप को बच्चे जो शत्रु समझने लगते हैं वह बात न हो। अब सिर्फ़ यह दिखलाना बाक़ी है कि जहाँ हमारी निश्चित की हुई पद्धति के अनुसार शुरू से ही दृढ़ता के साथ बर्ताव होता है वहाँ माँ-बाप और सन्तान मे विशेष रूप से सख्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। ज़रूर मित्र-भाव उत्पन्न हो जाता है।

३४—माँ-बाप का बच्चों से परस्पर-विरोधी बर्ताव और उसका परिणाम।

आज कल की दशा ऐसी है कि लड़के माँ-बाप को शत्रु भी समझते हैं और मित्र भी। अर्थात् माँ-बाप के विषय मे लड़के एक ही साथ शत्रु-मित्र-भाव दोनों रखते हैं। जिस तरह का बर्ताव माँ-बाप लड़कों के साथ करते हैं उसी तरह का संस्कार लडकों के चित्त पर होता है। अर्थात् जैसा बर्ताव लड़कों के साथ किया जाता है वैसे ही ख़याल भी उनके हो जाते हैं। और माँ-बाप का बर्ताव भी कैसा होता है। कभी तो बच्चों को लालच दिखाया जाता है, कभी रोक-टोक की जाती है, कभी लाड़-प्यार किया जाता है, कभी धमकी-घुड़की दी जाती है, कभी बहुत नरमी का बर्ताव किया जाता है, कभी मार-पीट से काम लिया जाता है। इसी तरह के परस्पर-विरोधी बर्ताव बच्चों के साथ होते हैं। इन्हीं विरोधी बर्तावों के झूले मे बच्चे झूला करते हैं। अतएव माँ-बाप के विषय मे बच्चों के ख़याल भी ज़रूर ही परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। अर्थात् कभी वे उनको शत्रु समझते हैं और

कभी मित्र । माँ बहुत करके अपने छोटे बच्चे से इतना ही कहना काफ़ी समझती है कि मैं तेरी सबसे बढ़ कर मित्र हूँ—मैं तेरा सबसे अधिक प्यार करती हूँ। वह यह समझती है कि बच्चों को मेरी बात पर विश्वास करना चाहिए। अतएव इस कल्पना से वह यह नतीजा निकालती है कि जो कुछ मैं कहती हूँ उसे बच्चा ज़रूर सच समझेगा। "यह सब तुम्हारे ही हित के लिए—तुम्हारे ही कल्याण के लिए—है"। "तुम्हारी अपेक्षा मैं इस बात को अधिक समझती हूँ कि कौन काम तुम्हारे लिए अच्छा है"। "तुम अभी बच्चे हो, इसलिए तुम इस बात को नहीं समझ सकते, पर जब तुम बड़े होगे तब जो कुछ मैं कह रही हूँ उसके लिए तुम मेरे कृतज्ञ होगे"। ये और इसी तरह की और भी कितनी ही बाते रोज़ दुहराई तिहराई जाती हैं। परन्तु इधर इस तरह की बातें होती हैं। उधर बच्चे को रोज़ कोई न कोई वास्तविक दण्ड ज़रूर ही भुगतना पड़ता है। यह काम न कर, वह काम न कर, अमुक काम न कर, अमुक काम न कर—इस तरह हर घड़ी वह अपने मन के काम करने से रोका जाता है। "जो कुछ किया जा रहा है सब तुम्हारे ही हित के लिए है"—इस तरह के सिर्फ़ शब्द वह कानों से सुनता है, परन्तु ऐसे शब्दों के साथही साथ जो काम होते हैं उनसे उसे थोड़ी बहुत तकलीफ़ मिले बिना बहुधा नहीं रहती। माँ कहती जाती है कि आगे तुम्हे इससे फ़ायदा होगा, इसके कारण आगे तुम्हें सुख मिलेगा। परन्तु माँ का मतलब समझने भर के लिए उस समय बच्चा में बुद्धि नहीं होती। अतएव जो परिणाम उस समय उसे भुगतने पड़ते हैं उन्हीं के आधार पर वह उन कामों के भले या बुरे होने का अनुमान करता है। जब वह देखता है कि ये परिणाम बिलकुल ही सुखकारक नहीं—इनसे सुख तो होता नहीं, उलटा दुःख ही होता है—तब 'मैं तुम्हारा सबसे अधिक प्यार करती हूँ"—माँ की इस बात मे उसे शङ्का आने लगती है। वह समझने लगता है कि माँ का यह कहना व्यर्थ है। और क्या यह आशा रखना कि इसके सिवा बच्चा और कुछ समझेगा मूर्खता नहीं है? जो बातें बच्चा अपनी आँखों से देख रहा है उन्हीं के अनुरूप क्या वह अपने मन मे विचार न करेगा? जो गवाही उसे मिल रही है—

जो साक्ष्य उसकी आँखों के सामने आ रहा है—उसी के अनुसार क्या बच्चे को निर्णय न करना चाहिए? यदि बच्चे की जगह पर उसकी माँ होती, अथवा यह कहिए कि यदि माँ उसी स्थिति को पहुँच जाती जिस स्थिति में बच्चा है, तो उसके भी ख़याल ज़रूर ऐसेही हो जाते। वह भी इसी तरह की तर्कना करती और निश्चय भी ठीक इसी तरह के करती। यदि उसके परिचित आदमियों मे से कोई ऐसा होता जो उसकी इच्छाओं का हमेशा विरोध करता, धमकी-घुड़की से हमेशा उसकी ख़बर लेता, और कभी कभी उसे प्रत्यक्ष दण्ड भी देता; पर साथ ही यह भी कहता जाता कि मुझे तुम्हारी भलाई का बहुत ख़याल है—मैं यह सब सिर्फ़ तुम्हारे कल्याण के लिए करता हूँ—तो वहीं इस तरह के कल्याण-चिन्तन की बहुत ही कम परवा करती। वह समझती कि यह सब बनावट है, और कुछ नहीं। फिर भला किस तरह वह यह आशा रख सकती है कि उसका बच्चा ऐसा ख़याल न करेगा?

३५—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति के हानि-लाभ का प्रदर्शक एक उदाहरण।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति दृढ़ता के साथ जारी की जाय तो उससे कैसे कैसे निराले परिणाम दृष्टि-गोचर होंगे। यदि माँ बाप को ख़ुद अपने हाथ से सज़ा न देकर उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करे और समय समय पर उसे इस बात की सूचना देती रहे कि तुझे यह काम करना चाहिए, यह न करना चाहिए—इससे तुझे अमुक अमुक स्वाभाविक दुःख भोगने पड़ेंगे—तो इससे बच्चे का बहुत हित हो। एक उदाहरण लीजिए। उदाहरण भी हम बहुत सीधा-सादा देते हैं। इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान मे आ जायगी कि बहुत छोटी उम्र से किस तरह हमारी शिक्षा-पद्धति व्यवहार मे लाई जा सकती है। बच्चे को हर एक बात का ज्ञान प्राप्त करने की स्वभाव ही से इच्छा होती है। इसी आदत के कारण वे कभी इस चीज़ को देखते हैं, कभी उस चीज़ को; कभी किसी विषय में पूँछ-पाछ करते हैं, कभी किसी विषय

में। संसार मे जो अनेक प्रकार के पदार्थ देख पड़ते हैं उनको ध्यान-पूर्वक देख कर और तत्सम्बन्धी जुदा जुदा प्रयोग करके सब बातों की परीक्षा और देख-भाल करने की प्रवृत्ति बच्चों मे स्वाभाविक होती है। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वे हर विषय की पूँछ-पॉछ और देख-भाल करते हैं। कल्पना कीजिए कि इसी प्रवृत्ति से उत्साहित होकर कोई बच्चा कागज़ के टुकड़ों को दीवे से जला रहा है और यह देख रहा है कि वे टुकड़े किस तरह जलते हैं। ऐसे मौक़े पर उसकी माँ, जो बहुत ही साधारण समझ रखती है, इस डर से कि कहीं बच्चा अपना हाथ न जला ले या आस-पास की किसी चीज़ मे आग न लगा दे, उसे वैसा करने से तत्काल ही रोकती है, और यदि बच्चा उसका कहना नहीं मानता तो कागज़ को तुरन्त उसके हाथ से छीन लेती है। पर सौभाग्य से यदि बच्चे की माँ कुछ समझदार है और इस बात को जानती है कि कागज को जलते देख बच्चे को जो इतनी मौज मालूम होती है वह बहुत ही उपयोगी जिज्ञासा का परिणाम है; और बच्चे की जिज्ञासा मे बाधा डालने से जो परिणाम होता है उसे समझने भर को भी यदि उसमे बुद्धि है, तो वह कभी वैसा व्यवहार न करेगी। अर्थात् न तो वह बच्चे को कागज़ जलाने ही से रोकेगी और न उसे उसके हाथ से छीन ही लेगी। वह अपने मन मे इस तरह कहेगी—"यदि मैं बच्चे को कागज़ जलाने से रोकूँगी तो उसके जलाने से जो शिक्षा बच्चे को मिलेगी उससे वह वञ्चित रह जायगा। यह सच है कि कागज छीन लेने से बच्चा तत्काल जलने से बच जायगा। पर इससे लाभ ही क्या हो सकता है? एक न एक दिन बच्चा ज़रूर ही अपने हाथ को जला लेगा। अतएव उसके जीवन की रक्षा के लिए इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि वह आग के गुण-धर्म्म का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा प्राप्त करे। कहीं कोई हानि न पहुँचे, इस डर से यदि आज मैं इसे कागज़ जलाने से मना करती हूँ तो किसी और मौके पर, जब कोई मना करने के लिए इसके पास मौजूद न होगा, यह अवश्य ही कागज़ जलायेगा और जिस हानि से मैं इसकी रक्षा करना चाहती हूँ उसे या उससे भी बड़ी हानि अवश्य ही उठावेगा। पर इस समय मैं इसके पास मौजूद हूँ। अतः इसी

समय उससे काग़ज़ जलाने का तजरिबा कराना चाहिए। क्योंकि यदि इसके किसी अङ्ग पर आग गिर भी जायगी तो मैं इसे अधिक जल जाने से बचा लूँगी। इसके सिवा काग़ज़ जलाने से इसे आनन्द आता है—इसका मनोरञ्जन होता है—इस मनोरञ्जन से किसी और की कोई हानि नहीं। पर इससे इसे आग के गुण-धर्म्म-सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति ज़रूर है। अतएव इस मनोरञ्जन मे बाधा डालने से इसे ज़रूर बुरा लगेगा और मेरी तरफ़ से थोड़ा बहुत द्वेष-भाव इसके मन मे ज़रूर पैदा हो जायगा। जिस तकलीफ़ से मैं इसे बचाना चाहती हूँ उसके विषय में यह कुछ नही जानता—उसका इसे कुछ भी ज्ञान नही। अतएव इसकी इच्छा का भङ्ग होने से जो तकलीफ़ इसे होगी उसका असर ज़रूर उसके दिल पर होगा और उस तकलीफ़ का एक-मात्र कारण यह मुझे ही समझेगा। जिस दुःख का कुछ भी ख़याल इसे नहीं है—जिसकी अत्यल्प भी कल्पना इसके मन मे नहीं है—अतएव इसके लिए जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उससे इसे बचाने का प्रयत्न मैं ऐसे ढँग से करने जाती हूँ जो इसे बहुत दुःखदायक होगा। इस कारण यह अपने मन में समझेगा कि मेरी दुःख देनेवाली यही है। अतएव मेरे लिए सबसे अच्छी बात यह है कि भावी दुर्घटना से मैं इसे सिर्फ़ सावधान करदूँ और बहुत अधिक तकलीफ़ से इसे बचाने के लिए तैयार रहूँ"। इस तरह अपने मन मे सोच-विचार करके वह बच्चे से कहेगी—"देखो ऐसा करोगे तो शायद तुम जल जावगे"। बच्चे बहुधा इस तरह की शिक्षा नहीं मानते। वे जो कुछ करते होते हैं उसे करही डालते हैं। कल्पना कीजिए कि इस बच्चे ने भी अपनी माँ की बात नहीं मानी। फल यह हुआ कि उसका हाथ जल गया। अब विचार कीजिए, इससे नतीजे कौन कौन निकले? पहला नतीजा यह निकला कि जो ज्ञान बच्चे को कभी न कभी होना ही था और जिसकी प्राप्ति बच्चे की रक्षा के लिए जितना ही शीघ्र हो जाय उतना ही अच्छा, वह ज्ञान आज ही उसे हो गया। दूसरा नतीजा, बच्चे को मालूम हो गया कि माँ जो मुझे ऐसा करने से मना करती थी वह मेरा कल्याण करने के इरादे से ही करती थी। इससे बच्चे के ध्यान मे यह बात भी आगई कि माँ उसकी विशेष शुभचिन्तना करनेवाली है। उसे यह

भी मालूम हो गया कि माँ की बात पर विश्वास करना चाहिए—वह बड़ी दयालु है। अतएव जिन कारणों से वह माँ का प्यार करता है उनसे, इस घटना से, एक और कारण की वृद्धि हुई। अर्थात् बच्चे के हृदय में अपनी माँ के विषय में अधिक प्रेम-बुद्धि उत्पन्न हो गई।

३६—अधिक भयङ्कर प्रसंगों को छोड़ कर औरों में बच्चों को मनमाने काम करने से ज़बरदस्ती न रोकना चाहिए।

कभी कभी ऐसे भी मौक़े आते हैं जब बच्चों के हाथ-पैर टूट जाने या सख़्त चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ो पर बच्चों का ज़रूर प्रतिबन्ध करना चाहिए—उन्हें ज़बरदस्ती रोकना चाहिए। परन्तु इस तरह के मौक़े हमेशा नहीं आया करते, कभी कभी आते हैं। रोज़ तो ऐसे ही मौक़े आते हैं जिनमें बच्चों को थोड़ी बहुत चोट लग जाने या और कोई अत्यल्प हानि पहुँचने का डर रहता है। ऐसे प्रसङ्ग आने पर बच्चों का प्रतिबन्ध करना उचित नहीं। उन्हें भावी चोट या हानि से बचाने की कोई खटपट करना मुनासिब नहीं। उन्हें सिर्फ़ सावधान कर देना चाहिए। उनसे सिर्फ़ यह कह देना चाहिए कि अमुक काम करने से तुम्हे अमुक तकलीफ़ मिलेगी। बस इतनी ही सूचना उनके लिए काफ़ी होगी। इस तरह का व्यवहार करने से, साधारण रीति पर माँ-बाप से जितनी प्रीति बच्चे रखते हैं उससे बहुत अधिक रक्खेंगे। उनका मातृ-पितृ-प्रेम बहुत अधिक बढ़ जायगा। और और बातों की तरह इन बातों में भी यदि प्राकृतिक परिणामरूपी दण्ड भोगने की रीति काम मे लाई जाय, अर्थात् बाहर दौड़ने धूपने और घर मे खेल-कूद-सम्बन्धी तजरिबे करने में यदि बच्चों का प्रतिबन्ध न किया जाय, तो बहुत लाभ हो। यहाँ पर हमारा मतलब उस दौड-धूप और खेल-कूद से है जिसमे बच्चो के थोडी बहुत चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ो पर जितनी चोट लगने या हानि होने की सम्भावना हो उसी की मात्रा के अनुसार कम या अधिक दृढ़ता से यदि उपदेश दिया जाय, अर्थात् जितनी ही अधिक तकलीफ़ पहुँचने का डर हो उतनी ही अधिक सख़्ती से हिदायत की जाय, तो माँ-बाप के विषय मे बच्चों के हृदय में अधिक श्रद्धा उत्पन्न हुए

बिना न रहेगी। इस तरह के बर्त्ताव से माँ-बाप पर बच्चों का विश्वास ज़रूर बढ़ जायगा। उनकी यह भावना अधिकाधिक दृढ़ होती जायगी कि माँ-बाप की आज्ञा के अनुसार बर्ताव करने ही में हमारा कल्याण है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस तरह के व्यवहार से, सन्तान को प्रत्यक्ष दण्ड देने के कारण उनके मन में उत्पन्न हुई विरक्ति या अप्रीति का भाजन होने से माँ-बाप का बचाव होता है। पर जैसा यहाँ पर सिद्ध हुआ, इस तरीक़े से सिर्फ़ इतना लाभ नही है। इससे माँ-बाप उस अप्रीति के पात्र होने से भी बच जाते हैं जो यह काम न कर, वह काम न कर, इत्यादि कह कर बार बार बच्चों का प्रतिबन्ध करने से उनके मन मे उत्पन्न होती है। यही नहीं, किन्तु जो बाते माँ-बाप और सन्तान मे परस्पर झगड़े बखेड़े का कारण होती हैं वही उनमें प्रेम-भाव उत्पन्न करके प्रति दिन उसकी वृद्धि भी करती हैं। आज कल की नैतिक शिक्षा का तरीक़ा यह है कि माँ-बाप मुँह से तो यह ज़ाहिर करते हैं कि वे बच्चों का सबसे अधिक प्यार करते हैं—वे बच्चों के सबसे बढ़ कर मित्र हैं—पर काम उनके ऐसे होते हैं जिनसे बच्चों को इसकी उलटी प्रतीति होती है। उनके कृत्यो से बच्चों के मन मे यह भावना हो जाती है कि हमारे माँ-बाप हमसे मित्रवत् नहीं किन्तु शत्रुवत् व्यवहार करते हैं। परन्तु हमारी निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति का अनुसरण करने से बच्चों को अपने विषय में माँ-बाप की प्रीति का प्रति दिन प्रत्यक्ष अनुभव होता जायगा। इससे बच्चों के हृदय में माँ-बाप के विषय में जितना विश्वास और जितना प्रेम पैदा होगा उतना और किसी तरह से होना सम्भव नहीं।

३७—गुरुतर अपराधों के विषय में नैसर्गिक शिक्षा-पद्धति के प्रयोग का विचार।

इस प्रकार इस बात को सिद्ध करने के बाद कि हमारे बतलाये हुए तरीक़े को हमेशा काम में लाने से किस तरह माँ-बाप और बच्चों में पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होगी, अब हम पूर्वोक्त प्रश्न का विचार करते हैं

कि—"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो हमारी शिक्षा-पद्धति किस तरह काम में लाई जानी चाहिए ?"

३८—प्राकृतिक शिक्षा की बदौलत बड़े बड़े अपराधों की संख्या और गुरुता का आपही आप कम हो जाना।

पहले इस बात को याद रखना चाहिए कि जो शिक्षा-पद्धति इस समय प्रचलित है उसकी जगह पर यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति प्रचलित की जायगी तो बच्चों के हाथ से उतने अधिक गुरुतर अपराध न होंगे जितने कि आज कल होते हैं और न उनका गुरुत्व ही उतना अधिक होगा। अर्थात् पहले तो बच्चे बड़े बड़े अपराध बहुत कम करेंगे और जो करेंगे उनका स्वरूप विशेष भयङ्कर न होगा। बहुत से बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध शुरू ही से अच्छा नहीं होता। वे बहुत बुरी तरह रक्खे जाते हैं। इससे उनका स्वभाव बिगड़ जाता है और वे तुनुक-मिज़ाज हो जाते हैं। बार बार मारे पीटे और धमकाये जाने से बच्चों के मन मे भेद-भाव पैदा हो जाता है। माँ-बाप से वे दूर रहना चाहते हैं। इससे सहानुभूति कम हो जाती है। अतएव जिन अपराधो का प्रतिबन्ध सहानुभूति के कारण होता है उनका दरवाज़ा खुल जाता है। कुछ अपराध ऐसे हैं जो, माँ-बाप और बच्चो मे परस्पर सहानुभूति अर्थात् हमदर्दी होने के कारण, बच्चो के हाथ से होते ही नहीं। पर भेद-भाव के कारण जब सहानुभूति नष्ट या कम हो जाती है तब प्रतिबन्धकता न रहने से, वही अपराध बच्चे करने लगते हैं। एक ही कुटुम्ब के लडके बहुधा एक दूसरे से बुरा बर्ताव करते हैं। यह बुरा बर्ताव बहुत करके उस कठोर बर्ताव का परिणाम होता है जो घर के बड़े बूढे या माँ-बाप लड़कों के साथ करते हैं। इसका कारण कुछ तो बड़े बूढ़ों का प्रत्यक्ष बर्ताव होता है, अर्थात् जैसा बर्ताव वे लोग बच्चो से करते हैं वैसा ही बर्ताव बच्चे भी अपने हमजोली के लड़कों से करने लगते हैं, और कुछ घरवालों की धमकी, घुड़की और मार-पीट से बच्चो का स्वभाव खराब हो जाने के कारण उनमें जो बदला लेने की प्रति-हिंसा-बुद्धि जागृत हो उठती है, उससे वे ऐसा करते हैं। अतएव यह निर्विवाद है

कि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-प्रणाली के प्रचार से यदि परस्पर अधिक प्रेम-भाव और सुख-साधन की प्रवृत्ति बच्चों के हृदय में उदित हो उठेगी तो वे एक दूसरे के प्रतिकूल बहुत कम अपराध करेंगे और यदि करेंगे भी तो अपराधों की गुरुता उतनी अधिक न होगी। चोरी करना और झूठ बोलना इत्यादि अपराध विशेष निंद्य हैं। ऐसे अपराध भी कम हो जायँगे। जिन कारणों से बच्चो का स्वभाव सुधर जायगा उन्हीं कारणों से इस तरह के गुरुतर और निंद्य अपराधों की संख्या भी घट जायगी। घरेलू झगड़े-बखेड़े ही ऐसे ही अपराधो की जड़ होते हैं—माँ-बाप और सन्तान के पारस्परिक भेद-भाव ही को इनका बीज समझना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली बातो का यह एक प्रधान नियम है कि जिन लोगों को ऊँचे दरजे का सुख नहीं मिलता वे नीचे दरजे के सुख की तरफ़ झुक पड़ते हैं। जो लोग सांसारिक बातों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनकी दृष्टि में यह नियम आये बिना नहीं रहता। उनके ध्यान में यह बात ज़रूर आ जाती है। एक दूसरे के सुख-दुःख मे शामिल होने, अर्थात् परस्पर सहानुभूति रखने, से जो आनन्द मिलता है वह ऊँचे दरजे का आनन्द है। जिन लोगों को यह आनन्द नहीं प्राप्त होता वे विवश होकर स्वार्थ-साधन से प्राप्त होनेवाले नीचे दरजे के आनन्द की तरफ़ झुक जाते हैं। अतएव माँ-बाप और सन्तान मे यदि अन्योन्य-सुखसाधन की वाञ्छा जागृत रहेगी तो स्वार्थ-साधन की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले अपराधों की संख्या ज़रूर कम हो जायगी।

३८—बड़े बड़े अपराध होने पर भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली नीति के व्यवहार की ज़रूरत।

तथापि यदि ऐसे अपराध हों, और शिक्षा-पद्धति चाहे जितनी अच्छी हो इस तरह के अपराध थोड़े बहुत ज़रूर ही होंगे, तो उनके लिए भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली युक्ति काम मे लाना चाहिए। जिस विश्वास और प्रेम-बन्धन का वर्णन ऊपर किया गया वह यदि माँ-बाप और सन्तान मे परस्पर विद्यमान है तो इस युक्ति से कामयाबी हुए बिना न रहेगी।

वह ज़रूर कारगर होगी। जितने प्राकृतिक परिणाम हैं, उदाहरण के लिए चोरी के, सब दो तरह के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष परिणाम वे कहलाते हैं जो विशुद्ध न्याय पर अवलम्बित रहते हैं, अर्थात् जिनको हम केवल न्याय के आधार पर स्थित पाते हैं। उदाहरण के लिए चोरी की चीज़ उसके मालिक को लौटा देना प्रत्यक्ष परिणाम है। क्योंकि जो चीज़ जिसकी है उसे उसको लौटा देना ही सच्चा न्याय है। जो राजा सच्चा न्यायी है वह बुरे काम का प्रायश्चित्त अच्छे काम के द्वारा कराता है। यदि किसी ने कोई असत् काम किया तो उससे सत् काम करा कर पूर्व पाप का चालन किये जाने की वह आज्ञा देता है। हर एक माँ-बाप को इसी तरह का सच्चा न्यायी बनने की कोशिश करना चाहिए और सन्तान के साथ खरे न्याय का बर्ताव रखना चाहिए। यदि बच्चे किसी की चीज़ चुरालें तो या तो वह चीज़ उसके मालिक को वापस करवा कर या, यदि वह खर्च हो गई है तो, उसका बदला दिलवा कर, माँ-बाप को बच्चों से चोरी के असत्कर्म्म का प्रायश्चित्त कराना उचित है। यदि चीज़ के बदले उसकी क़ीमत देनी पड़े तो वह बच्चों के जेब-ख़र्च से दिलवाई जाय। चोरी का परोक्ष परिणाम माँ-बाप की विशेष नाराज़गी है। यह परिणाम अधिक सगीन है। जो लोग इतने सभ्य और समझदार हैं कि चोरी को पाप समझते हैं उनमें इस परिणाम का अस्तित्व ज़रूर पाया जाता है। बच्चों को चोरी करने का अपराधी पाकर वे ज़रूर नाराज़ होते हैं—ज़रूर अप्रसन्नता और असन्तोष प्रकट करते हैं। परन्तु, यहाँ पर, यह आक्षेप किया जा सकता है कि माँ-बाप अपनी अप्रसन्नता आज कल भी तो धमकी-घुड़की देकर या मार-पीट करके प्रकट करते हैं। यह तो एक साधारण सी बात है। इसमें कोई नवीनता नहीं। फिर आपकी और वर्तमान पद्धति में भेद ही क्या रहा? बहुत ठीक है। हम मानते हैं कि इसमे कोई नयापन नहीं। हम पहले ही क़बूल कर चुके हैं कि किसी किसी बात में हमारी बतलाई हुई पद्धति का अनुसरण आप ही आप हो जाता है। हम यह भी दिखला चुके हैं कि इस समय जितनी शिक्षा-पद्धतियाँ जारी हैं सबका स्वाभाविक झुकाव सच्ची शिक्षा-पद्धति ही की तरफ़ है। हम एक

दफ़े पहले कह आये हैं, तथापि यहाँ पर हम अपने कहे को दोहराते हैं, कि यदि माँ-बाप और सन्तान का बर्ताव परस्पर प्रीति-पूर्ण हो—यदि हमेशा मेहरबानी से काम लिया जाय—तो इस प्राकृतिक परिणाम की कठोरता ज़रूरत के अनुसार थोड़ी या बहुत होगी। अथवा यों कहिए कि उसकी कोमलता या कठोरता मनुष्यों के समाज-विशेष की स्थिति के अनुसार होगी। समाज की अवस्था हमेशा देश-काल के अनुसार होती है। जिस समय जिस समाज के आदमी असभ्य और अशिक्षित होते हैं उस समय उस समाज के बच्चे भी वैसे ही होते हैं। अतएव ऐसे समय के माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप भी अधिक उद्दण्ड होगा। पर जिन समाजों की स्थिति कुछ अच्छी है—जिन्होंने अपनी उन्नति कर ली है—अर्थात् जो औरों की अपेक्षा अधिक सभ्य और शिक्षित हैं उनकी सन्तति भी वैसी ही होगी। अतएव इस तरह के समाज में माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप उतना उग्र न होगा। क्योंकि स्थिति उन्नत होने के कारण बच्चों के लिए कोमलता का बर्ताव ही काफ़ी होगा, सख़्ती करने की ज़रूरत ही न पड़ेगी। यहाँ पर हमे एक विशेष बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है। वह बात यह है कि माँ-बाप और सन्तान मे परस्पर प्रेम की मात्रा जितनी होगी उसी के गौरव-लाघव के अनुसार बड़े बड़े अपराधों के कारण पैदा हुए माँ-बाप के क्रोध की मात्रा कम या ज़ियादा होगी और तदनुसार ही इस तरह के अपराधों को घटाने मे वह प्रेम कम या ज़ियादा उपयोगी होगा। जिस परिमाण मे प्राकृतिक परिणाम-सम्बन्धिनी शिक्षा का उपयोग और और विषयों मे किया जाता है उसी परिमाण में उसका उपयोग इस विषय में भी करने से ज़रूर कार्य्य-सिद्धि होगी। इस बात की सचाई का तजरिबा हर आदमी कर सकता है। संसार की तरफ़ आँख उठा कर सिर्फ़ एक नज़र देखने ही से इसका सबूत मिल जायगा।

४०—प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति की छोटे बड़े सब अपराधों के लिए उपयोगिता।

जब कोई किसी का अपमान करता है तब अपमान करनेवाले को

कोई क़सूर या शरारत करके माँ-बाप को अप्रसन्न करना उन्हे बरदाश्त ही नहीं होता। अतएव फिर वैसा काम न करने के लिए वे बहुत ख़बरदारी रखते हैं। यही नहीं, किन्तु यह अप्रसन्नता इतनी हितकर है कि इसके कारण बच्चों के चित्त पर और भी अच्छे अच्छे असर पड़ते हैं। "जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ और जो मेरे साथ इतना अच्छा बर्ताव रखता है उसी स्नेह-शील पिता की सहानुभूति से मैं इतनी देर के लिए वञ्चित हो गया"—इस तरह अपने मन में सोच कर पुत्र को जो मानसिक दुःख होता है वह उस शारीरिक दुःख की जगह पर है जो उसे बहुधा मार-पीट कर दिया जाता है। यह मानसिक दुःख यदि मार-पीट कर पहुँचाये गये दुःख से अधिक नहीं तो उसके बराबर ज़रूर ही कारगर होता है। इसके सिवा शारीरिक दण्ड देने से बच्चों मे प्रतिहिंसा और भयवर्द्धक बुद्धि विकसित हो उठती है। उनके जी मे डर समा जाता है और बदला लेने की भी प्रवृत्ति उनमे जागृत हो जाती है। परन्तु दूसरी रीति, अर्थात् मानसिक दण्ड से, माँ-बाप को दुखी देख बच्चे भी दुखी होते हैं, उन्हे दुःख पहुँचाने के कारण वे सच्चे दिल से अफ़सोस करते हैं और यह अभिलाषा रखते हैं कि किसी न किसी तरह हममे फिर पूर्ववत् प्रेम पैदा हो जाय। दुनिया मे जितने अपराध—जितने जुर्म—होते हैं सबका आदि कारण स्वार्थपरता की प्रबलता है। जब मनुष्य की यह वासना बहुत प्रबल हो उठती है कि सबसे अधिक सुख हमी को मिले तभी मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित काम करता है। परन्तु हमारी शिक्षा-पद्धति के अवलम्बन से बच्चों के दिल में इस तरह की वासना—इस तरह की स्वार्थबुद्धि—नहीं पैदा होती। उसकी प्रेरणा से बच्चों में परोपकार और परहिताचरण की वासना प्रबल हो उठती है, अतएव उससे दूसरों को क्लेश पहुँचानेवाले अपराधों की रुकावट हो जाती है। सारांश यह कि प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति छोटे बड़े सब तरह के अपराधों के विषय में काम दे सकती है। उसका व्यवहार करने से अपराधों की सिर्फ़ सख्या ही नहीं कम हो जाती, किन्तु धीरे धीरे उनका सर्वतोभाव से नाश हो जाता है—उनका समूल निर्मूलन हो जाता है।

४१—शिक्षा में कठोर दण्ड देने से लाभ के बदले हानि ।

बहुत विस्तार कौन करे, सच तो यह है कि सख़्ती से सख़्ती और नरमी से नरमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिन बच्चों के साथ निष्ठुरता का वर्ताव किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते हैं। पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रक्खी जाती है उनमे सहानुभूति उत्पन्न हुए विना नही रहती। प्रेमपूर्ण बर्ताव करने से बच्चों मे भी प्रेम का ज़रूर उदय होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब-व्यवस्था मे भी अत्यन्त कठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द करने ही के लिए बनाये जाते हैं; तथापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु, प्रतिकूल इसके, सौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं होने देते। वे मनुष्य के मनोविकारों को इतना शान्त और सौम्य कर देते हैं कि औरों का अपराध करके उन्हे दु:ख पहुँचाने की मनुष्यों की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है। सर जॉन लॉक नामक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता को यह कहे बहुत दिन हुए कि—"बच्चों को पढ़ाने लिखाने में बहुत कठोर दण्ड देने से तादृश लाभ नही, हॉ उलटी हानि ज़रूर है। मुझे विश्वास है कि जिन लड़कों ने वचपन मे अधिक मार खाई है वे, बड़े होने पर, बिना किसी विशेष कारण के, बहुत करके सर्वोत्तम नहीं निकले"। इस बात की पुष्टि में हम, यहॉ पर प्यंटनविल्ली जेल के सरकारी पादरी राजर्स साहब की, अभी हाल मे दी हुई, सम्मति प्रकट करना ज़रूरी समझते हैं। उन्होंने अपना निज का तजरिबा सर्वसाधारण में इस तरह बयान किया है कि जिन अपराधियों ने लडकपन मे बेत खाये हैं वही बहुत करके बार बार जेल की हवा खाने आया करते हैं। विपरीत इसके प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से बच्चो पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है। अभी थोड़े ही दिन हुए, पेरिस में हम एक फ़रासीसी मेम के मकान पर ठहरे थे। उस मेम ने इस विषय का एक उत्तम उदाहरण हमें सुनाया। उसके एक छोटा लड़का था। वह बहुत ही शरीर और नटखट था। वह रोज़ ऊधम मचाया करता था।

कोई क़सूर या शरारत करके माँ-बाप को अप्रसन्न करना उन्हें बरदाश्त ही नहीं होता। अतएव फिर वैसा काम न करने के लिए वे बहुत खबरदारी रखते हैं। यही नहीं, किन्तु यह अप्रसन्नता इतनी हितकर है कि इसके कारण बच्चों के चित्त पर और भी अच्छे अच्छे असर पड़ते हैं। "जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ और जो मेरे साथ इतना अच्छा बर्ताव रखता है उसी स्नेह-शील पिता की सहानुभूति से मैं इतनी देर के लिए वञ्चित हो गया"—इस तरह अपने मन मे सोच कर पुत्र को जो मानसिक दुःख होता है वह उस शारीरिक दुःख की जगह पर है जो उसे बहुधा मार-पीट कर दिया जाता है। यह मानसिक दुःख यदि मार-पीट कर पहुँचाये गये दुःख से अधिक नहीं तो उसके बराबर ज़रूर ही कारगर होता है। इसके सिवा शारीरिक दण्ड देने से बच्चों मे प्रतिहिंसा और भयवर्द्धक बुद्धि विकसित हो उठती है। उनके जी मे डर समा जाता है और बदला लेने की भी प्रवृत्ति उनमे जागृत हो जाती है। परन्तु दूसरी रीति, अर्थात् मानसिक दण्ड से, माँ-बाप को दुखी देख बच्चे भी दुखी होते हैं, उन्हे दुःख पहुँचाने के कारण वे सच्चे दिल से अफ़सोस करते हैं और यह अभिलाषा रखते हैं कि किसी न किसी तरह हममें फिर पूर्ववत् प्रेम पैदा हो जाय। दुनिया मे जितने अपराध—जितने जुर्म—होते हैं सबका आदि कारण स्वार्थपरता की प्रबलता है। जब मनुष्य की यह वासना बहुत प्रबल हो उठती है कि सबसे अधिक सुख हमी को मिले तभी मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित काम करता है। परन्तु हमारी शिक्षा-पद्धति के अवलम्बन से बच्चों के दिल में इस तरह की वासना—इस तरह की स्वार्थबुद्धि—नहीं पैदा होती। उसकी प्रेरणा से बच्चों में परोपकार और परहिताचरण की वासना प्रबल हो उठती है; अतएव उससे दूसरों को क्लेश पहुँचानेवाले अपराधों की रुकावट हो जाती है। सारांश यह कि प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति छोटे बड़े सब तरह के अपराधों के विषय में काम दे सकती है। उसका व्यवहार करने से अपराधों की सिर्फ़ सख्या ही नहीं कम हो जाती, किन्तु धीरे धीरे उनका सर्वतोभाव से नाश हो जाता है—उनका समूल निर्मूलन हो जाता है।

४१—शिक्षा में कठोर दण्ड देने से लाभ के बदले हानि ।

बहुत विस्तार कौन करे, सच तो यह है कि सख़्ती से सख़्ती और नरमी
रमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति।
बच्चों के साथ निष्ठुरता का बर्ताव किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते
पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रक्खी जाती है उनमे सहानुभूति उत्पन्न
बिना नही रहती। प्रेमपूर्ण बर्ताव करने से बच्चों मे भी प्रेम का ज़रूर
य होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब-व्यवस्था मे भी अत्यन्त
ठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द करने ही के लिए बनाये जाते हैं,
थापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु, प्रतिकूल इसके,
ौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं
ोने देते। वे मनुष्य के मनोविकारों को इतना शान्त और सौम्य कर देते हैं
के औरों का अपराध करके उन्हे दुःख पहुँचाने की मनुष्यों की प्रवृत्ति बहुत
कम हो जाती है। सर जॉन लॉक नामक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता को यह कहे
बहुत दिन हुए कि—"बच्चों को पढ़ाने लिखाने में बहुत कठोर दण्ड देने
से तादृश लाभ नही, हॉ उलटी हानि ज़रूर है। मुझे विश्वास है कि जिन
लड़कों ने बचपन में अधिक मार खाई है वे, बडे होने पर, बिना किसी
विशेष कारण के, बहुत करके सर्वोत्तम नही निकले"। इस बात की पुष्टि
में हम, यहॉ पर प्यंटनविल्ली जेल के सरकारी पादरी राजर्स साहब की,
अभी हाल में दी हुई, सम्मति प्रकट करना ज़रूरी समझते हैं। उन्होंने
अपना निज का तजरिबा सर्वसाधारण में इस तरह बयान किया है कि
जिन अपराधियों ने लड़कपन मे बेत खाये हैं वही बहुत करके बार बार
जेल की हवा खाने आया करते हैं। विपरीत इसके प्रेमपूर्ण व्यवहार करने
से बच्चों पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है। अभी थोड़े ही दिन हुए,
पेरिस में हम एक फ़रासीसी मेम के मकान पर ठहरे थे। उस मेम ने इस
विषय का एक उत्तम उदाहरण हमे सुनाया। उसके एक छोटा लड़का था।
वह बहुत ही शरीर और नटखट था। वह रोज़ ऊधम मचाया करता था।

न वह घर ही में सीधी तरह रहता था और न स्कूल ही मे। लोग उससे आजिज़ आ गये थे। पर उसे सुधारने की किसी में भी शक्ति न थी। वह घर मे हमेशा गड़बड़ मचाये रहता था। इस कारण उस मेम ने हमसे क्षमा माँगी। उसने कहा, इस लड़के के सीधा करने का कोई इलाज नहीं। मुझे डर है कि इसके बड़े भाई की तरह इसे भी इँग्लेंड के किसी स्कूल में भेजना पड़ेगा। इसी तरकीब से इसका बड़ा भाई सुधरा था। अतः यही एक इलाज अब इसका करना बाक़ी है। शायद इससे कामयाबी हो। उसने कहा कि इस लड़के का बड़ा भाई पेरिस के कितने ही स्कूलों मे भरती किया गया, पर कोई लाभ न हुआ। वह जैसा का तैसा बना रहा। तब लोगों ने उसे इँग्लेंड भेजने की राय दी। इससे निराश होकर उसे इँग्लेंड भेजना पड़ा। इँग्लेंड से जब वह घर लौटा तब उसके सारे दुर्गुण जाते रहे थे। पहले वह जितना बुरा था उतना ही अब भला हो गया था। उस मेम ने इस विलक्षण सुधार का एक-मात्र कारण फ़्रांस की अपेक्षा इँग्लेंड की शिक्षा-पद्धति की कोमलता बतलाया।

४२—प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली के विषय में उपदेशपूर्ण नियम देने का निश्चय।

प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली के मूल सिद्धान्तों का विवेचन ऊपर हो चुका। सबसे अच्छी बात अब यह होगी कि इस प्रकरण के अवशिष्ट अंश मे हम थोड़े से ऐसे मुख्य मुख्य विधि-वाक्य और नियम लिखदें जो इन सिद्धान्तों से निकलते हैं। हम इस विषय को बहुत बढ़ाना नहीं चाहते। अतएव इन विधि-वाक्यों और नियमों को हम, उपदेश के ढंग पर, थोड़े ही में देते हैं।

४३—बच्चे से बहुत अधिक नैतिक भलाई की आशा न रखना।

बच्चों से बहुत अधिक नैतिक भलाई की आशा मत रखिए। हम लोगों के पहले पूर्वज असभ्य और जंगली थे। अतएव प्रत्येक शिक्षित आदमी का स्वभाव, बचपन में, उन्हीं असभ्य और जगली आदमियो के स्वभाव से

मिलता जुलता है। जिस तरह बहुत छोटी उम्र मे लड़कों की चिपटी नाक आगे को ज़ियादह खुले हुए नथने, मोटे मोटे होठ, फैली हुई आँखें, अप्रशस्त मुँह इत्यादि अवयव असभ्य आदमियों के अवयवों के सदृश होते हैं उसी तरह उनका स्वभाव भी, कुछ समय तक, असभ्यों के स्वभाव के सदृश होता है। इसी से बचपन में चोरी करने, निर्दयता के काम करने और झूठ बोलने आदि की तरफ़ लड़कों की प्रवृत्ति अधिक रहती है। यह प्रवृत्ति साधारण तौर पर प्राय' सभी लड़कों मे पाई जाती है। परन्तु जिस तरह बच्चों के अवयव धीरे धीरे आपही आप सुधर जाते हैं उसी तरह उनकी यह प्रवृत्ति भी बिना शिक्षा ही के थोड़ी बहुत ज़रूर सुधर जाती है। सब लोग समझते हैं कि बच्चो का चित्त विशुद्ध होता है—वे सर्वथा निरपराध और निष्पाप होते हैं। जहाँ तक बुरी बातों से सम्बन्ध है तहाँ तक यह समझ बिलकुल सही है। बुरी बातों का ज्ञान बच्चों को ज़रूर नही होता। परन्तु बुरी प्रवृत्तियों के विषय मे इस तरह की समझ रखना बिलकुल ग़लत है। घर में जिस समय लड़के खेल-कूद रहे हों उस समय सिर्फ़ आध घंटे उनको ध्यान से देखने से हमारे कहने की सत्यता मालूम हो जायगी। इसकी परीक्षा चाहे जो कर देखे। जब बच्चे अपनेही भरोसे पर छोड़ दिये जाते हैं, जैसा कि स्कूलों में, तब वे एक दूसरे के साथ बडे आदमियों की अपेक्षा अधिक पशुवत् वर्ताव करते हैं। अर्थात् कोई रोक टोक करनेवाला पास न रहने से वे परस्पर बड़ी ही निर्दयता से पेश आते हैं। यदि वे बहुतही छोटी उम्र में बिना प्रतिबन्ध के छोड दिये जाते तो उनका पशुवत् वर्ताव और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक देखने को मिलता।

४४—नीति-विषयक असामयिक परिपक्वता से हानि।

बच्चों को ऊँचे दरजे की सदाचरण-शिक्षा देना बुद्धिमानी का काम नहीं। यही नहीं, किन्तु उत्तमाचरण रखने के लिए उन्हे बहुत अधिक लालच देना या प्रेरणा करना भी उचित नहीं। असमय मे ही बुद्धि की परिपक्वता होने से बुरे परिणाम होते हैं। इस बात को तो बहुत लोग अच्छी तरह जान गये हैं पर उन्हें अभी इस बात का जानना बाक़ी है कि असमय मे नीति-

विषयक परिपक्वता प्राप्त होने से भी परिणाम अच्छे नहीं होते। दोनों प्रकार की ऐसी परिपक्वतायें हानिकारक हैं। ऊँचे दरजे की हमारी मानसिक शक्तियों की तरह, ऊँचे दरजे के हमारे नैतिक मनोभाव भी बहुत कुछ पेचीदा होते हैं—बहुत कुछ परस्पर मिले हुए होते हैं। अतएव इन दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास होने मे और शक्तियों की अपेक्षा अधिक देर लगती है। यदि इनमें उत्तेजना के बल से समय के पहले ही तेज़ी पैदा कर दी जायगी तो भावी सदाचरणशीलता को हानि पहुँचे बिना न रहेगी। इसी से नियम के प्रतिकूल यह बात अकसर देखी जाती है कि जो लोग बचपन मे नई उत्पन्न हुई सदाचरण-शीलता के नमूने थे वे पीछे से धीरे धीरे बिगड़ गये हैं। यहाँ तक कि अन्त में उनका आचरण साधारण आदमियों के आचरण से भी बुरा हो गया है। विपरीत इसके, बड़े होने पर, किसी किसी आदमी का आचरण यहाँ तक उत्तम हो गया है कि उसके लड़कपन के आचरण से यह ज़रा भी न मालूम होता था कि वह इतना सदाचरण-शील होगा। ऐसे विपरीत उदाहरणों का कारण लोगों को मालूम नहीं रहता। इसी से बिना अच्छी तरह विचार किये वह उनकी समझ मे नहीं आता।

४५—औसत दरजे के उपायों और परिणामों से सन्तोष।

इसीसे औसत दरजे के उपायो और औसत ही दरजे के परिणामों से सन्तोष करना चाहिए। उपाय मध्यम होने से फल भी मध्यम ही होगा। पर उसी से कृतार्थता माननी चाहिए। याद रखिए, ऊँचे दरजे की बुद्धि की तरह ऊँचे दरजे की सारासार-विचार-शक्ति भी धीरे ही धीरे प्राप्त होती है। इससे अपने लडके मे तुम्हे जो हर घड़ी नये नये दोष देख पड़ते हैं उन्हे देख कर क्रोध न आवेगा। तुम यह समझ कर चुप रहोगे कि आगे ये दोष धीरे धीरे दूर हो जायँगे। बहुत लोग अपने बच्चो की दुःशीलता से तग आकर उन्हें हमेशा धमकाते घुड़कते और डाटते डपटते रहते हैं। "यह काम न करो, वह काम न करो"—कह कर हमेशा उन्हें मना किया करते हैं। वे समझते हैं कि ऐसा करने से उनके लड़के खूब सदाचरण-शील

हो जायँगे। पर ऐसी आशा रखना व्यर्थ है। इस तरह की झाड़ फटकार से बच्चे सुधरते तो नहीं, घर में चिरकाल-स्थायी कलह ज़रूर पैदा हो जाता है। पर हमारे कहे हुए तरीक़े से चलने और हमारी बतलाई हुई बातें याद रखने से डाट डपट करने की आदत ज़रूर कम हो जाती है। अतएव कलह भी कम हो जाता है।

४६—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति से स्वाधीनचेता और सीधे सादे, दोनों तरह के, बच्चों को लाभ।

जिस प्रकार की कुटुम्ब-व्यवस्था का ज़िक्र हमने किया वह उदार भावों से पूर्ण है। उसे जारी करने से लोगों को अपने लडकों की आचरण-सम्बन्धी जरा जरा सी बातों पर हर घड़ी टीका-टिप्पणी करने की ज़रूरत न रहेगी। हमारी शिक्षा-पद्धति ही ऐसी है कि उससे कुटुम्ब-व्यवस्था मे सौम्य भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। बच्चे को अपने किये हुए का स्वाभाविक फल हमेशा भोगने दो। बस तुम इतना ही देखो और इसी पर सन्तोष करो। इससे बच्चों को बहुत अधिक अपने क़ाबू मे रखने की जो कितने ही माँ-बाप भूल करते हैं वह तुमसे न होगी। ऐसी भूल से तुम ज़रूर बचोगे। यदि तुम बच्चे को उनके निज के तजरिबे से प्राप्त होनेवाली शिक्षा या सज़ा के भरोसे छोड़ दोगे तो कलहाग्नि से सन्तप्त घर की उस सद्‌गुणशीलता के हानिकारक परिणाम से वह बच जायगा, जो विशेष कठोर तरीक़े से दी हुई शिक्षा के कारण सीधे स्वभाव के बच्चों के हृदय पर होता है। यदि तुम ऐसा करोगे तो बच्चा उस दुर्नीति-जनक द्वेष-भाव से भी बच जायगा जो उद्धत और स्वाधीन-प्रकृति के बच्चो के मन मे पैदा हो जाता है। अर्थात् यदि बच्चे का स्वभाव सीधा है तो भी उसे फ़ायदा होगा और यदि स्वाधीन है तो भी होगा।

४७—क्रोध आने पर कुछ देर ठहर जाने से अनुचित बातों का सहसा न होना।

बच्चे से उसके किये हुए कामों के स्वाभाविक-परिणाम भोग कराने की

हमेशा इच्छा रखने से तुम्हें भी फ़ायदा होगा । तुम्हारे मनोविकारों की बाढ़ रुक जायगी । तुम मनोनिग्रह करना सीख जावगे । बहुत से माँ-बाप, अथवा यों कहिए प्राय. सभी, बुरी तरह से नैतिक शिक्षा देते हैं । उनकी नैतिक शिक्षा का तरीक़ा इसके सिवा और कुछ नहीं कि, क्रोध आने पर, जो कुछ उन्हें सूझा कर उठाया । बच्चे छोटे छोटे बहुत से अपराध किया करते हैं । इनमे से कितने ही अपराध ऐसे होते हैं कि यदि ध्यान से देखा जाय तो उनकी गिनती अपराधो मे हो ही न सके । परन्तु ऐसे ही अपराधों के लिए माँ अकसर बच्चे को गालियाँ देती है, झिझकोरती है और चपत तक लगाती है । इस तरह के शारीरिक दण्ड को हम दण्ड नहीं समझते । माँ के मनोविकारो के ये रूपान्तर हैं । उन्हे वह क़ाबू मे नहीं रख सकती । इससे वे दण्ड के रूप में प्रकट होते हैं । मनोविकार अनिवार्य्य हो उठने से, उनकी प्रेरणा के वशीभूत होकर, माँ इस तरह के दण्ड अधिक देती है, लड़के को फ़ायदा पहुँचाने की इच्छा से उतना नहीं । परन्तु लड़के के अपराध करने पर हर बार इस बात के सोचने के लिए ठहरने से कि इसका स्वाभाविक परिणाम क्या होना चाहिए, और अपराधी पर उसका असर डालने के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा कौन सा है, तुम्हे अपने मनोविकारों को क़ाबू में रखने के लिए थोड़ा सा समय मिल जायगा—विचार और आत्मनिग्रह करने का मौक़ा मिल जायगा । लड़के के अपराध को देखने के साथ ही उसी क्षण एक-दम भड़क उठा क्रोध आदमी को अन्धा बना देता है । पर थोडी देर ठहरने से वह कुछ शान्त हो जाता है, उसका वेग घट जाता है । अतएव कोई अनुचित काम सहसा आदमी के हाथ से नहीं होता ।

४८—न्याय्य होने से प्रसन्नता और क्रोध प्रकट करना अनुचित नहीं ।

परन्तु कुछ न कुछ क्रोध आना ही चाहिए । चेतना-हीन निश्चेष्ट हथियारों की तरह का बर्ताव अच्छा नहीं । संसार की वस्तु-स्थिति के अनुसार बच्चे को अपने किये का फल भोगना ही चाहिए । उसके अनुचित कामो की यही सज़ा है । परन्तु यह भी याद रखिए कि इस प्रकार के स्वाभाविक

परिणाम के सिवा तुम्हारी प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी एक प्रकार का स्वाभाविक परिणाम है। बच्चे को सुमार्ग मे लाने के लिए जहाँ और स्वाभाविक साधन हैं वहाँ तुम्हारी ख़ुशी या नाराज़गी भी एक साधन है। ईश्वर ने जो स्वाभाविक दण्ड निश्चित किये हैं उनकी जगह माता-पिता के क्रोध और उससे उत्पन्न हुए कृत्रिम दण्डो का उपयोग करना बड़ी भारी भूल है। इसी भूल का हम प्रतिवाद करते चले आ रहे हैं। स्वाभाविक दण्डो के बदले कृत्रिम दण्डो से काम न लेना चाहिए। इस बात को हम दृढ़ता से कहते हैं। पर इससे हमारा यह हरगिज़ मतलब नहीं कि कृत्रिम दण्डों का बिलकुल ही उपयोग न किया जाय। नहीं, स्वाभाविक दण्डों की जगह कृत्रिम दण्ड न दिये जायँ, पर उनके साथ दिये जायँ। अर्थात् दोनों साथ साथ रहे। स्वाभाविक दण्ड मुख्य हैं, कृत्रिम दण्ड गौण। अतएव गौण दण्डों के द्वारा मुख्य दण्डों का अधिकार छीना जाना मुनासिब नहीं। पर गौण दण्डों की योजना से मुख्य दण्डों को, एक उचित हद तक, सहायता पहुँचाना बुरा नहीं। वह सर्वथा उचित है। यदि तुम्हें क्रोध आ जाय या दुःख हो, और उसका प्रकट करना तुम्हे न्याय मालूम हो, तो शब्दों या बर्ताव के द्वारा तुम्हे उसे प्रकट करना ही चाहिए। तुम्हारी चित्त-वृत्ति पर किस तरह का और कितना असर पड़ेगा, यह तुम्हारे स्वभाव पर अवलम्बित रहेगा। जिस तरह का तुम्हारा स्वभाव होगा उसी तरह का असर भी तुम पर पड़ेगा। अर्थात् तुम्हारी मनो-वृत्ति को जो क्षोभ होगा वह तुम्हारे स्वभाव के अनुसार होगा। अतएव यह बतलाते बैठना व्यर्थ है कि वह क्षोभ किस प्रकार का होगा और कितना होगा। तथापि जिस प्रकार की मनोवृत्ति धारण करना तुमको मुनासिब मालूम हो उस प्रकार की मनो-वृत्ति धारण करने का तुम यत्न कर सकते हो। परन्तु अप्रसन्नता प्रकट करने मे तुम्हें दो बातों की चरम सीमा तक चले जाने से बचना चाहिए। उन दो बातों मे एक तो यह है कि क्रोध आने पर वह कितना होना चाहिए और दूसरी यह कि उसे कितनी देर तक रहना चाहिए। अर्थात् क्रोध की अवधि और उसकी इयत्ता को, पराकाष्ठा को न पहुँचा देना चाहिए। एक तो तुम्हे उस मानसिक अधीरता से बचना

चाहिए जो माँ मे अकसर देखी जाती है और जिसकी प्रेरणा से वह एक हाथ से बच्चे की ताड़ना करती है और दूसरे से उसका प्यार करती जाती है। एक ही दम मे धमकी देना और पुचकारना अच्छा नहीं। दूसरे, तुम्हें अपनी अप्रसन्नता या अप्रीति बहुत समय तक न बनी रखना चाहिए। क्योंकि उससे बच्चे को या ख़याल हो जायगा कि तुम्हारी प्रीति के बिना भी उसका काम चल सकता है। अतएव उस पर से तुम्हारा दबाव जाता रहेगा। तुम्हें यह सोचना चाहिए कि बच्चों के बुरे व्यवहारों को देख कर सर्वोत्तम स्वभाव के माँ-बाप की चित्त-वृत्ति किस प्रकार की होगी। फिर, बच्चे के व्यवहार के कारण क्षुब्ध हुए अपने चित्त की वृत्ति को, जहाँ तक हो सके, तुम्हे ऐसे माँ-बापों की चित्त-वृत्ति के बराबर रखना चाहिए। अर्थात् उत्तम स्वभाव के आदमियों की जैसी चित्त-वृत्ति हो सकती हो उसी का अनुकरण तुम्हे करना चाहिए।

४९—बच्चों को अपना प्रभुत्व दिखा कर आज्ञा-पालन कराना अच्छा नहीं।

जहाँ तक हो सके बच्चे को बहुत कम हुक्म दो। जब और सब साधन व्यर्थ हो जायँ या बच्चे की समझ के बाहर हों तभी हुक्म दो। रिचर साहब का कथन है कि बहुत से हुक्मो में बच्चे के फ़ायदे की अपेक्षा माँ-बाप के फ़ायदे का अधिक ख़याल रहता है। अर्थात् माँ-बाप बच्चो से आज्ञा-पालन कराने का अधिक ख़याल रखते हैं, उनके फ़ायदे-नुक़सान का कम। बहुत पुराने जमाने के समाज मे क़ानून के ख़िलाफ़ काम करने से फ़ौरन ही दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड इस ख़याल से कम दिया जाता था कि क़ानून की आज्ञा न मानना अन्याय करना है। पर इस ख़याल से अधिक कि क़ानून को न मानना मानों राजा का अपमान करना है—उसके प्रतिकूल विद्रोह करना है। यही हाल कितने ही कुटुम्बों का है। उनमें बच्चो के कृतापराधों के लिए जो दण्ड दिये जाते हैं वे अधिकतर आज्ञा-भङ्ग करने के कारण दिये जाते हैं। अपराधों का प्रायश्चित्त कराने के कारण नहीं। इस विषय मे लोग घर मे किस तरह की बाते करते हैं, सो सुनिए—"तुम्हे मेरी आज्ञा न मानने का क्या अधिकार"? "मैं तुमसे यह काम कराके

छोड़ूँगा"। "मैं जल्द तुम्हे सिखला दूँगा कि मालिक कौन है"। इस तरह के वाक्यो के शब्दों का, स्वर का और कहने के तरीके का तो ज़रा विचार कीजिए। उनसे यह साफ़ साबित है कि बच्चे के कल्याण की अपेक्षा उससे अपनी आज्ञा-पालन कराने ही की तरफ़ माँ-बाप का झुकाव अधिक है। आज्ञा-भङ्ग करने के कारण अपनी प्रजा मे से किसी को दण्ड देने का निश्चय करनेवाले किसी अन्यायी राजा के चित्त की जो दशा होती है उसमें और इस तरह के माँ-बापो के चित्त की स्थिति मे, उतनी देर के लिए, बहुत कम अन्तर होता है। परन्तु जिस माँ-बाप को न्यायान्याय का ख़याल है—भले बुरे का ज्ञान है—उसे सर्व-जन-प्रिय और उदार क़ानून बनानेवाले की तरह, सख़्ती और अन्याय में नहीं, किन्तु उन्हे बन्द करने में आनन्द होता है। बच्चो का चाल-चलन ठीक रखने के लिए यदि और साधनों से अभीष्ट सिद्ध हो सकता है तो वह कभी क़ानून से काम न लेगा, और यदि वैसा करने की ज़रूरत ही आ पड़ेगी तो उसे खेद हुए बिना न रहेगा। रिचर साहब कहते हैं—"सर्वोत्तम राजनीति वह है जिससे विशेष प्रभुता दिखाने या कठोरता से शासन करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। यही लक्षण सर्वोत्तम शिक्षा का भी है"। अपनी प्रभुता दिखलाने की जिन माँ-बापों की अभिलाषा का उनके सच्चे कर्त्तव्य-ज्ञान से प्रतिबन्ध हो जाता है, अर्थात् जो अपनी प्रभुता की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य को अधिक समझते हैं, वे आपही आप इस नियम के अनुसार काम करेंगे। जहाँ तक सम्भव होगा वे अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देंगे जिसमें वे ख़ुद ही अपने को अपने क़ाबू में रख सकें। क़ानून का ऐसा सख़्त वर्त्ताव वे तभी उनके साथ करेंगे जब और कोई इलाज कारगर न होगा। जब और सब उपाय करके वे थक जायँगे तभी वे अपनी प्रभुता दिखावेंगे और कहेंगे कि हमारी अमुक आज्ञा का अमुक तरह से पालन करना ही होगा।

५०—ज़रूरत पड़ने पर आदेश दो, पर सङ्कोच छोड़ कर उनका पालन कराओ।

परन्तु यदि आज्ञा देने की ज़रूरत ही आ पड़े तो निश्चय के साथ

आज्ञा दो और दृढ़ता से उसका पालन कराओ। आज्ञा और बर्ताव में परस्पर विरोध होना अच्छा नहीं । यदि कोई ऐसा प्रसङ्ग आजाय कि बिना आज्ञा दिये—बिना हुकूमत या शासन किये—काम ही न चले तो ज़रूर वैसा करो; परन्तु आदेश देकर—हुक्म सुना कर—फिर ज़रा भी उससे विचलित न हो। जो कुछ तुम करने जाते हो उस पर ख़ूब विचार कर लो; उसके सब परिणामो को अच्छी तरह तौल लो; इस बात को अच्छी तरह समझ लो कि जो काम तुम करना चाहते हो उसे पूरा करने के लिए तुममे काफी दृढ़ निश्चय है या नहीं । और, यदि, अन्त में, निश्चय-पूर्वक तुम्हे किसी विषय में कोई आदेश देना ही पड़े—कोई नियम करना ही पड़े—तो, फिर, चाहे कुछ ही क्यों न हो, उसका पालन कराकर छोड़ो। तुम्हारे नियमो के परिणाम, निर्जीव सांसारिक पदार्थों की तरह, अटल और अचल होने चाहिए। तुम्हारी हुकूमत, तुम्हारा शासन, तुम्हारा आधिपत्य अनिवार्य होना चाहिए। उसमे बिन्दु-विसर्ग का भी अन्तर न पड़ना चाहिए। जब बच्चा पहले पहल चिनगारियों पर हाथ रख देता है तब ज़रूर उसका हाथ जल जाता है; दूसरी दफ़े हाथ रखने से दूसरी दफ़े भी जल जाता है, तीसरी दफ़े रखने से तीसरी दफ़े भी जल जाता है। हर दफ़े यही दशा होती है। इससे बच्चा बहुत जल्द सीख जाता है कि चिनगारियों को न छूना चाहिए। तुम्हारे शासन मे भी यदि इसी तरह का मेल रहे और तुम्हारे कहने के अनुसार, कि अमुक अमुक काम करने से अमुक अमुक परिणाम निश्चित रूप से वैसेही भोग करने पड़ेंगे, तो तुम्हारे निर्दिष्ट नियमों का, सृष्टि के नियमो ही की तरह, बच्चा आदर करने लगेगा। इस तरह तुम्हारा मान—तुम्हारा प्रभुत्व—एक दफ़े स्थापित हो जाने से गृह-सम्बन्धी अनेक अनिष्ट दूर हो जायँगे—शिक्षा-सम्बन्धी भूलों मे से एक बहुत बड़ी भूल यह है कि किसी बात मे मेल ही नहीं है। अर्थात् कहा कुछ जाता है, होता कुछ है। जिस तरह समाज मे न्याय-विषयक कोई निश्चित प्रबन्ध न होने से अपराधों की संख्या बढ़ती है, उसी तरह कुटुम्ब में यथानियम दण्ड न देने या दण्ड देने में सङ्कोच करने से भी अपराधो की वृद्धि होती है। दिल की कच्ची माँ बच्चे को दण्ड देने की

हमेशा धमकी दिया करती है, पर उस धमकी को शायद ही कभी पूरा करती है। वह जल्दी में झटपट नियम बना डालती है और पीछे से पछताती बैठती है। एक ही अपराध के लिए कभी वह सख़्ती करती है और कभी, मन मे मौज आ गई तो, योंही एक आध बात कह कर टाल जाती है। इस तरह की माँ अपने और अपने बच्चे, दोनों के लिए, आपदाये इकट्ठी करती है—भावी दुःखों का बीज बोती है। वह बच्चों की दृष्टि मे अपने को तुच्छ बनाती है। मनोविकारो को अपने क़ाबू में न रखने का वह ख़ुद ही उनके लिए उदाहरण बनती है। वह उनको इस आशा पर अपराध करने के लिए उत्साहित करती है कि शायद वे दण्ड से बच जायँ—शायद किसी तरह दण्ड टल जाय। पर घर मे अनन्त झगड़े बखेड़े पैदा करती है, जिससे उसका और उसके छोटे छोटे बच्चो का स्वभाव बिगड जाता है। वह बच्चों के मन मे नैतिक तत्त्वों को बेतरह गड्डबड्ड करके उन्हें बहुत ही बुरी दशा को पहुँचा देती है। इसका फल यह होता है कि, बाद मे, बहुत तकलीफ़ उठाने पर भी, उनके नैतिक विचारों का सुधरना कठिन हो जाता है। इन सारी आपदाओ का एक-मात्र कारण माँ को समझना चाहिए। कुटुम्ब-शासन की व्यवस्था मे यदि सब बातों मे मेल है तो, उसके असभ्यता-पूर्ण होने पर भी, हम उसे उस सभ्यता-पूर्ण व्यवस्था से अच्छी समझते हैं जिसकी बातों में परस्पर मेल नहीं है। अर्थात् असभ्य-समाज की व्यवस्था में मेल होने से वह सभ्य-समाज की बेमेल व्यवस्था से अच्छी है। यहाँ पर हम फिर कहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो बच्चों के साथ सख़्ती का व्यवहार मत करो। जहाँ तक हो सके ऐसे मौक़ों को टालो। परन्तु यदि कठोर शासन की सचमुच ही जरूरत देख पडे तो वैसा बर्ताव करने मे ज़रा भी सङ्कोच न करो। ऐसे मौक़ों पर सचमुच ही सख़्ती से काम लो।

५१—अपना शासन आप करने के लिए बचपन ही से भले बुरे परिणामों के तजरिबे की ज़रूरत।

तुम्हारी शिक्षा का उद्देश यह होना चाहिए कि उसकी बदौलत बच्चे

अपने मनोविकारों का आप ही शासन कर सके, यह नहीं कि दूसरे उनका शासन करे। यह बात तुम्हे ख़ूब ध्यान में रखनी चाहिए। यदि तुम्हारे बच्चों के भाग्य में उम्र भर गुलामी करना ही लिखा होता तो बचपन मे तुम उन्हे गुलामी की जितनी आदत डालते सब कम थी। पर बात ऐसी नही है। उन्हे धीरे धीरे स्वाधीन-प्रकृति के आदमी बनना है और उनके चाल-चलन की देख भाल रखने के लिए हर घड़ी किसी को उनके पास नहीं रहना है। अतएव जब तक वे तुम्हारी आँख के सामने हैं तब तक तुम उनको अपनी व्यवस्था आप ही करने की—अपने मनोविकारो को अपने ही क़ाबू मे रखने की—जितनी ही अधिक आदत डालो उतना ही अच्छा है। हम लोग, इस समय, इँग्लेड मे, जिस सामाजिक स्थिति को पहुँच गये हैं उसके लिए प्राकृतिक परिणामों के द्वारा शिक्षा देने की यह रीति विशेष उपयोगी है। पुराने ज़माने मे जब देश की दशा और तरह की थी और जब प्रत्येक नागरिक को अपने वरिष्ठ प्रभु के क्रुद्ध हो जाने का डर लगा रहता था तब लड़कों के साथ बचपन में सख़्ती का बर्ताव ही शासन करने का प्रधान उपाय था। पर अब वह बात नही है। अब नागरिक लोगों को औरों से कुछ भी डर नही। सरकार को छोड़ कर और आदमियों से डरने का अब कोई विशेष कारण नहीं रह गया। अब तो वह समय लगा है कि जो भला या बुरा परिणाम आदमी को भोग करना पड़ता है वह वस्तु-स्थिति के अनुसार उसी के किये हुए कृत्यों का फल होता है। अतएव अब हर आदमी को चाहिए कि बचपन ही से तजरिबे के द्वारा वह वे भले या बुरे परिणाम सीखना शुरू कर दे जो भिन्न भिन्न प्रकार के कामों से स्वाभाविक तौर पर पैदा होते हैं। किस काम का क्या नतीजा होगा, इस बात को पहले ही से जान कर अपने आप को क़ाबू मे रखने की शक्ति जैसे जैसे बच्चे में आती जाय वैसे ही वैसे माँ-बाप के शासन की मात्रा कम होती जानी चाहिए। भावी परिणामों का ख़याल रख कर बच्चे को उनके अनुसार बर्ताव करने का ज्ञान होते ही माँ-बाप को चाहिए कि उस पर हुक़ूमत करना बन्द कर दे। हाँ, बहुत ही थोड़ी उम्र के दुधपिये बच्चों पर अधिक शासन करने की ज़रूरत रहती है। बुरे परिणामो से बचाने के लिए उनकी

देख भाल अधिक करनी पड़ती है। खुले हुए उस्तुरे से खेलनेवाले तीन वर्ष के बच्चे को यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि ऐसे खेल के परिणाम से वह शिक्षा ग्रहण करे, क्योंकि उसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर हो सकता है। परन्तु बच्चों की बुद्धि जैसे जैसे अधिक होती जाय वैसे वैसे उनके बीच में पड़ कर उनके काम मे दख़ल देना कम किया जा सकता है; और, कम किया जाना ही चाहिए। इस तरह कम करते करते जब बच्चे वयस्क हो जायँ तब उनके काम मे दख़ल देना और उन पर शासन करना बिलकुल ही बंद कर देना चाहिए। इस उद्देश को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाना बहुत भयङ्कर है; और कुटुम्बी जनों के प्रतिबन्ध की स्थिति से प्रतिबन्धहीन संसार में प्रवेश करना तो अत्यन्त ही भयङ्कर है। इसी से जिस शिक्षा-पद्धति की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके अनुसार काम करने की बड़ी ज़रूरत है। लड़के को बचपन ही से धीरे धीरे आत्मसंयम करने—अपने आपको क़ाबू में रखने—की आदत डालने से उसकी आत्मसंयमशक्ति क्रम क्रम से बढ़ती जाती है। इस आदत को बढ़ाते जाने से एक दिन ऐसा आता है कि बिना किसी दूसरे की मदद के बच्चा अपना मनोनिग्रह आप ही आप स्वतन्त्रता-पूर्वक करने के योग्य हो जाता है। उसकी मनोनिग्रह-शक्ति इस तरह क्रम क्रम से इस स्थिति को पहुँच जाने से, अकस्मात् होनेवाले उस भयङ्कर स्थिति-परिवर्तन के पेंच से वह बच जाता है, जिसमें लड़कपन के बाहरी शासन का उल्लंघन करके वयस्क होने पर अपना शासन आप ही करने की स्थिति मे प्रवेश करते समय फँसना पड़ता है। कुटुम्बीय शासन-प्रणाली का इतिहास राजनैतिक शासन-प्रणाली का एक छोटा सा नमूना होना चाहिए। अर्थात् राज्य-व्यवस्था में जैसे फेरफार होते हैं वैसे ही घर की शिक्षण-व्यवस्था मे भी होने चाहिए। शुरू शुरू में, जहाँ दूसरों के पूरे पूरे शासन की ज़रूरत हो वहाँ, वैसा ही शासन किया जाय। धीरे धीरे राज्य-नियमानुसारी शासन जारी किया जाय जिसमे प्रजा की स्वतन्त्रता थोड़ी बहुत स्वीकार की जाती है। फिर प्रजा की स्वतन्त्रता क्रम क्रम से बढ़ाई जाय। अन्त में प्रजा पूरे तौर पर स्वतन्त्र कर दी जाय। इसी राज-नीति को नमूना मान कर

माँ-बाप को चाहिए कि पहले वे अपनी सन्तति पर पूरा पूरा शासन करें। फिर सन्तति को थोडी सी स्वतन्त्रता देकर उसकी मात्रा को बढ़ावें और अन्त में उसका शासन करने से बिलकुल ही हाथ खींच लें।

५२—लड़कों में हठ और स्वेच्छाचार स्वाधीनता के अङ्कुर हैं।

यदि बच्चे बहुत अधिक हठ या स्वेच्छाचार करें तो तुम्हें रंज न करना चाहिए। आज कल की शिक्षा-प्रणाली मे कठोर बर्ताव का कम उपयोग किया जाता है। यह हठ और स्वेच्छाचार उसी कोमल शिक्षा-प्रणाली का फल है, क्योंकि इसके कारण बच्चों मे स्वतन्त्रता का अङ्कुर उग आता है। एक तरफ़ कठोर शासन करने की प्रकृति कम होने से दूसरी तरफ़ स्वतन्त्रता-पूर्वक काम करने की प्रवृत्ति बढ़नी ही चाहिए। माँ-बाप जब बच्चों पर कम सख़्ती करेंगे तब बच्चे ज़रूर ही अधिक स्वाधीनचेता हो जायँगे। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस बात का सबूत हैं कि जिस शिक्षा-पद्धति का हम पक्ष कर रहे हैं उसी की तरफ़ लोग धीरे धीरे जा रहे हैं—उसी के अनुसार शिक्षा देना आरम्भ कर रहे हैं। इस पद्धति का प्रचार होने से बच्चों को स्वाभाविक परिणाम भोग करने पड़ेंगे। इससे उन्हें तजरिबा होता जायगा और अपने आपको प्रति दिन अधिकाधिक क़ाबू में रखने की योग्यता प्राप्त होती जायगी। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हम लोगों की उन्नत सामाजिक स्थिति के साथ साथ रहती हैं। अतएव शिक्षा-पद्धति में इनका स्थान पाना सर्वथा स्वाभाविक है। स्वतन्त्र-स्वभाव का अँगरेज़ लड़का स्वतन्त्र-स्वभाव के अँगरेज़ आदमी का बाप है। अर्थात् लड़के स्वतन्त्रता से प्रेम रखते हैं; इसी से वयस्क आदमियों मे भी स्वतन्त्रता पाई जाती है। यदि लड़के स्वाधीनचेता न होते तो आदमी कभी स्वाधीनचेता न हो सकते। जर्मनी के अध्यापक कहते हैं कि हम एक दरजन जर्मन लड़कों को क़ाबू मे रख सकते हैं, पर एक अँगरेज़ लड़के को क़ाबू में नहीं रख सकते। अतएव क्या हम लोगों की यह इच्छा होनी चाहिए कि हमारे लड़के जर्मन लड़कों की तरह भोले भाले, और वयस्क जर्मन लोगों की तरह दीन और राजनीति के दास हो

जायँ? या जिन गुणों से आदमी में स्वाधीनवृत्ति जागृत होती है उनके अङ्कुर को अपने लड़कों में बना रहने दें और तदनुकूल अपने बर्ताव और चाल चलन में फेरफार करें?

५३—उत्तम शिक्षा-पद्धति के लिए अध्ययन, कल्पना-चातुर्य्य, शान्ति और आत्म-निग्रह की ज़रूरत।

अन्त मे, यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि ठीक ठीक शिक्षा देना सीधा और सरल काम नहीं, किन्तु बहुत ही टेढ़ा और कठिन है। हम तो यह समझते हैं कि प्रौढ़ वय मे आदमी को जो काम करने पड़ते हैं उनमे यह सबसे अधिक कठिन है। विषम और अपरिणामदर्शी गृह-शिक्षण या कुटुम्ब-शासन का भार अत्यन्त निकृष्ट और अत्यन्त शिक्षित बुद्धि के आदमी भी अच्छी तरह अपने ऊपर ले सकते हैं। लड़कों को बुरा काम करते देख चपत लगा कर या गालियाँ देकर उनकी खबर लेना ऐसा दण्ड है जो जंगली से भी जंगली असभ्यों और मूर्ख से भी मूर्ख अहीर, गड़रिये आदि किसानों को भी, बिना किसी के बताये, सूझ जाता है। किम्बहुना, पशु तक इस तरह का दण्ड एक दूसरे को देते हैं। तुमने देखा होगा कि जब कोई पिल्ला अपनी माँ को बहुत तङ्ग करता है तब कुतिया गुर्रा कर धीरे से उसे काटती है। अर्थात् नीच से भी नीच पशु इस तरह की असभ्य शासन-पद्धति काम मे लाते हैं। परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा उचित और सभ्यसम्मत पद्धति के द्वारा सफलता प्राप्त करने की हो तो तुम्हें तदनुकूल बहुत कुछ मानसिक परिश्रम करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अर्थात् तुम्हें चाहिए कि तुम विशेष बुद्धिमानी से काम लो। अध्ययन, कल्पनाचातुर्य्य, शान्ति और आत्म-निग्रह का थोड़ा थोड़ा अंश तो जरूर ही तुम में होना चाहिए। बिना इसके हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति व्यवहार में नहीं लाई जा सकती। बड़ी उम्र मे किस काम का क्या परिणाम होता है, इस बात पर तुम्हे हमेशा ध्यान देना होगा। फिर तुम्हे ऐसी युक्ति से काम लेना होगा जिसमें वही काम यदि तुम्हारे लड़के करें तो उनके परिणाम भी वैसे ही हों। इस बात की छान बीन की प्रतिदिन जरूरत

होगी कि बच्चे ने जो अमुक काम किया उसमें उसका उद्देश क्या था। उसके हर काम का उद्देश जान कर यह देखना होगा कि यथार्थ में अच्छे काम कौन से हैं, और निकृष्ट मनोविकारों की प्रेरणा से उत्पन्न हुए परन्तु ऊपर से देखने मे अच्छे कौन से हैं। एक बहुत बड़ी भूल अकसर लोगों से हो जाया करती है। उससे बचने का तुम्हें हमेशा यत्न करना होगा। अर्थात् कुछ काम ऐसे हैं जो न अच्छे ही हैं न बुरे। पर लोग उन्हें बुरे समझ कर उनकी गिनती अपराधों मे कर लेते हैं। इसी तरह बच्चों के किसी किसी काम मे उनका जितना उद्देश रहता है बहुधा लोग उससे अधिक उद्देश मान लेते हैं। इस तरह की भूलें बड़ी भयङ्कर हैं। अतएव तुम्हें उनसे बहुत साव-धान रहना चाहिए। जिस तरीके से तुम बर्ताव करना चाहते हो उसमे तुम्हे हर एक बच्चे के स्वभाव के अनुसार थोड़ा बहुत फेर-फार ज़रूर करना चाहिए। यही नहीं, किन्तु जैसे जैसे हर एक बच्चे का स्वभाव नये नये ढंग का होता जाय तैसे तैसे अपने बर्ताव के तरीके मे तुम्हें और भी अधिक फेर-फार करने के लिए भी ज़रूर तैयार रहना चाहिए। कभी कभी ऐसा होगा कि जिस तरीके से तुम बर्ताव करोगे उससे बच्चे पर बहुत कम असर होगा या बिलकुल ही न होगा। पर इससे घबरा कर तुम्हें उस तरीके को छोड़ न देना चाहिए। उसे वैसे ही कुछ दिन तक जारी रखना चाहिए। जिन लड़कों की शिक्षा शुरू से ही बुरी तरह से हुई है उनसे यदि साबिक़ा पड़ेगा तो बहुत दिन तक धीरज के साथ तुम्हें अपने तरीके के अनुसार बर्ताव जारी रखना होगा। अतएव इसके लिए तुम्हें पहले ही से ख़ूब तैयार रहना चाहिए और यदि एक विशेष समय तक ठहरने पर भी कामयाबी के कोई चिह्न न देख पड़ें तो उससे अच्छे तरीके को ढूँढ़ना चाहिए। उसके पहले नहीं। जिन लड़कों के मन की स्थिति शुरू से ही अच्छी हो गई है उन्हें भी इस तरीके से शिक्षा देने में कठिनता का सामना करना पड़ता है। तब जिनके मन की स्थिति पहले ही से ख़राब हो रही है उन्हें इस तरीके से शिक्षा देने मे ज़रूर ही दूनी कठिनता से काम पड़ेगा। तुम्हें हमेशा सिर्फ़ अपने लड़कों ही के उद्देशों की छान बीन न करनी पड़ेगी, किन्तु ख़ुद अपने भी उद्देशों की छान बीन करनी पड़ेगी। तुम्हें इस बात

का अच्छी तरह निर्णय करना होगा कि तुम्हारे अन्तःकरण की मनोवृत्तियों में से कौन सी वृत्तियाँ सच्चे पितृवात्सल्य से पैदा हुई हैं और कौन सी .खुद तुम्हारी ही स्वार्थपरता तुम्हारी ही सुखैषणा और तुम्हारी ही अधिकार-तृष्णा से पैदा हुई हैं। फिर इससे भी अधिक कठिन और सहनशीलता का काम तुम्हें यह करना पड़ेगा कि अपनी नीच मनोवृत्तियों का सिर्फ़ पताही न लगाना पड़ेगा, किन्तु, उनका निग्रह भी करना पड़ेगा—उन्हें वहीं काट देना पड़ेगा। सारांश यह कि तुम अपने बच्चों को भी शिक्षा देते जाव और उसके साथ .खुद अपनी भी ऊँचे दरजे की शिक्षा जारी रक्खो। संसार में, तुम्हारे बच्चों में, और .खुद तुममें जिस मनुष्य-स्वभाव और जिस मनुष्य-धर्म्म के नियमों के अनुसार सब बातें होती हैं वह बहुत ही कठिन समस्या है। तुम्हें चाहिए कि बुद्धि की सहायता से उसका ज्ञान प्राप्त करके तुम उसकी ऐसी उन्नति करो जिसमे उसका फल कल्याणकारक हो। सारासार-विचार-शक्ति की सहायता से तुम्हें अपने उच्च मनोविकारो से हमेशा काम लेते रहना और नीच मनो-विकारों को दबाये रखना चाहिए। सन्तति के साथ माँ-बाप का जो सम्बन्ध है उसके अनुसार जब तक माँ-बाप अपने कर्तव्य को पूरे तौर पर न करेंगे तब तक प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष की मानसिक उन्नति कभी सबसे ऊँचे दरजे तक न पहुँचेगी। और किसी तरह उसकी सर्वोच्च उन्नति होने ही की नहीं। यह बात बिलकुल सच है। पर इसकी तरफ़ लोगों का ध्यान अभी तक नहीं गया। जब उनका ध्यान इस तरफ़ जायगा और वे इस बात की सचाई को स्वीकार कर लेंगे तब उन्हे मालूम हो जायगा कि सृष्टि की व्यवस्था कैसी अद्भुत है। इसी प्राकृतिक व्यवस्था की बदौलत मनुष्यो के मनोविकार अत्यन्त प्रबल होकर इस बात की प्रेरणा करते हैं कि जो परमावश्यक शिक्षा उन्हें और किसी तरह नहीं मिल सकती उसे इन विकारों के वशीभूत होकर वे प्राप्त करें। अर्थात् प्राकृतिक संकेतों के अनुसार माता-पिता के मन में सन्तान-सम्बन्धी प्रेम इतना उत्कट हो उठता है कि केवल उसी की उत्तेजना से मनुष्यों को परमावश्यक शिक्षा मिलती है। यदि माँ-बाप के मन मे प्रबल-प्रेमरूपी मनोविकार न जागृत हो तो ऐसी शिक्षा और किसी तरह कभी मनुष्य को न मिल सके।

५४—यह शिक्षा-पद्धति माँ-बाप और सन्तान दोनों के लिए मङ्गलजनक है।

इस विषय मे कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जो कुछ हमने यहाँ पर कहा उसमें किसी किसी को सन्देह होगा। कोई कोई उसकी सत्यता में शङ्का करेंगे। अतएव उसके अनुसार बर्ताव करने के लिए उन्हें उत्साह भी न होगा। परन्तु जिस शिक्षा-प्रणाली का हमने वर्णन किया वह सबसे ऊँचे दरजे की है—वह शिक्षा का सर्वोच्च नमूना है। इससे, हम समझते हैं, कि कुछ आदमियों को ज़रूर इसकी सत्यता के विषय मे सन्देह न होगा। अतएव वे इसको स्वीकार करने मे भी आगा पीछा न करेंगे। जो लोग चञ्चल-वृत्ति, निर्दय और अदूरदर्शी हैं उनकी समझ में हमारी शिक्षा-प्रणाली की यथार्थता नहीं आ सकती। उसे समझने के लिए मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी उच्च कोटि के गुणों की ज़रूरत है। अर्थात् जिनकी बुद्धि और सारासार-विचार-शक्ति ख़ूब विकसित है वही इस बात को समझ सकेंगे। अतएव समझदार आदमियों को हमारी शिक्षा-पद्धति में इस बात का सबूत मिलेगा कि जो जन-समाज विशेष उन्नत और विशेष शिक्षित अवस्था को पहुँच गया है सिर्फ़ उसी के लिए यह पद्धति उपयोगी है। इसके अनुसार शिक्षा देने मे यद्यपि बहुत श्रम पड़ता है, और स्वार्थ-त्याग भी करना पड़ता है; तथापि उसके बदले, जल्द या देरी से, कभी न कभी, विशेष सुख-प्राप्ति होती है। अर्थात् इस शिक्षा का परिणाम अवश्य सुखकर होता है। समझदार आदमियों के ध्यान में यह बात भी आजायगी कि बुरी शिक्षा-पद्धति से माता-पिता और सन्तान दोनों को हानि पहुँचती है। अतएव उससे दुहरा अनिष्ट होता है। परन्तु अच्छी शिक्षा-पद्धति से दुहरा इष्ट-साधन होता है। क्योंकि उसकी कृपा से शिक्षा पानेवाले और शिक्षा देनेवाले दोनों का कल्याण होता है।

चौथा प्रकरण।

शारीरिक शिक्षा।

जानवरों को पालने, उन्हें सधाने, और उनकी वंश-वृद्धि करने का अधिकांश आदमियों को शौक़ होता है।

अमीर आदमियों के यहाँ खाना खा चुकने के बाद, स्त्रियों के भीतर चले जाने पर, या खेत-खलिहान और हाट-बाज़ार का काम हो चुकने के बाद किसान आदमियों के इकट्ठे होने पर, या नशे-पानी के बाद गाँव मे किसी ख़ास जगह बैठक होने पर, वर्तमान राजकीय विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बाते ख़तम होते ही गाय, बैल, भैंस इत्यादि जानवरो की बात करने मे लोगो का बहुत दिल लगता है। उस समय सब लोग यही बाते करते हैं और बड़े चाव से करते हैं। शिकार खेल चुकने पर, घर लौटते समय, शिकारी लोग घोड़ों की वंश-वृद्धि और उनके गुण-दोषो की ज़रूर आलोचना करते हैं और कभी उनके किसी गुण की प्रशंसा करते हैं कभी किसी की। यदि शिकारी लोग एक विशेष प्रकार की ज़मीन मे शिकार खेलने गये तो बहुत करके कुत्तों के विषय में बात-चीत हुए विना नहीं रहती। पास पड़ोस के खेतों में खेती करनेवाले लोग जब गिरजाघर मे लौटते समय खेतों से होकर सब एक साथ निकलते हैं तब पादरी साहब की उपदेशपूर्ण वक्तृता की आलोचना करते करते मौसिम, फ़सल, हवा-पानी और धान्यसञ्चय इत्यादि की ज़रूर आलोचना करते हैं। इसके बाद चारा-पानी की बात छिड़ जाती है और इसका विचार होने लगता है कि कौन चारा पशुओं के लिए कितना अच्छा होता है। मुनुआँ और धुनुआँ अहीर

अपने अपने मालिक की गाय, भैंस इत्यादि के विषय में बात-चीत करके यह ज़ाहिर करते हैं कि वे उन्हे किस तरह रखते हैं और उनके रखने के तरीक़े से क्या हानि अथवा क्या लाभ है। यही नहीं कि सिर्फ़ देहाती ही श्वानशाला, गोशाला, अस्तबल, और गाय, बैल, भेड़, बकरी इत्यादि के बाड़े के विषय की बात-चीत को पसन्द करते हैं, किन्तु शहरों मे अनेक प्रकार के व्यवसाय करनेवाले कारीगर जो कुत्ते पालते हैं, अमीर आदमियों के नवयुवक लड़के जिन्हे कभी कभी शिकार खेलने का शौक़ होता है, अधिक उम्रवाले उनके बड़े बूढे जो कृषि की उन्नति के विषय में बात-चीत करते हैं, या जो म्यकी साहब की वार्षिक रिपोर्टें और टाइम्स नाम के समाचारपत्र में छपी हुई केर्ड साहब की चिट्ठियाँ पढ़ते हैं उनकी भी आदत इस तरह की बातें करने की होती है। इन सब नगर-निवासियों को मिला लेने से इस तरह के आदमियों की संख्या और भी बढ़ जाती है। यदि देश के सभी बालिग़ आदमी हिसाब में लिये जायँ तो मालूम होगा कि उनमे अधिकांश आदमी जानवरों की वंश-वृद्धि करने, या उन्हें पालने, या उन्हे सधाने और सिखलाने मे से किसी न किसी बात का शौक़ ज़रूर रखते हैं।

२—अपने बच्चों के खाने पीने आदि की देख-भाल करना प्रायः लोग पुरुषत्व में बट्टा लगाना समझते हैं।

जानवरों के पालने पोसने इत्यादि के विषय में तो इतनी बात-चीत और इतनी आलोचना होती है, परन्तु भोजन हो चुकने अथवा और ऐसे ही मौक़ों पर, गपशप करते समय, क्या कभी किसी ने आदमी के बच्चों के पालने पोसने के विषय में भी वार्तालाप होते सुना है? देहाती सज्जन प्रति दिन सबेरे खुद ही अपने अस्तबल की तरफ़ जाते हैं और खुद ही इस बात को देखते हैं कि घोड़ों के खिलाने पिलाने और उनके औषध-पानी का ठीक ठीक प्रबन्ध है या नहीं। इसके बाद अपनी गाय, भैंस और बकरी आदि की देख-भाल करके उनको अच्छी तरह रखने के विषय मे भी वे खुद ही नौकर-चाकरों से ताकीद करते हैं, पर उनसे कोई पूछे कि क्यों साहब! यह सब तो

आप करते हैं, परन्तु जहाँ आपके लडके रहते हैं वहाँ जाकर भी क्या कभी आप इस बात की देख-भाल करते हैं कि कब और किस तरह का खाना उन्हें मिलता है, उनके रहने का कमरा कैसा है और उसमे साफ़ हवा आने का भी मार्ग है या नहीं ? कभी नहीं। ऐसे लोगों के पुस्तकालय की आलमारियों मे ह्वाइट, स्टिफेन्स और निमरोद की बनाई हुई अश्वचिकित्सा, खेती और शिकार-विषयक दो एक पुस्तकें शायद ज़रूर मिलेंगी और बहुत सम्भव है कि उनमें लिखी हुई बातों से इन लोगों का थोड़ा बहुत परिचय भी हो। परन्तु शैशव और कौमार अवस्था के लड़कों के पालन-पोषण और रक्षण आदि के विषय की कितनी पुस्तकों से इन लोगों का परिचय रहता है ? एक से भी नहीं। खली खाने से पशु ख़ूब मोटे ताज़े हो जाते हैं। सूखी घास और भूसे के गुणों में क्या अन्तर है ? एक ही प्रकार का बहुत अधिक चारा खिलाने से क्या हानि होती है ? ये ऐसी बातें हैं कि इन्हें प्रत्येक ज़मींदार, प्रत्येक किसान और प्रत्येक देहाती आदमी थोडा बहुत जरूर जानता है। परन्तु उनमे फ़ी सदी कितने आदमी इस बात की पूछ पाछ करते हैं कि जो खाना वे अपने लड़कों और लड़कियों को खिलाते हैं वह, उनकी बाढ़ के ख़याल से, उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करता है या नहीं ? यह बात कितने आदमियों को मालूम रहती है कि जैसे जैसे उनके बच्चे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे उनको किस तरह का खाना खिलाने की जरूरत है ? लोग शायद यह कहेंगे कि इस तरह के आदमियों को अपने काम-धन्धे ही से छुट्टी नही मिलती, लडकों के खाने पीने इत्यादि की बातो का वे कैसे विचार कर सकते हैं ? पर यह कारण सत्य और युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि और लोगों का भी तो यही हाल है। जो लोग इस तरह के काम-धन्धे में नहीं लगे रहते वही कहाँ इन बातों का विचार करते हैं। दाना, घास खा चुकने के बाद घोडे को तुरन्त ही न जातना चाहिए—यह एक ऐसी बात है कि इसे बीस नगरनिवासियों में से, यदि न जानते होंगे तो, दो ही एक न जानते होंगे। पर यदि यह मान लीजिए कि इन बीस आदमियों मे सभी के लडके वाले हैं तो इनमे से शायद एक भी आदमी आपको ऐसा न मिलेगा जिसने इस बात का विचार किया हो कि उसके बच्चों के खाना खा

चुकने के बाद फिर पाठ शुरू करने तक जो समय उन्हे मिलता है वह काफ़ी है या नहीं । सच तो यह है कि यदि जिरह की जाय—यदि टेढे-मेढे प्रश्न पूछे जायँ—तो यह मालूम होगा कि प्रायः हर आदमी अपने मन में यही समझता है कि बच्चों के खिलाने पिलाने और उनके आराम-तकलीफ़ का ख़याल रखना उसका काम नहीं । शायद वह यह जवाब देगा कि—"अजी. ये काम मैंने स्त्रियों को सौंप रक्खे हैं" । और बहुत करके उसके जवाब देने के तरीक़े से सुननेवाले को यह भासित होगा कि ऐसे कामों की देख-भाल रखना पुरुषों के योग्य काम नही । वह स्त्रियों ही का काम है । पुरुषो को ऐसे काम करना मानो अपने पुरुषत्व में बट्टा लगाना है ।

३—जानवरों के पालन-पोषण में बेहद चाव और अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण में बेहद बेपरवाही ।

कितने आश्चर्य्य की बात है कि अच्छे और बलवान् बैल पैदा करने की फ़िक्र मे तो पढे लिखे आदमी प्रसन्नता-पूर्वक न मालूम कितना समय ख़र्च करते हैं और न मालूम कितना मन लगाते हैं, पर मनुष्य के समान उच्च श्रेणी के प्राणी को, पालन-पोषण और रक्षण करके, सबल बनाने का काम वे अपने योग्य ही नही समझते । ऐसी समझ रखना सब लोगों की आदत हो गई है । इसी से ऐसी दुरवस्था देख कर भी लोगो को आश्चर्य्य नहीं होता, किसी बुरी चाल के चल जाने से आश्चर्य्य न मालूम होना और बात है; पर इस तरह की अव्यवस्था है ज़रूर आश्चर्य्य-कारक । माताओं को साधारण तौर पर भाषा का ज्ञान, गाना-बजाना और सभ्यतानुकूल व्यवहार करना छोड़ कर और कुछ बहुत ही कम सिखलाया जाता है । रहीं दाइयाँ, सो उनकी समझ सबसे अधिक बेढँगी होती है ।—वे सिर पैर की पुरानी बातें कूट कूट कर उनके मग़ज़ में भरी रहती हैं । ऐसी ही दाइयों की मदद से ये मातायें बच्चों के खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, और घुमाने-फिराने इत्यादि का प्रबन्ध करने के योग्य समझी जाती हैं । इधर इस तरह की अयोग्य मातायें और दाइयाँ बच्चों के पालन-पोषण का गुरुतर भार उठाती हैं, उधर बाप समाचार-पत्र, मासिक पुस्तकें और अनेक प्रकार की किताबें पढा करते हैं,

कृषि-सम्बन्धी सभा-समाजो में जाते हैं, तरह तरह के तजरिबे करते हैं, और अनेक प्रकार के वाद विवाद करके अपना मग़ज़ ख़ाली करते हैं। यह सब इसलिए कि कोई ऐसा तरीक़ा उन्हे मालूम हो जाय जिससे उनके पशु ख़ूब मोटे हो जायँ और किसी प्रदर्शिनी से उन्हें इनाम मिले। इस मूर्खता का कहीं ठिकाना है! हम रोज़ अपनी आँखों से देखते हैं कि डरबी की घुड़-दौड़ में बाज़ी मारने के इरादे से एक अच्छा घोड़ा तैयार करने के लिए लोग जी जान लड़ा कर परिश्रम करते हैं और न जाने कितनी तकलीफ़ उठाते हैं। पर वर्तमान समय के योग्य एक अच्छा पहलवान तैयार करने की तरफ़ कोई ज़रा भी ध्यान नहीं देता। अँगरेज़-ग्रन्थकार स्विफ़्ट ने "गलिवर के प्रवास" नामक एक विचित्र पुस्तक लिखी है। यदि उसमे लपूटा नामक द्वीप के निवासियों के विषय में गलिवर यह लिखता कि वे और जानवरों के बच्चों को सबसे उत्तम रीति से पालने की तरकीब सीखने में तो एक दूसरे से चढ़ा ऊपरी करते हैं; पर इस बात की वे बिलकुल ही परवा नहीं करते कि अपने निज के बच्चों के पालने की सबसे अच्छी तरकीब कौन है, तो जो कितनी ही और बे सिर पैर की बेहूदा बातें उसने वहाँ पर लिखी हैं उन्ही मे यह भी खप जाती—और ख़ूब खपती।

४—जीवन-निर्वाह के कामों में मेहनत बढ़ती जाती है। उसे सह सकने के लिए सुदृढ़ शरीर की ज़रूरत।

पर यह बात योंही उड़ा देने की नहीं है। यह बड़े महत्त्व की है। जो काल्पनिक मुक़ाबला हमने यहाँ पर किया—जो विपरीत-भाव हमने यहाँ पर दिखलाया—उसे सुन कर हँसी आये बिना न रहेगी। पर उसका परिणाम कम भयङ्कर न समझिए। एक मार्मिक ग्रन्थकार लिखता है कि सांसारिक कामों में कामयाबी प्राप्त करने के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि—"शरीर ख़ूब दृढ़ होना चाहिए"। इसी तरह देश के अभ्युदय के लिए देश-वासियों के शरीर का सुदृढ़ और बलवान् होना भी पहली शर्त है। सिर्फ़ लड़ाई का परिणाम ही बहुत करके सिपाहियों की शरीर-सम्पत्ति और वीरता पर अवलम्बित नहीं रहता; किन्तु व्यापार मे कामयाब

होना भी व्यापार की चीज़ें पैदा करनेवाले के शरीर में मेहनत करने की शक्ति होने पर ही बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। लड़ने-भिड़ने और व्यापार मे दूसरे देशवालो के साथ अपना बल आज़माने में यद्यपि अभी तक हमे डरने का कोई कारण नहीं देख पड़ता, तथापि इस बात के चिह्न कम नही दिखाई दे रहे कि इस विषय मे बहुत शीघ्र हमें अपना हद से ज़ियादह बल खर्च करना पड़ेगा। आज कल जीवन-निर्वाह करने के लिए सब लोग आपस मे इतनी अधिक चढ़ा ऊपरी कर रहे हैं कि थोड़े ही आदमी ऐसे होंगे जो बिना शरीर को हानि पहुँचाये यथेष्ट मेहनत कर सकते होंगे। हज़ारों लोग काम के भारी बोझ से दब कर अभी से कुचले जा रहे हैं। यदि यह बोझ इसी तरह बढ़ता गया जैसा कि मालूम होता है, तो बलवान् और मज़बूत से भी मज़बूत आदमियों की शरीर-सम्पत्ति को हानि पहुँचे बिना न रहेगी। इसलिए लड़कों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिसमे अपना कठोर कर्तव्यपालन करने के लिए उनकी बुद्धि में यथेष्ट योग्यता आ जाय। यही नहीं, किन्तु उस कर्तव्य-पालन की मेहनत और उससे पैदा हुई थकावट सह सकने के लिए उनका शरीर भी यथेष्ट दृढ़ हो जाय।

५—शारीरिक शिक्षा की तरफ़ लोगों का ध्यान अब कुछ कुछ जाने लगा है।

सौभाग्य से लोगों का ध्यान अब इस तरफ़ जाने लगा है। प्रसिद्ध ग्रन्थकार किंग्ज़ले ने लड़कों से पढ़ने लिखने मे बहुत अधिक मेहनत लेने के विरुद्ध जो लेख लिखे हैं उनसे यह बात साफ़ ज़ाहिर है। इन लेखों मे शायद अत्युक्ति का अंश बहुत अधिक है; पर ऐसे विषयों मे बहुत करके अत्युक्ति हुआ ही करती है। समाचारपत्रों मे कभी कभी इस विषय पर जो चिट्ठियाँ और लेख प्रकाशित होते हैं उनसे भी मालूम होता है कि शारीरिक शिक्षा की बातो में लोग मन लगाने लगे हैं। अब एक स्कूल खोला गया है जिसका नाम—"बल-वर्धक ईसाईपन" है। यह नाम तिरस्कार-सूचक है, पर है ख़ूब सार्थक। इससे भी यह मालूम होता है कि लोगों के ध्यान मे

अब यह बात अधिकाधिक आने लगी है कि लड़कों को शिक्षा देने की वर्तमान पद्धति में उनकी शरीर-रक्षा का पूरे तौर पर ख़याल नहीं किया जाता। इससे स्पष्ट है कि अब यह विषय वाद-विवाद करने योग्य अवस्था को पहुँच गया है। अब इसकी स्थिति ऐसी हो गई है कि इसका विचार किया जा सके।

९—लड़कों की शारीरिक शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए।

आज कल के विज्ञान-शास्त्र की सहायता से जो बातें जानी गई हैं—जो सिद्धान्त स्थिर हुए हैं—उन्हीं के अनुसार हम लोगों को बच्चो के पालन-पोषण और विद्याभ्यास के नियम बनाने चाहिए। इसी की इस समय बड़ी ज़रूरत है। रसायन-शास्त्र-सम्बन्धिनी नई नई बातो के ज्ञान से अपनी भेड़ों और बैलों को जो लाभ हम पहुँचा रहे हैं उस लाभ मे हमे अपने बच्चों को भी साझी कर लेना चाहिए। जो कृपा हम भेड़ और बकरियों पर कर रहे हैं उससे हमे अपने बच्चों को वञ्चित न रखना चाहिए। घोड़ों के सिखाने और भेड़, बकरी, सुअर आदि पालने के विरुद्ध हम कुछ नहीं कहते। उनके पालने-पोषने और सिखाने की ज़रूरत है या नहीं, इस तरह का प्रश्न हम नहीं करते। इन बातों की निस्संदेह ज़रूरत है। हम सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि बच्चों को अच्छी तरह पाल-पोप कर ख़ूब मज़बूत स्त्री-पुरुप बनाने की भी तो थोड़ी बहुत ज़रूरत है। अतएव विचार और अनुभव से उपयोगी सिद्ध होने पर जिन बातों से हम पशुओं के पालने-पोषने मे काम लेते हैं उन्हो से मनुष्यों के पालने-पोषने में भी काम लेना चाहिए। सब कहीं एक ही प्रकार के नियमों का वर्ताव क्यों न किया जाय? इन बातों को सुन कर शायद बहुत आदमियों को आश्चर्य होगा—सम्भव है, उन्हे क्रोध भी आ जाय। परन्तु यह निर्विवाद है कि जिन नियमों के अनुसार पशु आदि नीच श्रेणी के प्राणियो के इन्द्रिय-व्यापार होते हैं उन्हीं नियमों के अनुसार मनुष्य के भी इन्द्रिय-व्यापार होते हैं। दोनों के इन्द्रिय-व्यापार-विपयक नियम तुल्य हैं। यह बात सर्वथा

सच है, अतएव इसे हमे मानना ही चाहिए। कोई शरीर-शास्त्र का ज्ञाता, कोई प्राणि-शास्त्र का ज्ञाता, कोई रसायन-शास्त्र का ज्ञाता एक पल के लिए भी इस वात को मान लेने मे सङ्कोच न करेगा कि जिन साधारण नियमों के अनुसार पशु आदि नीच योनि के जीवों का जीवन-व्यापार होता है उन्ही नियमो के अनुसार मनुष्य का भी जीवन-व्यापार होता है। दोनों की जीवन-सम्बन्धिनी मुख्य मुख्य वाते एक सी हैं। उनमें कोई भेद नहीं। इस बात को सच्चे दिल से मान लेने ही से लाभ है। अच्छी तरह देखने भालने और शास्त्रीय रीति से तजरिवा करने से नीच योनि के पशु आदि जीवों के विषय मे जो सर्वसाधारण नियम निश्चित किये गये हैं वही मनुष्य-मात्र के लिए भी लाभदायक हो सकते हैं। जीवन-शास्त्र कल का बच्चा है—अभी वह वाल्यावस्था मे है। तथापि इन्द्रिय-विशिष्ट पदार्थों का जीवन जिन नियमों पर अवलम्बित रहता है उनमें से कितने ही प्रारम्भिक नियमों का पता इस शास्त्र के ज्ञाताओं ने लगा लिया है। मनुष्य का भी जीवन इन्हीं नियमों पर अवलम्बित रहता है। अब हमे सिर्फ़ इस बात का पता लगाना है कि बचपन और जवानी मे मनुष्य की शरीर-रचना से इन नियमो का क्या सम्बन्ध है। अतएव इसे जानने के लिए अब हम कुछ प्रयत्न करना चाहते हैं।

७—संसार की कोई स्थिति एकसी नहीं रहती। उसमें हमेशा चढ़ाव-उतार लगा रहता है।

सामाजिक जीवन के जितने दरजे हैं सबमे एक प्रकार का उतार-चढ़ाव देख पड़ता है। अथवा यों कहिए कि संसार की स्थिति, सङ्गीत के स्वरों की तरह, उतरती चढ़ती रहती है। जब किसी स्थिति की चढ़ती कला होती है तब वह उसकी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। वहाँ पहुँच कर उसे उसकी विरोधी दशा प्राप्त हो जाती है और वह उतरने लगती है। उतरते उतरते एक दिन उसके उतार की भी पराकाष्ठा हो जाती है। उदाहरणार्थ—राज्यक्रान्ति के बाद प्रजापीडन ज़रूर होता है। इसका उदाहरण हम लोगों में भी पाया जाता है। देखिए, कुछ काल तक लोग

नये नये सुधार करने में तन्मय हो जाते हैं। पर उसके बाद ऐसा समय आता है कि पुरानी ही बातो का लोग बेतरह पक्षपात करने लगते हैं। इसी तरह सुधार के बाद प्राचीन-पद्धति-प्रीति का उदय होता है और प्राचीन-पद्धति-प्रीति के बाद सुधार का। इसी प्रवृत्ति के कारण कभी लोग विषयोपभोग मे लीन हो जाते हैं और कभी सारे विषयों से विरक्त होकर तपस्वी बन जाते हैं। व्यापार में भी इसी प्रवृत्ति के कारण कभी किसी चीज़ का व्यवसाय बेहद बढ़ जाता है और कभी बेहद घट जाता है। इसी तरह घटती के बाद बढ़ती और बढ़ती के बाद घटती लगी रहती है। शौक़ीन आदमियों की चाल-ढाल मे भी इसका उदाहरण मिलता है। इस तरह के आदमी कभी एक प्रकार के बेहूदा फ़ैशन के दास बन जाते हैं, कभी उसे छोड़ कर उसके विरोधी फ़ैशन के पीछे पागल बन बैठते हैं। इस चढ़ा-उतरी के क्रम ने हम लोगों के खाने-पीने की रीति रस्मों तक का पीछा नहीं छोड़ा। यह वहाँ भी पाया जाता है। बच्चों के खाने-पीने में भी इसका प्रभाव अटल है। जब बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में इस विरोधी क्रम का प्राबल्य देखा जाता है तब बच्चों की भोजन-व्यवस्था मे भला क्यो न देखा जाय? कुछ दिन पहले वह समय था जब लोग खाने-पीने ही मे मस्त रहते थे—पेट-पूजा ही को सब कुछ समझते थे। पर अब संयम-शीलता का समय आया है। अब लोग मादक चीजो के पीने और मांस खाने को बहुत बुरा समझते हैं। इससे सूचित होता है कि खाने पीने की पहली अघोर-पंथी रीति के वे बहुत खिलाफ़ हैं। बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में हुए इस फेर-फार के साथ ही बच्चों की भोजन-व्यवस्था में भी फेर-फार हो गया है। किसी समय लोगों को यह विश्वास था कि बच्चों को जितना ही अधिक खिलाया पिलाया जाय उतना ही अच्छा। खेती पाती करनेवाले किसानो का अब भी यही विश्वास है। उन्हीं का नहीं, किन्तु दूर दूर के जिलों मे, जहाँ पुरानी बातों का ख़याल जल्द आदमियों के दिल से दूर नहीं होता, और लोग भी ऐसे कितने ही मिल सकते हैं जो अपने बच्चो को गले तक खा लेने का लालच दिलाया करते हैं। परन्तु पढे लिखे शिक्षित आदमियों का विश्वास ऐसा नहीं है। वे

अल्पाहार ही को अच्छा समझते हैं। उनकी प्रवृत्ति विशेष करके उसी की तरफ़ है। वे अपने लड़कों को अधिक खिलाने की अपेक्षा थोड़ा खिलाने की कोशिश करते हैं। पुराने ज़माने में जो लोग आकण्ठ भोजन करने ही को सब कुछ समझते थे उनसे आज कल के शिक्षित आदमी घृणा करते हैं। उनकी यह घृणा अपने बाल-बच्चो की मिताहार-व्यवस्था के विषय मे विशेष स्पष्टतापूर्वक देख पड़ती है, पर ख़ुद अपनी आहार-व्यवस्था में उतनी स्पष्टतापूर्वक नहीं देख पड़ती। अर्थात् लड़कों को स्वल्पाहारी बनाने का उन्हें विशेष ख़याल रहता है, अपना नहीं। इसका कारण यह है कि उनकी निज की स्वल्पाहार-विषयक तापस-वृत्ति का ढोंग चल नहीं सकता। ख़ूब भूक लगने पर डट कर खाये बिना उनसे नहीं रहा जाता। उनका ढोंग रक्खा ही रहता है। पर लड़कों के लिए स्वल्पाहार के नियम बनाने में निज-सम्बन्धिनी कोई बाधा ते आती ही नहीं। इससे उस विषय में वे अपनी इस ढोंगी तापसवृत्ति से ख़ूब काम लेते हैं।

८—अधिक खा जाने की अपेक्षा भूखे रहना विशेष हानिकारी है।

कम खाना भी बुरा है और अधिक खा जाना भी बुरा है। यह बात सर्वथा सच है और सबको मालूम भी है। पर भूखे रहना, अधिक खाजाने से भी बुरा है। एक बहुत प्रामाणिक ग्रन्थकार लिखता है कि—"कभी कभी अधिक खा जाने से कम हानि होती है और उस हानि को दूर करने के उपाय भी सहज ही में हो सकते हैं। पर भूखे रखने के परिणाम बहुत भयंकर होते हैं और उनसे बचने के लिए प्रयत्न भी बहुत बड़े बड़े करने पड़ते हैं"। इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि बच्चों के खाने पीने मे कोई अनुचित हस्ताक्षेप नहीं करता तो बच्चे शायद ही कभी ख़ूब डट कर खाते हैं। "गले तक खाजाने की भूल विशेष करके बडे आदमियो ही से होती है, बच्चों से नहीं। यह दोष बड़ों ही में पाया जाता है, बच्चों मे बहुत कम। बच्चों के पालक यदि इस विषय में भूल न करें, और ज़बरदस्ती लड़कों को ज़ियादह न खिला पिला दें, तो वे कभी शायद ही खाऊ और

उदरपरायण हो जायँ"। अनेक माँ-बाप यह समझते हैं कि कम खाना—भूखे रहना—लड़कों के लिए बहुत ज़रूरी है। इसी लिए खाने पीने मे वे बच्चों की रोक टोक करते हैं। इसका कारण यह है कि वे लोग संसार की स्थिति का अच्छी तरह विचार नहीं करते। वे नहीं देखते कि संसार मे क्या हो रहा है। जिन कारणों की प्रेरणा से वे रोक-टोक करते हैं वे कारण ही भ्रान्ति-पूर्ण हैं। बच्चो के खाने पीने के सम्बन्ध मे भी क़ायदे-क़ानून का रेल-पेल है और देश में राजकीय बातों के सम्बन्ध मे भी रेल-पेल है। दोनों विषयों में मतलब से ज़ियादह नियम बना डाले गये हैं। इन नियमो में सबसे अधिक हानिकारक नियम बच्चो के भोजन की मात्रा का नियमित करना है। बच्चों को सिर्फ़ इतना ही खाना तोल कर खाना चाहिए, इस तरह का नियम बहुत ही हानिकारक है।

९—भूख भर खाने से हानि नहीं। खाने के विषय में पशु, पक्षी, मनुष्य, बाल, वृद्ध, युवा सबकी मार्ग-दर्शक क्षुधा है।

"तो क्या बच्चों को गले तक खा लेने देना चाहिए? क्या उन्हें ख़ूब स्वादिष्ट खाना पेट भर खाकर बीमार पड़ने देना चाहिए? इस तरह डट कर खाने से भला वे बीमार होने से कभी बच सकेंगे? कभी नहीं। वे ज़रूर बीमार पड़ जायँगे। इस तरह के प्रश्न का सिर्फ़ एक ही उत्तर हो सकता है। पर इस तरह का प्रश्न करना मानो जिस बात का विचार हो रहा है उसे पहले ही से मान लेना है। हम बल-पूर्वक कहते हैं कि पशु, पक्षी आदि नीच योनि के जितने जीव हैं, खाने पीने के विषय में, क्षुधा अर्थात् खाने की इच्छा ही उन सबकी उत्तम पथदर्शक है; यही नहीं, किन्तु गोद के दुध-पिये बच्चे की भी वह उत्तम पथदर्शक है, बीमार आदमियों की भी उत्तम पथदर्शक है; भिन्न स्थिति और भिन्न भिन्न देश में रहनेवाली मनुष्य-जातियों की भी उत्तम पथदर्शक है, और जितने वयस्क अर्थात् बालिग़ आदमी स्वस्थ और नीरोग हैं उन सबकी भी उत्तम पथदर्शक है। अतएव बिना किसी खटके के इससे यह नतीजा निकलता है कि वही क्षुधा बच्चों को भी खाने

पीने में उत्तम पथदर्शक है। और सबके विषय में क्षुधा की कसौटी विश्वसनीय समझी जाकर यदि सिर्फ़ बच्चों ही के विषय मे अविश्वसनीय समझी जाय तो निःसन्देह आश्चर्य की बात होगी। भूख भर खाने से कभी हानि नहीं हो सकती।

१०—खाने पीने में बच्चों की रोक टोक करने से हानियाँ।

सम्भव है, कोई कोई इस उत्तर को पढ़ कर अधीर हो उठेंगे—उनकी चित्तवृत्ति क्षुब्ध हो उठेगी। वे समझते होंगे कि जो कुछ हमने यहाँ पर कहा उसके बिलकुल ही प्रतिकूल उदाहरण वे दे सकते हैं—ऐसे उदाहरण जिनके ख़िलाफ़ हम कुछ कही नहीं सकते। और यदि हम कहें कि उनकी बातें प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं तो एक तरह का बेहूदापन होगा। परन्तु यह एक प्रकार का असत्याभास मात्र है। जो बात हमने कही है वह ऊपर से देखने में तो ठीक नहीं मालूम होती, पर अच्छी तरह विचार करने से उसके ठीक होने मे कोई शंका नहीं रह जाती। सच तो यह है कि अधिक खा जाने से पैदा हुई बुराइयों के जो उदाहरण इन लोगों के मन में होंगे वे बहुत करके उसी रोक टोक के नतीजे होंगे जिसे वे ठीक समझते हैं। वे समझते हैं कि लड़कों को अधिक खाने पीने न देना चाहिए—यदि वे बहुत खाना चाहें तो उन्हें रोकना चाहिए। पर उनकी समझ मे यह बात नहीं आती कि अधिक खा जाना यथेच्छ भोजन न करने देने ही का नतीजा है। रोक टोक करके बच्चों से तापसवृत्ति धारण कराने ही से उनके मनोभावों मे विपर्य्यय हो जाता है और मौक़ा मिलते ही वे इतना खा जाते हैं कि हज़म नहीं कर सकते। लोग बहुधा कहा करते हैं कि जिन लड़कों के साथ बचपन में सख़्ती का बर्ताव किया जाता है वे बड़े होने पर (बे-लगाम के घोड़े की तरह) बहुत ही उद्दण्ड आचरण करने लगते हैं और परिमिताचार से कोसों दूर जा पड़ते हैं। यह बात बहुत ठीक है। इसकी यथार्थता ऊपर के उदाहरण से, थोड़े ही मे, सिद्ध है। ये उदाहरण उन भयंकर घटनाओं की तरह के हैं जो रोमन कैथलिक सम्प्रदायवाले क्रिश्चियन लोगों

के मठों में, किसी समय, अधिकता से होती थीं। वहाँ कठोर तापसवृत्ति से छूट कर जन्म-जोगिनी स्त्रियाँ एकदम ही महा-घोर पैशाचिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाया करती थीं। इन उदाहरणों से सिर्फ़ यह प्रकट होता है कि वासनाओं को बहुत दिनों तक दाब रखने से, मौक़ा पाते ही, वे बेतरह उच्छृङ्खल होकर क़ाबू के बाहर हो जाती हैं। विचार कीजिए कि किन चीज़ों को बच्चे अधिक चाहते हैं और उन चीज़ों के विषय मे उनसे किस तरह का वर्ताव किया जाता है। मीठी चीज़ें बच्चों को विशेष अच्छी लगती हैं। प्रायः सभी बच्चों मे यह बात पाई जाती है। शायद ही कोई बच्चा ऐसा हो जिसे मिठाई पसन्द न हो। पर सौ मे से निन्नानवे आदमी यह समझते हैं कि यह सिर्फ़ चटोरपन है, और कुछ नहीं। अतएव इन्द्रियजन्य दूसरी वासनाओं की तरह इसे भी रोकना चाहिए। परन्तु प्राणिशास्त्र के ज्ञाता को इसमें शङ्का होती है। लड़कों को मिठाई अधिक पसन्द करने का कारण सर्वसाधारण जैसा समझते हैं वैसा समझने मे उसे संकोच होता है। वह अपने मन में कहता है कि चटोरपन के सिवा इसका ज़रूर और कोई कारण होगा। क्योंकि प्राणि-विद्या-विषयक बातों के अभ्यास से जो नये आविष्कार होते रहते हैं उससे सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में उसका प्रेम प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। इस कारण वह इस बात की जाँच करता है। जाँच से उसे मालूम हो जाता है कि मेरा तर्क सच्चा है। बच्चे मिठाई को जो पसन्द करते हैं, इसका कारण चटोरपन नहीं है। जाँच करने से उसे इस बात का पता लगता है कि जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलने के लिए बच्चों के शरीर को मिठास की बड़ी ज़रूरत रहती है। जिन चीज़ों मे मिठास होता है और जिनसे चरबी पैदा होती है वे शरीर में जाकर आक्साइट नाम का पदार्थ बन जाती हैं। इससे शरीर मे उष्णता पैदा होती है। कुछ और भी चीज़ें ऐसी हैं जो रूपान्तर होने पर शक्कर हो जाती हैं और उष्णता पैदा करती हैं। इस तरह शरीर के भीतर गई हुई चीज़ों का शक्कर मे रूपान्तर होना बराबर जारी रहता है। पाचन-क्रिया के समय निशास्ता अर्थात् अन्न का पिष्टमय अंश ही शक्कर नहीं बन जाता; किन्तु क्लाड बरनार्ड नाम के फ़रासीसी विद्वान् ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि यकृतरूपी

कारख़ाने मे ख़ूराक के अन्यान्य अंश भी शकर बन जाते हैं। शरीर के लिए शकर की इतनी ज़रूरत है कि जब और कोई पदार्थ नहीं मिलते तब नाइट्रोजनवाले पदार्थों से ही यकृत को शकर बनानी पड़ती है। अच्छा, तो शरीर मे उष्णता उत्पन्न करनेवाली मीठी चीज़े लड़के बहुत पसंद करते हैं। पर आक्साइड बनते समय जिनसे बहुत अधिक उष्णता बाहर निकलती है उन्हे, अर्थात् चरबी बढ़ानेवाली चीज़ों को, वे बहुधा बिलकुल ही नहीं पसन्द करते। इन बातो का विचार करने से यह तात्पर्य्य निकलता है कि चरबी बढ़ानेवाली चीज़ों के कम खाने से उष्णता में जो कमी आ जाती है उसे लड़के मीठी चीज़े अधिक खाकर पूरी कर लेते हैं। अतएव सिद्ध है कि लड़कों के शरीर के लिए शकर की जियादह ज़रूरत रहती है, क्योंकि चर्बी पैदा करनेवाली चीज़ें लड़के कम खाते हैं। इसके सिवा लड़कों को तरकारियाँ बहुत अच्छी लगती हैं। फल तो उनको प्राणों से भी अधिक प्यारे मालूम होते हैं। उन्हें पाने पर लड़कों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहता। यदि उन्हें अच्छे फल नहीं मिलते तो वे झरबेरी के कच्चे बेर और खट्टे से खट्टे करोंदे या जंगली सेब खा जाते हैं। तरकारियों और फलों मे जो खटाई रहती है वह वैसी ही पौष्टिक होती है जैसी कि खनिज पदार्थों की खटाई पौष्टिक होती है—पौष्टिक ही नहीं, किन्तु यह कहना चाहिए कि अत्यन्त पौष्टिक होती है। ये पदार्थ यदि बहुत अधिक न खा लिये जायँ तो शरीर को विशेष लाभ पहुँचाते हैं। एक बात और भी है कि यदि ये पदार्थ अपनी प्राकृतिक स्थिति मे—अर्थात् जिस हालत मे ये पैदा होते हैं उसी हालत मे—खाये जायँ तो इनके खाने से और भी कितने ही लाभ होते हैं। डाकृर ऐंड्रू कोम्बा कहते हैं कि—"इँगलेंड की अपेक्षा योरप मे और सब कहीं पक्के फल अधिक खाये जाते हैं। विशेष करके जब पेट साफ़ नहीं रहता तब फलों से बहुधा बहुत अधिक लाभ होता है"। अच्छा तो अब यह देखिए कि बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उनके साथ पालन-पोषण-सम्बन्धी जो व्यवहार किया जाता है उसमे कितना भेद है। बच्चों को दो चीजे अच्छी लगती हैं—जिन दो तरह के पदार्थों का वर्णन यहाँ पर किया गया उन्हे वे बहुत पसन्द करते हैं।

इससे बहुत करके यह प्रकट होता है कि उनकी शरीर-रचा के लिए किन चीज़ों की ज़रूरत होती है। पर यही नहीं कि ये चीज़ें बच्चों के खाने पीने में नहीं आतीं; किन्तु बहुधा लोग इनका खाना ही बन्द कर देते हैं। उनके मारे बच्चे इन्हें खाने ही नहीं पाते। सबेरे दूध और रोटी, और शाम को चाय, रोटी और मक्खन, या इसी तरह का और कोई फीका खाना बच्चों को दिया जाता है और इस बात की सख़्ती की जाती है कि इनके सिवा और कोई चीज़ उन्हें खाने को न मिले। लोग यह समझते हैं कि बच्चों को स्वादिष्ठ भोजन देना—उनकी रुचि के अनुसार उन्हे चीज़ें खिलाना—ज़रूरी बात नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु बच्चों की रुचि के अनुसार खाना खिलाना वे बुरा समझते हैं। अब देखिए, इस तरह की रुचि का परिणाम क्या होता है ? जब तिथि-त्योहार के दिनों मे अच्छी अच्छी चीज़े घर में अधिकता से होती हैं, जब जेब-खर्च मिलने पर हलवाइयों की दुकान तक बच्चों की पहुँच हो जाती है, या घूमते घामते जब किसी फलदार बाग़ मे बिना किसी रोक टोक के उनका प्रवेश हो जाता है, तब पुरानी कसर सब एक-दम निकल जाती है। तब बहुत दिन की अपूर्ण इच्छायें ख़ूब उच्छृङ्खल हो उठती हैं और मनमानी चीज़ें गले तक खाकर बच्चे उन्हे तृप्त करते हैं। कुछ तो इस तरह की अच्छी अच्छी चीज़ें खाने के पिछले प्रतिबन्ध के कारण, और कुछ यह समझ कर कि कल से अब फिर बहुत दिनों तक उपास करना है, बच्चे वृकोदर का ऐसा व्यवहार करते हैं—खाने के सिवा उन्हें और कुछ सूझता नहीं। और जब इस बे-हिसाब खाने की ख़राबियाँ देख पड़ने लगती हैं तब लोग यह कहना शुरू करते हैं कि खाने पीने की जिम्मेदारी बच्चों पर ही न छोड़नी चाहिए—उन्हे जो चीज जितनी मन मे आवे न खाने देना चाहिए; क्षुधा बच्चों की विश्वसनीय पथदर्शक नहीं ! अस्वाभाविक रोक टोक के कारण जो ये ऐसे दुःखदायक परिणाम होते हैं उन्हीं को उदाहरण मान कर लोग इस बात को साबित करते हैं कि अभी और रोक टोक की ज़रूरत है। इसी से हम कहते हैं कि रोक टोक के इस तरीक़े को सच्चा साबित करने के लिए जो कारण बतलाया जाता है जो दलील पेश की जाती है—वह बिलकुल ही पोच है। इसी से हम ज़ोर देकर

कहते हैं कि बच्चों की शरीर-रक्षा के लिए जिन स्वादिष्ठ चीज़ो की ज़रूरत है वे यदि उन्हे प्रति दिन विना रोक टोक के दी जायँ, तो शायद ही कभी वे भूख से ज़ियादह खा जायँ, जैसा कि वे इस समय मौक़ा हाथ आते ही किया करते हैं। डाकृर कोम्बी की राय है कि फलों को, नियमित खाने का एक अंश समझना चाहिए और यदि वे बच्चो को बीच में, और किसी समय नहीं, किन्तु भोजन करते समय दिये जायँ, तो जंगली सेब और झरबेरी के कच्चे पक्के फल खा जाने की इच्छा कभी बच्चों को न हो। और बातों का भी यही हाल समझना चाहिए।

११—भोजन का परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता। उसकी सच्ची माप बच्चों की क्षुधा है।

जिन चीज़ों के खाने की इच्छा बच्चो को हो उन्हें खाने देने में उनकी क्षुधा पर पूरा विश्वास करना चाहिए। अर्थात् भूख भर उन्हें खा लेने देना चाहिए। इसके कारण बहुत ही युक्तियुक्त और दृढ़ हैं। पर भूख पर विश्वास न करके बच्चों को उनकी अभीष्ट चीज़े न खाने देने के पक्ष में जो कारण बतलाये जाते हैं वे बिलकुल ही निर्जीव हैं। यही नहीं, किन्तु बच्चों की इच्छा—बच्चों की भूख—को छोड़ कर इस विषय का विश्वसनीय निर्णय करनेवाला और कोई मार्ग ही नहीं है। किस चीज़ को खाने देना चाहिए और किसको न खाने देना चाहिए, इस विषय का फ़ैसला करने में यदि किसी पर विश्वास किया जा सकता है तो बच्चों की इच्छा पर—बच्चों की भूख पर। लोग समझते हैं कि इस विषय मे माँ-बाप की राय भी विश्वास-योग्य मानी जा सकती है। पर माँ-बाप की राय की क़ीमत ही कितनी? जब बच्चा कहता है कि अभी मैं और खाऊँगा तब माँ या दाई कहती है—"बस, और नहीं"। भला इस "बस, और नहीं" का आधार क्या है? वह सिर्फ़ ख़याल करती है कि बच्चे ने मतलब भर के लिए खा लिया है। यह एक कल्पना-मात्र है। इस तरह की कल्पना के लिए क्या वह कोई कारण भी बतला सकती है? क्या वह बच्चे के पेट का हाल किसी गुप्त रीति से मालूम कर लेती है? क्या उसे कोई ऐसी विद्या मालूम है जिससे वह

यह समझ जाती है कि बच्चे के शरीर के लिए किन किन चीज़ों की ज़रूरत है ? यदि इनमे से कोई बात नहीं, तो किस बुनियाद पर वह बेधड़क कह देती है कि—"बस, और नहीं" ? क्या उसे यह बात न मालूम होनी चाहिए कि एक नहीं, अनेक पेचीदा कारणों से शरीर के लिए भोजन की ज़रूरत होती है ? न्यूनाधिक भूख लगने के सैकड़ों कारण हो सकते हैं। हवा की गरमी, सरदी या बिजली की मात्रा के अनुसार भूख मे न्यूनाधिकता हो जाती है। इसी तरह व्यायाम (कसरत) के अनुसार, सबसे पिछले भोजन के समय खाये हुए अन्न के प्रकार और परिमाण के अनुसार, और उसके पाचन मे लगे हुए कम या अधिक समय के अनुसार भी भूख मे न्यूनाधिकता हो जाती है। इन सब कारणों के मेल से होनेवाले परिणाम का ज्ञान उसे किस तरह हो सकता है ? हमने एक पाँच वर्ष का लडका देखा। यह लड़का अपनी हमजोली के लड़कों से इतना ऊँचा था कि और लडके उसके कन्धे ही तक पहुँचते थे। औरों की अपेक्षा वह विशेष सुदृढ़, सशक्त और चालाक भी मालूम होता था। उसके बाप को एक दफे हमने यह कहते सुना कि—"मेरे पास कोई ऐसी माप नहीं जिससे मैं यह जान सकूँ कि इसे कितना खाना खिलाना चाहिए। इस विषय में मैं कोई नियम नहीं निश्चित कर सकता। यदि मैं कहूँ कि इतना भोजन कर लेना इसके लिए बस होगा तो यह अटकल-मात्र है। और अटकल सच भी हो सकती है, झूठ भी हो सकती है। अतएव, अटकल पर मेरा विश्वास न होने के कारण, मैं इसे पेट भर खा लेने देता हूँ"। परिणामो को ध्यान में रख कर विचार करने से हर आदमी को यह जरूर मानना पडेगा कि इस बाप ने पूर्वोक्त बर्ताव करके बड़ी बुद्धिमानी का काम किया। सच तो यह है कि बहुत आदमी, जो अपने विश्वास के बल पर बच्चों के मेदे (आमाशय) के विषय में नियम बना देते हैं वे, इस बात का सबूत देते हैं कि हम प्राणि-धर्म्म-शास्त्र से बिलकुल ही परिचित नहीं। यदि इस शास्त्र का इन लोगों को थोड़ा भी ज्ञान होता तो विश्वास के बल पर ये इतना ऊँचा उड़ान न भरते—इतना घमण्ड न करते। "विज्ञान का घमण्ड अज्ञान के घमण्ड के मुक़ाबले मे है क्या चीज ? उसकी हक़ी-

कत ही कितनी" ? यदि कोई यह जानने की इच्छा रखता हो कि मनुष्य की सम्मति पर कितना कम, और परम्परा से प्राप्त हुई वस्तु-स्थिति पर कितना अधिक, विश्वास करना चाहिए तो उसे अनुभवहीन वैद्यों के उतावले उपचारो का मुक़ाबला अनुभवशील वैद्यों के ख़ूब सावधानता-पूर्वक किये गये उपचारों से करना चाहिए। अथवा उसे चाहिए कि वह इँग्लेंड के प्रसिद्ध डाक्टर सर जान फार्ब्स की "रोगों के दूर करने मे प्रकृति और चिकित्सा-शास्त्र की उपयोगिता" नामक पुस्तक पढ़े। इससे उसे मालूम हो जायगा कि मनुष्यों को जैसे जैसे जीवन-सम्बन्धी नियमों का अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उन्हें अपनी राय—अपनी समझ—पर कम और प्रकृति, वस्तु-स्थिति या सृष्टि-क्रम पर अधिक विश्वास होता जाता है।

१२—बच्चों को हलका और अपौष्टिक भोजन देने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति के कारण।

बच्चों को कितना खाना खिलाया जाता है—उनके भोजन का परिमाण कितना होता है, इसका विचार हो चुका। अब हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि किस प्रकार का भोजन बच्चों को दिया जाता है—कौन कौन सी चीज़ें उन्हे खाने को मिलती हैं। इस बात के विचार में भी हम, लोगों को तपस्वियों की ऐसी वृत्ति की तरफ़ झुका हुआ पाते हैं। वे समझते हैं कि बच्चो का भोजन परिमित ही न हो, किन्तु हलका भी हो। अर्थात् पहले तो बच्चे पेट भर खाने को न पावें फिर जो कुछ पावें वह पौष्टिक न हो। बच्चों के लिए लोग यही हितकर समझते हैं। आज कल लोगों की राय यह हो रही है कि बच्चो को पौष्टिक भोजन (मांस) बहुत कम देना चाहिए। जान पड़ता है, मध्यम स्थिति के लोगो ने किफ़ायत के खयाल से यह राय निश्चित की है। क्योंकि मन मे किसी इच्छा के पैदा होने के बाद उसे पूरा करने के साधनों की कल्पना होती है अथवा यों कहना चाहिए कि कल्पना की उत्पादक इच्छा है। मध्यम स्थिति के लोगों में माँ-बाप अधिक मांस नहीं

मोल ले सकते। इस कारण बच्चो के माँगने पर वे यह उत्तर देते हैं कि—"छोटे छोटे बच्चों को मांस खाना अच्छा नही"। यह उत्तर, जो पहले बहुत करके एक सीधा सादा बहाना था, बार बार के प्रयोग से धीरे धीरे विश्वासपूर्ण मत हो गया। परन्तु जिन लोगों को खर्च का खयाल नहीं, अर्थात् जो अच्छी दशा मे हैं, उन्होंने जब देखा कि अधिक आदमियों की राय ऐसी है तब उनकी देखा-देखी वे भी इसी मत के अनुयायी हो गये। उनके यहाँ जो दाइयाँ रहती हैं वे नीच स्थिति के कुटुम्बों से ली जाती हैं। उनकी राय भी मध्यम स्थिति के आदमियों ही की सी होती है। अतएव इन दाइयो की राय का भी कुछ असर इन उच्च स्थिति के लोगों पर पड़ा। इसके सिवा पहले ज़माने के लोगों के पेटू-पन का खयाल करके उसके विपरीत आचरण करने, अर्थात् कम खाने, की तरफ़ स्वभाव ही से उनकी प्रवृत्ति हो गई। इन्हीं कारणों से उच्च स्थितिवालों की भी राय ने मध्यम स्थितिवालों की राय का अनुसरण किया।

१३—सिर्फ़ बहुत छोटे बच्चों के लिए मांस उपयोगी ख़ूराक नहीं।

परन्तु, यदि, हम इस बात की जाँच करते हैं कि लोगों की जो यह राय हो गई है उसका आधार क्या है—उसकी बुनियाद क्या है—तो हमे उसका बहुत ही कम पता चलता है, अथवा यों कहिए कि कुछ भी पता नहीं चलता। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी पुनरावृत्ति लोग, प्रमाण या आधार की कुछ भी परवा न करके, बराबर करते आ रहे हैं। यही नहीं, किन्तु उसका अनुसरण भी वे करते हैं। हज़ारो वर्ष तक लोगों का यह आग्रह था कि गोद के बच्चों के बदन पर कपड़े की पट्टियाँ बाँधनी चाहिए—उन्हें चीथड़ों से लपेटे रखना चाहिए। जिस व्यवस्था का हम ज़िक्र कर रहे हैं वह भी इसी तरह की है। वह भी एक ऐसा ही आग्रह-पूर्ण मत है। बच्चो का मेदा बहुत कमज़ोर होता है। उसके स्नायु सशक्त नहीं होते। परन्तु मांस का रस बन कर अच्छी तरह हज़म होने के लिए पेट में बहुत देर तक घर्षण-क्रिया की जरूरत होती है। अतएव बहुत छोटे

बच्चों के मेदे के लिए मांस उपयुक्त ख़ूराक नहीं है। सम्भव है, बच्चे मांस को अच्छी तरह न हज़म कर सकें। परन्तु यह एतराज़ उस मांस के विषय में नहीं किया जा सकता जिसके रेशे निकाल डाले गये हैं; और न उन बच्चों ही के विषय मे किया जा सकता जिनकी उम्र दो तीन वर्ष की हो चुकी है। इतनी उम्र के बच्चो के स्नायु बहुत कुछ मज़बूत हो जाते हैं। इससे उनके मेदे की कमज़ोरी पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है। अतएव सर्व-साधारण के इस आग्रहपूर्ण मत को पोषक जो बातें कही जाती हैं वे सिर्फ़ बहुत ही छोटे बच्चों के विषय मे ठीक हैं। सो भी पूरे तौर से नहीं। बड़े लड़कों के विषय में तो वे बिलकुल ही ठीक नहीं। परन्तु उनके साथ भी छोटे बच्चो ही का ऐसा बर्ताव किया जाता है। पौष्टिक भोजन के सम्बन्ध में छोटे बड़े सब उम्र के लड़के बहुधा एक ही लाठी से हाँके जाते हैं। यह तो इस मत के पक्ष की बात हुई। परन्तु जब हम इसके विपक्ष की बातों का विचार करते हैं तब अनेक सबल और निश्चित कारण हमें इसके प्रतिकूल मिलते हैं। विज्ञान इस सार्वजनिक आग्रह के बिलकुल ही ख़िलाफ़ है। वैज्ञानिक रीति से विचार-पूर्वक निश्चित किये गये सिद्धान्त इस मत के पूरे विरोधी हैं। हमने दो प्रसिद्ध डाक्टरों और प्राणि-धर्म्म-शास्त्र के कितने ही नामी नामी विद्वानों से इस विषय मे प्रश्न किया। उन्होंने एकवाक्य होकर निश्चित रूप से यह मत स्थिर किया कि बड़े आदमियों को जैसा अन्न दिया जाता है उससे कम पौष्टिक अन्न बच्चो को न देना चाहिए। किम्बहुना, यदि हो सके, तो बच्चों को बड़े आदमियों से अधिक पौष्टिक अन्न देना उचित है।

१४—बड़े आदमियों की अपेक्षा बच्चों को ख़ूराक की अधिक ज़रूरत रहती है।

जिस आधार पर यह निर्णय किया गया है, बिलकुल ही स्पष्ट है और इसकी सिद्धि भी बहुत ही सीधी सादी दलीलों से की जा सकती है। इसके लिए बड़े आदमी की जीवन-क्रिया की तुलना सिर्फ़ लड़के की जीवन-क्रिया से करने की ज़रूरत है। इससे मालूम हो जायगा कि वयस्क आदमी की अपेक्षा लड़के को पौष्टिक पदार्थ खाने की अधिक ज़रूरत रहती है।

किस लिए आदमी अन्न खाता है? किस निमित्त मनुष्य को खाना खाने की ज़रूरत पड़ती है? मनुष्य का शरीर प्रति दिन थोड़ा बहुत ज़रूर क्षीण होता है—कुछ न कुछ कमी उसमें ज़रूर होती है। शारीरिक परिश्रम करने से हाथ-पैर आदि में, मानसिक परिश्रम करने से ज्ञान-तन्तुओं मे, और अनेक प्रकार के जीवन-व्यापार-सम्बन्धी परिश्रम करने से शरीर के भीतरी अवयवों मे कुछ न कुछ क्षीणता ज़रूर आ जाती है। इस तरह जो क्षीणता आती है उसे पूरा करना पड़ता है। इस प्रकार की कमी की पूर्ति होनी ही चाहिए। दीप्ति-विकिरण के द्वारा बहुत सी उष्णता मनुष्य के शरीर से प्रति दिन बाहर निकला करती है। परन्तु जीवन-व्यापार अच्छी तरह जारी रहने के लिए जितनी उष्णता शरीर को दरकार है उतनी ज़रूर ही उसमें रहनी चाहिए। अतएव क्षीण हुई उष्णता को बार बार पूरा करना पडता है। इसलिए शरीर के कुछ अवयवों का संयोग हमेशा आक्सिजन से हुआ करता है—उनके संयोग से हमेशा उष्णता उत्पन्न हुआ करती है। अतएव दिन भर मे शरीर का जितना अंश क्षीण हो जाता है उसे पूरा करने, और जितनी उष्णता बाहर निकल जाती है उसे पैदा करने के लिए काफ़ी ईंधन पहुँचाने, के लिए ही वयस्क आदमी को खाना खाने की ज़रूरत होती है। अच्छा अब लड़के की स्थिति का विचार कीजिए। वह भी काम करता है। अतएव उसका भी शरीर क्षीण होता है। उसकी लगातार दौड-धूप का खयाल करने से यह बात ध्यान मे आये बिना नही रह सकती कि यद्यपि उसका शरीर छोटा है तथापि बहुत करके वह उतना ही क्षीण होता है जितना बड़े आदमी का शरीर क्षीण होता है। अर्थात् बच्चे के शरीर का आकार यद्यपि छोटा होता है तथापि दिन भर वह हाथ-पैर चलाया ही करता है—कुछ न कुछ किया ही करता है। इससे उसे इतनी मेहनत पडती है कि वित्त बाहर उसका शरीर क्षीण होता है। किरण-विकिरण के कारण लड़के के शरीर से भी उष्णता बाहर निकला करती है। लड़के के पिण्ड या विस्तार को देखते बड़े आदमी के शरीर का जितना अंश खुला रहता है उसकी अपेक्षा लडके के शरीर का अधिक अंश खुला रहता है। इससे बड़े आदमी की अपेक्षा लड़के के शरीर की उष्णता

अधिक शीघ्रता से बाहर निकला करती है। अतएव उष्णता पैदा करनेवाले जितने भोजन की ज़रूरत बड़े आदमी के लिए होती है, अपने गात के हिसाब से बच्चे के लिए उससे भी अधिक की ज़रूरत होती है। इससे सिद्ध है कि जो जीवन-व्यापार बड़े आदमी को करने पड़ते हैं, यदि सिर्फ़ वही बच्चे को भी करने पड़ें, और कोई नहीं, तो भी अपने डील डौल के अनुसार—अपने गात के अनुसार—उसे वयस्क आदमी की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन की ज़रूरत हो। परन्तु शरीर को दुरुस्त रखने—उसकी क्षीणता की पूर्त्ति करने—और अपेक्षित उष्णता को बना रखने के सिवा बच्चे को बढ़ना भी पड़ता है। अपने शरीर के कुछ अंश को उसे नया भी बनाना पड़ता है। प्रति दिन की क्षीणता और उष्णता की कमी को पूरा करने के बाद जो भोजनांश बच रहता है वह शरीर को बढ़ाने मे काम आता है। इसी बचे हुए भोजनांश की बदौलत बच्चे की यथानियम बाढ़ सम्भव है। कभी कभी इस भोजनांश के न बचने पर भी बच्चे की बाढ़ होती है। परन्तु इस तरह की बाढ़ शरीर के अच्छी स्थिति मे न होने का लक्षण है। यन्त्र-विद्या का एक नियम बहुत पेचीदा है। इससे उसका विवरण यहाँ पर नहीं दिया जाता। तात्पर्य्य उसका यह है कि छोटा यन्त्र बड़े यन्त्र की अपेक्षा अधिक् दिन चलता है और घिसने वग़ैरह के कारण कम ख़राब होता है। अर्थात् बड़े की अपेक्षा छोटे यन्त्र की गति मे विशेष बाधा नहीं आती। यह एक ऐसी विशेषता है कि बाढ़ का सारा दारोमदार इसी पर है। यदि यह बात न होती तो बढ़ना ही असम्भव हो जाता। इस विशेषता को मान लेने से यह बात ज़रूर सिद्ध होती है कि बच्चे के खाने पीने के विषय में चाहे जितनी बेपरवाही की जाय उसके शरीर में कुछ न कुछ भोजनांश बच ही रहता है। अर्थात् बड़े आदमी की अपेक्षा बच्चे का शरीर, शक्ति को कम करनेवाले व्यवहार अधिक सहन कर सकता है। पर इससे यह बात भी सिद्ध होती है, और बहुत स्पष्टतापूर्वक सिद्ध होती है, कि बुरे व्यवहार के कारण जितना भोजनांश बचना चाहिए उसमें ज़रूर कमी हो जायगी। अतएव बच्चे की बाढ़ में भी ज़रूर बाधा आवेगी और उसका शरीर जितना दृढ़ और सशक्त होना चाहिए उतना न होगा। जो शरीर

बढ़ रहा है उसके लिए खाने पीने की बहुत अधिक ज़रूरत होती है। यही कारण है जो मदरसे मे पढ़नेवाले लड़कों को इतनी तेज़ भूख लगती है जितनी कि बडो उम्र के आदमियों को कभी नहीं लगती। यही नहीं कि लड़कों को बहुत तेज़ भूख लगती हो, नहीं, उन्हें बहुत जल्द जल्द भी भूख लगती है। यदि हमारे दिये हुए इन प्रमाणों से किसी का जी न भरे तो हम और प्रमाण भी दे सकते हैं। बच्चो को अधिक ख़ूराक की ज़रूरत का यह भी एक प्रमाण है कि जहाज़ों के डूबने अथवा और ऐसे ही अनर्थ होने से जब भूखों मरने का प्रसङ्ग आता है तब बच्चे ही पहले प्राण छोडते हैं। यदि भूख बरदाश्त करने की शक्ति उनमें होती—यदि उन्हें बडे आदमियों की अपेक्षा अधिक भूख न लगती—तो वे कभी इस तरह न मरते।

१५—बच्चों को हलका भोजन अधिक परिमाण में देना चाहिए या पौष्टिक भोजन थोड़े परिमाण में।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे यह सिद्ध हुआ, और सिद्ध होना ही चाहिए, कि बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को भोजन की अधिक ज़रूरत है। अतएव अब इस बात का विचार करना है कि इस ज़रूरत को रफ़ा करने के लिए किस तरह का भोजन बच्चो को दिया जाना चाहिए—हलका भोजन अधिक परिमाण में दिया जाय या पौष्टिक भोजन थोड़े परिमाण में? पाव भर मांस खाने से शरीर को जितनी पुष्टता होती है उतनी के लिए पाव भर से अधिक रोटी खाने की ज़रूरत होती है और उतनी रोटी से भी अधिक आलू खाने की ज़रूरत होती है। अर्थात् मांस विशेष पुष्टिकारक है, रोटी उससे कम और आलू रोटी से भी कम। यही हाल और चीज़ो का भी है। कोई चीज़ कम पुष्टिकारक है, कोई अधिक। जो चीज़ जितनी कम पुष्टिकारक है, जरूरत को पूरा करने के लिए उसे उतनी ही अधिक देना चाहिए। तो फिर शरीर की बाढ़ के लिए बच्चों को जो अधिक भोजन की ज़रूरत होती है उसे रफ़ा करने के लिए क्या उन्हें वैसाही अच्छा भोजन देना चाहिए जैसा बड़ों को दिया जाता है? या, इस बात की परवा न करके कि बच्चो के मेदे को यह अच्छा भोजन भी अपेक्षाकृत

अधिक परिमाण मे हज़म करना पड़ता है, उन्हे कम पौष्टिक भोजन और भी अधिक परिमाण मे देकर उनके मेदे के लिए उसे हज़म करने का काम और भी कठिन कर देना चाहिए ?

१६—बच्चों को पौष्टिक, पर जल्द हज़म होनेवाला, खाना खिलाना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर सहज ही में दिया जा सकता है। हज़म करने में जितनी ही कम मेहनत पड़ती है, शरीर को बढ़ाने और दूसरे शारीरिक व्यापार चलाने के लिए शक्ति की उतनी ही अधिक बचत होती है। स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर के अधिक ख़र्च हुए बिना मेदे और अँतड़ियों के काम अच्छी तरह नहीं चल सकते। ख़ूब डट कर भोजन करने के बाद शरीर में जो एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है उससे बड़ी उम्र के हर एक सज्ञान आदमी को मालूम होना चाहिए कि उस समय स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर की भरती शरीर के और अवयवों मे कम होकर—उन्हें हानि पहुँचा कर—मेदे की मदद करती है। शरीर के पोषण के लिए आवश्यक पुष्टता, यदि कम पुष्टिकारक भोजनों के अधिक परिमाण को हज़म करके, प्राप्त करनी पड़ती है तो मेदे आदि को विशेष पौष्टिक भोजन के कम परिमाण को हज़म करने की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। इस तरह की मेहनत जितनी ही अधिक पड़ती है उतनी ही अधिक हानि शरीर को पहुँचती है। इसका फल यह होता है कि या तो लड़के कमज़ोर हो जाते हैं, या उनकी बाढ़ मारी जाती है, या दोनों दोष उनमे आ जाते हैं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जहाँ तक हो सके बच्चो को ऐसा भोजन दिया जाना चाहिए जो पौष्टिक भी हो और जल्द हज़म भी हो जाय।

१७—वानस्पतिक पदार्थ खानेवालों की अपेक्षा मांस खानेवालों के लड़के अधिक सशक्त और बुद्धिमान् होते हैं।

लड़के लड़कियों का शरीर-पोषण प्रायः, अथवा बिलकुल ही, वानस्पतिक भोजन से हो सकता है। कन्द, मूल, फल, तरकारी और भिन्न भिन्न प्रकार

के धान्यों से ही वे पाले जा सकते हैं। यह सच है, इसमे कोई सन्देह नहीं। अमीर आदमियों के घरों मे ढूँढ़ने से ऐसे भी लड़के मिल सकते हैं जिनको अपेक्षाकृत कम मांस दिया जाता है। तिस पर भी वे मज़े में बढ़ते हैं और देखने में हृष्ट पुष्ट मालूम होते हैं। मेहनत मज़दूरी करके पेट पालने-वाले लोगों के बच्चो को शायद ही कभी मांस चीखने को मिलता होगा। फिर भी वे ख़ूब स्वस्थ रहते हैं और बढकर जवान हो जाते हैं। इन उदाहरणों मे जो विरोध जान पड़ता है वह ऊपरी दृष्टि से देखने ही से मालूम हो जाता है। वह विरोधाभास-मात्र है। ऐसे उदाहरणो को साधारण तौर पर लोग जितना महत्त्व देते हैं उतना महत्त्व पाने के वे हरगिज़ लायक़ नहीं। पहले ते इन उदाहरणों से यह नतीजा नही निकलता कि जो लड़के बचपन में रोटी और आलू खाकर पलते हैं वे अन्त में अच्छे जवान होते हैं। किसानी का काम करनेवाले इँगलिस्तान के मज़दूरों और अमीरो का, और फ़्रास के मध्यम और नीच स्थिति के आदमियों का, परस्पर मुक़ाबला करने से यह मालूम हो जायगा कि वानस्पतिक भोजन उतना लाभदायक नही। दूसरे, यह बात सिर्फ़ शरीर के आकार को देखने ही से सम्बन्ध नहीं रखती, उसके गुणों से भी सम्बन्ध रखती है। नरम और ढीला ढाला मासल शरीर वैसा ही अच्छा मालूम होता है जैसा कि गठीला शरीर मालूम होता है। स्थूल दृष्टि से देखनेवाले की निगाह मे भरे हुए, पर पिल-पिले, पट्ठोंवाले और ख़ूब गँठे हुए चुस्त पट्ठोंवाले बच्चे के शरीर मे कोई भेद न मालूम होगा। पर उन दोनों की शक्ति की परीक्षा करने से उनका भेद तत्काल मालूम हो जायगा। अर्थात् दोनों से कोई ऐसा काम कराने से जिसमें शक्ति की ज़रूरत है, उनके शरीर की मज़बूती का अन्तर ध्यान में आये विना न रहेगा। वयस्क आदमियों मे अधिक मोटेपन का होना बहुत करके कमज़ोरी का लक्षण समझना चाहिए। कसरत करने से आदमी के बदन का वज़न घट जाता है। अतएव कम पौष्टिक अन्न खाने-वाले लड़को की शकल-सूरत को देख कर उन्हें सशक्त समझना भूल है। उनकी शकल सिर्फ़ देखने भर को है। तीसरे, आकार के सिवा हमें काम-काज करने की क्षमता-शक्ति को भी देखना चाहिए। मांस खानेवालों के

लड़कों और रोटी और आलू खानेवालों के लड़कों में क्षमता-सम्बन्धी बहुत बड़ा फ़र्क़ होता है। शरीर के फुरतीलेपन और बुद्धि की तीव्रता, दोनों बातो में, ग़रीब किसान का लड़का अमीर आदमी के लड़के से वहुत हीन होता है।

१८—परिश्रम करने की शक्ति भोजन की पौष्टिकता पर अवलम्बित रहती है।

यदि हम जुदा जुदा तरह के जानवरों का या जुदा जुदा तरह की मनुष्य-जातियों का परस्पर मुक़ाबला करें, अथवा एक ही तरह के जानवरों और एक ही जाति के आदमियों का, जुदा जुदा तरह का खाना खिला कर, मुक़ाबला करें, तो इस बात का हमे और भी अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलेगा कि काम करने की क्षमता—परिश्रम करने की शक्ति—का परिमाण सर्वथा भोजन की पौष्टिकता ही पर अवलम्बित रहता है।

१९—पौष्टिक ख़ूराक खानेवाले जानवर घास-पात खानेवाले जानवरों से अधिक चुस्त और चालाक होते हैं।

गाय घास खाती है जो बहुत ही कम पुष्टिकारक चारा है। इसीसे उसे बहुत ज़ियादा घास खानी पड़ती है और उसे हज़म करने के लिए बहुत बड़े मेदे इत्यादि की भी ज़रूरत होती है। यदि पाचन-क्रिया करनेवाले शरीर के भीतरी यन्त्र अधिक विस्तृत न हो तो वह इतनी घास हज़म ही न कर सके। शरीर की अपेक्षा गाय के पैर इत्यादि अवयव छोटे होते हैं। अतएव उन पर शरीर का बहुत बोझ पडता है। इस इतने बडे शरीर को उठाने और इतना ज़ियादह चारा हज़म करने मे गाय की बहुत सी शक्ति ख़र्च हो जाती है। अतएव गाय में जो इतनी सुस्ती और शिथिलता देख पड़ती है वह शरीर में शक्ति के बहुत कम रह जाने का कारण है। घोड़े के शरीर की बनावट बहुत करके गाय के शरीर ही के सदृश होती है। परन्तु घोड़े को गाय की अपेक्षा अधिक सारवान्, अर्थात् पौष्टिक, खाना मिलता

है । अब यदि आप घोड़े का मुक़ाबला गाय से करेंगे तो मालूम होगा कि घोड़े का शरीर, विशेष करके पेट, उसके पैर आदि अवयवों के परिमाण के हिसाब से, बहुत बड़ा नहीं है । इसी से उसे पेट इत्यादि का बहुत अधिक बोझ नहीं उठाना पड़ता और न बहुत अधिक ख़ूराक ही हज़म करनी पड़ती । यही कारण है जो घोड़ा बहुत तेज़ चल सकता है और बहुत चुस्त और चालाक होता है । यदि हम घास-पात खानेवाली भेड़ की शिथिलता और सुस्ती का मुक़ाबला मांस, या रोटी इत्यादि, या दोनों तरह की ख़ूराक खानेवाले कुत्ते से करते हैं तो वही बात हमें यहाँ भी देख पड़ती है । किम्बहुना इस मुक़ाबले मे दोनों का पारस्परिक भेद और भी अधिकता से देख पड़ता है । अच्छा, यदि आप किसी अजायबघर या चिड़ियाख़ाने के बाग़ की सैर को जाइए और जङ्गली जानवरों के पिँजड़ो के पास से होकर निकलिए तो आप देखेंगे कि मांस-भक्षी जानवर किस बे-चैनी से अपने पिँजड़े मे इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर लगा रहे हैं । इससे आपके ध्यान में फ़ौरन ही यह बात आ जायगी कि घास-पात खानेवाले जानवरों में यह विलक्षणता नहीं पाई जाती और आप यह भी समझ जायँगे कि इस तरह की चुस्ती और चालाकी, सारवान् पौष्टिक खाना खाने ही की बदौलत है । इस चुस्ती और पौष्टिक ख़ूराक मे जो कार्य्यकारण-भाव है उसे समझने में आपको ज़रा भी देरी न लगेगी ।

२०—यह भेद शरीर-रचना के कारण नहीं; पौष्टिक या अपौष्टिक ख़ूराक के कारण है ।

कोई कोई शायद यह कहेंगे कि यह भेद, जो देख पड़ता है, शरीर-रचना में भेद होने के कारण है । इसका कारण जुदा जुदा तरह की ख़ूराक नहीं है । परन्तु इस तरह की तर्कना मे कोई अर्थ नहीं । जिस जानवर का शरीर जैसा है वह उसी के अनुकूल चारा पानी खाने के लिए बनाया गया है और इस भेद का प्रत्यक्ष कारण जानवरों के खाने पीने की चीज़ों में भिन्नता ही है । इसका सबूत यह है कि यह भेद एक ही जाति के जुदा जुदा क़िस्म

के जानवरों में भी पाया जाता है। घोड़े एक तरह के नहीं होते; कई तरह के होते हैं। उनमे हमारे निर्णय का अच्छा उदाहरण मिलता है। गाड़ियों मे जोता जानेवाला बड़े पेट का सुस्त और मरियल घोड़ा लीजिए और उसका मुक़ाबला छोटी कोख के, पर ख़ूब चालाक, शिकारी या घुड़दौड़ के घोड़े से कीजिए। तब आप इस बात को याद कीजिए कि पहले की अपेक्षा दूसरे घोड़े की ख़ूराक कितनी पौष्टिक होती है। अथवा मनुष्य ही का उदाहरण लीजिए। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासी, आफ़्रीका के जंगली बुशम्यन और अन्यान्य महा असभ्य जातियाँ, जो कन्द, मूल, फल और कभी कभी कीड़े मकोड़े आदि अभक्ष्य जन्तु खाकर अपना निर्वाह करती हैं, और मनुष्य-जातियों की अपेक्षा अधिक खर्वाकार होती हैं। उनके पेट बड़े बडे होते हैं। स्नायु भी उनके पिलपिले होते हैं और पूरे तौर पर बढ़े बिनाही रह जाते हैं। ये लोग लड़ने, भिड़ने या देर तक मेहनत का काम करने मे योरपवालों की बराबरी नहीं कर सकते। पर उत्तरी अमेरिका के इडियन, दक्षिणी अमेरिका के पेटा गोनियन और अफ़रीका के काफ़िर आदि जङ्गली आदमियों को देखिए। वे ख़ूब ऊँचे, चालाक और मज़बूत होते हैं। आप जानते हैं वे क्या खाते हैं? वे मांस ही अधिक खाते हैं। पौष्टिक अन्न न खानेवाले हिन्दू मास-भक्षी अँगरेज़ो का मुक़ाबला नहीं कर सकते। शारीरिक और मानसिक दोनों बातों मे वे अँगरेज़ो से हीन हैं। साधारण तौर पर हम तो यह समझते हैं कि यदि संसार का इतिहास देखा जाय तो यह मालूम होगा कि जिन लोगो का खाना ख़ूब पौष्टिक होता है वही अधिक सशक्त होते हैं और वही औरों पर प्रभुत्व भी करते हैं*।

२१—जानवरों की ख़ूराक जितनी अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही अधिक मेहनत वे कर सकते हैं।

जिस जानवर की ख़ूराक जितनी कम या अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही कम या अधिक मेहनत भी वह कर सकता है। यह ऐसा उदाहरण है

* यदि हिन्दुओं न नहीं तो जापानियों ने तो स्पेन्सर के इस मत को ज़रूर बहुत कुछ भ्रामक सिद्ध कर दिया है। अनुवादक।

जिससे हमारे सिद्धान्त को और भी अधिक दृढ़ता आती है। यह बात घोड़े के दृष्टान्त से प्रमाणित हो चुकी है। सिर्फ़ घास खानेवाला घोड़ा मोटा तो हो जाता है—उसके बदन मे चरबी तो बढ़ जाती है—पर उसकी शक्ति ज़रूर कम हो जाती है। उससे सख़्त मेहनत का काम कराने से इस बात की सत्यता का प्रमाण शीघ्र ही मिल जाता है। "घोड़ों को घास चरने के लिए छोड़ देने से उनके शरीर के स्नायु कमज़ोर हो जाते हैं"। "यदि किसी बैल को स्मिथ-फील्ड नामक नगर की मंडी में ले जाकर बेचना हो तो उसके लिए घास बहुत अच्छा चारा है, क्योंकि घास खाने से वह .खूब मोटा हो जायगा। पर शिकारी घोड़े के लिए वह बहुत हानिकारी है"। पुराने ज़माने के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि गरमी की ऋतु में बाहर खेतों में खेती-किसानी का काम करने के बाद शिकारी घोड़ों को कई महीने तक अस्तबल में बाँध कर खिलाने पिलाने की ज़रूरत होती है। तब कहीं वे शिकारी कुत्तों के साथ शिकार के पीछे दौड़ सकते हैं। वे यह भी अच्छी तरह जानते थे कि अगली वसन्त ऋतु आये विना शिकारी घोड़ों की हालत अच्छी नहीं होती। अपरले नामक एक विद्वान् का कथन है कि "गरमी के मौसम में शिकारी घोड़ों को घास चरने के लिए कभी न छोड़ना चाहिए। यही नहीं, किन्तु यदि विशेष सुभीता और विशेष अच्छा प्रबन्ध न हो तो उन्हें बिलकुल ही बाहर न निकालना चाहिए"। मतलब यह कि घोड़ों को कभी हलका खाना मत दो। .खूब पौष्टिक और कसदार .खूराक बराबर देते रहने ही से घोड़ों में विशेष शक्ति आती है और तभी वे देर तक मेहनत के काम कर सकते हैं। यह सर्वथा सच है। अपरले साहब ने इस बात को साबित कर दिखाया है कि यदि मँझले दरजे के घोड़े को बहुत दिन तक अच्छी .खूराक दी जाय तो वह अपने काम-काज और करतबों में मामूली .खूराक खानेवाले ऊँचे दरजे के घोड़े की बराबरी कर सकता है। ये सब प्रमाण तो हैं हीं। इनमे एक बात और जोड़ दीजिए। इसे सब लोग जानते हैं। वह यह है कि जब किसी घोड़े से दूना काम लेने की ज़रूरत होती है तब उसे लोबिये की तरह का बीन नामक धान्य दिया जाता है। घोड़े की मामूली .खूराक जई की अपेक्षा लोबिये मे नायट्रोजन अधिक

रहता है। और नायट्रोजन वह चीज़ है जिससे मांस की वृद्धि होती है।

२२—मांस न खानेवाले आदमियों की शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों में क्षीणता आ जाती है।

इस विषय मे बस अब एक ही बात और कहनी है। जो प्रमाण जानवरों के विषय में दिये गये उनकी यथार्थता मनुष्य-मात्र में उतनी ही अथवा उसकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टता से देख पड़ती है। हम उन लोगों के विषय मे कुछ नहीं कहते जिन्हे शक्ति के बड़े, बड़े काम करने के लिए शिक्षा दी जाती है—जिन्हें कसरत के बड़े बड़े कर्तब दिखाने की तालीम दी जाती है। उनका खाना पीना तो पूरे तौर पर पूर्वोक्त नियम के अनुसार होता ही है। हम, जो लोग रेल के महकमे में ठेकेदारी करते हैं उनके और उनके मज़दूरों के तजरिबे की बात कहते हैं। इस बात को सिद्ध हुए बरसें हो चुकीं कि मांस अधिक खानेवाली इँगलिस्तान की सामुद्री सेना गेहूँ का आटा खानेवाली योरप की सामुद्री सेना की अपेक्षा काम करने की अधिक शक्ति रखती है; इतनी अधिक शक्ति कि योरप में रेल की ठेकेदारी करनेवाले अँगरेज़ ठेकेदार अपने साथ इँगलिस्तान ही से वहाँ मज़दूर ले जाते हैं। ऐसा करने से उन्हें बहुत बचत होती है। इँगलिस्तान के मज़दूरों में अधिक शक्ति का होना भिन्न जातित्व का कारण नहीं, भिन्न प्रकार की ख़ूराक का कारण है। यह बात अब स्पष्टतापूर्वक साबित हो गई है। क्योंकि जब योरप के दूसरे देशों की सामुद्री सेना उसी तरह अपना जीवन-निर्वाह करती है जिस तरह कि इँगलिस्तान की सेना निर्वाह करती है, तो शक्ति के काम करने में वह थोड़े ही दिनों में इँगलिस्तान की सामुद्री सेना की थोड़ी बहुत बराबरी ज़रूर करने लगती है। इस विषय मे हम अपने निज के तजरिबे से एक और प्रमाण देना चाहते हैं। हमने ६ महीने तक मांस विरहित केवल वानस्पतिक भोजन किया। उससे हमें यह तजरिबा हुआ कि मांस न खाने से शरीर और मन दोनों की शक्ति कम हो जाती

है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों मे क्षीणता आ जाती है।

२३-पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि लड़कों के लिए पौष्टिक भोजन की बड़ी ज़रूरत है।

लड़कों के खाने पीने के विषय में जो कुछ हमने कहा उसकी पुष्टि क्या इन अनेक प्रमाणों से नही होती? यदि यह मान भी लिया जाय कि पौष्टिक और अपौष्टिक, दोनों तरह के, भोजनो से जितनी बाढ़ और पुष्टता होनी चाहिए उतनी होती है, तो भी क्या इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि अपौष्टिक भोजन से जिस शरीर का पोषण होता है उसमे विशेष सार नहीं होता—उसके पट्ठे ख़ूब मज़बूत नहीं होते? क्या इन प्रमाणो से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि यदि शक्ति और बाढ़ दोनों अपेक्षित हों तो सिर्फ़ अच्छा खाना खाने ही से यह बात हो सकती है? जिस लड़के से मानसिक या शारीरिक काम लेने की कोई विशेष ज़रूरत नहीं उसे यदि गेहूँ की रोटी या और कोई ऐसा ही सादा भोजन दिया जाय तो भी उसकी बाढ़ में विघ्न नहीं आता। परन्तु जिस लडके को प्रति दिन बढ़ना और शरीर मे नूतन धातुओं को पैदा ही नहीं करना पड़ता, किन्तु बहुत अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम के कारण होनेवाली क्षीणता की भी पूर्ति करनी पड़ती है उसका भोजन ज़रूर ही ऐसा होना चाहिए जिसमे पुष्टि-कारक पदार्थों का अंश अधिक हो। अच्छा, आप ही बतलाइए, जो कुछ इस विषय में हमने कहा उससे क्या इसके सिवा और कोई नतीजा निकल सकता है? क्या वह इसी नतीजे को नहीं दृढ़ करता? और, क्या इससे साफ़ साफ़ यही बात नहीं प्रमाणित होती कि अच्छा पौष्टिक भोजन न मिलने से, शरीर-रचना और अन्य सापेक्ष बातों के अनुसार, या तो बाढ़ मे बाधा आवेगी या शारीरिक किंवा मानसिक शक्तियों को हानि पहुँचेगी? हमें विश्वास है कि जिसे समझ है—जो तर्कना करना जानता है—वह इसमें कुछ भी सन्देह न करेगा। इसके प्रतिकूल मत देना मानों उन लोगों की भूल को, पोशीदा तौर पर, स्वीकार करना है जो अखण्ड गति उत्पन्न कर

देना चाहते थे। अर्थात् जो यह समझते थे कि बिना कुछ खर्च किये ही यान्त्रिक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा यों कहिए कि शून्य से शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

२४—बच्चों के खाने में फेर-फार न करते रहना बहुत बड़ी भूल है।

खाने पीने की बात समाप्त करने से पहले एक और ज़रूरी विषय, अर्थात् खाने की चीज़ों मे फेर-फार, पर हम कुछ कहना चाहते हैं। जो अन्न हम लोग खाते हैं उसमे हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। परन्तु बच्चों के खाने मे फेर-फार नहीं किया जाता। यह बहुत बड़ी भूल है। हमारी फ़ौज के सिपाहियों की तरह यद्यपि हमारे बच्चों को बीस वर्ष तक उबला हुआ मांस खाने की सज़ा नही दी जाती, तथापि उन्हें बहुत करके एक ही तरह का अन्न खाना पड़ता है। यद्यपि इस विषय मे बच्चो के साथ सिपाहियों की ऐसी सख्ती नही की जाती, और न उनकी तरह बीस बीस वर्ष तक एक ही तरह की ख़ूराक ही दी जाती, तथापि जो कुछ उन्हे खाने को दिया जाता है वह आरोग्य-रक्षा के नियमों के विरुद्ध ज़रूर है। यह सच है कि दोपहर को जो भोजन लड़कों को मिलता है उसमे बहुधा कई चीज़ें थोड़ो बहुत मिली हुई रहती हैं और प्रति दिन फेर-फार भी उसमें हुआ करता है। परन्तु सबेरे के कलेऊ में हफ़्तों, महीनों, बरसों तक वही दूध रोटी या जई के आटे की कढ़ी मिलती है। योंही शाम को भी किसी एक तरह के नियमित भोजन—दूध-रोटी या चाय और मक्खन-रोटी की पुनरावृत्ति करा कर लड़कों का पेट भर दिया जाता है।

२५—खाने की चीज़ों में हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए।

यह दस्तूर प्राणिधर्म्मशास्त्र के नियमो के विरुद्ध है। जो लोग यह समझते हैं कि एक ही तरह का खाना बार बार खाने से जो अरुचि पैदा हो जाती है और जिस खाने का स्वाद बहुत दिन तक जीभ को नहीं मिलता

उसे मिलने से जो समाधान होता है उसमे कोई अर्थ नहीं, वे भूलते हैं। नहीं, उसमे ज़रूर अर्थ है। ये बातें मतलब से ख़ाली नहीं। कई तरह की चीज़ें बदल बदल कर खाना आरोग्यकारी है। अतएव इस तरह रुचि-परिवर्त्तन की इच्छा होना बहुत अच्छी बात है। उससे आरोग्यवर्द्धक वस्तुओं के खाने की उत्तेजना मिलती है। यथेष्ट रीति से जीवन-व्यापार चलने के लिए जो अन्नांश उचित परिमाण या उचित रूप मे दरकार होते हैं वे सब किसी एक ही तरह की ख़ूराक मे नहीं पाये जाते, फिर वह ख़ूराक चाहे जितनी अच्छी क्यों न हो। इस बात की परीक्षा सैकड़ो तरह के तजरिबे से की गई है और वह सच निकली है। इससे सिद्ध है कि उचित परिमाण में सब तरह के अन्नांशों की प्राप्ति के लिए खाने की चीज़ों मे हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। प्राणिधर्म्मशास्त्र के जाननेवालों ने एक और बात का भी पता लगाया है कि जो चीज़ आदमी को अधिक पसन्द होती है उसे खाने से शरीर के भीतर की सारी नाड़ियाँ उत्तेजित और उल्लसित हो उठती हैं। इससे हृदय-व्यापार जल्दी जल्दी होने लगता है, अर्थात् रक्ताशय अपना काम पहले की अपेक्षा अधिक तेज़ी से करने लगता है। अतएव रुधिराभिसरण का वेग बढ़ जाता है और अन्न हजम होने मे बहुत मदद मिलती है। पशुओं के पालने के सम्बन्ध मे आज कल जिन नियमों के अनुसार काम होता है उन नियमो से ये बाते बिलकुल मिलती हैं। तदनुसार पशुओ की ख़ूराक मे हमेशा अदल बदल करना चाहिए।

२६—खाना खाते समय कई तरह की चीज़ें खाने की ज़रूरत।

यही नहीं कि खाने मे सिर्फ़ समय समय पर फेर-फार करने ही की ज़रूरत हो। नहीं, जिन कारणों से इस सामयिक फेरफार की ज़रूरत है उन्हीं कारणों से हर दफ़े कई चीज़े मिला कर खाने की भी बड़ी ज़रूरत है। ऐसा करने से मेदे को सब तरह के अभीष्ट अन्नांश पहुँचते रहते हैं और नाड़ियाँ उत्तेजित बनी रहती हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इससे बहुत फ़ायदा होता है; चित्त प्रसन्न रहता है; रुधिराभिसरण अच्छी तरह होता

है; और खाना सहज ही में हज़म हो जाता है। यदि इस बात का प्रमाण माँगा जाय तो हम उदाहरण के तौर पर फ़्रांसवालों के खाने का प्रमाण देंगे। फ़्रांसवाले दोपहर को बहुत सा खाना खाते हैं; पर उसमे जुदा जुदा तरह की न मालूम कितनी चीज़ें होती हैं। इसी से उनका मेदा इतना अधिक खाना सहज ही मे हज़म कर सकता है। इस बात पर शायद ही किसी को एतराज़ होगा कि एक ही तरह का इतना अधिक खाना, फिर चाहे वह कितनी अच्छी तरह से पकाया गया हो, इतना सहज में हज़म नही हो सकता। यदि किसी को इस विषय में और भी अधिक प्रमाण दरकार हों तो वे पशु-प्रबन्ध-सम्बन्धी आज कल की प्रत्येक पुस्तक में मिल सकते हैं। यदि पशुओं को खाने के समय कई चीज़ें मिला कर दी जाती हैं तो उनसे बड़ा लाभ होता है—पशु ख़ूब मोटे-ताज़े हो जाते हैं। गाँस और स्टार्क आदि विद्वानों ने इस विषय में जो तजरिबे किये हैं उनसे—"इस बात का विश्वसनीय प्रमाण मिलता है कि मेदे का काम ख़ूब अच्छी तरह चलने के लिए जिस तरह का रस-मिश्रण दरकार होता है उसके लिए खाने मे कई चीज़े मिला कर देना बहुत लाभकारी, अथवा यों कहिए कि बहुत ज़रूरी, है"।

२७—बच्चों के खाने में अदल बदल करने और हर दफ़े कई तरह की चीज़ें खिलाने की तकलीफ़ खुशी से उठानी चाहिए।

यदि कोई यह कहे, और, सम्भव है, बहुत लोग कहेंगे, कि बच्चो के खाने में अदल बदल करते रहना और हर दफ़े कई तरह की चीज़े खिलाना बहुत तकलीफ़ का काम है तो हमारा जवाब यह है कि बच्चो की मानसिक उन्नति के लिए चाहे जितनी तकलीफ़ उठानी पड़े उसे तकलीफ़ ही न समझना चाहिए। उनके भावी कल्याण के लिए उनके शरीर के दृढ़ और नीरोग होने की तो इतनी अधिक ज़रूरत है कि उसकी सिद्धि के लिए आदमी को भारी से भी भारी तकलीफ़ों को कुछ न समझना चाहिए।

का ख़ूब अच्छा प्रबन्ध करके उनको मोटा ताज़ा बनाने के लिए जो तकलीफ़ लोग ख़ुशी से सहते हैं वही तकलीफ़ बच्चो के पालने पोसने मे यदि असह्य मालूम हो तो क्या यह अफ़सोस और आश्चर्य की बात नहीं ?

२८—भोजन-सम्बन्धी तीन सिद्धान्त।

खाने पीने के विषय मे हमारे बतलाये हुए नियमों के अनुसार बर्ताव करने की जिनकी इच्छा हो उनके लिए, सूचना के तौर पर, हम दो चार सतरें और लिखने की ज़रूरत समझते हैं। बच्चों के खाने मे एक-दम परिवर्तन करना अच्छा नहीं। क्योंकि लगातार हलका अन्न खाते रहने से बच्चों का शरीर इतना चीण हो जाता है कि वे पौष्टिक अन्न सहसा नहीं हज़म कर सकते। अपौष्टिक और हलका अन्न ख़ुद ही अजीर्ण पैदा करता है। पशुओं तक में यह बात पाई जाती है। कृषि-सम्बन्धी एक प्रामाणिक पुस्तक में लिखा है कि—"यदि बछड़ो को मलाई निकाला हुआ दूध, या मठा, या और कोई अपौष्टिक हलकी चीज़ें खिलाई जाती हैं तो उन्हें अजीर्ण हो जाने का डर रहता है"। अतएव शरीर मे शक्ति कम होने के कारण पौष्टिक खाना खाने की आदत धीरे धीरे डालनी चाहिए—क्रम क्रम से पौष्टिक चीजे खिला कर खाने मे परिवर्तन करना चाहिए। जैसे जैसे शक्ति बढ़ती जाय वैसे ही वैसे अधिक पौष्टिक चीज़ें खाने को देना चाहिए। इसके सिवा यह बात भी याद रखनी चाहिए कि पौष्टिक चीजो की मात्रा बहुत ही कम न कर दी जाय। उनके ठीक परिमाण का ज़रूर ख़याल रखना चाहिए। पेट भर खाने ही का नाम भोजन है। यदि पेट ख़ाली रह गया तो उसे भोजन ही नहीं कह सकते। अच्छा खाना खानेवाले शिक्षित आदमियों की पचनेन्द्रियों का आकार बुरा खाना खानेवाले असभ्य जगली आदमियों की पचनेन्द्रियों के आकार की अपेक्षा यद्यपि छोटा होता है; और यद्यपि भविष्यत में उसके और भी छोटे होने की सम्भावना है, तथापि, तब तक, उनकी पचनेन्द्रियों के—उनके मेदे के—आकार के ही अनुसार इसका निश्चय होना चाहिए कि उन्हें कितना खाना खिलाना मुनासिब है। इन दोनों बातों को ध्यान मे रख कर, हमारे यहाँ तक के प्रतिपादन से ये सिद्धान्त निकलते हैं

कि (१) बच्चों का भोजन .खूब पौष्टिक होना चाहिए; (२) प्रत्येक भोजन के समय कई तरह की चीज़ें खिलाना और साधारण तौर पर भोजनों में हमेशा अदल बदल करते रहना चाहिए; और (३) .खूब पेट भर खाने को देना चाहिए।

२८—मनोवृत्तियों को दबाना न चाहिए। सारे मानसिक और शारीरिक व्यापार उनके अनुकूल करने चाहिएँ।

खाने पीने की तरह कपड़े लत्ते के विषय में भी लोगों का झुकाव कमी की ही तरफ़ है। यह भी अनुचित है। लड़कों को काफ़ी कपडे न पहनाना अच्छा नहीं। पर लोग उन्हें कपड़े लत्ते के विषय मे भी तपस्वी बनाना चाहते हैं। आज कल लोगों की समझ ने, इस विषय मे, विलक्षण रूप धारण किया है। वे समझते हैं कि मनोवासनाओं की परवा न करना ही अच्छा है। उनको मारने ही में भलाई है। इस समझ ने यद्यपि अभी तक सिद्धान्त का रूप नहीं पाया; तथापि वह एक अनिश्चित रूप मे दृढ़ ज़रूर हो गई है। सब लोगों को कुछ ऐसा विश्वास हो गया है कि जितनी वासनायें हैं कोई भी सुपथदर्शक नही। सब कुपथदर्शक हैं। उनको पथदर्शक मान कर तद-नुसार व्यवहार न करना चाहिए। मनोवृत्तियों को तृप्त करना मुनासिब नही। वे हम लोगों को सुपथ से भ्रष्ट करने ही के लिए हैं। लोगों की इस समझ का मूल पर्य्यन्त विचार करने से यही नतीजा निकलता है कि उसका कारण उनका अन्ध-विश्वास है। यह बहुत बड़ी भूल है। परमेश्वर ने हमारे शरीर के निर्म्माण करने मे जो कौशल दिखाया है उससे उसकी अपार दयालुता सूचित होती है। नाना प्रकार के जो शारीरिक क्लेश हमें सदा सहन करने पड़ते हैं उनका कारण मनोजन्य वासनाओं का आज्ञा-पालन नहीं; किन्तु उनकी आज्ञाओं का अपरिपालन है। भूख लगने पर भोजन करना बुरा नहीं। बुरा है बिना भूख भोजन करना। प्यास में पानी पीना अनुचित नहीं। अनुचित है, प्यास बुझ जाने पर भी पानी पीते चले जाना। जिस स्वच्छ हवा में साँस लेना प्रत्येक स्वस्थ आदमी को अच्छा लगता है उसमे साँस लेने से हानि नही होती। हानि होती है उस गन्दी

हवा में साँस लेने से जिसमें, फेफड़ो के मना करने पर भी, लोग साँस लेते हैं। उस घूमने फिरने अथवा कसरत करने से अहित नहीं होता जिसके लिए आपही आप तबीयत चलती है। उसकी इच्छा तो मनुष्य को स्वभाव ही से होती है। उसे सर्वथा स्वाभाविक समझना चाहिए। देखिए न, बचपन मे लड़के ख़ुशी से कैसे उछला कूदा करते हैं। यह स्वाभाविक प्रेरणा का सबूत है। इस तरह की दौड़ धूप से अहित नहीं होता। अहित होता है स्वाभाविक प्रेरणाओं के अनुसार काम न करने के अत्यन्त आग्रह से। जिस बात के करने को जी चाहे उसे न करने ही से हानि होती है, करने से नहीं। जो मानसिक काम ख़ूब उमङ्ग से किये जाते हैं और जिन्हे करने से आनन्द मिलता है उनसे हानि की सम्भावना नही। मस्तक गरम हो जाने या सिर दर्द करने पर भी जो काम जारी रक्खे जाते हैं, हानि की सम्भावना उन्हीं से है। सिर में गरमी चढ़ जाना या दर्द पैदा हो जाना मानो काम बन्द कर देने की आज्ञा है। हानि ऐसे ही आज्ञा-भङ्ग से होती है। शारीरिक श्रम जब तक अच्छा लगे, अथवा जब तक न अच्छा ही लगे और न बुरा ही, तब तक करने से अपाय नही होता। थकावट मालूम होने के बहाने श्रम बन्द करने की आज्ञा मिलने पर भी उसे बन्द न करने से अपाय होता है। यह सच है कि जिन लोगों का शरीर बहुत दिनों से नीरोग नहीं—जो चिररोगी हैं—उनकी मनोवासनायें विश्वसनीय नहीं। उनके इच्छानुसार बर्ताव करने से ज़रूर हानि होती है। जो लोग बरसों घर से बाहर नहीं निकलते, प्राय: भीतर ही पड़े रहते हैं, जो लोग दिन रात मानसिक श्रम किया करते हैं, शायद ही हाथ-पैर हिला कर कभी शारीरिक श्रम करते हैं, जो लोग अपने मेदे के ख़ाली या भरे होने की परवा न करके अपने घड़ी घंटे की परवा करते हैं—खाने का वक़्त नहीं टलने देते—वे, बहुत सम्भव है, अपनी दूषित मनोवासनाओं के अनुसरण से हानि उठावें। परन्तु उनको याद रखना चाहिए कि यदि वे पहले से अपनी मनोवासनाओं की आज्ञा मानते—तदनुकूल व्यवहार करते—तो कभी ऐसा न होता। वासनाओं के अनुकूल काम न करने ही से उनमें दोष आ जाता है। यदि वे लड़कपन ही से अपने शारीरिक प्रवृत्तिरूपी शिक्षक की आज्ञा न उल्लंघन

करते तो कभी उन्हें धोखा न होता। अन्त तक वह उन्हे विश्वसनीय शिक्षक की तरह सन्मार्ग से कभी च्युत न होने देता।

३०—गरमी और सरदी का ख़याल रख कर बच्चों को यथेष्ट कपड़े न पहनाने से ज़रूर हानि होती है।

जो मनोवासनायें या मनोवृत्तियाँ हमारे लिए पथदर्शक का काम करती हैं, जाड़े और गरमी का ज्ञान उत्पन्न करनेवाली वृत्तियाँ उन्हीं मे से हैं। अतएव बच्चो के कपड़े-लत्तो से सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्था यदि इन प्रवृत्तियों के अनुसार न हो तो उससे ज़रूर हानि होती है। इस तरह की अस्वाभाविक व्यवस्था कभी उचित नही मानी जा सकती। बहुत लोगो की यह समझ है कि लड़कपन मे कपड़े लत्ते कम पहनने की आदत डालने से बच्चे मज़बूत और श्रमसहिष्णु हो जाते हैं। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है। कितने ही बच्चे तो मज़बूत और श्रमसहिष्णु बनते ही बनते स्वर्ग को सिधार जाते हैं। और, जो बच जाते हैं, उनकी बाढ़ या तो हमेशा के लिए बन्द हो जाती है, अर्थात् वे जन्म भर ठिँगने ही बने रहते हैं, या उनके शरीर की बनावट को हमेशा के लिए हानि पहुँच जाती है। डाकृर कोम्बी का मत है कि—"लड़कों की नाज़ुक और कमज़ोर सूरत शकल इस बात का प्रमाण है कि उनको इस तरह मज़बूत और श्रमसहिष्णु बनाने का यत्न करने ही की बदौलत उनकी यह दशा हुई है। जो माँ-बाप बहुत ही बेपरवाह हैं उन्हें भी, लड़कों को बार बार बीमार पड़ते देख, इस बात की शिक्षा लेनी चाहिए कि कम कपड़े लत्ते पहना कर लड़कों को मजबूत बनाने की व्यर्थ चेष्टा हानिकारी है"। जिस भित्ति पर—जिस दलील पर—लड़कों को मज़बूत बनाने के ख़याल ने ज़ोर पकड़ा है वह बिलकुल ही निर्जीव है। उसमे कोई अर्थ नहीं। अमीर आदमी ग़रीब किसानों के छोटे छोटे बच्चों को बाहर सर्दी मे बिना अच्छी तरह कपडे लत्ते पहने ही खेलते कूदते देखते हैं। वे यह भी देखते हैं कि इन बच्चो के मेहनत मज़दूरी करनेवाले माँ-बाप (किसान और मज़दूर आदि) ख़ूब नीरोग और सशक्त होते हैं। अपएव इससे वे यह नतीजा निकालते हैं कि उनकी नीरोगता और दृढ़ता

तरह अर्ध-दिगम्बर रूप मे बाहर घूमने फिरने ही का फल है। इसी से
अपने लड़कों को भी उन्हीं के लड़कों की तरह रखना चाहते हैं। पर यह
की भूल है। इससे यह नतीजा नहीं निकलता। वे इस बात को बिल-
ल ही भूल जाते हैं कि इन लड़कों के लिए, जो बाहर देहात मे हरे हरे
तों और मैदानों में घूमा करते हैं, और भी कितनी ही बातों का सुभीता
जो अमीर आदमियों के लड़कों को नसीब नहीं। उनके ध्यान मे यह बात
हीं आती कि किसानों और मज़दूरों के लड़के बहुत करके सारा दिन
ल कूद ही मे बिताते हैं; हमेशा ख़ूब ताज़ी हवा मे साँस लेते हैं, और
बहुत अधिक मानसिक श्रम के कारण उनके शरीर को कभी पीड़ा नहीं
पहुँचती। उनके शरीर के मज़बूत और सशक्त रहने का कारण कपड़े लत्ते
की कमी नहीं। उसके और कारण हैं। इसी से इस कमी के रहते भी उनकी
शरीर-सम्पत्ति नहीं बिगड़ती। हमें विश्वास है कि जो नतीजा हमने निकाला
वह यथार्थ है; और, बदन पर यथेष्ट कपड़े न होने से, शरीर से
बहुत अधिक गरमी निकल जाने के कारण, हानि हुए विना नहीं रह
सकती।

३१—सरदी में बदन खुला रहने से मनुष्य का क़द ज़रूर छोटा हो जाता है।

यदि शरीर सरदी-गरमी बरदाश्त करने भर के लिए सशक्त है तो उसे
खुला रखने से मज़बूती आती है; परन्तु बाढ़ जरूर बन्द हो जाती है।
यह बात मनुष्यों और पशुओं दोनों मे एक सी पाई जाती है। शटलेंड टापू
के टट्टू दक्षिणी इँगलिस्तान के घोड़ों की अपेक्षा सरदी अधिक बरदाश्त
कर सकते हैं; पर वे बहुत छोटे होते हैं। उन्हे बहुत सरदी सहनी पड़ती
है। इसी से उनकी बाढ़ रुक जाती है और वे ठिँगने रह जाते हैं। स्काटलेंड
की पहाडी भेड़ें और गाय, बैल आदि बहुत सर्द आबो हवा में रहते हैं।
इस कारण वे इँगलिस्तान की भेडो और गाय-बैलों की अपेक्षा डील-डौल
में छोटे होते हैं। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के आस पास के टापुओं के
आदमियों की ऊँचाई और लोगों की साधारण ऊँचाई से कम होती है।

लापलेंड और ग्रीनलेंड के निवासी बहुत ही छोटे होते हैं। टयरा डयल फ्यूगो के निवासी, जो प्रचण्ड सर्दी में नंगे घूमा करते हैं, अत्यन्त ही बौने और कुरूप होते हैं। उनके विषय मे डारविन साहब ने लिखा है कि—"उनको देख कर इस बात पर कठिनता से विश्वास किया जा सकता है कि वे भी हम लोगो ही की तरह मनुष्य हैं।"

३२—विज्ञान इस बात का प्रमाण है कि शरीर से अधिक गरमी निकलने ही से आदमी ठिँगना हो जाता है।

विज्ञान-शास्त्र पुकार कर कह रहा है कि इस ठिँगनेपन का कारण शरीर से अधिक गरमी निकल जाना है। वह इस बात का प्रमाण है कि खाना पीना और दूसरी बाते यथास्थित होने पर भी शरीर से अधिक गरमी निकलने से आदमियों का क़द ज़रूर ही ठिँगना हो जाता है। क्योंकि, जैसा पहले हम कह चुके हैं, शरीर से जो गरमी निकला करती है उसकी कमी को पूरा करने के लिए—उसके कारण पैदा हुई सरदी को दूर करने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि जो कुछ हम खायँ उसमें ऐसी चीज़ें हों जिनके योग से आक्सिजन का बनना बराबर जारी रहे। और आक्सिजन बनने के लिए जिन चीज़ो की ज़रूरत है वे उतनी ही अधिक हों जितनी अधिक गरमी शरीर से निकलती हो। परन्तु खाये हुए अन्न को हज़म करनेवाले अवयवों की शक्ति नियमित है। इससे, शरीर की गरमी कम न होने देने के लिए जब उन्हे गरमी पैदा करनेवाले रस की मात्रा अधिक तैयार करनी पड़ती है तब शरीर की बाढ़ होने के लिए जो उसी तरह का रस दरकार होता है उसकी बहुत ही थोड़ी मात्रा वे तैयार कर सकते हैं। इस तरह शरीर को *गरम रखने के लिए गरमी पैदा करनेवाली चीज़, ईंधन के तौर पर,* बहुत अधिक ख़र्च हो जाने से और कामों के लिए वह ज़रूर ही कम रह जाती है। नतीजा यह होता है कि या तो आदमी का क़द छोटा हो जाता है, या शरीर की बनावट में हीनता आ जाती है, या एकही साथ दोनों दोष पैदा हो जाते हैं।

३३—शरीर को गरम रखने के लिए कपड़े-लत्ते भी एक अंश में अन्न ही का काम देते हैं।

इसी से हम कपड़े-लत्ते को इतना महत्त्व देते हैं। लीविग साहब कहते —"शरीर की गरमी के ख़याल से हमारे कपड़े-लत्ते अन्न के एक अंश-शेष का काम देते हैं"। अर्थात् जो काम अन्न से होता है वही काम, थोड़ी ात्रा में, कपड़ों से भी होता है। कपड़े लत्ते से शारीरिक गरमी की कमी म होती है। अतएव गरमी को बना रखने के लिए अन्न-रस-रूपी जो धन दरकार होता है वह कम लगता है। मेदे को यदि इस ईंधन के यार करने का काम कम करना पड़ता है तो उसे और चीज़े तैयार करने विशेष सुभीता होता है। जो लोग गाय, बैल, बकरी आदि पशु पालते हैं ौर उनका प्रबन्ध करते हैं उनके तजरिबे से इन बातों की सत्यता अच्छी रह साबित होती है। यदि पशुओं को सरदी खानी पड़ती है तो चरबी, ट्ठे, या बाढ़, इनमे से एक आध को हानि पहुँचे बिना नहीं रहती। मार्टन ाहब की बनाई हुई कृषि-सम्बन्धी एक किताब मे लिखा है कि—"जिन शुओं को खूब मोटे करना हो उन्हे सर्द जगह में रखना अच्छा नहीं। योंकि ऐसी जगह मे रखने से या तो उनकी बाढ़ को हानि पहुँचेगी या नके चारा पानी के लिए अधिक ख़र्च उठाना पड़ेगा"। आपरले साहब इस ात को बहुत ज़ोर देकर कहते हैं कि शिकारी घोड़ों को ख़ूब अच्छी हालत ें रखने के लिए तबेले को गरम रखने की बड़ी ज़रूरत है। और, जो लोग ुड़दौड़ के घोड़े पालते हैं उनका तो ऐसे घोड़ों को सरदी से बचाना एक कार का सिद्धान्त सा हो गया है।

३४—बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को गरमी पैदा करनेवाली चीज़ें दूनी खानी चाहिए।

इस प्रकार इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के सच होने का प्रमाण नर-वंश-रिया दे रही है। भिन्न भिन्न आदमियों की भिन्न भिन्न स्थितियों का विचार करने से इसके सच होने मे सन्देह नहीं। किसान और शिकारी इसे मानते

ही हैं। तो यही सिद्धान्त बच्चों के विषय में क्यों न माना जाय? उनके विषय मे तो इसके अनुसार व्यवहार करने की दूनी ज़रूरत है। बच्चे जितने ही छोटे होते हैं और जितनी ही अधिक उनकी बाढ़ होती है सरदी से उन्हें उतनी ही अधिक हानि पहुँचती है। फ्रांस में नवजात बच्चों को उनके जन्म की रजिस्टरी कराने के लिए मेअर नामक एक अधिकारी के दफ़्तर मे ले जाना पड़ता है। इससे जाड़े के दिनों मे अकसर बच्चे राह मे ही मर जाते हैं। क्वेटिलेट साहब ने लिखा है कि—"बेलजियम में छोटे छोटे बच्चे जितने जुलाई में मरते हैं उसके दूने जनवरी में मरते हैं"। रूस की तो कुछ पूछिए ही नहीं। वहाँ नवजात बच्चो की मृत्यु-संख्या बहुत ही भयङ्कर है। प्रायः जवान हो जाने तक भी बाढ़ पूरी न होने के कारण शरीर खुला रखने से हानि होती है। उस समय तक भी शरीर सरदी नहीं बरदाश्त कर सकता। उदाहरणार्थ, जिन लड़ाइयों में बहुत तकलीफ़ें झेलनी पडती हैं उनमें जवान सिपाही कितना जल्द मरते हैं। उनसे गरमी, सरदी और भूख, प्यास कम बरदाश्त होती है। इसी से वे बहुत जल्द मर जाते हैं। हम पहले ही बयान कर चुके हैं कि बच्चों के डोल डौल और उनके शरीर के बाहरी भाग के सम्बन्ध में न्यूनाधिकता होने के कारण, बड़े आदमियों के शरीर की अपेक्षा बच्चों के शरीर से अधिक गरमी निकला करती है। यहाँ पर हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि इस तरह बहुत अधिक गरमी निकल जाने से बच्चों को जो हानि पहुँचती है उसे थोडी न समझना चाहिए। इस विषय में लेमन साहब कहते हैं:—"बच्चों और छोटे छोटे जानवरों के बदन से जो कारबोनिक आसिड बाहर निकलती है उसका यदि हिसाब लगाया जाय तो मालूम होगा कि बड़े आदमियों के शरीर के उतने ही वज़नी भाग से जो आसिड निकलती है उसकी अपेक्षा दूनी आसिड बच्चे पैदा करते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी बच्चे का वज़न आठ सेर है। अब वयस्क आदमी के बदन का कोई उतना ही वज़नी भाग लीजिए। ऐसा करने से आप देखेंगे कि उस उतने भाग से जितनी कारबोनिक आसिड निकलेगी उसकी अपेक्षा दूनी आसिड बच्चे के बदन से निकलेगी। अब देखिए कि जिस परिमाण मे शरीर में गरमी पैदा होती है प्रायः उसी परिमाण मे यह कारबोनिक

आसिड भी शरीर से बाहर निकलती है। अतएव यह सिद्ध है कि शरीर के लिए किसी तरह की कमी या असुविधा न होने पर भी, यथेष्ट गरमी पैदा करनेवाली चीज़े, लड़कों को बड़े आदमियों की अपेक्षा दूनी खानी चाहिए।

३५—बच्चों को यथेष्ट कपड़ा न पहनाने से उनकी बाढ़ या शरीर की बनावट को हानि पहुँचे बिना नहीं रहती।

अतएव छोटे बच्चों को कम कपड़े पहनाना कितनी मूर्खता है। जिसकी बाढ़ पूरे तौर पर हो चुकी है, जिसके बदन से बच्चे की अपेक्षा कम शीघ्रता से गरमी निकलती है, और दैनन्दिन होनेवाली क्षीणता को पूर्ण करने के सिवा जिसे अपने शरीर को सुस्थ रखने के लिए और किसी बात की ज़रूरत नहीं है ऐसा कौन बाप अपने हाथ, पैर और गर्दन को खुली रख कर बाहर इधर उधर घूमना लाभदायक समझेगा? हम पूछते हैं कि क्या कोई बाप ऐसा होगा जो इस तरह अपने बदन को नंगा रख कर बाहर निकलना पसन्द करेगा? परन्तु जो काम करने से वह ख़ुद डरता है, जिसे वह ख़ुद पसन्द नहीं करता, वही काम, अपने छोटे छोटे बच्चों के शरीर मे उसे सहन करने की बहुत कम शक्ति होने पर भी, वह उनसे कराता है! यदि कदाचित् वह ख़ुद उनसे यह काम नहीं कराता तो औरों को उनसे कराते देखता है, पर मना नहीं करता। उसे याद रखना चाहिए कि एक एक पैसे भर अन्न-रस, जो शरीर में यथेष्ट गरमी बनी रखने के लिए व्यर्थ खर्च होता है, उस अन्न-रस की मात्रा से घट जाता है जो बच्चों के शरीर की बाढ़ के काम आता है। और यदि बच्चे जुकाम, खाँसी इत्यादि बीमारियों से बच भी गये तो भी इस विषय में माँ-बाप की बेपरवाही के कारण या तो उनकी बाढ़ में ज़रूर बाधा आ जाती है या उनके शरीर की बनावट मे थोड़ी बहुत ज़रूर कमी हो जाती है।

३६—बच्चों को कपड़े-लत्ते पहनाने के विषय में डाक्टर कोम्बी की राय।

"हमारी राय में कपड़ों के विषय में एक ही निश्चित नियम के अनुसार

काम करना मुनासिब नहीं। सब हालतों मे एक ही नियम से काम नहीं चल सकता। बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाने चाहिए जिसमे सरदी से—फिर चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो—उनकी अच्छी तरह रक्षा हो। किसी तरह के और कितने कपड़े पहनाने चाहिए, इस विषय का कोई निश्चित नियम नही किया जा सकता। माँ-बाप को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि जो कपडे हम बच्चों को पहनाते हैं वे सरदी से उनका अच्छी तरह बचाव कर सकते हैं या नहीं। "बस"। यह वचन डाक्टर कोम्बी का है और बडे महत्त्व का है। इसके महत्त्व को उन्होंने इसे बड़े बड़े अक्षरों में लिख कर सूचित किया है। डाक्टर कोम्बी से, इस विषय मे, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता और डाक्टर सहमत हैं। जो लोग इस सम्बन्ध मे राय देने की योग्यता रखते हैं—जिन्हें इस सम्बन्ध मे कुछ कहने का अधिकार है—उनमे से एक भी आदमी हमें ऐसा नहीं मिला जिसने यह न कहा हो कि बच्चों के बदन का खुला रखना बहुत बड़ी भूल है। दुनिया में सबसे बढ़ कर यदि कोई काम ऐसा है जिसमें महाहानिकारी पुरानी रीति के छोड़ने की ज़रूरत है तो वह काम बच्चो के बदन को खुला रखना है।

३७—बच्चों के कपड़ों के विषय में मूर्खता-वश फ़्रांसवालों की नक़ल की जाती है। इससे बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं।

बच्चों की माताओं को अनर्थ-कारिणी रीतियों की दासी बन कर अपनी सन्तति की शरीर-प्रकृति को सख़्त हानि पहुँचाते देख सचमुच बड़ा अफ़सोस होता है। अपने पडोसियों को मूर्खता से भरी हुई रीतियों का प्रचार करते देख उनकी देखादेखी ख़ुद भी उनकी प्रत्येक मूर्खता का अनुकरण करने दौड़ना बहुत बुरी बात है। जो कपडे वे पहनाते हैं वे बच्चो के लिए योग्य और यथेष्ट हैं या नहीं, इस बात का कुछ भी विचार न करके, नये नये तर्ज़ के कपड़ों की तसवीरें छापनेवाले फ़्रांस के अख़बारों को देख कर अपने बच्चों को माँ-बाप का भड़कदार और दिखाऊ कपड़े पहनाना अजब पागलपन है। इस तरह के कपड़ों से बच्चो को थोड़ी बहुत तकलीफ़

जरूर होती है। वे बहुधा बीमार पड़ जाते हैं। या तो उनकी वाढ़ रुक जाती है या शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। कभी कभी तो उनकी अकाल-मृत्यु तक हो जाती है। ये सब आपदायें झेलनी किस लिए पड़ती हैं? इसलिए कि सनक में आकर अपने मन-मौजीपन के कारण फ़ांसवाले जिस कपड़े और जिस काट और नाप के कोट बनाने लगते हैं उन्हीं की नक़ल करना ज़रूरी समझा जाता है। इस तरह फ़ांसवालों की नक़ल करके मातायें अपने बच्चों को काफ़ी कपड़े न पहना कर उन्हें दण्ड देती हैं। इस दण्ड के कारण बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पडती हैं। पर माताओं को इतने ही से सन्तोष नही होता। वे अपने बच्चो के साथ कुछ और भी सलूक करती हैं। नक़ल करने की सनक मे आकर वे ऐसे वज़े क़ते के कपड़े बच्चों को पहनाती हैं कि बच्चों का वदन जकड़ सा जाता है। अतएव वे आरोग्यवर्धक खेल कूद से वञ्चित हो जाते हैं। उनके वदन मे कपडे ऐसे कस कस जाते हैं कि फिर वे दौड़-धूप नहीं कर सकते। सिर्फ़ देखने में अच्छे लगने के कारण मातायें ऐसे रंगीन कपड़े पहनाती हैं जो लड़कों के प्रतिवन्धहीन खेल-कूद के तड़ाके को बरदाश्त नहीं कर सकते। फिर वे मनमाना खेल-कूद करने से बच्चों को इसलिए रोकती हैं कि कहीं कपड़े ख़राब न हो जायँ। जो बच्चा ज़मीन पर लोट रहा है, या खेल रहा है, उसे हुक्म दिया जाता है—"फ़ौरन खड़े हो जाव, तुम्हारा अच्छा अच्छा साफ़ कोट मैला हो जायगा"। हवा खाने के लिए वाहर निकलने पर यदि कोई बच्चा रास्ता छोड कर किसी टीले पर चढ़ना चाहता है तो बच्चों की देख भाल करनेवाली दाई फ़ौरन् ही चिल्ला उठती है—"अभी लौटो, तुम्हारे मोजे मैले हो जायँगे"। इससे दूनी हानि होती है। पहले तो बच्चों को सिर्फ इसलिए थोडे और बुरी वज़े क़ते के कपड़े पहनाये जाते हैं जिनमें वे अपनी माँ की तरह ख़ूबसूरत मालूम हों और जो लोग अपने घर भेंट-मुलाक़ात करने आवें वे उनकी तारीफ करें। फिर, जरा से धक्के में फटने-वाले इन कपड़ों को साफ़ सुथरा बना रखने और फटने न देने का हुक्म देकर अत्यन्त स्वाभाविक और आवश्यक खेल-कूद से बच्चे रोके जाते हैं। वदन पर कपड़े काफ़ी न होने के कारण खेलने कूदने और व्यायाम करने

काम करना मुनासिब नहीं । सब हालतों मे एक ही नियम से काम नहीं चल सकता। बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाने चाहिए जिसमे सरदी से—फिर चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो—उनकी अच्छी तरह रक्षा हो। किसी तरह के और कितने कपड़े पहनाने चाहिए, इस विषय का कोई निश्चित नियम नहीं किया जा सकता। माँ-बाप को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि जो कपड़े हम बच्चों को पहनाते हैं वे सरदी से उनका अच्छी तरह बचाव कर सकते हैं या नहीं। "बस"। यह वचन डाक्टर कोम्बी का है और बड़े महत्त्व का है। इसके महत्त्व को उन्होंने इसे बड़े बड़े अक्षरो मे लिख कर सूचित किया है। डाक्टर कोम्बी से, इस विषय मे, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता और डाक्टर सहमत हैं। जो लोग इस सम्बन्ध मे राय देने की योग्यता रखते हैं—जिन्हें इस सम्बन्ध मे कुछ कहने का अधिकार है—उनमे से एक भी आदमी हमे ऐसा नहीं मिला जिसने यह न कहा हो कि बच्चों के बदन का खुला रखना बहुत बड़ी भूल है। दुनिया में सबसे बढ़ कर यदि कोई काम ऐसा है जिसमें महाहानिकारी पुरानी रीति के छोड़ने की ज़रूरत है तो वह काम बच्चों के बदन को खुला रखना है।

३७—बच्चों के कपड़ों के विषय में मूर्खता-वश फ़्रांसवालों की नक़ल की जाती है। इससे बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं।

बच्चों की माताओं को अनर्थ-कारिणी रीतियों की दासी बन कर अपनी सन्तति की शरीर-प्रकृति को सख़्त हानि पहुँचाते देख सचमुच बड़ा अफ़सोस होता है। अपने पड़ोसियों को मूर्खता से भरी हुई रीतियों का प्रचार करते देख उनकी देखादेखी ख़ुद भी उनकी प्रत्येक मूर्खता का अनुकरण करने दौड़ना बहुत बुरी बात है। जो कपड़े वे पहनाते हैं वे बच्चों के लिए योग्य और यथेष्ट हैं या नहीं, इस बात का कुछ भी विचार न करके, नये नये तर्ज़ के कपड़ों की तसवीरें छापनेवाले फ़्रांस के अख़बारों को देख कर अपने बच्चों को माँ-बाप का भड़कदार और दिखाऊ कपड़े पहनाना अजब पागलपन है। इस तरह के कपड़ों से बच्चो को थोड़ी बहुत तकलीफ़

ज़रूर होती है । वे बहुधा बीमार पड़ जाते हैं । या तो उनकी बाढ़ रुक जाती है या शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है । कभी कभी तो उनकी अकाल-मृत्यु तक हो जाती है । ये सब आपदायें झेलनी किस लिए पड़ती हैं ? इसलिए कि सनक में आकर अपने मन-मौजीपन के कारण फ़्रांसवाले जिस कपड़े और जिस काट और नाप के कोट बनाने लगते हैं उन्हीं की नक़ल करना ज़रूरी समझा जाता है । इस तरह फ़्रांसवालों की नक़ल करके मातायें अपने बच्चों को काफ़ी कपड़े न पहना कर उन्हें दण्ड देती हैं । इस दण्ड के कारण बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं । पर माताओं को इतने ही से सन्तोष नहीं होता । वे अपने बच्चों के साथ कुछ और भी सलूक करती हैं । नक़ल करने की सनक मे आकर वे ऐसे वज़े क़ते के कपड़े बच्चों को पहनाती हैं कि बच्चों का बदन जकड़ सा जाता है । अतएव वे आरोग्यवर्धक खेल-कूद से वञ्चित हो जाते हैं । उनके बदन में कपड़े ऐसे कस कस जाते हैं कि फिर वे दौड़-धूप नहीं कर सकते । सिर्फ़ देखने में अच्छे लगने के कारण मातायें ऐसे रंगीन कपड़े पहनाती हैं जो लड़कों के प्रतिबन्धहीन खेल-कूद के तड़ाके को बरदाश्त नहीं कर सकते । फिर वे मनमाना खेल-कूद करने से बच्चों को इसलिए रोकती हैं कि कहीं कपड़े खराब न हो जायँ । जो बच्चा ज़मीन पर लोट रहा है, या खेल रहा है, उसे हुक्म दिया जाता है—"फ़ौरन खड़े हो जाव, तुम्हारा अच्छा अच्छा साफ़ कोट मैला हो जायगा" । हवा खाने के लिए बाहर निकलने पर यदि कोई बच्चा रास्ता छोड़ कर किसी टीले पर चढ़ना चाहता है तो बच्चों की देख भाल करनेवाली दाई फ़ौरन ही चिल्ला उठती है—"अभी लौटो, तुम्हारे मोजे मैले हो जायँगे" । इसमे दूनी हानि होती है । पहले तो बच्चों को सिर्फ़ इसलिए थोड़े और बुरी वज़े क़ते के कपड़े पहनाये जाते हैं जिसमें वे अपनी माँ की तरह ख़ूबसूरत मालूम हों और जो लोग अपने घर भेंट-मुलाक़ात करने आवें वे उनकी तारीफ़ करें । फिर, ज़रा से धक्के मे फटने-वाले इन कपड़ों को साफ़ सुथरा बना रखने और फटने न देने का हुक्म देकर अत्यन्त स्वाभाविक और आवश्यक खेल-कूद से बच्चे रोके जाते हैं । [illegible] पर कपड़े काफ़ी न होने के कारण खेलने कूदने और व्यायाम करने

की दूनी ज़रूरत होती है। पर वह इसलिए रोकी जाती है कि कहीं कपड़े न ख़राब हो जायँ। क्या ही अच्छा होता यदि वे लोग, जो इस बुरी रीति को नहीं छोड़ते, इसके भयङ्कर परिणामों को समझ सकते। हमें यह कहते ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता कि इस बाहरी दिखाव पर इतनी अविवेकपूर्ण श्रद्धा रखने के कारण हर साल हज़ारों आदमी अकाल ही में काल का कौर होकर, माँ के झूँठे आत्माभिमानरूपी दानव के निमित्त बलिदान होने से यदि बच भी जाते हैं, तो भी शरीरारोग्य बिगड़ जाने, शक्ति क्षीण हो जाने और रोज़गार-धन्धे में कामयाबी न होने के कारण संसार-सुख से वे हाथ ज़रूर धो बैठते हैं। इस विषय में हम कठोर उपायों की योजना की सलाह नहीं देना चाहते, पर ये आपदायें सचमुच ही इतनी गुरुतर हैं कि इन्हें दूर करने के इरादे से बापों का इस काम में हस्ताक्षेप करना मुनासिब ही नहीं, बहुत ज़रूरी भी है।

३८—कपड़ों के विषय में चार बातों का ख़याल।

अतएव यहाँ तक हमने जो प्रतिपादन किया उससे ये नतीजे निकलते हैं:—

(१) बच्चों के कपड़े कभी इतने ज़ियादह न होने चाहिए कि बहुत अधिक गरमी पैदा होने के कारण उन्हें तकलीफ़ हो, पर इतने ज़रूर हों कि साधारण तौर पर सरदी की बाधा बच्चों को न हो*।

---

* यहाँ पर यह कह देने की ज़रूरत है कि जिन लड़कों के हाथ-पैर (टाँगें और बाज़ू) शुरू से ही खुले रहते है उन्हें उनको खुले रखने की आदत पड जाती है। इसलिए उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि खुले रहने के कारण उनके हाथ पैर ठंडे है। अर्थात् ठंडे होने से उन्हें कोई तकलीफ़ होती नहीं मालूम होती। जैसे मुँह खुला रखने की आदत पड जाने से, घर के बाहर घूमने फिरने में भी, हमें अपना मुँह ठंडा नही लगता वैसे ही लड़कों को भी, आदत पड़ जाने से, हाथ-पैर ठंडे नहीं लगते, परन्तु, इन अवयवों के खुले रहने से लड़कों को सरदी यद्यपि नहीं सताती, तथापि इससे यह नहीं सूचित होता कि उनके शरीर को हानि नहीं पहुँचती। हानि ज़रूर पहुँचती है। फ्यूगो टापू के रहनेवाले नंगे वदन सरदी में घूमा करते है और उनके बदन पर वर्फ गिर गिर कर पिघला करती है। उसे वे बेपरवाही से बर-दाश्त करते है। पर क्या इससे यह नतीजा निकल सकता है कि इस तरह नंगे बदन वर्फ़ मे घूमने से उन्हे हानि नही पहुँचती? [ग्रन्थकार]

(२) रुई के, सन के, या इन दोनो के मेल से बने हुए बारीक कपड़े, जैसे कि प्रायः हमेशा बच्चों को पहनाये जाते हैं, न पहना कर मोटे ऊनी कपडे, या और उसी तरह के, पहनाने चाहिएँ जिसमे शरीर की गरमी बाहर न निकलने पावे।

(३) कपड़े ऐसे मज़बूत होने चाहिएँ कि लडके चाहे जितना खेले कूदें, उन्हें हानि न पहुँचे—न वे फटें, न घिसें।

(४) कपड़ों का रंग ऐसा होना चाहिए कि पहनने और खुला रहने से उड़ न जाय।

३८—लड़कों के शारीरिक व्यायाम की तरफ़ लोगों का ध्यान पहले ही जा चुका है।

शरीर-सञ्चालना को प्रायः सब आदमी थोड़ा बहुत महत्त्व पहले ही से देते हैं। व्यायाम, अर्थात् कसरत, करने की ज़रूरत पर उनका ध्यान जा चुका है। शारीरिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनमे से बहुतेरी बातों की अपेक्षा इस बात के विषय मे अधिक विस्तार करने की ज़रूरत नही है। कम से कम जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है वहाँ तक तो हमे ज़रूर ही बहुत कम कहना है। सरकारी और प्रजा के, दोनों तरह के, मदरसों मे लड़कों के खेलने कूदने के लिए जगहे बना दी गई हैं। और, बाहर मैदान मे दौड़ धूप के खेलों के लिए समय भी यथेष्ट दिया जाता है। इसके सिवा सब यह भी समझने लगे हैं कि इस तरह के खेल लडकों के लिए बहुत जरूरी हैं। यदि और किसी विषय मे नहीं तो इस विषय मे तो लोगों ने इस बात को जरूर ही क़बूल कर लिया जान पड़ता है कि लड़कों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने देने मे लाभ है। सवेरे और शाम को देर तक पाठ याद करने के बाद खुली हुई हवा मे लड़कों को इधर उधर खेलने कूदने के लिए छुट्टी देने की जो आज कल चाल है उससे मालूम होता है कि विद्यार्थियों की शारीरिक प्रवृत्तियों को ध्यान मे रख कर उनके अनुसार मदरसे के नियम निश्चित करने की रीति ज़ोर पकड़ती जाती है। अतएव

इस विषय मे लोगों को झाड़ फटकार बतलाने या सूचना देने की कोई वैसी ज़रूरत हमें नहीं मालूम होती।

४०—लड़कियों के लिए आरोग्यवर्द्धक व्यायाम का अभाव।

पूर्वोक्त बातें स्वीकार करने मे हमें—"जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है"—यह वाक्य लाचार होकर लिखना पड़ा है। अभाग्यवश, इस सम्बन्ध मे लड़कियों की स्थिति बिलकुल ही उलटी है। जो लड़कियाँ मदरसे मे पढ़ती हैं उनकी शारीरिक-व्यायाम-सम्बन्धिनी स्थिति लड़कों की स्थिति से बिलकुल ही भिन्न है। इस बात का विचार करके कुछ न कुछ आश्चर्य्य ज़रूर होता है कि हमें लड़कों और लड़कियों की स्थिति का मुक़ाबला करने का रोज़ मौक़ा मिलता है। एक लड़कों का मदरसा और एक लड़कियों का, दोनों, रोज़ हमारी नज़र के सामने आते हैं। इन दोनों की स्थिति एक सी नहीं। इनमें जो भेद है वह याद रखने लायक़ है। वह देखते ही ध्यान मे आ जाता है। लड़कों के मदरसे के हाते मे जो एक बड़ा बाग़ है उसका प्रायः सभी हिस्सा खुला मैदान बना दिया गया है और उस पर रेती और मुरुम कूट दिया गया है। अतएव लडकों के खेल-कूद के लिए उसमे काफ़ी जगह है। वहाँ कसरत के लिए मलखंभ हैं, बल्लियाँ हैं और उनके सिवा और भी सब तरह का सामान है। हर रोज़, सबेरे खाना खाने के पहले, फिर ग्यारह बजे, फिर दोपहर को, फिर तीसरे पहर, और फिर मदरसा बन्द होने के बाद एक बार शाम को खेलने-कूदने के लिए, लड़कों के बाहर निकलने पर, उनके एक साथ ज़ोर ज़ोर से हँसने और शोर करने से आस पास चारो तरफ़ हाहाकर मच जाता है, और जब तक वे बाहर उस मैदान मे रहते हैं तब तक हमारे कान और हमारी आँखे इस बात की गवाही देती रहती हैं कि लड़के उन आनन्ददायक खेलों मे मग्न हो रहे हैं जिनमें लीन होने से आनन्दातिरेक के कारण उनकी नाड़ी बड़े वेग से चलने लगती है और शरीर का प्रत्येक अवयव उछल-कूद से उत्तेजित होकर आरोग्यवर्धक चञ्चलता दिखाता है। परन्तु तरुण लड़-कियों की शिक्षा के लिए जो प्रबन्ध किया गया है उसका चित्र, देखिए,

कितना भिन्न है। जब तक हमसे लड़कियों के मदरसे का पता नहीं बतलाया गया तब तक हमें यही न मालूम था कि लड़कियों का मदरसा हमारे घर के उतना ही पास है जितना कि लड़कों का मदरसा है। इस मदरसे मे भी उतना ही बड़ा बाग़ है जितना कि लड़कों के मदरसे मे है। परन्तु इस बाग़ मे लड़कियों के खेल-कूद के सामान का कहीं नाम तक नहीं। परन्तु, हाँ, हरी हरी घास की कियारियों, मुरुम कुटी हुई रविशों, और अनेक तरह की बेल-बूटों और फूलों से वह खूब सजा हुआ है। शहरों के बाहर जैसे बाग़ हुआ करते हैं वह भी बिलकुल वैसा ही है। पाँच महीने तक हम बराबर इस मदरसे के पास रहे। परन्तु किसी के हँसने, बोलने या गुलगपाड़े को सुन कर एक दफ़े भी हमारा ध्यान उस तरफ़ नहीं खिँचा। कभी कभी लड़कियाँ पढ़ने की किताबे हाथ मे लिये रविशों पर घूमती हुई, या एक दूसरी के हाथ मे हाथ डाले हुए सिर्फ़ इधर उधर फिरती हुई देख पड़ती थीं। हाँ एक दफ़े एक लड़की को दूसरी लड़की के पीछे बाग़ के चारों तरफ़ दौड़ते हुए हमने जरूर देखा था। परन्तु इस एक उदाहरण के सिवा और किसी तरह का शक्तिवर्धक खेल या कसरत हमारे देखने मे नहीं आई।

४१—कृत्रिम उपायों से स्त्रियों को अशक्त, सुकुमार और डरपोक बनाना बहुत बुरा है।

इतना आश्चर्यजनक फ़रक क्यो? क्या लड़कियों की शरीर-रचना लड़कों की शरीर-रचना से इतनी भिन्न है कि लड़कियों के लिए उछल-कूद की कसरत की ज़रूरत ही नहीं है? क्या गुल-गपाड़े के खेल खेलने के लिए लडकों की तरह लड़कियो का जी ही नही चाहता? अथवा क्या यह बात है कि लडकों मे तो खेलने-कूदने की प्रवृत्ति, शरीर की बाढ पूरी होने के लिए उत्तेजनादायक समझी जाती है, परन्तु उनकी बहनों के विषय मे ख़याल किया जाता है कि प्रकृति या परमेश्वर ने उन्हें इस तरह की प्रवृत्ति पाठशाला की अध्यापिकाओं को तङ्ग करने के सिवा और किसी मतलब से दी ही नहीं? परन्तु, सम्भव है, लड़कियों को शिक्षा देनेवालों का मतलब

समझने में हम भूलते हों। हमें कुछ कुछ ऐसी शङ्का होती है कि लड़कियों का शरीर दृढ़ होने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। स्वभाव मे कड़ापन और शरीर मे विशेष शक्ति का होना लोग शायद गँवारपन समझते हैं। एक प्रकार की नज़ाकत, अर्थात् सुकुमारता, एक ही दो मील पैदल चल सकने की शक्ति, थोड़े ही मे क्षुधा की शान्ति, और कमज़ोरी का साथी डरपोकपन —ये बाते स्त्रियो के लिए भूषण समझी जाती हैं। हमे यद्यपि यह आशा नहीं कि इन बातों को साफ़ साफ़ सबके सामने कहनेवाले कोई मिलेंगे, पर हमारी समझ मे लडकियों को अपनी देख भाल में रखनेवाली स्त्रियों और अध्यापिकाओं के मन मे बहुत करके यही आता होगा कि ऐसी युवतियाँ पैदा हों जो पूर्वोक्त नमूने से बहुत कुछ मिलती जुलती हों। यदि हमारा यह ख़याल सच हो तो यह बात ज़रूर मान लेनी पड़ेगी कि पूर्वोक्त नमूने की स्त्रियाँ बनाने के लिए लड़कियों की शिक्षा का जैसा ठान ठना गया है—जैसी शिक्षा-पद्धति जारी की गई है—बहुत ही योग्य है। इस पद्धति के प्रसाद से ज़रूर उस तरह की स्त्रियाँ मदरसों की टकसाल मे ढल कर बाहर निकलेंगी, परन्तु यह ख़याल करना कि उत्तम स्त्रियों का यही नमूना है बहुत बड़ी भूल है। इस नमूने की स्त्रियों को सर्वोत्तम स्त्रियाँ समझना सख़्त ग़लती है। यह बात निःसन्देह सच है कि मर्दानी शकल-सूरत और स्वभाव की स्त्रियों की तरफ़ पुरुषों का चित्त बहुत करके आकृष्ट नहीं होता। हम इस बात को भी मानते हैं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम शक्ति होने ही से वे अपनी रक्षा के लिए अधिक शक्तिमान् पुरुषों पर अवलम्बित रहती हैं। अतएव स्त्रियों की यह अशक्तता ही उनके मनोहर होने का कारण है। स्त्रियों के अशक्त होने ही के कारण पुरुषों का चित्त उनकी तरफ़ इतना आकृष्ट होता है। परन्तु स्त्री-पुरुषों में शक्ति-सम्बन्धी जो यह फ़रक़ है, और जिसका होना पुरुष अच्छा समझते हैं, जन्म ही से होता है। वह आपही आप उत्पन्न होता है। परमेश्वर पहले ही से उसकी योजना कर देता है। अतएव कृत्रिम रीति से उसे उत्पन्न करने या बना रखने की कोशिश व्यर्थ है। इस तरह कृत्रिम उपायों से स्त्रियों में इस फ़रक़ की मात्रा यदि मनुष्य बढ़ाते जायँगे तो धीरे धीरे स्त्रियों

की सारी मनोहरता नष्ट हो जायगी और उन्हें देख कर उलटी घृणा मालूम होगी।

४२—लड़कों की तरह लड़कियों को उछल-कूद के खेल खेलने देने से लड़कियों के बड़ी होने पर उनकी शालीनता में बाधा नहीं आ सकती।

यह सुन कर औचित्य के पक्षपातियों मे से कोई शायद यह कहने दौड़ेगा कि—"तो क्या जहाँ चाहें वहाँ लड़कियों को घूमने फिरने देना चाहिए? क्या उन्हें लड़कों की तरह शरारत करने और ख़ूब ढीठ और चञ्चल होने देना चाहिए?" हम समझते हैं कि मदरसे की अध्यापिकाओं को हमेशा यही खटका लगा रहता है। दरियाफ़्त करने से हमे मालूम हुआ है कि बड़ी लड़कियों के मदरसों मे धूम-धाम और गुल-गपाड़े के खेल जो लड़के रोज़ खेला करते हैं, खेलने की मनाई है। ऐसे खेल यदि लड़कियाँ खेलें तो उन्हें सजा मिले। इस मनाई का हम यह अर्थ करते हैं कि इस तरह के खेल से लोग समझते हैं कि लड़कियों की आदत ख़राब हो जाने का डर है। अर्थात् उनकी समझ में ऐसे ऐसे खेल स्त्रियों को शोभा नहीं देते। इससे लोगों को यह खटका रहता है कि इस तरह के खेलों के कारण लड़कियों की आदत कहीं ऐसी न हो जाय जो भले घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ हो। परन्तु इस तरह के डर का कोई अर्थ नहीं। वह व्यर्थ है। क्योंकि इस तरह के खेल खेलने पर भी, बड़े होने पर, लड़के भलमनसी के ख़िलाफ़ कोई काम नहीं करते। इसके कारण उनकी शिष्टता को जरा भी धक्का नहीं पहुँचता। तब इस तरह के खेल यदि लड़कियाँ खेलें तो भलेमानसों के घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ उनकी आदतें हो जाने का क्यों डर होना चाहिए? लड़कपन मे खेल के मैदान में लड़कों ने चाहे जितने धूम-धाम और अक्खड़पन के खेल खेले हों परन्तु मदरसा छोड़ने पर, गलियों मे एक दूसरे के कन्धों पर हाथ रखकर मेंढकों की तरह उछलते या बैठक के कमरे मे गोलियाँ खेलते भी क्या किसी ने कभी उन्हें

देखा है ? मदरसा छोड़ते समय जब लड़के लड़कपन की पोशाक छोड़ देते हैं तभी वे लड़कपन के खेल कूद को भी तिलाञ्जलि दे देते हैं; और जो काम वयस्क आदमियों के अनुरूप नहीं, उनसे बचने की वे हृदय से इच्छा भी रखते हैं। इसे इच्छा नहीं, किन्तु उद्वेग कहना चाहिए। किसी किसी का उद्वेग तो इतना बढ़ जाता है कि वह कहाँ से कहाँ जा पहुँचता है। अतएव बड़े होने पर, पुरुषत्व की मर्यादा रक्षित रखने का ख़याल, यदि लड़कपन के खेलों से युवकों को बचाता है, तो क्या स्त्रीत्व की मर्य्यादा रक्षित रखने, अर्थात् अपनी स्वाभाविक लज्जा के ख़िलाफ़ कोई काम न करने, का ख़याल, जो वयोवृद्धि के साथ साथ बढ़ता है, लड़कियो को उनके लड़कपन के खेलो से न बचावेगा ? लोकाचार का ख़याल क्या पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक नही होता ? कौन बात देखने मे अच्छी लगती है कौन बुरी, इस विषय मे क्या स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा अधिक ध्यान नही देतीं ? इस कारण भद्दे और उच्छृङ्खलता के कामो को रोकनेवाले ख़याल क्या उनके मन में और भी अधिक प्रबलता के साथ न पैदा होंगे ? यह समझना कि मदरसे की अध्यापिकाओं के दबाव के बिना—उनकी ख़ूब कड़ी नज़र के बिना—स्त्रियों की स्वाभाविक शालीनता का विकास ही न होगा, कितना बड़ा पागलपन है।

४३—"जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद से बहुत अधिक लाभ होता है।

और विषयों की तरह इस विषय में भी एक प्रकार के कृत्रिम उपायों से होनेवाली हानियों से बचने के लिए दूसरे प्रकार के कृत्रिम उपायों की योजना की गई है। खेल-कूद और दौड़-धूप आदि ऐसे व्यायाम हैं—ऐसी कसरते हैं—कि उनके करने की इच्छा स्वभाव ही से बच्चो के मन में पैदा होती है। ऐसी स्वाभाविक कसरत को बन्द कर देने से जब लोगों की नज़र में बुरे परिणाम आने लगे तब उन्होंने एक और अस्वाभाविक उपाय की योजना की। स्वाभाविक कसरत को तो उन्होंने बन्द कर दिया और अस्वाभाविक कसरत, अर्थात् "जिमनास्टिक", शुरू करा दी। लड़कों से नटों की

तरह लोग कसरत कराने लगे। बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा "जिमनास्टिक" की कसरत अच्छी है। इस बात को हम मानते हैं। परन्तु इस बात को हम नहीं मानते कि उससे उतना ही लाभ होता है जितना कि खेल-कूद से। "जिमनास्टिक" मे पहले तो कितने ही प्रत्यक्ष दोष हैं। फिर उसमे कितनी ही ऐसी लाभदायक बातें नहीं हैं जिन्हे होना चाहिए। लड़कपन के खेल-कूद में लड़कों के शरीर के प्रत्येक स्नायु और पुट्ठे को गति प्राप्त होती है। दौड़ने धूपने में शरीर का कोई अवयव ऐसा नहीं जो हिलता डुलता न हो—जिसे कसरत न पड़ती हो। परन्तु "जिमनास्टिक" मे शरीर के सब अवयवो को अनेक प्रकार की गतियाँ नहीं प्राप्त होतीं। उसकी कसरत नियमित होती है। शरीर के कुछ ही स्नायु हिलते डुलते हैं। सब अवयवों को बराबर एक सी कसरत नहीं पड़ती। अतएव शरीर के कुछ ही विशेष भागो को अधिक परिश्रम पड़ने के कारण लड़के बहुत जल्द थक जाते हैं। यदि सब भागो को कसरत पड़ती तो परिश्रम सारे शरीर मे बँट जाता और थकावट भी इतना जल्द न मालूम होती। इसके सिवा "जिमनास्टिक" में एक दोष यह भी है कि शरीर के विशेष विशेष भागों ही पर बहुत दिनों तक परिश्रम का बोझ पड़ने से शरीर के सब भागो की बाढ़ बराबर नहीं होती। फिर, सारे शरीर को बराबर एक सा परिश्रम न पड़ने ही के कारण व्यायाम की मात्रा—उसकी मिक़दार—कम नहीं होती, किन्तु "जिमनास्टिक" की कसरत में लड़कों का जी न लगने के कारण भी उसके परिमाण मे कमी हो जाती है। यदि सारे शरीर को श्रम पड़े तो कसरत भी अधिक हो। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे एक तो इस कारण से कसरत कम होती है, दूसरे जी न लगने से। अत: दो तरह से वह कम हो जाती है। "जिमनास्टिक" की कसरत लड़कों को उसी तरह सिखलाई जाती है जिस तरह मदरसे मे उन्हे पाठ्य पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। अर्थात् कसरत के भी उन्हे नियमित पाठ सीखने पड़ते हैं। इससे लड़कों का मनोरञ्जन नहीं होता और बहुधा वे इस तरह की कसरत से घृणा करने लगते हैं। परन्तु यदि ऐसी कसरत घृणोत्पादक या त्रासदायक न भी हो तो भी, मनोरञ्जन न होने के कारण, बार बार नियमित रीतियों से ही शरीर को तोड़ने मरो-

ड़ते रहने से उनका जी ज़रूर ऊब उठता है। यह सच है कि परस्पर चढ़ा ऊपरी करने से शरीर के अवयवों मे एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अङ्ग की अपेक्षा अधिक सशक्त और श्रम-सहिष्णु हो जाने का हौसला दिखाता है। परन्तु अनेक प्रकार के खेल खेलने से जो आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा यह हौसला—यह उत्साह—कम देर तक ठहरता है। वह चिरस्थायी नहीं होता। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा आक्षेप—सबसे भारी एतराज़—अभी बाक़ी ही है। "जिमनास्टिक" से जो सबसे बड़ा हानि होती है वह अभी तक हमने बतलाई ही नहा। इस प्रकार की कसरत से शरीर के स्नायु और पुट्ठों को जो श्रम पड़ता है वह कम तो होता ही है; किन्तु दरजे मे भी वह बहुत हीन होता है। अर्थात् खेल-कूद के स्वाभाविक श्रम के मुक़ाबले मे वह परिमाण में भी कम होता है और दरजे में भी कम होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "जिम-नास्टिक" की कसरत में लड़कों का तादृश जी नहीं लगता। इससे वे बहुत जल्द उसे छोड़ देते हैं। इस जी न लगने—इस मनोरञ्जन न होने—से एक यह भी हानि होती है कि इस कसरत का बहुत कम असर शरीर पर पड़ता है। लोग अक्सर यह समझते हैं कि जब तक शरीर को बराबर एक सा श्रम पड़ता है तब तक इस बात के विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि लड़कों को उससे आनन्द मिलता है या नहीं—उनका मनोरञ्जन होता है या नहीं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। अनुकूल मानसिक उत्साहों का बहुत बड़ा असर पड़ता है। किसी काम के करने मे जी लगने पर जो उत्साह उत्पन्न होता है उसके असर में बहुत बड़ी शक्ति होती है। देखिए, कोई अच्छी ख़बर मिलने या किसी पुराने मित्र की मुलाक़ात होने से बीमार आदमी पर कितना असर पड़ता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि समझदार डाक्टर विशेष अशक्त रोगियों को आनन्दवृत्ति और हँसमुख आदमियों के पास बैठने उठने की कितनी सिफ़ारिश करते हैं। विचार कीजिए कि दृश्यों मे फेर-फार करने—जगह बदल देने—से जो आनन्द होता है वह आरोग्य के लिए कितना लाभदायक है। सच तो यह है कि आनन्द की प्राप्ति एक प्रकार की अत्यन्त लाभदायक पौष्टिक ओषधि है।

चित्तवृत्ति आनन्दित होने से रुधिर का अभिसरण—उसका दौरान—जल्दी जल्दी होने लगता है। इससे सारे जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलते हैं, और यदि मनुष्य के स्वास्थ्य में कोई बाधा न आई हो तो वह और भी अच्छा हो जाता है, और यदि कोई बाधा आगई हो तो वह दूर हो जाती है। इसी से "जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद की महिमा इतनी अधिक है। खेलने-कूदने मे लड़कों का वेहद जी लगता है—उससे उनका अत्यधिक मनोरञ्जन होता है। दौड़ने-धूपने और अक्खड़पन के खेल वे बड़े ही आनन्द से खेलते हैं। इस मनोरञ्जन और आनन्द का महत्त्व खेलने-कूदने से होनेवाली कसरत के महत्त्व से किसी तरह कम नहीं। दोनो से बराबर एक सा लाभ होता है। परन्तु "जिमनास्टिक" मे न तो लड़कों का मन ही लगता है और न उससे उन्हे आनन्द ही मिलता है। अतएव उसकी बुनियाद ही बुरी है—उसकी जड़ ही दोषपूर्ण है।

४४—खेल-कूद की बराबरी "जिमनास्टिक" नहीं कर सकती। खेल-कूद को रोकना मानों शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वरदत्त साधनों को रोकना है।

अतएव यदि यह बात मान ली जाय, जैसा कि हम मान लेते हैं, कि "जिमनास्टिक" से शरीर के अवयवों को जो एक प्रकार की नियमित कसरत पड़ती है वह बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा अच्छी है—और यदि यह बात भी मान ली जाय कि और और कसरतों के साथ "जिमनास्टिक" की कसरत से और कुछ न सही तो थोड़ी बहुत सहायता मिलने से विशेष लाभ होने की ज़रूर सम्भावना रहती है: तथापि हम इस बात को नहीं मानते कि जिन कसरतों को—जिन परिश्रम के कामों को—स्वभाव ही से करने को जी चाहता है उनकी बराबरी ये कृत्रिम कसरतें कर सकती हैं। खेल-कूद के जिन कामों की तरफ़ लड़कों और लड़कियों की स्वभाव ही से प्रवृत्ति होती है वे शरीर को आरोग्य रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। जो आदमी उनको रोकता है वह मानों उन

ड़ते रहने से उनका जी ज़रूर ऊब उठता है। यह सच है कि परस्पर चढ़ा ऊपरी करने से शरीर के अवयवों मे एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अङ्ग की अपेक्षा अधिक सशक्त और श्रम-सहिष्णु हो जाने का हौसला दिखाता है। परन्तु अनेक प्रकार के खेल खेलने से जो आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा यह हौसला—यह उत्साह—कम देर तक ठहरता है। वह चिरस्थायी नहीं होता। इस सम्बन्ध मे सबसे बड़ा आक्षेप—सबसे भारी एतराज़—अभी बाक़ी ही है। "जिमनास्टिक" से जो सबसे बड़ा हानि होती है वह अभी तक हमने बतलाई ही नहा। इस प्रकार की कसरत से शरीर के स्नायु और पुट्ठों को जो श्रम पड़ता है वह कम तो होता ही है; किन्तु दरजे मे भी वह बहुत हीन होता है। अर्थात् खेल-कूद के स्वाभाविक श्रम के मुक़ाबले मे वह परिमाण में भी कम होता है और दरजे में भी कम होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "जिम-नास्टिक" की कसरत में लड़कों का तादृश जी नहीं लगता। इससे वे बहुत जल्द उसे छोड़ देते हैं। इस जी न लगने—इस मनोरञ्जन न होने—से एक यह भी हानि होती है कि इस कसरत का बहुत कम असर शरीर पर पड़ता है। लोग अक्सर यह समझते हैं कि जब तक शरीर को बराबर एक सा श्रम पड़ता है तब तक इस बात के विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि लड़कों को उससे आनन्द मिलता है या नहीं—उनका मनोरञ्जन होता है या नहीं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। अनुकूल मानसिक उत्साहों का बहुत बड़ा असर पड़ता है। किसी काम के करने मे जी लगने पर जो उत्साह उत्पन्न होता है उसके असर में बहुत बड़ी शक्ति होती है। देखिए, कोई अच्छी ख़बर मिलने या किसी पुराने मित्र की मुलाक़ात होने से बीमार आदमी पर कितना असर पड़ता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि समझदार डाक्टर विशेष अशक्त रोगियों को आनन्दवृत्ति और हँसमुख आदमियों के पास बैठने उठने की कितनी सिफ़ारिश करते हैं। विचार कीजिए कि दृश्यों में फेर-फार करने—जगह बदल देने—से जो आनन्द होता है वह आरोग्य के लिए कितना लाभदायक है। सच तो यह है कि आनन्द की प्राप्ति एक प्रकार की अत्यन्त लाभदायक पौष्टिक ओषधि है।

चित्तवृत्ति आनन्दित होने से रुधिर का अभिसरण—उसका दौरान—जल्दी जल्दी होने लगता है। इससे सारे जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलते हैं, और यदि मनुष्य के स्वास्थ्य में कोई बाधा न आई हो तो वह और भी अच्छा हो जाता है, और यदि कोई बाधा आगई हो तो वह दूर हो जाती है। इसी से "जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद की महिमा इतनी अधिक है। खेलने-कूदने में लड़कों का बेहद जी लगता है—उससे उनका अत्यधिक मनोरञ्जन होता है। दौड़ने-धूपने और अक्खड़पन के खेल वे बड़े ही आनन्द से खेलते हैं। इस मनोरञ्जन और आनन्द का महत्त्व खेलने-कूदने से होनेवाली कसरत के महत्त्व से किसी तरह कम नहीं। दोनों से बराबर एक सा लाभ होता है। परन्तु "जिमनास्टिक" में न तो लड़कों का मन ही लगता है और न उससे उन्हें आनन्द ही मिलता है। अतएव उसकी बुनियाद ही बुरी है—उसकी जड़ ही दोषपूर्ण है।

४४—खेल-कूद की बराबरी "जिमनास्टिक" नहीं कर सकती। खेल-कूद को रोकना मानों शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वरदत्त साधनों को रोकना है।

अतएव यदि यह बात मान ली जाय, जैसा कि हम माने लेते हैं, कि "जिमनास्टिक" से शरीर के अवयवों को जो एक प्रकार की नियमित कसरत पड़ती है वह बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा अच्छी है—और यदि यह बात भी मान ली जाय कि और और कसरतों के साथ "जिमनास्टिक" की कसरत से और कुछ न सही तो थोड़ी बहुत सहायता मिलने से विशेष लाभ होने की ज़रूर सम्भावना रहती है; तथापि हम इस बात को नहीं मानते कि जिन कसरतों को—जिन परिश्रम के कामों को—स्वभाव ही से करने को जी चाहता है उनकी बराबरी ये कृत्रिम कसरतें कर सकती हैं। खेल-कूद के जिन कामों की तरफ़ लड़कों और लड़कियों की स्वभाव ही से प्रवृत्ति होती है वे शरीर को आरोग्य रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। जो आदमी उनको रोकता है वह मानों उन

साधनों को रोकता है जिन्हें शरीर की बाढ़ के लिए परमेश्वर ने निर्दिष्ट किया है।

४५—हम लोग अपने पूर्वजों की अपेक्षा कम शक्ति रखते हैं और हमारी सन्तति में हमसे भी अधिक अशक्त होने के लक्षण देख पड़ते हैं।

अभी एक और विषय पर विचार करना बाक़ी है। वह विषय ऐसा है कि जिन विषयों का यहाँ तक ज़िक्र हुआ उनमे शायद वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहुत आदमी यह कहा करते हैं कि पढे लिखे लोगों में वयस्क या प्रायः वयस्क नव-युवक अपनी पहली पीढ़ी के नव-युवकों की अपेक्षा कम मज़बूत होते हैं और बाढ़ भी उनकी पूर्व पीढ़ी के युवकों की ऐसी अच्छी नहीं होती। पहले पहल जब हमने लोगों को यह कहते सुना तब हमे यह ख़याल हुआ कि सारी पुरानी बातो को अच्छा और नई बातों को बुरा कहने की जो पूर्वापर चाल चली आती है वही इस तरह के एक-पक्षीय मत का कारण होगी। क्योकि पुराने ज़िरहो अर्थात् भिलम-कवचों को नापने से मालूम होता है कि उस समय के आदमियों की अपेक्षा आज कल के आदमी डील डौल में बड़े होते हैं*। इसके सिवा मृत्युसंख्या का हिसाब देखने से यह भी मालूम होता है कि पहले की अपेक्षा आज कल लोगों की उम्र कम नहीं, किन्तु कुछ अधिक ही होती है। इन सब बातों का विचार करके हमे लोगों की पूर्वोक्त राय ठीक नहीं मालूम हुई। अतएव हमने उसकी तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। परन्तु इस विषय के प्रत्येक अंश का जब हमने अच्छी तरह बारीक तौर से विचार किया तब हमें अपनी राय बदलने की ज़रूरत पड़ी। लोगों की पूर्वोक्त बात को पहले हमने अन्ध-विश्वास के आधार पर स्थित समझा था। परन्तु खूब विचार करने पर हमें अपना यह ख़याल ग़लत मालूम होने लगा। मेहनत मज़दूरी

---

* हिन्दुस्तान के विषय मे स्पेन्सर का यह खयाल ठीक नही मालूम होता।

अनुवादक

करनेवाले आदमियों को छोड़ कर और लोगों मे हमने बहुत से उदाहरण ऐसे देखे हैं जिनमे लड़के अपने माँ-बाप की बराबर क़द मे ऊँचे नहीं होते और उम्र की न्यूनाधिकता को हिसाब में ले कर देखने से हमे यह भी मालूम हुआ है कि अपने माँ-बाप की अपेक्षा आज कल के लड़कों का आकार भी छोटा ही होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि आज कल के आदमी पुराने आदमियों के बराबर फ़स्द नहीं ले सकते। जितना ख़ून पुराने आदमी फ़स्द खुला कर निकलवा सकते थे उतना ख़ून निकलना आज कल के लोग नहीं बरदाश्त कर सकते। असमय मे ही खल्वाट हो जाना—बुड्ढे होने के पहले ही सिर के बालों का गिर जाना— पहले की अपेक्षा अब अधिक देखा जाता है। आज कल इतनी थोड़ी उम्र मे लोगों के दाँत गिर जाते हैं कि उसका ख़याल करके आश्चर्य होता है। साधारण शक्ति का मुक़ाबला करने से भी वैसा ही आश्चर्य-जनक अन्तर देख पड़ता है। पुराने ज़माने के आदमी आज कल के आदमियो की तरह मिताहारी न थे। वे मन-मौजी थे। जो कुछ जी चाहता था खाते थे और जहाँ कहीं जी चाहता था जाते थे। मिथ्याहार-विहार की उन्हें कुछ भी परवा न थी। तथापि वे अधिक मेहनत कर सकते थे। मेहनत के काम कर सकने की उनमें अधिक शक्ति थी। एक पीढ़ी पहले के हमारे पूर्वज ख़ूब नशा करते थे, समय के बिलकुल पाबन्द न थे, स्वच्छ हवा की भी उन्हें कोई परवा न थी, सफ़ाई का भी उन्हे बहुत कम ख़याल था, तथापि बुड्ढे होने तक, बिना बीमार पड़े या आरोग्य को और किसी तरह की हानि पहुँचाये, देर तक मेहनत कर सकते थे। उदाहरण के तौर पर जजों और विकालत का पेशा करनेवालों ही की दिनचर्य्या का विचार करने से हमारे इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी। हम लोगो को जरा देखिए तो सही। हम अपनी शरीर-रक्षा की हमेशा फ़िक्र में रहते हैं, खाना-पीना भी अपना परिमित रखते हैं; बहुत अधिक नशा-पानी भी नहीं करते, साफ़ हवा का भी हमेशा ख़याल रखते हैं; नहाते धोते भी अधिक हैं, हर साल सैर-सपाटे के लिए बाहर भी जाया करते हैं, और वैद्य-विद्या के विशेष प्रचार से दवा-पानी का सुभीता भी हमे अधिक है—तथापि प्रति दिन हम काम के बोझ से बराबर कुचले जा रहे

हैं। हमारे पिता और पितामह आदि पूर्वज स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों को, कितने ही विषयो मे, तोड़ते थे। परन्तु, उन नियमों की यद्यपि हम बहुत अधिक परवा नहीं करते हैं, तथापि अपने पूर्वजों की अपेक्षा हम कमज़ोर मालूम होते हैं। और, आगामी पीढी के युवकों की शकल-सूरत और उनके बार बार बीमार पड़ने से यही मालूम होता है कि वे हम लोगो की अपेक्षा अधिक कमज़ोर निकलेगे।

४६—शरीर-सम्बन्धी दोषों के कारणों में से मानसिक श्रम की अधिकता प्रधान कारण है।

इसका अर्थ क्या है? ऐसा क्यो होता है? हम कह चुके हैं कि आज कल बच्चों को खूब पेट भर खिलाने की तरफ़ लोगों का कम ध्यान है। परन्तु, पुराने ज़माने मे, बडे भी और लड़के भी, दोनों, खूब डट कर खाते थे। तो क्या इससे यह समझना चाहिए कि पहले का आकण्ठ-भोजन आज कल के परिमित भोजन की अपेक्षा कम हानिकारक था? अथवा क्या यह समझना चाहिए कम कपडे-लत्ते पहना कर लड़कों को खूब मज़बूत बनाने का जो भ्रमपूर्ण सिद्धान्त लोगों ने निश्चित किया है वह इसका कारण है? अथवा क्या यह, झूठी शिष्टता और सफ़ाई सुथराई के ख़याल से लडकपन के खेल-कूद को कुछ न कुछ रोक देने का फल है? जो कारण हमने बतलाये हैं—जो दलीलें हमने पेश की हैं—उनसे तो यही नतीजा निकलता है कि इन बातों मे से कुछ न कुछ प्रत्येक बात इन अनर्थों का कारण है*। परन्तु एक और भी हानिकारी कारण अपना काम कर रहा है। यह कारण औरों से अधिक बलवान् है। इससे हमारा मतलब मानसिक श्रम की अधिकता से है।

---

* टीका लगाने से शारीरिक रोग कुछ दिनों के लिए दब जाते है, परन्तु इस तरह दबे हुए रोग फिर किसी न किसी समय ज़रूर पैदा हो जाते है। हमें इस बात का निश्चय तो नहीं है, पर, बहुत सम्भव है, इन अनर्थों का थोड़ा बहुत कारण यही हो। रोगनिदान-विद्या की कुछ बातों का विचार करने से इस तरह का नतीजा निकलता

४७—बहुत अधिक मेहनत करने से पिता को शरीर-प्रकृति बिगड़ जाती है। इससे उसकी सन्तति भी अशक्त होती है।

आज कल के उद्योग-धन्धे ऐसे हैं कि उनका बोझ दिन दिन बढ़ता जाता है और उनके कारण तरुण और बूढ़े सबको खींचा खींच में फँसना पड़ता है। जितने रोज़गार हैं—जितने पेशे हैं—सबमें चढ़ा ऊपरी की मात्रा बढ़ती ही जाती है। अतएव हर एक वयस्क आदमी की मानसिक शक्तियों पर पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक दबाव पडता है। इस तरह की विकट चढा ऊपरी के ज़माने में अपने उद्योग-धन्धे को हानि से बचाने—हर एक बात में औरों के मुक़ाबले मे हार न खाने—के लिए नवयुवकों को शिक्षा देने में उनके साथ अब अधिक सख़्ती की जाती है। इससे उन्हें दोहरी हानि उठानी पड़ती है। पिता को अनेक चढ़ा ऊपरी करनेवालों का मुक़ाबला करने मे बेहद तंग होना पड़ता है। इस तरह की आपदाये भोग करते हुए भी उसे अच्छी तरह खाने पीने और रहने के लिए पहले से अधिक ख़र्च करना पडता है। अतएव उस बेचारे को साल भर सुबह शाम, अबेर-सबेर, सारा दिन काम ही करते बीतता है। घूमने, फिरने और व्यायाम करने के

जरूर है। जब किसी बच्चे के टीका लगाया जाता है तब टीके की जगह पड़े हुए आबलो से विषाक्त मवाद बाहर निकलता है। इस मवाद के साथ शरीर के भीतर जमा हुआ और भी रोगजनक मवाद निकलना चाहता है। इस तरह का रोगजनक मवाद यदि त्वचा या रोमकूपों के मुँह से निकलने लायक होता है तो वह और भी टीके के मवाद के साथ निकलना चाहता है। और, बहुत ही उपद्रवकारी मवाद कुछ ऐसे भी हैं जो त्वचा के रास्ते निकल सकते हैं। किसी किसी बच्चे के शरीर में इस तरह का विषाक्त विकार इतना कम होता है कि वह बीमारी के रूप में प्रकट नहीं हो सकता। अतएव टीका लगानेवालो या और लोगों को उसके होने का ज्ञान ही नहीं होता। इस दशा में ऐसे बच्चों के शरीर से लिये गये टीके के "लिंफ" के साथ वह रोगमूलक विषाक्त विकार और बच्चों के शरीर में भी प्रवेश पा सकता है और उनके "लिंफ" से दूसरों के शरीर मे भी पहुँच सकता है। इस तरह एक बच्चे का विकार अनेको को रोगी कर सकता है। ग्रन्थकार।

लिए उसे बहुत ही कम समय मिलता है। छुट्टियाँ भी उसे थोड़ी ही मिलती हैं। इस तरह शक्ति के बाहर बराबर काम करते रहने से उसके शरीर में घुन लग जाता है। अतएव उसकी सन्तति भी वैसी ही अशक्त होती है। यह सन्तति, अशक्त होने के कारण, परिश्रम के साधारण कामों से ही थक जाने को पहले ही से तैयार रहती है। तिस पर भी, गत पीढ़ियों के सुदृढ और सशक्त बच्चों के लिए नियत की गई शिक्षा-पद्धति से भी चार अंगुल अधिक लम्बी चौड़ी शिक्षा-पद्धति का उससे अभ्यास कराया जाता है।

४८—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से हानियाँ।

इस दुरवस्था के परिणाम बहुत भयङ्कर होते हैं और वे ऐसे नहीं कि छिपे हों। सब कहीं वे देख पड़ते हैं। आप जहाँ चाहिए जाइए। थोडी ही देर मे आपको छोटे बड़े, सब तरह के, लडके लड़कियाँ देख पड़ेगी, जिनकी शरीर-प्रकृति अधिक विद्याभ्यास के कारण थोड़ी बहुत ज़रूर बिगड़ी होगी। शक्ति से बाहर अभ्यास करने से पैदा हुई अशक्तता को दूर करने के लिए कहीं कोई लड़का आपको ऐसा मिलेगा ज़िसका पढ़ना एक वर्ष के लिए बन्द कर दिया गया है। कहीं कोई लड़का ऐसा देख पडेगा जिसका दिमाग़ बिगड़ गया है—जिसके दिमाग़ में ख़ून जमा होगया है। इस रोग से वह कई महीने से पीड़ित है और जल्द अच्छे होने के अभी कोई लक्षण भी नहीं हैं। कहीं आप सुनेंगे कि किसी कारण से मदरसे मे चित्त को बहुत अधिक उत्ताप पहुँचने से किसी लड़के को बुख़ार आ रहा है। कहीं आपको इस तरह का उदाहरण मिलेगा कि एक दफ़े अमुक लड़के को कुछ समय के लिए पढ़ना बन्द करना पड़ा, परन्तु दुबारा मदरसे मे भरती होने पर अब उसकी यह दशा है कि मूर्च्छा आ जाने के कारण बार बार उसे दरजे से उठा लाना पड़ता है। ये घटनाये सब सच्ची हैं—बनावटी नही। इनको हमें ढूँढ़ना नहीं पड़ा। किन्तु गत दो वर्षों में ये घटनायें आपही आप हमारे देखने में आई हैं। और, ये बहुत दूर की भी नही हैं; पास ही की हैं। यह भी न समझिए कि यह सूची इतनी ही है। नहीं, अभी और भी कितनी ही घटनायें इसमें दर्ज हैं। अभी थोड़े ही दिन की बात है जब हमें इस बात के

देखने का मौक़ा मिला कि ये अनर्थकारी आपदायें किस तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक वंशपरम्परा से चली जाती हैं। एक स्त्री थी। उसके माँ-बाप ख़ूब सशक्त और नीरोग थे। वह स्काटलेंड के एक मदरसे में पढने के लिए भेजी गई। उस मदरसे के विद्यार्थियों के लिए एक बोर्डिङ्ग-हाउस (छात्रावास) भी था। वहाँ उससे काम तो बहुत अधिक लिया जाता था, पर खाने को उसे कम दिया जाता था। इस कारण उसकी शरीर-प्रकृति इतनी बिगड़ गई—उसका स्वास्थ्य यहाँ तक ख़राब हो गया—कि सबेरे बिछौने से उठने पर उसे चक्कर आता है; उसका सिर घूमने लगता है। इसका यह नतीजा हुआ कि उसके लड़कों को भी यही बीमारी हो गई। उनका भी दिमाग़ कमज़ोर हो गया। अब उसके कई एक लड़कों की यह दशा है कि पढ़ने लिखने में साधारण श्रम करने से भी या तो उनका सिर दर्द करने लगता है या उन्हें चक्कर आने लगता है। आज कल हम एक ऐसी तरुण स्त्री को रोज देखते हैं जिसकी शरीर-प्रकृति, कालेज मे अपना विद्याभ्यास पूर्ण करने की बदौलत, जन्म भर के लिए बिगड़ गई है। उसे कालेज मे इतनी मेहनत करनी पड़ती थी—उसे विद्याभ्यास का इतना बोझ उठाना पडता था—कि घूमने फिरने या और किसी तरह का व्यायाम करने की उसमे शक्ति ही न रह जाती थी। अब उसका विद्याभ्यास पूरा हो चुका है। परन्तु एक न एक बात की शिकायत उसे बनी ही रहती है। उसे अच्छी तरह भूख ही नहीं लगती और जितनी लगती है वह भी समय पर नहीं लगती। मांस वह बहुधा बिलकुल ही नहीं खाती। गरमी के मौसिम मे भी उसके हाथ-पैर की उँगलियाँ ठंडी रहती हैं। कमज़ोर वह इतनी हो गई है कि बहुत ही धीरे धीरे चल सकती है। ज़रा भी जल्दी चलने की शक्ति उसमे नहीं। फिर, जो कुछ वह चल सकती है सो भी थोड़ी ही देर तक। धीरे धीरे भी वह देर तक नहीं चल सकती। ज़ीने पर चढने से उसका दिल धड़कने लगता है—उसका दम फूल उठता है। दृष्टि उसकी बहुत ही मन्द हो गई है। बाढ़ उसकी रुक गई है। टाँगे और पुट्ठे सब ढीले पड गये हैं। ये सब आपदायें उसे शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने के कारण भोगनी पड़ती हैं। उसकी एक सखी है। वह भी उसी के साथ साथ

कालेज मे पढ़ती थी। उसकी भी यही दशा है। वह भी ऐसी ही कमज़ोर है। बहुत शान्त-स्वभाव की मित्रमण्डली मे बैठने से भी उसे इतना उत्ताप होता है कि मूर्छा आने की नौबत पहुँच जाती है। आख़िर को अब उसके डाक्टर ने उसे पढ़ने लिखने की बिलकुल ही मनाई कर दी है।

४८—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से होनेवाली दृश्य हानियों की अपेक्षा अदृश्य हानियाँ अधिक होती हैं।

अतएव शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से यदि इतने बडे बड़े अपाय होते हैं तो न मालूम छोटे छोटे कितने अपाय, जिन्हें आदमी आँखों से नहीं देख सकता, होते होंगे। बहुत मेहनत करने से प्रत्यक्ष बीमार पड जाने का यदि एक उदाहरण होगा, तो, सम्भव है, आधे दर्जन उदाहरण ऐसे होंगे, जिनमे होनेवाली हानियाँ प्रत्यक्ष न देख पड़ती होंगी, किन्तु धीरे धीरे शरीर मे इकट्ठी होती जाती होंगी। अर्थात् ऐसे अदृश्य उदाहरण ज़रूर होंगे जिनमें शारीरिक अशक्तता या और किसी विशेष कारण से मनुष्य के इन्द्रिय-व्यापार अच्छी तरह न चलते होंगे, अथवा शरीर की बाढ़ धीरे धीरे कम होकर असमय मे ही बन्द हो जाती होगी; अथवा छिपे हुए क्षयी रोग के बीज धीरे धीरे अंकुरित होकर रोग को प्रत्यक्ष पैदा कर देते होंगे, अथवा जवानी में अधिक मेहनत पड़ने के कारण दिमाग़ से सम्बन्ध रखनेवाले जो रोग बहुधा हो जाया करते हैं उनके होने के लक्षण पहले ही से देख पड़ते होंगे। अनेक प्रकार के पेशे और व्यापार-धन्धे में बहुत अधिक मेहनत करनेवाले वयस्क आदमी भी बार बार बीमार पड़ा करते हैं। इसको ध्यान में रख कर जो लोग उन विशेष अधिक हानिकारी परिणामों का विचार करेंगे जो शक्ति के बाहर मेहनत करने से बच्चों के अपरिपक्व शरीर को भोगने पड़ते हैं उन्हे यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी कि इस कारण से सर्व-साधारण के स्वास्थ्य की जड़ पर किस तरह कुठाराघात हो रहा है। अच्छे जवान आदमियों की तरह लड़के न तो तकलीफ ही बरदाश्त कर सकते हैं, न शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं, और न मानसिक परिश्रम ही के काम कर सकते हैं। अब आप ही विचारिए कि यदि बहुत अधिक मानसिक

परिश्रम के काम करने से अच्छे अच्छे जवान आदमियों को अनेक आपदायें प्रत्यक्ष भोगनी पडती हैं, तो बहुधा उतना ही मानसिक परिश्रम करनेवाले लड़कों को कितनी आपदायें भोगनी पड़ती होंगी—कितना कष्ट उठाना पडता होगा !

५०—इँगलिस्तान के लड़कियों के मदरसों की व्यवस्था की तफ़सील और उसके भयङ्कर परिणाम ।

मदरसों में जो निर्दय क़वायद बच्चों से बहुधा बलपूर्वक ली जाती है—जिस कठोर शिक्षा-पद्धति का अनुसरण उनसे अक्सर कराया जाता है—उसकी जाँच करने पर, यह जान कर कि उससे बच्चों को अत्यन्त हानि पहुँचती है, हमे आश्चर्य नही होता । आश्चर्य तो हमे इस बात का विचार करके होता है कि उसे बच्चे बरदाश्त कैसे करते हैं । बहुत कुछ जाँच-पड़ताल के बाद, अपनी आँख से देखी हुई बातों के आधार पर, सर जान फार्ब्स ने सारे इँगलिस्तान के मँझले दरजे के लड़कियो के मदरसे की व्यवस्था का जो हिसाब दिया है उसका विचार कीजिए। उनका दिया हुआ २४ घटे का खुलासा इस प्रकार है । इस हिसाब में हमने मिनिट आदि की तफ़सील छोड दी है:—

सोना	९ घटे (बहुत छोटे बच्चे १० घंटे)
मदरसे मे लिखना पढ़ना या बताये हुए और कोई काम करना	९ घटे
मदरसे में या घर पर बड़े बच्चों ने इच्छानुसार पढना लिखना या काम करना और छोटे बच्चों ने खेलना	३½ घंटे
भोजन	१½ घटे
साफ़ हवा में घूमने फिरने के रूप में कसरत करना । इस समय भी पुस्तके बहुधा हाथ में लिये रहना । यह भी नियत समय पर, यदि मौसिम अच्छा हो तो ।	१ घंटा
	२४ घंटे

सर जान फार्ब्स इस पद्धति को विलक्षण कठोर शिक्षा-पद्धति कहते हैं। अच्छा, अब इस बात का विचार कीजिए कि ऐसी कठोर पद्धति के नतीजे क्या होते हैं? अशक्तता, तेजोहानि, उदासीनता और हमेशा रोगी बने रहना। इनके सिवा और क्या नतीजे होंगे? परन्तु फार्ब्स साहब कुछ और भी बतलाते हैं। वे कहते हैं कि मानसिक शिक्षा की प्राप्ति में बहुत अधिक ध्यान देने के कारण शरीर को नीरोग रखने के विषय मे अत्यन्त असावधानी की जाती है। अर्थात् दिमाग़ से बहुत अधिक काम लिया जाता है और शरीर से बहुत ही कम। फार्ब्स साहब ने इस अव्यवस्था को जो जाँच की तो उन्हे मालूम हुआ कि इसके कारण इन्द्रियाँ अपने अपने काम अच्छी तरह नही कर सकती। यही नहीं, किन्तु इससे कुरूपता भी आ जाती है—शरीर मे किसी न किसी तरह का व्यङ्ग पैदा हो जाता है। वे कहते हैं:—"अभी हाल में हमने एक बड़े क़सबे मे लड़कियों का एक मदरसा देखा। उसमे ४० लड़कियाँ थीं। उनके खाने-पीने का भी प्रबन्ध वहीं मदरसे ही की तरफ़ से होता था। हमने अच्छी तरह सही सही जाँच की तो मालूम हुआ कि उन ४० लड़कियों में से एक भी लड़की ऐसी नहीं जो दो वर्ष तक उस मदरसे मे रही हो और उसकी कमर थोड़ी बहुत न झुक गई हो। और जितनी लड़कियाँ उसमें थीं प्राय. सभी दो वर्ष तक रह चुकी थीं"।

५१—एक मुदर्रिसों के मदरसे का और भी बुरा शिक्षा-क्रम।

फार्ब्स साहब ने अपनी इस जाँच का हाल १८३३ ईसवी मे लिखा था। सम्भव है, तब से इस विषय मे कुछ सुधार हुआ हो, और हमे विश्वास है कि ज़रूर हुआ है। परन्तु पूर्वोक्त शिक्षा-पद्धति अब भी बहुत जगह वैसी ही जारी है। नहीं, कहीं कहीं तो यह पद्धति पहले की भी अपेक्षा अधिक दूषित हो गई है। इसे अटकल न समझिए। इस बात को हम अपने निज के तजरिबे से कहते हैं। अभी कुछ ही दिन हुए हम एक नार्मल स्कूल देखने गये। मदरसों में पढ़ाने के लिए अच्छे अच्छे

मुदर्रिस मिले, इसलिए आज कल कितने ही मदरसे खोले गये हैं। यह मदरसा इसी तरह का था। इसमें जवान जवान लडके पढ़ते थे। यह सरकारी मदरसा था और सरकार ही के नियत किये गये अध्यापक भी इसमें थे। अतएव हम समझे थे कि ग़ैर-सरकारी मदरसो की अध्यापिकाओं के निश्चित किये हुए क्रम की अपेक्षा इसका क्रम अच्छा होगा। परन्तु वहाँ हमने हर रोज़ का क्रम इस प्रकार पाया:—

६ बजे विद्यार्थी उठाये जाते हैं।

७ से ८ बजे तक पढ़ना।

८ से ९ तक धर्म्म-पुस्तक का पाठ, भजन और भोजन।

९ से १२ तक फिर विद्याभ्यास—पढ़ना, लिखना आदि।

१२ से १ १/४ तक छुट्टी। यहाँ छुट्टी नाम-मात्र के लिए घूमने फिरने या और किसी व्यायाम के लिए दी जाती है। परन्तु बहुत करके इस समय भी लड़के पढ़ने ही मे लगे रहते हैं।

१ १/४ से २ तक दोपहर का भोजन। इसमें बहुत करके २० मिनट लगते हैं।

२ से ५ तक फिर पढ़ना, लिखना।

५ से ६ तक चाय-पानी और विश्राम।

६ से ८ १/२ तक फिर विद्याभ्यास।

८ १/२ से ९ १/२ तक अगले दिन के पाठ तैयार करने के लिए अपने आप, विना अध्यापक की मदद के, अभ्यास करना।

१० बजे सो जाना।

इस प्रकार चौबीस घंटे मे से आठ घंटे सोने के लिए हैं, सवा चार घंटे कपडे पहनने, भजन-पूजन करने, भोजन करने और कुछ देर आराम करने के लिए हैं, साढे दस घंटे पढ़ने लिखने के लिए हैं, और सवा घंटा कसरत के लिए है, जिसका करना या न करना लड़कों की इच्छा पर छोड़ दिये जाने के कारण बहुधा कोई करता ही नहीं। परन्तु विद्याभ्यास के लिए जो साढे दस घंटे रक्खे गये हैं उनमें कसरत के लिए नियत किया गया समय मिला कर उस काम के लिए बहुधा साढे ग्यारह घंटे कर दिये जाते हैं।

इतना ही नहीं, कोई कोई लड़के तो अपना पाठ तैयार करने के लिए सवेरे चार बजे उठते हैं और अध्यापक लोग उन्हें ऐसा करने के लिए सचमुच ही उत्तेजित करते हैं। एक नियमित समय में लड़कों को बहुत अधिक विद्याभ्यास करना पड़ता है। फिर सब विषयों की परीक्षा में लड़कों के अच्छी तरह पास हो जाने ही पर अध्यापकों की नेकनामी अवलम्बित रहती है। अतएव वे भी लड़कों को नियत समय से भी अधिक देर तक पढ़ने के लिए उत्साहित किया करते हैं। इससे क्या होता है कि रोज़ बारह बारह तेरह तेरह घंटे पढने के लिए अध्यापक महाशय लड़कों को बार बार उत्तेजना दिया करते हैं।

५२—पूर्वोक्त मदरसे के विद्यार्थियों को होनेवाली बीमारियाँ।

इस बात के बतलाने के लिए किसी भविष्यद्वक्ता या ज्योतिषी की ज़रूरत नहो कि इस तरह की शिक्षा-पद्धति से विद्यार्थियो के आरोग्य को भारी धक्का पहुँचेगा। जैसा कि उस मदरसे मे रहनेवाले एक आदमी ने हमसे बयान किया, जिन लड़कों का रंग मदरसे मे भरती होते समय लाल और सतेज होता है उनका रंग वहाँ रहने से बहुत जल्द पाण्डुवर्ण और निस्तेज हो जाता है। लडके बहुधा बीमार रहा करते हैं, कुछ लडकों के नाम हमेशा बीमारों की फ़हरिश्त में लिखे रहते हैं। भूख न लगना और अजीर्ण बना रहना रोज़ की शिकायते हैं। अतीसार और संग्रहणी का बड़ा ज़ोर रहता है—इतना कि बहुधा एक तिहाई विद्यार्थी एकही साथ इन बीमारियों से पीड़ित रहते हैं। बहुतो का सिर दर्द किया करता है। कुछ लड़के तो महीनों सिर के दर्द से दुखी रहते हैं। फ़ी सैकड़ा कुछ लडकों का शरीर यहाँ तक रोगी हो जाता है कि बीच ही में मदरसा छोड कर उन्हें अपने घर चला जाना पड़ता है।

५३—यह इस मदरसे के अधिकारियों की निर्दयता अथवा शोकजनक मूर्खता का प्रमाण है।

यह मदरसा और मदरसों के लिए एक तरह का नमूना है। यह एक

आदर्श पाठशाला है । इसे इस समय के उन विद्वानों ने खोला है जिन्होंने सर्वोत्तम शिक्षा पाई है और वही इसकी देख-भाल भी करते हैं । ऐसे आदर्श विद्यालय में—ऐसे नमूनेदार मदरसे मे—इस तरह की दुरवस्था का होना सचमुच ही बहुत बडे विस्मय की बात है । परीक्षाये बेहद कठोर होती हैं । तिस पर भी उनकी तैयारी के लिए बहुत थोड़ा समय दिया जाता है । इससे, बेहद सख़्त मेहनत पड़ने के कारण, परीक्षार्थी उम्मेदवारों का आरोग्य—उनका स्वास्थ्य—बिलकुल ही बिगड जाता है । यह इस बात का प्रमाण है कि जिन लोगों ने इस तरह की दूषित शिक्षा-पद्धति प्रचलित की है वे यदि निर्दयी नहीं तो मूर्ख ज़रूर हैं, और मूर्ख भी कैसे कि उनकी मूर्खता का खयाल करके शोक होता है ।

५४—शिक्षा-पद्धति को विशेष कठोर करने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति का प्रमाण ।

यह उदाहरण बहुत करके अपवादात्मक है—यह मिसाल बतौर मुस्तसना के है । इसी तरह के और जो मदरसे हैं उन्हीं के विद्यार्थियों को बहुत करके ऐसी आपदाये भोगनी पडती होंगी । परन्तु ऐसे शोचनीय उदाहरणो का होना ही इस बात का क्या कम सबूत है कि आज कल के लडके मानसिक श्रम से पिसे जा रहे हैं ? इस तरह के कालेजों का स्थापित किया जाना ही यह बतला रहा है कि शिक्षित आदमियो का समुदाय उनकी ज़रूरत समझता है । इससे यही सूचित होता है कि इस तरह की कठोर शिक्षा-पद्धति इस समय के विद्वानों को पसन्द है । अतएव, यदि और कोई सबूत न हो, तो भी, सिर्फ़ इस इतने ही सबूत से, यह बात साबित है कि आज कल लोग शिक्षा-पद्धति को बहुत अधिक कठोर करने की तरफ झुके हुए हैं ।

५५—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से बचपन में भी हानि होती है और जवानी में भी ।

बहुत छोटी उम्र में पढने लिखने मे शक्ति के बाहर मेहनत करने से बच्चों

को जो हानि पहुँचने का डर रहता है उसे तो सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। परन्तु इस बात का विचार करके आश्चर्य होता है कि बड़े होने पर, जवानी मे, बहुत अधिक मेहनत करने से लड़कों को जो हानियाँ होती हैं उनका सब लोग बहुत ही कम ख़याल करते हैं। थोड़ी उम्र मे लड़कों के शरीर की अप्राप्तकालिक पूर्णता से जो अनर्थ होते हैं उसका थोड़ा बहुत ज्ञान बहुत आदमियों को होता है। हर समाज मे—हर जाति मे—हम देखते हैं कि जो लोग अपने छोटे छोटे बच्चों की मानसिक शक्तियों को अकाल ही में उत्तेजित करते हैं उनकी सब कहीं निन्दा होती है। बचपन की इस तरह की उत्तेजना से होनेवाले परिणामों का जितना ही अधिक ज्ञान लोगों को होता है उतना ही अधिक वे उससे डरते भी हैं। प्राणिधर्म्म-शास्त्र सिखलानेवाले एक बहुत प्रसिद्ध अध्यापक की बात सुनिए। उसने हमसे कहा कि आठ वर्ष का होने तक वह अपने लड़के को कुछ भी पढ़ाने लिखाने का नहीं। इससे आप इस बात का अन्दाज़ कर सकते हैं कि अकाल ही में बच्चों से मानसिक श्रम करने के विषय मे उसकी क्या राय होगी। सब लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि बुद्धि को बढ़ानेवाली शिक्षा बचपन मे ज़बरदस्ती देने से या तो बच्चों का शरीर अशक्त हो जाता है, या अन्त मे उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है, या अकाल ही मे वे काल का ग्रास हो जाते हैं। परन्तु, मालूम होता है, उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि बुद्धि को बढ़ाने मे ज़बरदस्ती करने से जवानी में भी यही नतीजे होते हैं। चाहे उनकी समझ में आवे चाहे न आवे, पर ये नतीजे होते ज़रूर हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं। जितनी मानसिक शक्तियाँ हैं सबका क्रम भी नियत है और परिमाण भी नियत है। उसी क्रम और उसी परिमाण के अनुसार वे परिपक्वता को पहुँचती हैं। यदि उसी क्रम और उसी परिमाण को ध्यान मे रख कर शिक्षा दी गई तो उत्तम। यदि न दी गई तो हानि जरूर होती है। क्योंकि, यदि छोटी उम्र मे ऐसे पेचीदा और कठिन विषय सिखलाये गये, जो सहज ही मे लड़कों की समझ में नहीं आ सकते, तो ऊँचे दरजे की मानसिक शक्तियो पर जरूर खिँचाव पड़ता है। अथवा यदि थोड़ी ही उम्र मे बहुत अधिक विद्याभ्यास कराया गया तो उस समय स्वाभाविक तौर पर बुद्धि

को जितना विकसित और उन्नत होना चाहिए उससे वह अधिक विकसित और उन्नत हो उठती है। इस अकालिक खिँचाव और अस्वाभाविक बुद्धि विकास से जो विशेष लाभ होता है उसके बदले उतनी ही, या उससे भी अधिक, हानि हुए बिना नहीं रहती।

५६—शक्ति के ख़र्च का हिसाब रखने में प्रकृति बड़ी प्रवीण है। एक काम में अधिक शक्ति ख़र्च करने से दूसरे काम में ख़र्च होनेवाली शक्ति को वह ज़रूर उतनी घटा देती है।

इसका कारण यह है कि संसार में सब काम हिसाब से होते हैं। कोई बात ऐसी नहीं जिसका हिसाब न रहता हो। जिस मद मे जितना ख़र्च होने को है उसमे से यदि उससे अधिक तुम ले लोगे तो किसी दूसरी मद से उतना ही निकाल कर जमाख़र्च बराबर करना पड़ेगा। इसमे कभी भूल न होगी। क्योंकि हिसाब रखने मे प्रकृति अर्थात् कुदरत, बड़ी प्रवीण है। शरीर और मन की उन्नति के लिए जिस उम्र में जो चीज़ें जितनी दरकार हैं वे यदि ठीक ठीक उतनी पहुँचाई जायँ और प्रकृति को अपने ही रास्ते पर चलने दिया जाय तो सब काम यथेष्ट होगा। इस अवस्था में प्रकृति की बदौलत मनुष्य के सब अङ्गों की बाढ़ बहुत करके बराबर होगी। परन्तु यदि तुम इस बात का आग्रह करोगे कि शरीर के किसी भाग की वृद्धि अकाल ही मे हो जाय, अथवा जितनी होनी चाहिए उससे अधिक हो जाय, तो वह थोड़ी बहुत अप्रसन्नता प्रकट करके—कुछ न कुछ एतराज़ करके—तुम्हारी बात को मान जरूर लेगी, परन्तु बीच ही में अधिक काम करने मे लगे रहने के कारण कोई न कोई और ज़रूरी काम उसे बे-किये ही छोड़ना पड़ेगा। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि जीवन-व्यापार चलाने के लिए, मनुष्य के शरीर मे, हर घड़ी, जो शक्ति विद्यमान रहती है वह नियमित होती है। उसके नियमित होने के कारण यह बात बिलकुल ही असम्भव है कि जितना काम—जितना जीवन-व्यापार—उससे होना

चाहिए उससे अधिक लिया जा सके। अर्थात् जितनी शक्ति होगी उतना ही काम भी होगा। शक्ति नियमित होने से जीवन-व्यापार भी नियमित होने चाहिए। लड़कपन और जवानी में जीवन-व्यापार चलानेवाली इस शक्ति का बहुत अधिक ख़र्च होता है; और एक ही प्रकार से नहीं, अनेक प्रकार से होता है। जैसा कि पहले, कहीं पर, बतलाया जा चुका है, परिश्रम करने के कारण शरीर का कुछ अंश हर रोज क्षीण हो जाता है। उस क्षीणता को—उस कमी को—पूरा करना पड़ता है। विद्याभ्यास करने में हर रोज़ जो मानसिक श्रम पड़ता है उससे दिमाग़ थोड़ा बहुत जरूर कमजोर हो जाता है। उस कमज़ोरी को दूर करना पडता है। इसके सिवा शरीर और दिमाग़ को थोडा बहुत हर रोज बढना भी पड़ता है। इस बाढ के लिए भी सामग्री पहुँचानी होती है। इस तरह अनेक प्रकार से शरीर और दिमाग़ क्षीण हुआ करता है। इस क्षीणता की पूर्ति के लिए बहुत सा अन्न खाना पड़ता है। इस अन्न को हज़म करने के लिए भी बहुत सी शक्ति ख़र्च होती है। अब यदि इन कामो में से किसी एक काम में कुछ अधिक शक्ति खर्च कर दी जायगी तो उतनी ही शक्ति किसी और काम मे कम करनी पड़ेगी। शक्ति का जितना प्रवाह किसी तरफ़ अधिक हो जाता है उतना ही किसी और तरफ़ वह ज़रूर कम हो जाता है। यह ऐसी बात है कि शास्त्रीय रीति से भी सिद्ध है और हर आदमी के निज के तजरिबे से भी सिद्ध है। उदाहरणार्थ, सब आदमी इस बात को जानते हैं कि बहुत अधिक भोजन कर लेने से उसे हजम करने के लिए इतनी अधिक शक्ति दरकार होती है कि शरीर और मन दोनो शिथिल हो जाते हैं। उनमें विलक्षण मन्दता आ जाती है—यहाँ तक कि उसके कारण आदमी को बहुधा नींद आ जाती है। इस बात को भी सब आदमी जानते हैं कि बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम, विचार या मनन शक्ति को घटा देता है। एक-दम अधिक परिश्रम का काम करने से शरीर अवसन्न हो जाता है और कुछ देर तक चुपचाप पडा रहना पड़ता है। इसी तरह दस पन्द्रह कोस लगातार चलने से इतनी थकावट आती है कि फिर कुछ करने को जी नहीं चाहता - फिर मानसिक मेहनत के कामों मे बिलकुल ही जी नहीं लगता। एक महीने तक

बराबर पैदल चलने से मानसिक शक्तियाँ यहाँ तक क्षीण हो जाती हैं कि उन्हें फिर अपनी पहली स्थिति में लाने के लिए कई दिन तक आराम करने की ज़रूरत पड़ती है। किसान आदमियों को देखिए। वे दिन रात खेती के काम में लगे रहते हैं। इस कारण उन्हे जन्म भर शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है। इन बातों को कौन नहीं जानता ? हर आदमी इनसे परिचित है। फिर, एक बात और भी है। वह यह कि लड़कपन में कभी कभी लडकों की बाढ़ बहुत जल्द होती है। ऐसे समय मे लड़कों की जीवनी शक्ति सब तरफ़ से खिँच कर बहुत अधिक खर्च हो जाती है। इस कारण उनका शरीर और मन यहाँ तक अवसन्न हो जाता है कि उठने को जी नहीं चाहता। यही इच्छा होती है कि पडेही रहे। इस बात को भी सब जानते हैं। भोजन करने के बाद यदि बहुत अधिक शारीरिक श्रम करना पडता है तो अन्न हज़म नहीं होता और लड़को को यदि बहुत छोटी उम्र में अधिक मेहनत के काम करने पड़ते हैं तो वे ठिँगने रह जाते हैं। इन उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि शक्ति का प्रतिकूल व्यवहार करने से ज़रूर हानि होती है। अर्थात् एक काम में शक्ति का अधिक खर्च हो जाने से दूसरे काम के लिए वह ज़रूर कम हो जाती है। इस प्राकृतिक नियम का असर जब बड़ी बड़ी बातों मे इतनी स्पष्टता से देख पड़ता है तब छोटी छोटी बातों मे भी थोड़ा बहुत ज़रूर देख पड़ना चाहिए। अर्थात् प्राकृतिक नियम अखण्डनीय हैं। उनका असर पड़े बिना नहीं रहता। शारीरिक शक्ति का अनुचित ख़र्च चाहे बार बार थोडा थोडा हो, चाहे एकही बार बहुत सा हो, हानि ज़रूर होती है। हानि से बचाव नहीं हो सकता। अतएव, लडकपन मे, स्वाभाविक तौर पर जितना मानसिक श्रम लडके कर सकते हैं उससे अधिक यदि उनसे लिया जाय तो दूसरे कामों के लिए जो शक्ति दरकार होती है वह ज़रूर कम हो जायगी। ऐसा होने से किसी न किसी तरह की आपदायें भोगनी ही पड़ेंगी—कोई न कोई हानियाँ उठानी ही पड़ेगी। आइए, इन आपदाओं का—इन हानियो का—थोड़े में विचार करें।

५७—दिमाग़ी मेहनत कुछ ही अधिक होने के नतीजे।

मान लीजिए कि दिमाग़ से जितना काम लेना चाहिए उससे थोड़ा ही अधिक लिया गया। इस थोड़ी सी अधिक दिमाग़ी मेहनत से सिर्फ़ इतनीही हानि होगी कि शरीर की बाढ़ में कुछ कमी आ जायगी। अर्थात् शरीर की ऊँचाई जितनी होनी चाहिए थी उससे कुछ कम रह जायगी; या डील-डौल मे कुछ कमी आ जायगी; या शरीर के पुट्ठे ऐसे अच्छे न होंगे जैसे कि उचित दिमाग़ी मेहनत करने से होते हैं। इनमे से एक या एक से अधिक, कोई न कोई, बात ज़रूर होगी। इन हानियों मे से कोई न कोई हानि ज़रूर ही भोगनी पड़ेगी। दिमाग़ी मेहनत करते समय दिमाग़ को अधिक रक्त पहुँचाना पड़ता है। इसके सिवा, इस तरह की मेहनत से दिमाग़ का जो अंश क्षीण होजाता है उसे पूरा करने के लिए, दिमाग़ी मेहनत हो चुकने के बाद भी, अधिक रक्त दरकार होता है। इस प्रकार जो रक्त अधिक ख़र्च हो जाता है वह दिमाग़ के लिए न था। यह वह रक्त था जिसे शरीर के और और भागों मे अभिसरण करना था। परन्तु उसके दिमाग़ मे ख़र्च हो जाने से, शरीर की जिस क्षीणता को पूरा करने या जिस बाढ़ के काम आने के लिए उसे सामग्री पहुँचानी थी, उसे पहुँचाने से वह असमर्थ हो गया। अतएव वह क्षीणता वैसे ही रह गई और वह बाढ़ भी न होने पाई। इस तरह शारीरिक शक्ति के दुरुपयोग से जो हानि होती है उसमे कोई सन्देह नहीं। वह ज़रूर ही होती है। तो अब विचार इस बात का करना है कि अस्वाभाविक रीति से दिमाग़ लड़ा कर जो अधिक शिक्षा प्राप्त की जाती है वह उस हानि के बराबर है या नहीं? अर्थात् इस तरह जो ज्ञान की अधिक प्राप्ति होती है वह शरीर के ठिँगने रह जाने—बीच ही मे बाढ़ के बन्द हो जाने और शरीर की बनावट के पूर्णता को न पहुँचने,—से होने-वाली हानि का काफ़ी बदला है या नहीं। यहाँ पर यह बात याद रखनी चाहिए कि आदमी के पूरे ऊँचे होने और बदन की बनावट मे किसी तरह की कमी न आने ही से शरीर में शक्ति और सहिष्णुता आती है।

५८—अधिक दिमाग़ी मेहनत से अधिक हानि, और, विकास और बाढ़ का पारस्परिक विरोध।

यदि मानसिक श्रम बहुत किया जाता है—यदि दिमाग़ से बहुत ज़ियादह मेहनत ली जाती है—तो और भी अधिक भयङ्कर परिणाम होते हैं। उससे शरीर ही की पूर्णता और बाढ़ नहीं मारी जाती, किन्तु खुद दिमाग़ की भी पूर्णता और बाढ़ को हानि पहुँचती है। प्राणिधर्म्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार बाढ़ और विकास मे परस्पर विरोध है। विकास से यहाँ पर मतलब शरीर के उपचय से—उसकी परिपक्वता से है। अर्थात् शरीर की बाढ़ और परिपक्वता एक साथ नहीं होती। बढ़ने की स्थिति में शरीर के कोई अवयव परिपक्व नहीं होते और परिपक्व हो जाने पर फिर बढ़ते नहीं। फ्रांस के विद्वान् एम० इसिडोर सेंट हिलेर ने इस सिद्धान्त को पहले पहल ढूँढ़ निकाला। इसके बाद लुइस साहब ने "सर्वाङ्ग और दीर्घाङ्ग मनुष्य" नामक जब लेख लिखा तब उन्होंने उसमे इस सिद्धान्त का हवाला दिया। इस सम्बन्ध मे 'बाढ' शब्द का अर्थ आकार की अधिकता और 'विकास' का अर्थ 'बनावट की अधिकता' समझना चाहिए। 'विकास' (Development) का अर्थ अच्छी तरह ध्यान मे आने के लिए यदि उसकी जगह पर 'परिपक्वता' या 'उपचय' शब्द का प्रयोग किया जाय तो भी अनुचित नही। अब, नियम यह है कि इन दोनों स्थितियों मे से किसी एक स्थिति की अधिकता होने से दूसरी स्थिति में कमी ज़रूर आ जाती है। विकास अधिक होने से बाढ़ बन्द हो जाती है और बाढ़ अधिक होने से विकास को हानि पहुँचती है। रेशम के कीड़े मे इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। वह अपनी पहली, अर्थात् कैटरपिलर नामक, स्थिति मे बहुत बढ़ता है। उसके आकार की बेहद बाढ़ होती है। परन्तु उसके विकास या उपचय में कोई विशेष अन्तर नही देख पडता। जैसा वह बाढ़ पूरी होने के पहले रहता है प्राय: वैसा ही बाढ़ पूरी हो जाने पर भी मालूम होता है। जब यह कीडा अंडे से निकलता है तब इसकी लंबाई कोई पाव इंच होती है। पर थोडे ही दिनों मे बढ़ कर वह तीन इंच लम्बा हो जाता है। जब

उसकी बाढ़ पूरी हो जाती है तब वह अपने मुँह से रेशम के धागे निकाल निकाल कर अपने ऊपर लपेटता है और उस रेशम का कोया बना कर उसके भीतर बन्द हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त होने पर उसकी बाढ़ बन्द हो जाती है, यही नहीं, किन्तु; उसका वज़न भी घट जाता है। परन्तु उसके विकास मे—उसके डील डौल की बनावट मे—अनेक प्रकार की विभिन्नताये देख पड़ती हैं। उसमें एक के बाद दूसरी विषमता झट झट पैदा होती जाती है। यह विरोधी भाव रेशम के कीड़े की तरह के छोटे छोटे कृमि-कीटकों मे जितनी स्पष्टता से देख पड़ता है उतनी स्पष्टता से बड़े बड़े जीवधारियों मे नहीं देख पडता, क्योकि विकास और बाढ़, ये दोनों बातें, उनमें एक ही साथ हुआ करती हैं। परन्तु स्त्रियों और पुरुषों की इन स्थितियों का परस्पर मुक़ाबला करने से हमे यह पारस्परिक विरोध अच्छी तरह देख पडता है। लडकियों के शरीर और मन जल्द विकसित हो उठते हैं। इसी से लडकों की अपेक्षा उनके शरीर की बाढ़ जल्द बन्द हो जाती है। परन्तु लड़कों के शरीर और मन के विकसित होने में कुछ देर लगती है। उनका विकास धीरे धीरे होता है। अतएव उनकी बाढ उतना जल्द नहीं बन्द होती; अधिक दिनों तक वह होती रहती है। जिस उम्र में लड़की तरुण होकर शरीर की परिपूर्णता को पहुँच जाती है और साथ ही उसकी सारी मानसिक शक्तियाँ भी परिपक्व हो जाती हैं उस उम्र मे लड़कों की जीवनी शक्तियाँ, शरीर का आकार बढ़ाने मे लगी रहने के कारण, उनके शारीरिक अवयवों का पूरा पूरा विकास नहीं होता। यह बात लड़कों के शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार के, अल्हड़पन से प्रकट है। यह नियम जुदा जुदा शरीर के हर एक अवयव और इन्द्रिय के विषय मे भी चरितार्थ है। और सारे शरीर के विषय मे भी। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर मे जिस तरह इस विषय के अनुसार सब बातें होती हैं उसी तरह हर एक अवयव में भी होती हैं। सबके लिए एक ही नियम है। यदि कोई अवयव बहुत जल्द परिपकता को पहुँच जाता है तो अकाल ही मे उसकी बाढ़ ज़रूर' बन्द हो जाती है। यह बात जैसे और सब अवयवों के विषय मे घटित होती है वैसे ही मानसिक शक्तियों के विषय में भी घटित होती है। लड़कपन में दिमाग़ का

आकार अपेक्षाकृत बहुत बड़ा होता है, परन्तु वह अपरिपक्व दशा मे रहता है। यदि उससे अस्वाभाविक रीति से बहुत अधिक काम लिया जायगा तो उस उम्र में उसे जितना परिपक्व होना चाहिए उससे अधिक परिपक्व हो जायगा। अर्थात् अकाल ही में वह विशेष परिपक्वता को पहुँच जायगा। इसका फल यह होगा कि उसका आकार छोटा रह जायगा और उसमे जितनी शक्ति आनी चाहिए उतनी न आवेगी। अकाल ही मे परिपक्व अवस्था को पहुँचे हुए जो लड़के और नव-युवक पहले इतने तेज़ होते हैं कि किसी बात को कुछ समझते ही नहीं, कुछ दिनों के बाद उनकी तीव्रता के वहीं रह जाने और माँ-बाप की बड़ी बड़ी आशाओं के धूल मे मिल जाने का एक कारण—अथवा यों कहिए कि सबसे बड़ा कारण—यही है।

५८—दिमाग़ से अधिक काम लेने से शरीर पर होनेवाले भयङ्कर परिणाम।

शक्ति से बाहर शिक्षा देने के जिन परिणामों का हमने ऊपर ज़िक्र किया वे सचमुच ही बड़े भयङ्कर हैं। परन्तु इस तरह की शिक्षा से शरीर का जो नाश होता है— स्वास्थ्य को जो हानि पहुँचती है—उसके ख़याल से यह भयङ्करता कुछ भी नहीं है। इससे शरीर पर जो परिणाम होते हैं वे ऊपर वर्णन किये गये परिणामों की अपेक्षा बहुत ही भयङ्कर हैं। इससे शारीरिक स्वास्थ्य बिलकुल ही बिगड़ जाता है, शक्ति बेहद क्षीण हो जाती है, और एक प्रकार की उदासीनता छाई रहने से विचार-शक्ति भी मन्द पड जाती है। प्राणिधर्म्म-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली हाल की एक जाँच से यह मालूम हुआ है कि शारीरिक व्यापारों पर दिमाग़ का बहुत अधिक असर पड़ता है। इन्द्रियजन्य व्यापारों का दिमाग़ से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। दिमाग़ पर बहुत अधिक दबाव पड़ने से—मन से बहुत अधिक काम लेने से—अन्न-पाचन-शक्ति और रुधिराभिसरण को धक्का पहुँचता है। इससे शरीर के सारे इन्द्रिय-व्यापार बेतरह शिथिल हो जाते हैं। शरीर में वेगस नाम का एक ज्ञान-तन्तु है। उसका एक छोर दिमाग़ से लगा हुआ है, दूसरा आमाशय से। इसे छेड़ने—इसे त्रास देने—से क्या होता है, इस बात के

देखने का प्रयोग पहले पहल वेबर नाम के एक विद्वान् ने किया था। जिसने, हमारी तरह, वेबर की बतलाई हुई रीति से इस ज्ञान-तन्तु को छेड़ने का प्रयोग देखा है—अर्थात् जिसने यह देखा है कि इसे त्रास देने से रक्ताशय का व्यापार किस तरह बन्द हो जाता है; त्रास बन्द होने पर फिर किस तरह वह धीरे धीरे शुरू होता है, और फिर उसे छेड़ने से किस तरह तत्काल ही वह फिर बन्द हो जाता है—वह इस बात को अच्छी तरह समझ सकेगा कि दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेने से शरीर पर शैथिल्य उत्पन्न करनेवाला कितना असर पड़ता है। इस तरह जिन परिणामों का होना वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया गया है उनका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें अपने प्रति दिन के तजरिबे में मिलता है। विज्ञान जिन बातों की गवाही देता है वही बातें तजरिबे से हमें प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं। ऐसा एक भी आदमी न मिलेगा जिसका कलेजा—आशा, डर, क्रोध और आनन्द आदि मनोविकारों के उत्पन्न होने पर—न धड़का हो। कोई आदमी ऐसा न होगा जिसे यह तजरिबा न हुआ हो कि इन मनोविकारों के बहुत प्रबल होने पर रक्ताशय के व्यापार में कितनी बाधा आती है। मनोविकारों के अतिशय उच्छृङ्खल होने से रक्ताशय का व्यापार बन्द होकर मूर्छा आने का तजरिबा यद्यपि बहुत कम आदमियों को होता है तथापि इस बात को हर आदमी जानता है कि मनोविकारों के प्राबल्य और मूर्छा में परस्पर कार्य्य-कारण-भाव ज़रूर है। अर्थात् मनोविकारों के अतिशय प्रबल होने ही से आदमी मूर्छित हो जाता है, इसे सब लोग ज़रूर जानते हैं। इस बात को भी प्रायः सब लोग जानते हैं कि मेदे में जो ख़राबियाँ पैदा हो जाती हैं उनका कारण मानसिक विकारों की प्रबलता का एक निश्चित हद से आगे बढ़ जाना ही है। यह एक बहुत ही साधारण सी बात है कि अत्यन्त आनन्द अथवा अत्यन्त दुःख पहुँचने से भूख मारी जाती है। और आनन्दित होना या दुःख पाना मन का व्यापार है। यदि भोजन करने से थोड़ी ही देर बाद कोई बहुत ही आनन्ददायक या दुःखजनक बात होती है तो खाया हुआ अन्न बहुधा पेट में नहीं ठहरता और यदि ठहरता भी है तो बहुत मुश्किल से हज़म होता है। हर आदमी, जो अपने दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेता

है, इस बात की सचाई को अपने तजरिबे से साबित कर सकता है, ।
किसी विषय में बुद्धि को अतिशय लगाने से भी ऐसे ही परिणाम होते हैं
अतएव दिमाग़ और शरीर में परस्पर जो सम्बन्ध है वह जैसे इन बड़ी ब
बातों मे साफ़ साफ़ देख पड़ता है वैसे ही छोटी छोटी बातों में भी दे
पड़ता है । दिमाग़ को अल्पकालिक, परन्तु प्रबल, उत्तेजना पहुँचने से ं
मे जैसे अल्पकालिक, परन्तु प्रबल, विकार पैदा हो जाते हैं, वैसे ही
थोड़ा, परन्तु देर तक, धक्का पहुँचने से मेदे मे थोड़ा, परन्तु बहुत देर त
विकार बना रहता है । इसे आप निरा अनुमान या तर्क न समझिए । य
बात सर्वथा सच है । इसकी सचाई का प्रमाण हर एक वैद्य या डाकृर
सकता है । हमें खुद इस बात का तजरिबा है, जिसे याद करके हमे ब
रंज होता है । हमने खुद इस व्यथा को बहुत दिनों तक भोगा है । अत
हम खुद भी इस बात के सच होने के प्रमाण हैं । बहुत दिनों तक शक्ति
अधिक मानसिक श्रम करने से अनेक प्रकार के न्यूनाधिक दुःखदायी र
भोगने पडते हैं और उनसे थोड़ा बहुत बचने के लिए काम काज छोड़ क
बरसो बेकार बैठना पड़ता है । बहुत करके रक्ताशय ही अधिक बिगड़
है—छाती धडका करती है और नाड़ी की चाल यहाँ तक मन्द हो जाती
कि एक मिनट में ७२ दफ़े की जगह उसकी चाल ६० तक गिर जाती है
और कभी कभी इससे भी कम हो जाती है। कभी कभी मेदा बिगड़ जाता है
इससे अजीर्ण पैदा हो जाता है और संसार मे जीना बोझ मालूम होने लग
है । कोई दवा कारगर नही होती । इसलिए अपने भाग्य पर भरोसा कर
चुपचाप बैठना पड़ता है । बहुत आदमियों का तो मेदा भी ख़राब जाता है औ
रक्ताशय भी । उन बेचारों को दोनों व्यथायें साथ ही भुगतनी पडती है
बहुधा नींद अच्छी तरह नहीं आती और आती भी है तो कच्ची नींद मे आं
खुल जाती है । मन का थोड़ा बहुत उदास रहना तो एक मामूली बात है

६०—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से होनेवाले शारीरिक विकार ।

अच्छा तो अब इस बात का विचार कीजिए कि बहुत अधिक मानसि

परिश्रम से दिमाग़ को उत्तेजित करने—उसे सन्ताप पहुँचाने—से लड़कों और नव-युवकों को कितनी सख़्त तकलीफ़ उठानी पड़ती है। जितना काम दिमाग़ से लेना चाहिए उससे अधिक लेने से स्वास्थ्य को थोड़ा बहुत हानि पहुँचे बिना नहीं रह सकती। यदि उससे इतना अधिक काम न लिया गया—यदि उसे इतना परिश्रम न करना पड़ा—कि बहुत ज़ियादह हानि पहुँच कर कोई बीमारी पैदा हो जाय तो इतना तो ज़रूर ही होगा कि धीरे धीरे तबीयत बिगड़ती जायगी। इस तरह के श्रम से जो ख़राबियाँ पैदा होंगी वे बढ़ते बढ़ते शरीर को थोड़ा बहुत विकृत ज़रूर कर देंगी। भूख थोड़ी—सो भी देर मे लगने, अन्न अच्छी तरह हज़म न होने, रक्त का अभिसरण मन्द हो जाने से लड़कों का वर्तमान शरीर किस तरह पनप सकता है—किस तरह वह अच्छी तरह बढ़ सकता है? जीवन-सम्बन्धी जितने व्यापार हैं वे, शरीर मे शुद्ध रक्त की यथेष्ट मात्रा होने ही से अच्छी तरह चल सकते हैं। शुद्ध रक्त की मात्रा शरीर मे यथेष्ट न होने से मांस-ग्रन्थियाँ अच्छी तरह नहीं बनतीं, अवयव अपना अपना काम अच्छी तरह नही कर सकते, ज्ञान-तन्तु, स्नायु, पुट्ठे, झिल्लियाँ और शरीर के अन्यान्य भागों की कमी अच्छी तरह पूरी नहीं हो सकती। जिस समय शरीर की बाढ़ हो रही है उस समय मेदा कमज़ोर हो जाने से यदि यथेष्ट रक्त न पैदा हुआ और जो पैदा भी हुआ वह अशुद्ध, और रक्ताशय के कमज़ोर हो जाने से इस थोड़े और अशुद्ध रक्त का अभिसरण बहुत ही धीरे धीरे होने लगा, तो इस बात का आप ही विचार कर लीजिए कि परिणाम कितना भयङ्कर होगा।

६१—लड़कों से बहुत सी बातें मार-कूट कर याद कराने से वे जल्द भूल जाती हैं। यही नहीं, इस तरह की शिक्षा से और भी अनेक हानियाँ होती हैं।

विद्याभ्यास मे बहुत अधिक मेहनत करने से आरोग्य को धक्का ज़रूर पहुँचता है—स्वास्थ्य ज़रूर बिगड़ जाता है। इस विषय में जिन लोगों ने जाँच की है वे इस बात को क़बूल करते हैं। अतएव यदि ऐसे लोग इस प्रकार के परिश्रम को हानिकारी समझते हैं तो लड़कों के दिमाग़ में

बहुत सी शिक्षा ज़बरदस्ती भर देने की जो पद्धति आज कल जारी है उसे जितना ही दोष दिया जाय थोड़ा है । चाहे जिस तरह इसका विचार किया जाय, ऐसी पद्धति को जारी रखना बड़ी ही भयङ्कर भूल है । सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति से जहाँ तक सम्बन्ध है, इस भूल के होने में कोई सन्देह नहीं । क्योंकि शरीर की तरह मन भी किसी चीज़ को एक नियमित अन्दाज़ से अधिक नहीं ग्रहण कर सकता । अतएव जितनी देर मे मन सिखलाई हुई बातों को अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है उससे अधिक जल्द जल्द यदि उसमे शिक्षणीय बाते ठूँसी जायँ तो वह उन्हे याद नहीं रख सकता । थोड़े ही समय में वे भूल जाती हैं । बुद्धि-रूपी पटल पर हमेशा के लिए अङ्कित हो जाने के बदले, जिस परीक्षा के पास करने के लिए वे याद कराई गई थीं उसे पास कर लेने के थोड़े ही दिन बाद, वे ध्यान से उतर जाती हैं । इस तरह बहुत सी बातें ज़बरदस्ती याद कराने से लड़को का जी पढ़ने मे नहीं लगता । इस कारण से भी यह शिक्षा-पद्धति सदोष है । बराबर लगातार मानसिक श्रम करने से होनेवाली अनेक प्रकार की पीड़ाओं की बदौलत, या बहुत अधिक श्रम करने से दिमाग़ के बिगड़ जाने के कारण, किताबों से घृणा हो जाती है । शिक्षा-पद्धति अच्छी होने से मदरसा छोड़ने पर अपना सुधार आपही आप होना चाहिए । परन्तु प्रचलित शिक्षा-पद्धति ऐसी बुरी है कि उसके कारण स्वयमेव सुधार होने के बदले बात बिल-कुल ही उलटी होती है । वर्तमान शिक्षा-पद्धति इसलिए भी दोष देने लायक़ है कि इसके कारण सब लोगों की समझ यह हो जाती है कि विद्या पढ लेना ही सब कुछ है—ज्ञानोपार्जन ही से सब काम हो जाता है । वे इस बात को भूल जाते हैं कि ज्ञान उपार्जन करके सबसे ज़रूरी बात उस ज्ञान को अपने मे लीन कर लेना है, जो बहुत काल तक मनन के बिना नहीं हो सकता । साधारण तौर पर सब लोगों की बुद्धि की बाढ के विषय में जर्मनी का हम्बोल्ट नामक विद्वान् कहता है कि "जब किसी विषय की बहुत सी बाते एक साथ दिमाग़ मे भर दी जाती हैं तब उस विषय के वर्णन का असर कम हो जाता है । अतएव सृष्टि-सौन्दर्य्य का ज्ञान अच्छा तरह नहीं होता—प्राकृतिक पदार्थों का मतलब ठीक ठीक समझ में नही आता" । यही बात

अलग अलग हर आदमी की बुद्धि की बाढ़ के विषय में भी कही जा सकती है। बहुत सी बातों का शुष्क ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश से सब बाते याद नहीं रहतीं। थोड़े ही दिनों मे वे भूल जाती हैं। उनके बोझ से दिमाग़ को व्यर्थ तकलीफ़ उठानी पड़ती है और धीरे धीरे बुद्धि मन्द हो जाती है। शरीर मे व्यर्थ बढ़नेवाली चर्बी की जैसे कोई क़ीमत नहीं, वैसे ही जो ज्ञान बुद्धि की चर्बी बन कर रहता है उसकी भी कोई क़ीमत नहीं। जो ज्ञान बुद्धि-रूपी शरीर का स्नायु बन कर रहता है उसी को क़ीमती समझना चाहिए। परन्तु, इस विषय में लोग जो भूल करते हैं वह और भी अधिक गम्भीर है—वह और भी अधिक सख़्त है। बहुत सी बातों को तोते की तरह रटाने से बुद्धि का बिलकुल ही विकास नहीं होता—बुद्धि की बिलकुल ही वृद्धि नहीं होती। परन्तु, यदि, इस तरह की शिक्षा से बुद्धि की वृद्धि होती भी तो भी हम उसे बुरी ही कहते। क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, इस रीति के अनुसार शिक्षा देने से शरीर की शक्ति का नाश हो जाता है। अतएव मदरसे में इतने परिश्रम से प्राप्त किये गये ज्ञान से मनुष्य को आगे सांसारिक काम-काज में कोई लाभ नहीं होता। सांसारिक झंझटो मे जिस ज्ञान की इतनी ज़रूरत रहती है उसका यदि कोई उपयोग ही न हुआ तो उसके सम्पादन से क्या लाभ? शरीर ही अशक्त, अतएव बेकाम, हो जाता है। लाभ हो कैसे? जो अध्यापक सिर्फ़ विद्यार्थियों के मन को सुशिक्षित करने—उन्हे ज्ञान-प्राप्ति कराने—मे उत्सुकता दिखाते हैं, उनके शरीर की स्वस्थता या अस्वस्थता की परवा नहीं करते, उन्हें यह बात याद नही कि शरीर सशक्त होने ही से संसार के सब काम-काज हो सकते हैं। सांसारिक कामों मे कामयाबी होना जितना शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है उतना बहुत सा ज्ञान दिमाग़ मे भर लेने पर अवलम्बित नहीं। जो पद्धति दिमाग़ मे ज़बरदस्ती ज्ञान को ठूँस कर शारीरिक बल का विनाश करती है वह आपही अपनी नाकामयाबी का कारण है। वह मानों अपने ही हाथ से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारती है। शरीर मे यथेष्ट बल होने ही से दृढ़ निश्चय और बे थके हुए लगातार उद्योग करने की शक्ति पैदा होती है। और जिस आदमी में दृढ निश्चय है, और जो बराबर परिश्रम-पूर्वक काम-काज कर सकता है, उसे ज्ञान की कमी

तादृश हानि नहीं पहुँचा सकती। ऐसे आदमी की शिक्षा चाहे जितनी दोष-पूर्ण क्यों न हो, तथापि उसे अपने उद्योग-धन्धे में कामयाबी हुए बिना नहीं रहती। यदि शरीर की शक्ति क्षीण हुए बिना मतलब भर के लिए शिक्षा मिल गई, और दृढ़ निश्चय तथा सतत उद्योग, इन दोनों बातो की मदद पहुँच गई, तो दिन रात सिर-खपी करके प्राप्त की गई शिक्षा के बदौलत महा अशक्त विद्वानों के साथ चढ़ा ऊपरी करने मे जीत हुए बिना नहीं रह सकती। जो लोग अपनी शरीर-सम्पदा को क्षीण न करके काफ़ी शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं वे यदि दृढ़ निश्चयवान् और उद्योगी हैं तो बडे बड़े विद्वान् भी, अशक्त होने के कारण, काम-काज में उनसे पार नही पा सकते। जो यंजिन छोटा है और बनाया भी अच्छी तरह नहीं गया उससे यदि ख़ूब ज़ोर से काम लिया जाय तो वह उस यंजिन से अधिक काम देगा जो बड़ा भी है और अच्छी तरह बनाया भी गया है, पर जो धीरे धीरे चलाया जाता है। यंजिन ख़ूब अच्छा बनाने की कोशिश करने में उसके बाइलर (भभके या बंबे) को ऐसा बिगाड़ देना कि उसके भीतर भाफ़ ही न बन सके, कितनी मूर्खता का काम है! आप ही कहिए, है या नहीं? यदि बिना भाफ़ के यंजिन चल ही न सकेगा तो उसकी ख़ूबसूरती को लेकर क्या चाटना है। शिक्षा का वर्तमान तरीक़ा एक और कारण से भी सदोष है। वह यह है कि जो लोग इस तरीक़े से शिक्षा पाते हैं उनको यही नहीं समझ पड़ता कि उनका मङ्गल किस बात मे है— उनकी बेहतरी किस तरह हो सकती है। वे इस बात के जानने मे असमर्थ हो जाते हैं कि उनका सच्चा सुख या सच्चा हित किसमे है। ज़रा देर के लिए मान लीजिए कि इस तरीक़े से सांसारिक काम-काज मे हानि के बदले हमेशा लाभ ही लाभ होता जायगा—नाकामयाबी की जगह हमेशा कामयाबी ही होती रहेगी—तो भी इसकी बदौलत जन्म भर के लिए शरीर का मिट्टी हो जाना क्या एक बहुत बडी हानि नहीं है? उस कामयाबी की गुरुता की अपेक्षा इस महाहानि की गुरुता क्या अधिक नहीं है? यदि आदमी हमेशा बीमार ही बना रहा तो सम्पत्ति किस काम की? सम्पत्ति के साथ साथ बीमारी बनी रहने से सम्पत्ति का उपयोग ही नहीं हो सकता। उस नामवरी की क़ीमत ही कितनी जिसके कारण आदमी विक्षिप्त हो जाय

या जन्म भर उदास और म्रियमाण दशा में अपने दिन काटे ? अच्छी तरह अन्न हज़म होना, नाड़ी का खूब धड़ाके से चलना, चित्त-वृत्ति का हमेशा उल्लसित रहना, सचमुच ही सच्चे सुख के कारण हैं। इनके मुक़ाबले मे बाहरी सुख या लाभ कोई चीज़ नहीं। यदि ये नहीं, तो करोड़ों की सम्पत्ति और दिगन्त-व्यापी नाम व्यर्थ हैं। ये ऐसी बातें हैं कि इनके गौरव के सम्बन्ध में किसी को सबक़ देते बैठने की ज़रूरत नहीं। किसी रोग से चिरकाल पीडित रहने से बडी से बड़ी आशाओं पर पानी पड़ जाता है—वे निराशा के अन्धकार मे लोप हो जाती हैं। परन्तु शरीर नीरोग और सशक्त होने से मन मे एक प्रकार की जो प्रफुल्लता रहती है उसके कारण आदमी बड़े बडे अरिष्टो की भी परवा नहीं करता। तो हम इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि यह अतिशिक्षण की रीति हर तरह से दूषित है—

(१) यह इसलिए दूषित है कि इसके योग से प्राप्त किया गया ज्ञान बहुत जल्द भूल जाता है।

(२) यह इसलिए दूषित है कि इसके कारण आदमी ज्ञान-सम्पादन से घृणा करने लगता है।

(३) यह इसलिए दूषित है कि इससे ऊपर ही ऊपर का ज्ञान-सम्पादन होता है। पर सम्पादित ज्ञान को अपने में लीन करने की तरफ़, जो अधिक महत्त्व का काम है, आदमी का ध्यान ही नहीं जाता।

(४) यह इसलिए दूषित है कि इसके कारण वह शारीरिक शक्ति, जिसके बिना प्राप्त की हुई शिक्षा का कोई उपयोग ही नहीं हो सकता, कम किंवा बिलकुल ही नष्ट हो जाती है।

(५) यह इसलिए दूषित है कि इससे स्वास्थ्य यहाँ तक बिगड़ जाता है कि यदि सांसारिक उद्योग-धन्धे मे कामयाबी भी हुई, तो भी, आदमी सुखी नहीं होता, और यदि नाकामयाबी हुई तो दुःख दूना हो जाता है।

६२—वर्तमान शिक्षा-पद्धति से स्त्रियों को जो हानि पहुँचती है वह और भी भयङ्कर है।

दिमाग़ में इस तरह ज़बरदस्ती बहुत सी शिक्षा ठूँसने का नतीजा

मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए, सम्भवत: और भी अधिक हानिकारी है। बहुत अधिक विद्याभ्यास से होनेवाली हानियों को लड़के आनन्ददायक और शक्तिवर्धक खेल-कूद से कम कर देते हैं। परन्तु लड़कियों के लिए इस तरह के खेल-कूद की मनाई है। वे दौड़ धूप के खेल नहीं खेलने पातीं। इस कारण लड़कियों को इस शिक्षा-पद्धति की हानियाँ पूरे तौर पर भोगनी पड़ती हैं। इसी से पढ़ी लिखी स्त्रियों में नीरोग और पूर्ण बाढ़ पाई हुई मज़बूत स्त्रियाँ बहुत ही कम देख पड़ती हैं। लन्दन मे अमीर आदमियों की बैठकों में अनेक पाण्डुवर्ण, कूबड़ निकली हुई, कुरूप और अपरिस्फुट अवयववाली तरुण स्त्रियाँ देख पडती हैं। यह खेलने कूदने की मनाई करके, निर्दयता से दिन रात दिमाग़ में शिक्षा को ज़बरदस्ती भरने का नतीजा है। यदि उन्हे खेलने कूदने दिया जाता और उनके दिमाग़ पर शिक्षा का इतना बोझ न डाला जाता तो उनकी कभी इतनी बुरी दशा न होती। उनकी विद्वत्ता, कुशलता और व्यवहार-चातुर्य्य का सांसारिक कामों मे जितना उपयोग होता है, शरीर के रोगी हो जाने से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उनका संसार-सुख मिट्टी मे मिल जाता है। माताओ की यह इच्छा रहती है कि उनकी बेटियाँ ऐसी प्रवीण हो जायँ कि लोग उन्हे देखते ही लट्टू हो जायँ। इसी लिए वे उनके स्वास्थ्य की कुछ भी परवा न करके उन्हे खूब शिक्षित बनाती हैं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। शरीर के आरोग्य का नाश करके मन को शिक्षित बनाने के इस तरीक़े से बढ़कर हानिकारी तरीक़ा शायद ही और कोई हो। वे या तो इस बात के जानने की परवा नहीं करतीं कि पुरुषों की रुचि कैसी है—उनकी पसन्द किस तरह की है—या इस विषय में उनका निश्चय ही ठीक नहीं है। स्त्रियों की विद्वत्ता की बहुत ही कम परवाह पुरुष करते हैं। उनकी सुघरता, उनके सुस्वभाव और उनकी सदसद्विचार-शक्ति ही की वे ज़ियादह परवाह करते हैं। बतलाइए तो सही, एक पढी लिखी भले घर की अविवाहित तरुणी अपने अप्रतिम इतिहास-ज्ञान की बदौलत कितने पुरुषो को मोहित कर सकती है? इटली की भाषा मे पारदर्शिता प्राप्त करने ही के कारण क्या किसी स्त्री के प्रेम मे कभी कोई पुरुष पागल हुआ है? क्या ऐसा भी कोई प्रेमी देखा गया है जो

अपनी प्रेयसी के जर्मन-भाषा के पाण्डित्य को देख कर ही उसका दास हो गया हो ?

"विम्बोष्ठी चारुनेत्रा गजपतिगमना दीर्घकेशी सुमध्या"

कामिनियों को देख कर पुरुष उन पर आसक्त होते हैं। सुघर और सुन्दर शरीर पर ही मोहित होने से पुरुषों की दृष्टि कमनीय कामनियों की तरफ़ खिंचती है। शरीर नीरोग होने से स्त्रियों का चित्त हमेशा प्रसन्न रहता है, उनकी चित्त-वृत्ति हमेशा उल्लसित रहती है, उनकी बातचीत मे एक प्रकार की विशेष मोहकता आजाती है। इन्हीं गुणों के कारण पुरुष स्त्रियों से प्रेम करते हैं। प्रेम-सम्पादन मे यही गुण सहायता देते हैं। और किसी गुण की परवा न करके, सिर्फ़ उनके सुन्दर और सुघर रूप पर मोहित होकर स्त्रियों के प्रेमपाश मे फँसनेवाले पुरुषों के उदाहरण, कौन ऐसा है जिसने नहीं देखे ? परन्तु स्त्रियों के सुस्वभाव और सुन्दर रूप को तुच्छ समझ कर सिर्फ़ उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनके प्रेम के भिखारी बननेवाले एक भी पुरुष का ' ।ह९ शायद कोई न दे सके। सच तो यह है कि न्यूनाधिक भाव मे बहुत से मनोविकारों के मेल से पुरुष के हृदय मे प्रेम-नामक जो मिश्रित विकार पैदा होता है, उसमे शरीर-सौन्दर्य्य के दर्शन से पैदा हुए मनोभाव ही विशेष प्रबल होते हैं। उनसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो सदाचरण-सम्बन्धी सद्व्यवहारों को देख कर पैदा होते हैं। और, सबसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो विद्वत्ता इत्यादि बुद्धि-विषयक बातों को देख कर पैदा होते हैं। ये पिछले मनोभाव स्त्रियों के विद्वत्त्व और ज्ञान पर उतना अवलम्बित नहीं रहते जितना कि उनकी तीव्र बुद्धि, उनकी कल्पना-शक्ति और उनके परिज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। यदि कोई महाशय हमारे इस कथन को अपमानजनक खयाल करें और यह कहे कि स्त्रियो की ऐसी ऐसी तुच्छ बातो पर भूल कर पुरुषो का उन पर आसक्त होना बतलाना उनकी निन्दा करना है, तो हम उनको यह कह कर उत्तर देगे कि ईश्वरीय नियमों मे इस तरह दोषोद्भावना करना मानों अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जो लोग इस तरह के खयाल रखते हैं वे यही नही जानते कि वे कह क्या रहे हैं—वे अपनी बातों का मतलब ही अच्छी

तरह नहीं समझे । जितनी ईश्वरीय योजनायें हैं—जितने ईश्वरीय नियम हैं—उनका अभिप्राय यदि ठीक ठीक समझ में न भी आवे तो भी निःशङ्क होकर हम इस बात को कह सकते हैं कि उनका कोई न कोई बहुत ही अच्छा उपयोग ज़रूर होता होगा । स्त्रियों की सुस्वरूपता आदि के विषय में जो लोग अच्छी तरह विचार करेंगे उनकी समझ में तत्सम्बन्धी ईश्वरीय योजनाओं का मतलब भी ज़रूर आ जायगा । प्रकृति का एक उद्देश—अथवा यह कहिए कि सबसे प्रधान उद्देश—भावी सन्तति के कल्याण की सामग्री प्रस्तुत कर देना है । परन्तु बहुत सी शिक्षा प्राप्त करने से बुद्धि यदि संस्कृत या प्रगल्भ भी हो गई, तो भी, शरीर रोगी रहने के कारण उस बुद्धि का बहुत [illegible] उपयोग हो सकता है । इस तरह की बुद्धि का प्रभाव दो ही एक [illegible] नष्ट हो जाता है, क्योंकि रोगी आदमियों की सन्तति इसके आगे [illegible] रह सकती । विपरीत इसके, शरीर यदि सुदृढ़ और रोग[illegible] पीढ़ी मानसिक शिक्षा चाहे जितनी थोड़ी हो—विद्या की प्राप्ति [illegible] नहीं जी की गई हो—सन्तति की उत्पत्ति तो बराबर होती र[illegible] है ते को नीरोग बनाये रखने की बड़ी ज़रूरत है । क्[illegible] है । [illegible] तनी, श[illegible] [illegible], उसकी बदौलत भावी पीढ़ियों में विद्या की अनन्त वृद्धि की जा सकती है । इन [illegible] का विचार करने से जिन ईश्वरीय योजनाओं का हमने ऊपर उल्लेख किया उनका महत्त्व अच्छी तरह ध्यान में आ जाता है । पूर्वोक्त ईश्वरीय योजनाओं के अनुसरण से जो लाभ होता है उसे यदि हम हिसाब में न भी लें, तो भी, जो मनोवृत्तियाँ आज तक एक सी चली आती हैं उनकी अवहेलना करके, लड़कियों की स्मरण-शक्ति पर बेहद बोझ लाद कर उनके शरीर का सत्यानाश करना ज़रूर पागलपन है । आप जितनी ऊँची शिक्षा चाहिए दीजिए । जितनी ही अधिक आप शिक्षा देंगे उतना ही अच्छा होगा । परन्तु शिक्षा से शरीरारोग्य का नाश करना उचित नहीं । यहाँ पर, लगे हाथ, हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि तोते की तरह रटाने की तरफ़ कम, पर सदय होकर बुद्धि को सुशिक्षित करने की तरफ़ अधिक, ध्यान दिया जाय, और मदरसा छोड़ने और विवाह होने के बीच का समय जो व्यर्थ जाता है उसमें शिक्षा का क्रम जारी रक्खा जाय, तो लड़कियाँ काफ़ी तौर पर ऊँचे

दरजे की शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। परन्तु इस तरीक़े से शिक्षा देना, या इतनी अधिक शिक्षा देना, कि शरीर किसी काम ही का न रहे मानों जिस निमित्त इतनी मेहनत, इतना ख़र्च और इतनी फ़िक्र उठानी पड़ती है उस निमित्त ही को—उस हेतु ही को—जड़ से उखाड़ फेंकना है। लड़कियों से बहुत अधिक विद्याभ्यास करा कर माँ-बाप उनके सारे सांसारिक सुखों और सारी आशाओं पर अक्सर पानी डाल देते हैं। अधिक विद्याभ्यास से वे उनके शरीर को क्षीण करके उसके साथ ही वे उन्हे अनेक प्रकार के क्लेश, अशक्तता और उदासीनता ही के दुःख भोग करने को विवश नहीं करते; बहुधा उनके नैरोग्य को यहाँ तक बरबाद कर डालते हैं कि उन को जन्म भर अविवाहित रहना पड़ता है।

की।
प्रेम करा
की परवा
न्तु
चारियो
देखे ? पर
ई उनकी विद्व
शिक्षा-पद्धति में अनेक

९—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के चार दोष और जीवनी शक्ति के ख़र्च का हिसाब।

[illegible] से यह बात सिद्ध है कि बच्चों की शारीरिक [illegible] और बड़े बड़े दोष हैं। पहला दोष तो यह है [illegible] नहीं दिया जाता। दूसरा दोष यह है कि उन्हें अच्छी तरह कपड़ा पहनने को नहीं मिलता। तीसरा दोष यह है कि उनसे (कम से कम लड़कियों से) काफ़ी तौर पर व्यायाम नहीं कराया जाता। चौथा दोष यह कि उनसे बहुत अधिक मानसिक श्रम लिया जाता है। इस शिक्षा-पद्धति की सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि यह बहुत सख़्त है; इसके कारण बच्चों को शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करना पड़ता है। यह पद्धति माँगती बहुत है, पर देती बहुत थोड़ा है। अर्थात् परिश्रम बहुत करना पड़ता है, पर लाभ कम होता है। इसकी बदौलत बच्चों की जीवनी शक्ति की इतनी खींच खाँच होती है कि बहुत छोटी उम्र से ही उन्हे वयस्क आदमियों से भी जियादह काम करना पड़ता है। गर्भस्थ बालक की सारी जीवनी शक्ति उसकी बाढ़ में ख़र्च होती है। छोटे छोटे बच्चों की भी जीवनी शक्ति उनकी बाढ़ ही में विशेष ख़र्च होती है—वह यहाँ तक अधिक ख़र्च होती है कि शारीरिक और मान-